

अंक 2, 100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच



उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति अतीत से नहीं वरन भविष्य से ही अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। वह उस समय तक अपना समारम्भ नहीं कर सकती जब तक अतीत सम्बन्धी अपने सभी मूढ़ विश्वासों को दूर न कर ले। पहले की क्रान्तियों को स्वयं अपनी अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में अपने को मदहोश करने के लिए विगत विश्व इतिहास की स्मृतियों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्ति के लिए ज़रूरी है कि अपनी अन्तर्वस्तु प्राप्त करने के लिए जो बीत गया है, उसे भुला दे। पहली क्रान्तियों के नारे उनकी अन्तर्वस्तु से आगे निकल गये थे; यहाँ अन्तर्वस्तु नारों से आगे निकल जाती है।

— कार्ल मार्क्स
(लूई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर)

दिशासन्धान

माक्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

2

जुलाई-सितम्बर, 2013

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

जुलाई-सितम्बर 2013

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :

69 ए-1, बाबा का पुरवा

पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226020

फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रण : प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता: 400 रुपये (डाकखर्च सहित)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क 'दिशा सन्धान' (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।

चालू खाता सं. 0762002109003644

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,

आईएफएससी कोड: PUNB0076200



संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा चमन एंटरप्राइजेज़, दरियागंज, दिल्ली द्वारा मुद्रित

इस अंक में

अपनी बात	5
आपकी बात	7
विशेष लेख	
सोवियत समाजवाद के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (दूसरी किस्त) — अभिनव सिन्हा	13
जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण — शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान	141
भारत में पूँजीवादी कृषि का विकास और मौजूदा अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिकीकरण की भ्रान्ति के बौद्धिक मूल — अभिनव	209
सामयिक	
फासीवाद की बुनियादी समझ : नुक्तेवार कुछ बातें — कात्यायनी	222
नेपाली क्रान्ति: गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में — आलोक रंजन	233
पुस्तक समीक्षा	
'कम्युनिज़्म' का विचार या उग्रपरिवर्तनवाद के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी — शिवानी	254

समकालीन

- नमो फासीवाद : नवउदारवादी पूँजीवाद की राजनीति और असाध्य संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज में उभरा धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन
— कविता कृष्णपल्लवी **254**
- आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार के निहितार्थ
— शिशिर **259**
- गहराता वैश्विक पूँजीवादी संकट और जुझारू मजदूर संघर्षों का तेज़ होता सिलसिला
— सत्यम **273**
- नेल्सन मण्डेला
— आनन्द सिंह **279**

‘दिशा सन्धान’ के प्रवेशांक में हमने पूँजीवाद के गहराते वैश्विक संकट और उससे पैदा होने वाले राजनीतिक संकट की चर्चा की थी। गुजरे एक वर्ष के दौरान स्थितियाँ और गम्भीर हुई हैं। कई लोग अक्सर यह खुशफ़हमी पाल लेते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने संकटों के बोझ तले खुद ही ढेर हो जायेगी। मगर यह बस खुशफ़हमी ही है। जबतक कि क्रान्ति का सचेतन हरावल दस्ता संगठित नहीं होगा, पूँजीवाद अपनेआप ध्वस्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, पूँजीवादी संकट का यदि क्रान्तिकारी समाधान नहीं होगा तो इसका प्रतिक्रान्तिकारी समाधान फ़ासीवाद के रूप में सामने आयेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था का घनघोर संकट देश को इसी समाधान की ओर धकेलता दिखायी दे रहा है। बेशक, आज की परिस्थितियों में भारत जैसे देशों में फ़ासीवाद की शकल हिटलर और मुसोलिनी के फ़ासीवाद जैसी नहीं होगी, लेकिन पूँजीपति वर्ग जनता के विरुद्ध जंजीर में बँधे कुत्ते के समान इसका इस्तेमाल करने का विकल्प हमेशा अपने हाथ में रखेगा। यहूदियों के सफ़ाये जैसी परिघटना आज सम्भव नहीं लेकिन अल्पसंख्यकों पर अत्याचार और उन्हें दायम दर्जे का नागरिक बनाने में फ़ासिस्ट कोई कोर-कसर नहीं उठा छोड़ेंगे। मोदी का गुजरात इसका उदाहरण है। इससे भी अहम बात यह है कि फ़ासीवाद का मुख्य हमला मेहनतकश हैं। उनकी यूनियनों और आन्दोलनों को फ़ासिस्ट शासन बर्बरता से कुचलेगा। ‘नमो परिघटना’ यह संकेत है कि दुनिया के कई देशों की तरह भारत में भी फ़ासीवाद की धारा लगातार मज़बूत हो रही है, उसके नये सामाजिक अवलम्ब विकसित हुए हैं और सामाजिक आधार विस्तारित हुआ है। फ़ासीवादी सत्ता में चाहे न भी आयें, उत्पात और आतंक मचाने की उनकी ताक़त बढ़ रही है।

दूसरी ओर, यह भी सच है कि खण्ड-खण्ड में बिखरा हुआ, गतिरुद्ध कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन आज विकल्प प्रस्तुत कर पाने की स्थिति में नहीं है। इसके भीतर, एक छोर पर

यदि “वामपंथी” दुस्साहसवाद का भटकाव है, तो दूसरे छोर पर तरह-तरह के रूपों में दक्षिणवादी विचलन है। दोनों के ही मूल में है विचारधारात्मक कमजोरी और कठमुल्लावाद। आज की दुनिया और भारत में पूँजीवादी संक्रमण की गतिकी को नहीं समझ पाने के चलते अधिकांश संगठन आज भी नयी सच्चाइयों को बीसवीं शताब्दी की लोकजनवादी क्रान्तियों के साँचे-खाँचे में फिट करने की निष्फल कोशिश करते रहे हैं। इस गतिरोध से उबरने के लिए पुरानी निरन्तरता को तोड़कर एक नयी साहसिक शुरुआत की ज़रूरत है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की गम्भीर समझ से लैस, सच्ची बोलशेविक पार्टी के निर्माण के लिए संकल्पबद्ध कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी ही इस काम को अंजाम दे सकती है। यह रास्ता लम्बा है मगर कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं। परिस्थितियाँ इस एकमात्र विकल्प को साहस के साथ स्वीकार करने के लिए लगातार दबाव बना रही हैं।



काफ़ी लम्बे अन्तराल के बाद ‘दिशा सन्धान’ का यह दूसरा अंक आपके बीच प्रस्तुत है। सम्पादकीय टीम की कुछ अप्रत्याशित व्यस्तताओं और पहले अंक में प्रकाशित दो धारावाहिक निबन्धों के लेखकों की कुछ आकस्मिक समस्याओं के कारण इसमें देर होती रही। हालाँकि ‘नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक’ की दूसरी किस्त हम इस बार भी नहीं दे पा रहे हैं। इसे जल्द प्रकाशित होने वाले अगले अंक से फिर शुरू किया जायेगा।

पत्रिका के पहले अंक का जिस उत्साह के साथ पाठकों ने स्वागत किया है उससे हमारा विश्वास दृढ़ हुआ है कि संक्रमण के इस दौर में खुलकर सोचने, बहस-मुबाहसा करने, आन्दोलन और विचारधारा के सवालों पर सकर्मक विमर्श करने के एक मंच के तौर पर इस प्रकार की पत्रिका की आज सख्त ज़रूरत है। जैसा कि हमने पत्रिका के परिपत्र में कहा था, यह समय है कि ऐसे सभी लोगों के बीच एक सही विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति के निःसरण के लिए खुले विचारधारात्मक-राजनीतिक विनिमय, विमर्श और बहस-मुबाहसे का आयोजन किया जाना चाहिए जो अभी भी संशयवाद के हामी नहीं बने हैं, जो अभी भी किसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ प्रतिबद्ध हैं और उसके प्रति एक वैज्ञानिक आशावाद रखते हैं और जिन्होंने ऐसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ किसी न किसी रूप में खड़े होने के संकल्प को छोड़ा नहीं है। ‘दिशा सन्धान’ विनम्रता के साथ ऐसे सभी साथियों के बीच एक संवाद स्थापित करने के प्रस्ताव के साथ आपके उपस्थित है। हमें यह देखकर खुशी है कि इस प्रस्ताव को नये-पुराने पाठकों से पुरजोर समर्थन मिला है।

पत्रिका का यह अंक हम एक बार फिर इस आग्रह के साथ आपके हाथों में दे रहे हैं कि इस पर अपनी बेलाग राय, प्रतिक्रिया और सुझाव हमें दें। अगर आपको यह एक ज़रूरी परियोजना लगती है तो इसके साथ जुड़ें, इसे हर प्रकार से सहयोग दें।

(4 मार्च 2014)

प्रियवर,

‘दिशा संधान’ और ‘नांदीपाठ’ पत्रिकाओं के प्रवेशांक काफी लम्बी प्रतीक्षा व कठिनाई के बाद प्राप्त हुए। दोनों को पढ़ लिया है। पत्रिकाएँ निश्चित ही काफी श्रम और गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ निकाली गयी हैं। इसलिए इनमें वह सामग्री संकलित है जो अन्यत्र नहीं मिलती। आजकल साहित्य (वैचारिक और रचनात्मक) विभिन्न पत्रिकाओं में इस तरह परोसा जा रहा है गोया वह गम्भीर सोच-विचार की सामग्री नहीं चटपटी चाट हो। स्वाद लेकर खाइये और थोड़ी देर में भूल जाइये। साहित्य का वह उद्देश्य ही गायब हो गया है जो कभी अन्यायी सत्ताओं के प्रति लोगों को खड़ा करने की भूमिका निभाया करता था। ऐसे में इन दोनों पत्रिकाओं का कैसा और कितना स्वागत होता है मैं कयास नहीं लगा पा रहा हूँ। बहरहाल मुझे ये पसन्द हैं, यद्यपि लेखों का बहुत अधिक अकादमिक होना व जगह-जगह अनुवाद सही न होना खटकता भी है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इन्हीं विषयों पर मौलिक लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया जाये। हो सकता है आप की भी कुछ कठिनाइयाँ हों फिर भी मैं चाहूँगा कि इस सुझाव पर विचार किया जाये।

— सुरेश पण्डित, अलवर

क्रान्तिकारी अभिवादन,

‘दिशा सन्धान’ व ‘नान्दीपाठ’ के ब्रोशर मिले। हिन्दी समाज में ऐसी गम्भीर पत्रकारिता निश्चय ही ज़रूरी कार्यभार है। इधर तो लोग सैद्धान्तिकी और चिन्तन से विरत होते जा रहे हैं। आप ही यह काम कर सकते हैं। लगता है देश आगे की बजाय पीछे की ओर जा रहा है। आने वाला समय हमारे लिए और मुश्किलों भरा हो सकता है। बहरहाल, हमसे जो सहयोग बन पड़ेगा, करेंगे।

— राजाराम भादू, जयपुर

‘दिशा सन्धान’ और ‘नान्दीपाठ’ के प्रवेशांक मिल गये हैं। सदस्यता शुल्क भेज रहा हूँ। दोनों ही पत्रिकाओं की सामग्री

प्रथमदृष्टया गम्भीर और वैचारिक है। आप और आपकी टीम लगातार काम कर रही है, जो अत्यन्त सुखद है। पत्रिकाएँ पढ़कर विस्तार से राय दूँगा।

— बसन्त त्रिपाठी, नागपुर

लाल सलाम,

‘दिशा सन्धान’ का पहला ही आलेख ऐतिहासिक आवश्यकता का प्रमाण है। यद्यपि बहुत सारे बिन्दु बहस के अपेक्षित मुद्दे हैं। बधाई। पत्रिका भेजने के लिए मित्रों के पते भेज रहा हूँ।

— डा. रमेशचन्द्र, आगरा

साथी, क्रान्तिकारी अभिवादन

मुझे ‘नान्दीपाठ’ और ‘दिशा सन्धान’ के प्रवेशांक समय पर मिल गये हैं। दोनों ही पत्रिकाओं के कवर पेज, छपाई और कागज़ बहुत ही अच्छी किस्म के हैं। इनमें प्रकाशित सामग्री मैंने अभी पूरी तो नहीं पढ़ी है, उसमें वक्त लगेगा। लेकिन अंक मिलते ही मैंने दोनों के सम्पादकीय और काफी कुछ पढ़ लिया है जिससे यह तो समझ में आता ही है कि पत्रिकाओं ने अपने मकसद की ओर बहुत सधा और वैचारिक दृष्टि से समृद्ध पहला कदम बढ़ाया है। उम्मीद ही नहीं भरोसा भी है कि ये कदम-दर-कदम ऐसे ही बढ़ती चलेगी। ये ‘दायित्वबोध’ की तरह शायद न रुकेंगी...!

लघु पत्रिकाओं को कभी एक आन्दोलन की तरह सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन आज कई पत्रिकाओं को हम देख रहे हैं कि वे सिर्फ परिवार चलाने का एकमात्र जरिया बन कर रह गयी हैं। वे कैसी-कैसी फन्डिंग एजन्सियों से सहायता ले रही हैं...? देशी-विदेशी पूँजीपति कम्पनियों के विज्ञापन छाप रही हैं और किन-किन जल, जंगल और भूमि माफियाओं तक से धन बटोर रही हैं। यहाँ जैक लंडन की कृति ‘आयरन हील’ की याद आ रही है।...

लेकिन ‘नान्दीपाठ’ और ‘दिशा सन्धान’ जैसी पत्रिकाएँ अभी कोई नहीं निकल रही है।...मुझे लगता है कि ‘नान्दीपाठ’ और ‘दिशा सन्धान’ कई पत्रिकाओं के सम्पादकों और उनमें लिखने वाले लेखकों की वैचारिक समझ को और समृद्ध करने का काम करेगी। जैसे कि ‘दायित्वबोध’ की भी कुछ ऐसी ही भूमिका थी। पर मैं आपको एक बात बताऊँ.. जब मैं ‘दायित्वबोध’ पढ़ता था, वह मुझे बहुत ही कम समझ में आती थी। मुझे उसे पढ़ते हुए खीज भी होती थी कि यह कैसी हिन्दी है, जो मुझे समझ नहीं आ रही है। तब हिन्दी मेरे लिए दूसरी भाषा थी। मेरी पहली भाषा-बोली तो ‘मालवी’ थी, जिसका मेरी कहनियाँ में भी भरपूर प्रयोग हुआ है। लेकिन तब मुझे हिन्दी की दूसरी पत्रिकाएँ पहल, हँस आदि समझ में आती थीं। और मैं ‘दायित्वबोध’ के सम्पादक और प्रकाशक को कोसता था कि यह पत्रिका किसके लिए निकालते हैं...? मुझे लगता है कि आज भी हिन्दी पढ़ने वाला ज़्यादातर पाठक वर्ग वैसा ही है, जिसकी पहली बोली-भाषा अपनी क्षेत्र में बोली जाने वाली है और दूसरी हिन्दी है। मैं यहाँ निवेदन करना चाहता हूँ कि आप ‘नान्दीपाठ’ और ‘दिशा सन्धान’ को ‘दायित्वबोध’ जैसी जटिल बनाने का प्रयास मत करना।।

मैं इस तर्क को स्वीकार करता हूँ कि आपको पारिभाषिक शब्दों को और जटिल विचार को बहुत सहज और सरल भाषा में प्रस्तुत करने में बहुत मुश्किल आती होगी और आती रहेगी। लेकिन इस विचार के प्रचार-प्रसार करने वालों को यह चुनौती भी स्वीकार करनी पड़ेगी..! अगर मैं ठीक हूँ तो मुझे याद आ रहा है, भाषा पर आपके ही प्रकाशन से एक अच्छी किताब प्रकाशित हुई थी। भाषा का मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र या ऐसा ही कुछ मिलता-जुलता उसका नाम था। वह मैंने अपने एक मित्र को दी थी, जो फिर कभी लौटी नहीं। मित्र के साथ स्थानांतरण पर चली गयी और फिर आउट ऑफ रीच हो गयी। भाषा पर लेनिन, स्टालिन और न्गुगी ने भी काम किया है। हमारे यहाँ रामविलास शर्मा जी का भी काम है। मैंने इनका जितना जो कुछ पढ़ा है, उससे भी और अपनी देहाती समझ से भी लगता है कि कितना ही कठिन विचार और मुद्दा हो... वह जितनी सहज, सरल भाषा और शिल्प में पाठकों के बीच जायेगा उतनी ही उसे स्वीकारोक्ति मिलेगी। उसको जानने, मानने और उस पर बहसियाने वाले बढ़ेंगे। मैं यहाँ कहना चाहता हूँ कि दायित्वबोध की तुलना में इन दोनों पत्रिकाओं की भाषा बहुत पठनीय और समझ में आने वाली है। थियोडोर अडोर्नो के लेख का अनुवाद 'ख़ाली समय' की भाषा भी ताज़गी भरी है। वरना कुछ मित्रों के अनुवाद इतने कठिन होते हैं, कि उससे सरल अँग्रेज़ी में पढ़ना होता है। 'ख़ाली समय' के लिए शिवानी का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ।

आज कुकुरमुत्तों की तरह अँग्रेज़ी स्कूल और कॉलेज खुलने के बावजूद हिन्दी और क्षेत्रीय बोलियाँ बोलने वाले लोग ज़्यादा हैं। उन्हीं लोगों में देश के अलग-अलग हिस्सों में हिंसक/अहिंसक जनांदोलन भी चल रहे हैं। लेकिन उनके नेतृत्व और कार्यकर्ताओं की जनपक्षीय राजनीतिक दृष्टि पूर्ण रूप से विकसित न होने और समय पर मार्गदर्शन देने वाला और समझ में आने वाला राजनीतिक साहित्य उन तक न पहुँचने की वजह से शायद उनका संघर्ष अधबीच में दम तोड़ देता है या रास्ते से भटक जाता है या फिर धनपशुओं की गुलाम सत्ताओं के आगे समर्पण कर देता है। हालाँकि जन संगठनों को भटकाने और ठिकाने लगवाने में एन.जी.ओ. ने अपनी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और निभा रहा है। न सिर्फ़ जन संगठन, बल्कि कुछ लाल झण्डे वाली राजनीतिक पार्टियाँ जो थोड़ी-बहुत वामपंथी भी थीं, मार्क्स, लेनिन की माला भी जपती थीं, उनके भी न सिर्फ़ झण्डे का रंग धो-पोँछ दिया है, बल्कि अब उनमें और दूसरी साम्राज्यवादी पार्टियों में नाम के अलावा थोड़ा-बहुत ही फर्क रह गया है, जो भविष्य में जल्दी ही मिटने की सम्भावना है। उनकी पसली से निकले सांस्कृतिक और लेखक संगठन अपने पतन की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं। उन पर एन.जी.ओ. कर्मियों और छद्म प्रगतिशीलों ने कब्ज़ा कर लिया है। वहाँ ईमानदार और जनपक्षीय रचनाकारों को धीरे-धीरे बाहर धकेला जा रहा है। उनके साथ उपेक्षित और द्वेषतापूर्ण बरताव किया जा रहा है।... आज भी छद्म तरक्कीपसंद संगठनों और संस्थाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है, बल्कि वे और ज़्यादा भ्रष्ट और दक्षिणपंथी होते जा रहे हैं। ऐसे परिदृश्य में 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' से अपेक्षाएँ और ज़्यादा बढ़ जाती हैं। और अब जबकि 'दायित्वबोध' को बन्द हुए एक लम्बा अर्सा हो गया है, उसके शुरू होने और बन्द होने के अनुभवों ने आपको काफी समृद्ध भी किया ही होगा। ऐसी स्थिति में जब यह पत्रिकाएँ आपने शुरू की हैं, तो गहरी सूझ-बूझ और एक व्यवस्थित ढाँचा बनाकर ही शुरू की होंगी, ऐसा मैं समझ रहा हूँ। और यह कोशिश लम्बे समय तक हिन्दी के लेखक, पाठक और सामाजिक, सांस्कृतिक,

राजनीतिक कार्यकर्ताओं को दृष्टि प्रदान करती रहेगी।

मैं अंग्रेजी का पाठक नहीं और वह मुझे आती भी नहीं है। मैंने अंग्रेजी का जो कुछ पढ़ा, अनुवाद ही पढ़ा है। हावर्ड फास्ट, टी.एस. इलियट, क्रिस्टोफर कॉडवेल और ग्यॉर्गी लुकाच जैसे जिस किसी का भी लिखा पढ़ा, वह हिन्दी अनुवाद ही पढ़ा है। मुझे हिन्दी में एक कमी अच्छी आलोचना की लगातार खलती रही है, हालाँकि सुरेन्द्र चौधरी, नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र, डॉ. राम विलास शर्मा और अरुण प्रकाश जी हुए हैं। हिन्दी आलोचना की नयी पीढ़ी में रोहिणी अग्रवाल, पल्लव और वैभव सिंह के काम में भी मेहनत नज़र आती है। फिर भी मुझे अपने समय, समाज और देश में चल रहे सांस्कृतिक और जनान्दोलनों की मार्क्सवादी आलोचना-समालोचना की बड़ी कमी खलती रही है। आलोचना में पिछले दस-पन्द्रह सालों में उभरे आलोचकों-समीक्षकों में कुछ तो चारण भाट और हरबोलों की परम्परा के लगते हैं। पिछले बीस सालों के कथा, उपन्यास और कविता जैसे साहित्य की आलोचना-समालोचना प्रायोजित लगती है। वह हमारे नये रचनाकारों को तराशकर नयी दिशा और दृष्टि प्रदान करने में बुरी तरह से असफल रही है। बल्कि असफल तो वह होता है, जो सही दिशा में सफल होने के लिए संघर्ष करता है। यहाँ तो ऐसा कुछ है ही नहीं। ऐसा कोई नज़र ही नहीं आता, जो हमारे समय, समाज और समाज में होने वाले हिंसक/अहिंसक आन्दोलनों की ऐसी व्याख्या, आलोचना-समालोचना करे कि हम जैसे नवोदित किस्सा-कहानी कहने वालों को रोशनी मिले। भले ही गोर्की, लू शुन, लाओ शु, ब्रेष्ट आदि की टक्कर के नहीं...पर अपने काल के किस्से-कहानी ठीक-ठाक कह सकने की समझ तो हासिल कर सकें...!

मुझे लगता है कि एक रचनाकार की अच्छी गुरु तो अच्छी आलोचना ही हो सकती है। 'नान्दीपाठ' में जब मैंने टेलीविज़न समीक्षा, फिल्म समीक्षा देखी और पढ़ी। 'दिशा सन्धान' में पुस्तक समीक्षा: 'खतरनाक ढंग से सपने देखने और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष (अभिनव सिन्हा), आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास (सत्यम), दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून/संशोधन अध्यादेश (कात्यायनी), अफ़ज़ल गुरु को फाँसी, खाद्य सुरक्षा, तो ये जो मुद्दे और घटनाएँ आपने शामिल किये हैं, मुझे लगता है कि यह कोशिश एक लम्बे समय से खलती ख़ामी को भरने की दिशा में उठा क़दम साबित होगी। मुझे लगता है कि यह एक बेहद ज़रूरी और सही काम है, इससे मुझ जैसे अनेक नवोदित लेखकों को अपनी दृष्टि को लगातार माँजने और पैनी करने में निश्चित ही मदद मिलेगी। जैसे 'फिलहाल' 'समयांतर', और 'नागरिक' भी अपने सीमित संसाधनों में लगातार और नियमित अच्छा काम कर ही रही हैं।

अंग्रेजी में ई.पी.डब्ल्यू और मंथली रिव्यू जैसी कुछ पत्रिकाएँ हैं, पर उनका लाभ मेरे जैसे गावदी और हिन्दी भाषी नहीं ले पा रहे हैं। मुझे लगता है कि 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' हम हिन्दी भाषियों को ई.पी.डब्ल्यू और मंथली रिव्यू जैसी पत्रिकाओं की कमी महसूस नहीं होने देगी, बल्कि अपने पाठकों से आगे ले जायेगी। उन्हें एक बेहतर व्यवस्था के निर्माण के लिए न सिर्फ़ उकसाने का काम करेंगी, बल्कि नेतृत्व भी प्रदान करेंगी। मैं खुले हृदय और युवा जोश से इन दोनों पत्रिकाओं का स्वागत करता हूँ।

मैं 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' के सिर्फ़ उन साथियों को ही नहीं, जिनके नाम

पत्रिका में किसी न किसी रूप में छपे हैं, बल्कि उन सभी को शुक्रिया और सलाम कहना चाहता हूँ, जिन्होंने दोनों पत्रिकाओं को पाठकों तक इस खूबसूरती से पहुँचाया है।

— सत्यनारायण पटेल, इन्दौर

पहले 'दायित्वबोध' के रूप में प्रकाशित होती रही पत्रिका को फिर से आगे बढ़ाने के आपके प्रयास का मैं दिल से स्वागत करता हूँ। मैं मार्क्सवाद-लेनिनवाद की हिफाजत और विचारधारा के अहम सवालों पर पोलेमिक में इसके ज़बर्दस्त योगदान को भूल नहीं सकता। आज सर्वहारा अधिनायकत्व और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की हिफाजत और इस प्रकार मार्क्स, लेनिन और माओ की शिक्षाओं की जीजान से रक्षा करने के लिए ऐसी पत्रिका की अत्यन्त आवश्यकता है। आज आर.सी.पी., यू.एस.ए., कसामा प्रोजेक्ट से लेकर लीडिंग लाइट कम्युनिस्ट आर्गनाइजेशन तक अनेक शक्तियों की एक धारा मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के बुनियादी उसूलों को तोड़-मरोड़ रही है। माइक एली के नेतृत्व में कसामा प्रोजेक्ट माओवाद को अपनेआप में स्वतंत्र, लेनिनवाद से अलग इकाई के रूप में पेश करता है। वे एक मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में स्तालिन के योगदान की शायद ही कभी हिफाजत करते हैं और माओवाद को लगभग स्तालिनवाद की एण्टी-थीसिस मानते हैं। दूसरी ओर, लीडिंग लाइट जैसी शक्तियाँ प्रथम विश्व के सर्वहारा की भूमिका को ही खारिज करती हैं और केवल तृतीय विश्व के सर्वहारा को मान्यता देती हैं। ये दोनों ही रुझानें आर.सी.पी., यू.एस.ए. की तीव्र आलोचक हैं।

आर.सी.पी., यू.एस.ए. के नेता बॉब अवाकियन ने शुरू में काफी योगदान किया था, लेकिन आगे चलकर उन्होंने क्रान्तिकारी अन्तरराष्ट्रीयतावादी आन्दोलन (रिम) में अपनी पार्टी की नीतियाँ थोपकर विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को काफी धक्का पहुँचाया। का. अवाकियन ने समाजवादी समाज में विरोध और बहस के सवाल पर कुछ महत्वपूर्ण बातें उठायीं। यह कहा जा सकता है कि स्तालिन काल में मत-विरोध को दबाया गया और हालाँकि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान स्तालिन की चूकों को ठीक करने के महती प्रयास किये गये लेकिन बहस-मुबाहसे या मत-विरोध के लिए पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया। कलाकारों, संगीतकारों, लेखकों और बुद्धिजीवियों के मामले में ऐसा रवैया बहुत प्रकट था। लेकिन अवाकियन माओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी पर तीन दुनियाओं का सिद्धान्त पेश करने का गुलत आरोप लगाते हैं। वह अपनी 'न्यू सिन्थेसिस' को भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की उच्चतर अवस्था मानते हैं, जो बिल्कुल आधारहीन है। अवाकियन ने अध्यक्ष माओ की तरह, समाजवादी समाज में क्रान्ति तो दूर, किसी भी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं किया है। वास्तव में, उनका लेखन कुल मिलाकर कामरेड माओ की क्रान्तिकारी लाइन की हिफाजत करने में विफल रहता है। हमें 'इम्मार्टल कंट्रीब्यूशन्स ऑफ माओ त्से-तुङ : द ग्रेटेस्ट रिवोल्यूशनरी ऑफ अवर टाइम' में पार्टी की हिरावल भूमिका और माओ के अवदानों की रक्षा करने में उनके योगदान की सराहना करनी चाहिए, लेकिन बाद में आर.सी.पी. ने स्तालिन की उपलब्धियों की शायद ही कभी हिफाजत की और यहाँ तक कि अन्तरराष्ट्रीय लाइन की हिफाजत में का. माओ के अवदान का मजाक भी उड़ाया। इस सन्दर्भ में हमें देडपंथी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और अनवर होजा के गुलत विचारों का खण्डन करने में का. हरभजन सिंह सोही के अवदान को याद करना चाहिए। कसामा प्रोजेक्ट जैसी शक्तियाँ अमेरिका और शेष विश्व में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों के

समर्थन और एकजुटता के लिए अच्छा काम कर रही हैं। वे वाद-विवाद और मत-विरोध की स्पिरिट को भी बढ़ावा देती हैं जिसकी आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में बहुत ज़रूरत है। लेकिन उनमें लेनिनवाद के सवाल पर बहुत वैचारिक ढीलापन है और हिरावल की पार्टी की भूमिका, और लेनिनवाद के अन्य बुनियादी उसूलों, खासकर सर्वहारा अधिनायकत्व पर सवाल उठाये जाते हैं। एलेन बेज्यू के विचारों जैसी नव वाम की रुझानों को बढ़ावा दिया जाता है।

भारत में बर्नार्ड डिमेलो जैसे लेखक और बुद्धिजीवी भी हैं जो मार्क्स, लेनिन और माओ को क्रान्तिकारी नहीं बल्कि रैडिकल डेमोक्रेट के रूप में देखते हैं। अपने लेखों में वह माओवाद को कुछ ऐसी चीज़ के बतौर पेश करते हैं जिसे स्तालिनवाद के चंगुल से मुक्त होने की ज़रूरत है, और बुर्जुआ बहुदलीय जनवाद की वकालत करते हैं।

ऐसे में हमें आज मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के अवदानों की जीजान से हिफाज़त करनी है। यह 1963 की अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम कार्यदिशा का 50वाँ वर्ष है और आपकी पत्रिका को एक बड़ी भूमिका निभानी है। साथ ही, मैं आशा करता हूँ कि समाजवाद के भविष्य के लिए मत-विरोध और वाद-विवाद की स्पिरिट को काफी प्रोत्साहित किया जायेगा।

आपके प्रयासों को लाल सलाम।

— हर्ष ठाकोर, मुम्बई

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(दूसरी किस्त)

IV. क्रान्ति-पूर्व रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का उद्भव और विकास

पिछले अध्याय में 'माक्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और विसर्जनवादी सोच की आलोचना के बाद हम सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अपने सकारात्मक आलोचनात्मक विश्लेषण की ओर आगे बढ़ सकते हैं। बताने की ज़रूरत नहीं है कि 'माक्सिस्ट इण्टेलेक्शन' कोई अलग-थलग अकेला उदाहरण नहीं है, बल्कि आज पूरे देश और दुनिया भर के कम्युनिस्ट आन्दोलन में हम इस प्रकार की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति के उभार को देख सकते हैं। इसलिए हमारी आलोचना महज़ 'माक्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों पर लक्षित नहीं है, बल्कि यह इस पूरी रुझान की आलोचना है, जिसका सुजीत दास जैसे अधकचरे "सिद्धान्तकार" महज़ एक छोटी-सी मिसाल हैं।

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि सोवियत समाजवाद के प्रयोगों पर सकारात्मक तौर पर अपना दृष्टिकोण रखने की प्रक्रिया में हम 'माक्सिस्ट इण्टेलेक्शन' द्वारा किये गये

तथ्यों के विकृतिकरण को अनावृत्त करेंगे, सोवियत समाजवाद के कुछ प्रमुख अध्ययनों का आलोचनात्मक विवेचन और साथ ही सोवियत समाजवाद की समस्याओं की व्याख्या के कुछ नवीन प्रयासों पर अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी पेश करेंगे। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें हम इस बारे में कुछ स्पष्टीकरण देना चाहेंगे कि आप इस रचना से क्या अपेक्षा न करें।

यह अध्ययन सोवियत संघ में समाजवाद का विस्तृत तथ्यात्मक व आख्यानात्मक इतिहास आपके समक्ष नहीं रखेगा। सोवियत संघ के विस्तृत आख्यानात्मक इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अध्ययन मौजूद हैं और सम्पूर्ण आख्यानात्मक इतिहास में दिलचस्पी रखने वाला कोई भी पाठक इन पुस्तकों को पढ़ सकता है। **मॉरिस डॉब, ई.एच.कार, इसाक डॉइशर, चार्ल्स बेतेलहाइम और पॉल स्वीजी** ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सोवियत समाजवादी प्रयोगों के ऐतिहासिक ब्यौरे पेश किये हैं और आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर और खास तौर पर लेनिन, स्तालिन व अन्य बोल्शेविक नेताओं की रचनाओं और साथ ही बोल्शेविक पार्टी के दस्तावेजों के साथ इन्हें पढ़ने पर सोवियत संघ में समाजवाद के पूरे इतिहास को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। इसलिए दोबारा सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का सम्पूर्ण तथ्यात्मक ब्यौरा पेश करना एक गैर-ज़रूरी कवायद होगी और इसे करने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए आप ऐसी अपेक्षा इस अध्ययन से नहीं कर सकते हैं। **हम तथ्यात्मक ब्यौरों में केवल वहीं जाएँगे जहाँ हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।**

हमारा उद्देश्य इस अध्ययन में सोवियत समाजवादी प्रयोग के विश्लेषण के ज़रिये सिद्धान्त और इतिहास के कुछ अहम सवालों को उठाना और उस पर अपनी अवस्थिति को पेश करना है जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के विज्ञान और विशेष तौर पर समाजवादी संक्रमण की समस्याओं, और समाजवादी संक्रमण के पहले और उसके दौरान वर्ग और पार्टी के बीच, वर्ग और राज्यसत्ता के बीच, और पार्टी और राज्यसत्ता के बीच के अन्तर्सम्बन्धों की एक वैज्ञानिक समझदारी के लिए सामान्य रूप में महत्व रखते हैं। जहाँ कहीं इन प्रश्नों की चर्चा और व्याख्या के लिए तथ्यों का विवरण पेश करना होगा, वहाँ हम तथ्यों का सीमित विवरण पेश करेंगे और प्रासंगिक उपयोगी सन्दर्भों का सुझाव पेश करेंगे। इसके अतिरिक्त, हमारा जोर विशेष तौर पर सोवियत समाजवादी क्रान्ति को नेतृत्व देने वाली बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के पूरे इतिहास के पुनरावलोकन और उस पर अपनी अवस्थिति पेश करने, सोवियत समाजवादी प्रयोगों को लेकर अतीत में चलीं और आज भी जारी महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक बहसों का विवेचन और उस पर अपनी अवस्थिति पेश करने और साथ ही सोवियत समाजवाद के इतिहास को लेकर मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी संगठनों के बीच जारी बहसों पर अपनी अवस्थिति पेश करने पर होगा। जाहिर है, इस प्रक्रिया में हम सोवियत समाजवाद के कुछ अग्रणी अध्येताओं के अध्ययन के बारे में अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण पेश करेंगे, जैसे कि **मॉरिस डॉब, ई.एच.कार, चार्ल्स बेतेलहाइम, पॉल स्वीजी, रणधीर सिंह** आदि। और साथ ही हम कुछ नव-मार्क्सवादी और संशोधनवादी सिद्धान्तकारों द्वारा सोवियत समाजवाद की आलोचना के प्रयासों का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करेंगे, जैसे कि **लियो पैनिच, माइकल लेबोवित्ज़** व कुछ नव-संशोधनवादी सिद्धान्तकार।

हमारा मानना है कि सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक

समस्याओं के विश्लेषण के लिए सबसे पहले सोवियत समाजवाद के इतिहास के दो महत्वपूर्ण आयामों या पहलुओं को समझना है: **पहला**, क्रान्ति से पहले रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का उद्भव और विकास और **दूसरा**, क्रान्ति से पहले रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का एक ब्यौरा। क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास को समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि क्रान्ति के बाद के दौर में बोल्शेविक पार्टी के भीतर जो दो लाइनों का संघर्ष विभिन्न मुद्दों को लेकर चला, उसका प्राक्-इतिहास कुछ मायनों में रूस में क्रान्ति-पूर्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास में देखा जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन का विकास भी एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है जो कि खुले तौर पर बुर्जुआ विचारों और क्रान्तिकारी विचारधारा के भीतर भेस बदलकर घुसपैठ करने वाले बुर्जुआ विचारों के विरुद्ध विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष के रूप में चलता है। रूस में मार्क्सवादी विचारधारा के आने और आगे बढ़ने की प्रक्रिया भी विभिन्न बुर्जुआ विचारधाराओं, टुटपूँजिया विचारधाराओं के विरुद्ध संघर्ष के रूप में चली। ये विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष दीर्घकालिक ऐतिहासिक महत्व रखने वाले थे क्योंकि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी के भीतर जारी दो लाइनों के संघर्ष पर इन क्रान्ति-पूर्व विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों की छाया लम्बे समय तक देखी जा सकती है। क्रान्ति-पूर्व रूस के सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तर का एक ब्यौरा पेश करना ठीक इसीलिए ज़रूरी है कि इस ब्यौरे के बिना उस विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्ष को भी सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर नहीं देखा जा सकता, जो कि क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के निर्मित होने की प्रक्रिया में जारी थे, या यँ कहेँ कि जिन संघर्षों के ज़रिये ही कम्युनिस्ट आन्दोलन संघटित हुआ। इसलिए हम शुरुआत रूस में क्रान्ति से पहले मौजूद सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के एक संक्षिप्त ब्यौरे और उसके बाद क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास के विवरण के साथ करेंगे।

1. क्रान्ति-पूर्व रूस में सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों की एक संक्षिप्त तस्वीर और सम्बन्धित इतिहास-लेखन का आलोचनात्मक ब्यौरा

जिस बिन्दु को हम क्रान्ति-पूर्व रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के ब्यौरे के लिए आरम्भ-बिन्दु के तौर पर चुन सकते हैं, वह है **1861 में भूदास प्रथा का उन्मूलन**। क्योंकि यही वह बिन्दु था जिससे कि रूस में पूँजीवादी विकास का रास्ता खुला और साथ ही रूस में मजदूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास की ज़मीन तैयार हुई। 1861 में भूदास प्रथा उन्मूलन का रूस में पूँजीवाद के विकास के लिए वही महत्व था जो कि एक अलग रूप में और अलग ऐतिहासिक सन्दर्भ में इंग्लैण्ड में बाडेबन्दी कानूनों का था। पूँजीवाद के उद्भव के लिए जिस आदिम पूँजी संचय और दोहरे अर्थों में “मुक्त” श्रम की ज़रूरत होती है, उस ज़रूरत को पूरा करने में 1861 के भूदास प्रथा उन्मूलन कानून की अहम भूमिका थी। रूस में पश्चिमी यूरोप के देशों के समान एक स्वतन्त्र बुर्जुआ उद्यमी वर्ग बड़े पैमाने पर मौजूद नहीं था, जो कि दस्तकारी से विकसित होते हुए गिल्ड व्यवस्था के रास्ते और फिर मैनुफैक्चर और कारखाना-व्यवस्था के रास्ते से होता हुआ पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ हो। निरंकुश सामन्ती राजतन्त्र की मौजूदगी और कुछ अन्य विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों

से वह प्रक्रिया रूस में बहुत आगे नहीं बढ़ पायी थी। पूँजीवाद के विकास में जो भूमिका पश्चिमी यूरोप में स्वतन्त्र उद्यमी बुर्जुआ वर्ग ने निभायी थी, वह भूमिका रूस में राज्य और बैंकों ने निभायी। 1860 के दशक से 1910 के दशक तक रूसी उद्योग के विकास का एक संक्षिप्त ब्यौरा हम आगे पेश करेंगे। लेकिन उससे पहले रूस में भूदास प्रथा उन्मूलन कानून पर और उसके बाद रूसी कृषि में 1910 के दशक के मध्य तक हुए पूँजीवादी विकास का ब्यौरा पेश करना ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि रूस में कृषि में पूँजीवादी विकास और किसान प्रश्न ही रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के उद्भव और विकास में प्रमुख भूमिका निभाने वाले थे।

क) रूसी कृषि में क्रान्ति-पूर्व दौर में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास

भूदास प्रथा उन्मूलन कानून ने रूस में सामन्ती सम्बन्धों पर एक प्राणान्तक चोट की। ऐतिहासिक तौर पर इसकी भूमिका निस्सन्देह रूप में प्रगतिशील थी और इसने रूसी ग्रामीण सामन्ती और टुटपुँजिया किसान अर्थव्यवस्था के ताबूत पर पहली कील का काम किया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यह पूँजीवादी सुधार किसी क्रान्तिकारी प्रक्रिया से किया गया था। भूदास प्रथा के उन्मूलन के कानून के प्रावधान भूदासों को अपनी मुक्ति के लिए एक निश्चित कीमत अपने पूर्व-स्वामी को अदा करने के लिए बाध्य करते थे। इस देनदारी का नतीजा यह था कि भूदास प्रथा के उन्मूलन के बावजूद किसानों की विशाल बहुसंख्या को यह कीमत अपनी ज़मीन गिरवी रखकर या भूस्वामियों को बेचकर चुकानी पड़ी और नतीजतन इस भूदास प्रथा के उन्मूलन से किसानों की बहुसंख्यक आबादी को कुछ भी नहीं मिला। जो किसान निर्भर किसान आबादी के अंग के तौर पर कुछ ज़मीन के भोगाधिकार के स्वामी थे, उन्होंने अधिकांश मामलों में अपना भोगाधिकार भी खो दिया। इस कानून के अमल का नतीजा यह हुआ कि रूस के किसानों में वर्ग विभाजन की शुरुआत हुई। एक बेहद छोटी आबादी ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के रूप में उभरी जिनमें जुंकर भूस्वामी, कुलकों और धनी किसानों का वर्ग था। इस वर्ग को निर्मित करने वाली ताकतों में एक था सामन्ती भूस्वामियों का वर्ग। इसके एक हिस्से ने अपने आपको पूँजीवादी भूस्वामियों में रूपान्तरित कर लिया और वे भूतपूर्व भूदासों से नव-निर्मित ग्रामीण मजदूरों की आबादी को मजदूरी पर रखकर बाज़ार के लिए खेती करने लगे। जो अपने आपको पूँजीवादी कुलक के रूप में रूपान्तरित नहीं करना चाहते थे, या किन्हीं कारणों से नहीं कर पाये, वे धीरे-धीरे अपनी ही ऐयाशी और पुरानी सामन्ती जीवन शैली के कारण ऋण के बोझ तले दबते गये और विलुप्त हो गये। नयी ग्रामीण बुर्जुआज़ी का निर्माण करने वाला दूसरा वर्ग था धनी मालिक किसानों व काश्तकार किसानों का एक वर्ग जो कि उजरती मजदूरों को काम पर रख कर बाज़ार के लिए उत्पादन करने लगा। ग्रामीण बुर्जुआज़ी के निर्माण के साथ पूरक प्रक्रिया के तौर पर एक विशाल ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और गरीब और मँझोले निर्भर किसानों का एक वर्ग तैयार हुआ। इस रूप में रूस के किसानों के बीच वर्ग विभेदीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। प्लेखानोव ने इस पूरी प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा था कि 1861 के भूदास प्रथा उन्मूलन कानून के पहले रूस की किसान आबादी एक वर्ग नहीं बल्कि एक 'एस्टेट' (वेबपंस मेजंजमधेवेसवअपम) के समान थी; 1861 के सुधार ने इसे पूँजीवादी भूस्वामियों और भूमिहीन मजदूरों और गरीब किसानों के वर्गों में विभाजित कर दिया।

1861 के सुधार के बाद रूस में कृषि में पूँजीवाद का जो रास्ता अख़्तियार किया गया था वह रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों का रास्ता नहीं था जो छोटे और मँझोले मालिक किसानों के एक विशाल वर्ग को जन्म देता। यह रास्ता फ्रांसीसी क्रान्ति या अमेरिकी क्रान्ति द्वारा अपनाये गये भूमि सुधार का रास्ता नहीं था जो कि 'जो ज़मीन को जोते-बोए, वह ज़मीन का मालिक होए' के नारे पर समझौता-विहीन ढंग से अमल करता। वस्तुतः रूसी पूँजीपति वर्ग सामन्ती भूस्वामी वर्ग से सीधे और खुले युद्ध का रास्ता अपनाने की स्थिति में था ही नहीं। निरंकुश ज़ारशाही सामन्ती भूस्वामियों और उदीयमान पूँजीपति वर्ग और देशी-विदेशी वित्त पूँजी दोनों के ही हितों के बीच एक असुविधाजनक सन्तुलन को अंजाम दे रही थी। जाहिर है कि यह सन्तुलन बहुत समय तक बरकरार नहीं रह सकता था। रूसी राज्यसत्ता में देशी-विदेशी पूँजीपति वर्ग और वित्त पूँजी का असर धीरे-धीरे सामन्ती भूस्वामी वर्ग के हितों की तुलना में बढ़ने लगा और 1860 के दशक से लेकर 1910 के दशक तक निरंकुश ज़ारशाही तन्त्र के दायरे के भीतर जो क्रमिक पूँजीवादी विकास हुआ वह इसी बदलते वर्ग सन्तुलन को प्रतिबिम्बित करता था। लेनिन ने 1905 में इस पूरी स्थिति को बेहद सटीक तरीके से चित्रित किया था। लेनिन ने लिखा था कि रूस में मुट्ठी भर सामन्ती भूस्वामियों का नेतृत्व ज़ारशाही करती है जो कि वित्तीय पूँजी के दैत्यों के साथ करीबी तालमेल में काम करती है। यह वित्तीय पूँजीपति वर्ग अक्सर पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवाद के एजेण्ट में रूप में काम करता है। लेनिन ने आगे कहा कि रूसी ज़ारशाही के "सैन्य-सामन्ती चरित्र" को इन्हीं वर्ग सम्बन्धों के आधार पर समझा जा सकता है। लेनिन ने लिखा कि रूस में एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें "आधुनिकतम पूँजीवादी साम्राज्यवाद एक प्रकार से विशेष रूप से सघन प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों के एक जाल के साथ अन्तर्गुन्थित है...जिसमें बेहद पिछड़ी हुई कृषि और बेहद आदिम ग्राम समुदाय, बेहद उन्नत औद्योगिक और वित्तीय पूँजीवाद के साथ सहअस्तित्वमान है।" (वी.आई. लेनिन, कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 136 और खण्ड 20, पृ. 570, अंग्रेजी संस्करण, अनुवाद हमारा)

पूँजीवादी भूमि सुधार का जो रास्ता रूसी शासक वर्ग ने अपनाया उसे लेनिन ने प्रशा के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर **प्रशियाई पथ** का नाम दिया था, और इसकी तुलना बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों द्वारा फ्रांस और अमेरिका में लागू किये गये रैडिकल भूमि सुधार से की थी, जिसे लेनिन ने भूमि सुधार के **अमेरिकी पथ** का नाम दिया था। रूस द्वारा भूमि सुधार का जो रास्ता अख़्तियार किया गया था वह बेहद पिछड़े पूँजीवादी सम्बन्धों को ही पैदा कर सकता था। रूस में 1905 तक कृषि में पूँजीवादी विकास और किसानों की दशा पर निगाह डालने से इसकी एक तस्वीर उपस्थित होती है। **मॉरिस डॉब** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917**' में लिखा है कि रूस में जीवन स्तर के बेहद नीचे होने का कारण कृषि का बेहद पिछड़ा और उत्पादकता का बेहद निम्न स्तर पर होना था; निश्चित तौर पर, यह एक तथ्यात्मक सत्य है लेकिन असल बात यह थी कि रूसी कृषि में प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास में ठहराव का प्रमुख कारण थे और जिस रास्ते से रूस में भूमि सुधार हुए वे इस ठहराव को प्रभावी और तात्कालिक तौर पर तोड़ भी नहीं सकते थे। गौरतलब है कि रूस की कुल आबादी का करीब अस्सी फीसदी हिस्सा इस समय तक खेती पर ही निर्भर था। उस समय रूस में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय 102 रूबल प्रति वर्ष थी जो कि जर्मनी से तीन गुणा, इंग्लैण्ड से चार गुणा और अमेरिका से सात

गुणा कम थी। उन्नीसवीं सदी के अन्त पर यूरोपीय रूस का जनसंख्या घनत्व भी दुनिया के तमाम उन्नत पूँजीवादी देशों के मुकाबले ज़्यादा था, जबकि कृषि के तहत लायी गयी भूमि इन देशों के मुकाबले कहीं कम थी। कुल खेती के तहत भूमि रूस के कुल क्षेत्रफल का मुश्किल से 25 फीसदी थी, जबकि फ्रांस और जर्मनी में यह 40 प्रतिशत के करीब था। नतीजतन, प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि भूमि रूस में मात्र 3 एकड़ के करीब थी, जो कि अमेरिका में 13 एकड़, डेनमार्क में 8 एकड़ और फ्रांस और जर्मनी में 4 एकड़ थी। प्रति एकड़ उत्पादकता भी इंग्लैण्ड की एक-चौथाई, जर्मनी की एक तिहाई और फ्रांस की तुलना में आधी थी। गेहूँ की पैदावार इटली और सर्बिया से भी कम थी और ऑस्ट्रिया-हंगरी के मुकाबले यह आधी थी। उस समय गेहूँ की पैदावार की दर भारत में गेहूँ की पैदावार के दर के बराबर थी। (सभी आँकड़े मॉरिस डॉब की उपरोक्त पुस्तक से, पृ 39-40)। **ऐसा नहीं था कि रूस में उत्पादकता पर कुछ प्राकृतिक सीमाएँ थीं।** कई क्षेत्रों में रूस में मृदा उत्पादकता दुनिया में सबसे ज़्यादा थी।

कृषि के इस पिछड़ेपन के पीछे प्राकृतिक कारक नहीं बल्कि रूस के पिछड़े पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध जिम्मेदार थे। प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधारों ने रूसी ग्राम समुदाय मीर को ज्यों का त्यों छोड़ दिया था, जो कि आवर्ती भूमि पुनर्वितरण किया करता था। एक तो यह आवर्ती भूमि पुनर्वितरण पूरी तरह से धनी किसानों, काशतकारों और कुलकों के पक्ष में किया जाता था और दूसरे, यह बेहद अवैज्ञानिक तरीके से किया जाता था जिससे कि किसानों के पास जो भूमि होती थी वह एक जगह केन्द्रित होने की बजाय बिखरी हुई होती थी। यह उत्पादकता को बहुत कम करता था। चूँकि एक बड़ी किसान आबादी बेहद गरीब, निम्न मँझोले और मँझोले किसानों की थी जिसके पास पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों द्वारा भारी भूमि लगान के ज़रिये, ऋण और सूद के ज़रिये लूटे जाने के बाद लगभग कुछ भी नहीं बचता था। इसलिए इनके बीच बाज़ार के लिए खेती की रुझान कम ही थी और ज़्यादातर वे जीवन निर्वाह के लिए खेती करते थे। नतीजतन, पिछड़े उत्पादन सम्बन्धों के कारण इस आबादी में खेती के तकनीकी स्तरोन्नयन के लिए कोई भौतिक प्रोत्साहन मौजूद नहीं था। दूसरी तरफ़, भूमि के अलावा अन्य कृषि-सम्बन्धी उत्पादन के साधनों में भी भयंकर असमानता बरकरार थी। पशुधन, कृषि के उपकरण और चरागाह बड़े भूस्वामियों के स्वामित्व में थे या उनके नियन्त्रण में थे। एक तो भूस्वामित्व में भारी असमानता पहले से ही मौजूद थी, वहीं जिन मँझोले किसानों के पास कुछ भूमि होती भी थी, वे पशुधन और उपकरणों की कमी के कारण भयंकर दरिद्रता और भुखमरी की स्थिति में जीने को मजबूर थे। किसानों की विशाल बहुसंख्या के पास पूँजी भी नहीं थी जिससे कि वे खेती के स्तर को और अपनी आजीविका को बेहतर बना पाते। नतीजतन, अधिकांश कार्य शारीरिक श्रम से करने पड़ते थे और यान्त्रिकीकरण लगभग नहीं के बराबर था। केवल धनी किसानों और कुलकों की एक छोटी-सी आबादी थी जो बड़े पैमाने की खेती करती थी, मशीनों का इस्तेमाल करती थी और बाज़ार के लिए, खास तौर पर निर्यात के लिए पैदा करती थी। **हम देख सकते हैं कि रूस में खेती की उत्पादकता बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक कम रहने का मूल कारण प्राकृतिक कारक नहीं थे बल्कि सामाजिक-आर्थिक कारक, यानी कि अर्द्धसामन्ती और पिछड़े पूँजीवादी सम्बन्ध थे।**

लेकिन इसके बावजूद किसानों के बीच विभेदीकरण काफ़ी अधिक विकसित हो

चुका था। 1905 में एक सरकारी सांख्यिकी समिति द्वारा किये गये सर्वेक्षण के मुताबिक ऊपर के 10 प्रतिशत धनी किसान कुल ज़मीन के 35 प्रतिशत के स्वामी थे; जबकि नीचे की आधी किसान आबादी कुल भूमि के मात्र 20 प्रतिशत की स्वामी थी। सबसे ग़रीब किसान आबादी जो कुल किसान आबादी करीब 16 प्रतिशत थी, वह कुल भूमि के मात्र 4 प्रतिशत की मालिक थी। करीब 33 प्रतिशत सबसे ग़रीब किसान परिवारों के पास कोई पशुधन नहीं था और उन्हें हल चलाने के लिए पशु धनी कुलकों और किसानों से किराये पर लेने पड़ते थे, जिसके कारण उनके उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा भूमि लगान या किराये के रूप में चला जाता था। यह धनी किसान या कुलक धीरे-धीरे लगान, ऋण और सूद का ऐसा भयंकर दबाव ग़रीब और मँझोले किसानों पर निर्मित करते थे कि वे सभी व्यावहारिक अर्थों में एक प्रकार से उनके उजरती गुलाम बनकर रह जाते थे। इसी निर्भर किसानों की आबादी को लेनिन ने रूस का अर्द्ध-सर्वहारा कहा था। कुलकों और धनी किसान आबादी के बारे में रूसी किसानों के अध्येता **स्तेपनियाक** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रूसी किसान' में जो टिप्पणी की है, वह इस वर्ग के पूरे चरित्र को समझने के लिए काफी उपयोगी है। स्तेपनियाक के अनुसार रूसी कुलक एक प्राणी है जिसकी पहचान "एक बिल्कुल अशिक्षित व्यक्ति की कठोर, अटल क्रूरता से की जा सकती है...जो किसी भी माध्यम से पैसे कमाने को एकमात्र लक्ष्य मानता है और मानता है कि किसी भी तार्किक व्यक्ति को अपने आपको इसी काम के लिए समर्पित कर देना चाहिए...और जो आर्थिक विकास की उस हिंस्र और लुटेरी मंज़िल के पर्याप्त नमूने" पेश करता है, "जो कि राजनीतिक इतिहास में वही स्थान रखते हैं जो कि मध्य युग के दौर में जारी हिंस्र लूट का है।" (डॉब की उपरोक्त पुस्तक में उद्धृत, पृ. 44, अनुवाद हमारा)।" वास्तव में, कुलक शब्द का अर्थ ही होता है 'मुट्ठी'!

1861 से 1907 तक रूसी कृषि में पूँजीवाद के विकास की जो प्रक्रिया भूदास प्रथा के उन्मूलन के साथ शुरू हुई उसने एक बेहद पिछड़ी पूँजीवादी खेती को जन्म दिया जिसके तहत ग्रामीण आबादी बेहद धनी किसानों और कुलकों की एक मुट्ठी भर आबादी और भूमिहीन मजदूरों, बेहद ग़रीब और मँझोले किसानों की आबादी में विभाजित हो गयी। सबसे ग़रीब भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और निम्न किसानों की आबादी का जीवन भयंकर भूख, बेकारी और कुपोषण का शिकार था। इसके कारण ही एक आबादी शहरों, उद्योगों और खदानों में काम हासिल करने के लिए प्रवास कर गयी। साथ ही, ज़्यादा उन्नत खेती वाले क्षेत्रों में मजदूरी पाने के लिए एक ग्रामीण क्षेत्र से दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों में भी काफी बड़े पैमाने पर प्रवास होता था। इसके अलावा जो आबादी प्रवासी नहीं बनती थी, वह भी भयंकर दरिद्रता में जीवन व्यतीत करती थी। यह जीवन स्थितियाँ ही थीं जिनके कारण किसानों की आबादी में विद्रोह की भावना लम्बे समय से पनप रही थी। 1905 में जब शहरों के मजदूरों की हड़तालों की लहर शुरू हुई तो साथ ही गाँवों में किसानों के विद्रोह की लहर भी शुरू हो गयी। 1905 की असफल रूसी क्रान्ति में हम शहरों के मजदूरों के उभार और गाँवों के किसान विद्रोहों के बीच एक ढीला-ढाला तालमेल देख सकते हैं।

मॉरिस डॉब ने ठीक ही कहा है कि इस किसान असन्तोष और विद्रोह के पीछे सबसे बुनियादी कारण था 1861 का भूदास मुक्ति कानून। इस कानून ने मुक्ति की जो शर्तें निर्धारित कीं उनके कारण किसानों को ज़्यादा कुछ हासिल नहीं हुआ। इन सुधारों ने एक तरफ सर्वहाराकरण की प्रक्रिया और दूसरी तरफ जुंकरीकरण की प्रक्रिया को चलाया और

एक लम्बे दौर में एक विशाल ग्रामीण मजदूर वर्ग और गरीब व मँड़ोले किसानों के वर्ग और साथ ही एक बेहद छोटे ग्रामीण पूँजीपति वर्ग को जन्म दिया। इस पूरी प्रक्रिया के आँकड़ों समेत एक सटीक विवरण के लिए मॉरिस डॉब की पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' को देखें (पृ. 45-51)।

1861 से लेकर 1907-8 तक हम भूमि लगान के पूँजीवादी रूपान्तरण को देख सकते हैं। कृषि सम्बन्धों का चरित्र-निर्धारण करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक भूमि लगान का चरित्र होता है। 1860 के दशक में रूस के कुछ उन्नत हिस्सों में तो पहले ही मुद्रा लगान आ चुका था, जो कि सामन्ती भूमि सम्बन्धों पर चोट कर रहा था। लेकिन 1861 के पहले रूस के बड़े हिस्सों में अभी भी श्रम लगान और जिंस लगान की मौजूदगी को देखा जा सकता था। लेकिन 1861 के बाद जो प्रक्रिया शुरू हुई उसने एक तरफ श्रम लगान और जिंस लगान को तेज़ी से खत्म किया, वहीं इसने पूँजीवादी काश्तकारी के बहुविध रूपों को जन्म दिया। सामन्ती भूस्वामी की जगह अब पूँजीवादी भूस्वामी ने ले ली थी। भूमि लगान लेने वाला वर्ग अब विखण्डित राज्यसत्ता (parcellized state) की भूमिका में नहीं था। निश्चित रूप से बंधुआ श्रम के कई रूप अभी मौजूद थे। लेकिन वे आर्थिक शोषण और बाध्यता पर ज़्यादा और आर्थिकेतर उत्पीड़न पर कम निर्भर करते थे। कई लोग यह कल्पना करते हैं कि पूर्ण रूप से दोहरे अर्थों में मुक्त श्रम की मौजूदगी पर ही पूँजीवादी विकास को स्वीकार किया जा सकता है और ऋण बंधुआ प्रथा (debt bondage) और निर्भर काश्तकारी की मौजूदगी तक भूमि सम्बन्धों को सामन्ती या अर्द्धसामन्ती ही माना जा सकता है; ये लोग यह भूल जाते हैं कि दोहरे अर्थों में मुक्त श्रम की बात करते हुए मार्क्स ने मुक्त को हमेशा दोहरे उद्धरण चिन्हों के बीच रखा है। कई लोग श्रम के "मुक्त" होने को शाब्दिक तौर पर पूँजीवाद की पूर्वशर्त मान बैठते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि उन्नत से उन्नत पूँजीवाद हमेशा ही उद्योगों और कृषि, दोनों में ही अस्वतन्त्र श्रम के कई रूपों को जन्म और संरक्षण देते हैं और उनके साथ शान्तिपूर्ण रूप से सहअस्तित्वमान रहते हैं। बल्कि कहना चाहिए कि श्रम के अस्वतन्त्र और निर्भर रूपों के बगैर पूँजीवाद कभी विकसित हो ही नहीं सकता है। यह बात उन्नीसवीं सदी के रूस क्या, बीसवीं सदी के अमेरिकी, ब्रिटेन और फ्रांस पर भी लागू होती है। खैर, रूस में भूमि लगान एक क्रमिक प्रक्रिया में पूँजीवादी रूपान्तरण से होकर गुजरा और 1907-8 तक हम कह सकते हैं कि रूस में भूमि लगान मुख्य रूप से पूँजीवादी रूप अख़्तियार कर चुका था।

1907-8 में रूसी खेती में पूँजीवादी विकास के समक्ष मौजूद दूसरी बाधा को भी रूसी शासक वर्ग ने हटा दिया। 1906 में स्तोलिपिन के सुधार कानूनों ने रूसी ग्राम समुदाय मीर से मुक्त होने का अधिकार उभरते धनी किसानों के वर्ग को दे दिया जिसका कि पुराने ग्राम समुदाय के दायरे के भीतर अब दम घुट रहा था। स्तोलिपिन के सुधार को लागू करने के दो कारण थे। एक कारण यह था कि 1905 की असफल रूसी क्रान्ति ने रूस के शासक वर्गों को भी एक सबक दिया था। रूस का शासक वर्ग समझ रहा था कि किसानों के बीच विद्रोह की लहर को नियन्त्रित करने के लिए यह ज़रूरी है कि गाँवों में एक मजबूत वर्ग मित्र ढूँढा जाय। जहाँ यह राजनीतिक तौर पर क्रान्तिकारी उभार से निपटने के लिए ज़रूरी था, वहीं यह आर्थिक तौर पर भी ज़रूरी था क्योंकि मुख्य रूप से अनाज का निर्यात करने वाली रूसी अर्थव्यवस्था को निर्यात हेतु अधिक अनाज उत्पादन की ज़रूरत थी। यह बढ़ोत्तरी कृषि के

पूँजीवादी विकास को बढ़ावा देकर ही सम्भव थी, जो कि धनी उद्यमी किसानों के वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक संरक्षण देना शुरू करके ही किया जा सकता था। इसके अलावा रूस के पूँजीपति वर्ग को पूँजीवादी औद्योगिक और शहरी विकास के कारण शहरों की बढ़ती आबादी का पेट भरने के लिए भी पर्याप्त अनाज की आवश्यकता थी। यह भी कृषि के पूँजीवादी विकास और धनी किसानों के वर्ग को संरक्षण के साथ ही सम्भव था। स्तोलिपिन के सुधारों ने कृषि में तीव्र पूँजीवादी विकास को बढ़ावा दिया और रूसी शासक वर्ग को तेज़ी से विकसित होते पूँजीवादी कुलकों के रूप में एक वर्ग मित्र भी दिया। **इन सुधारों के कारण 1917 के आने तक पचास फीसदी से अधिक किसान परिवार ऐसे काश्तकार परिवारों में तब्दील हो चुके थे जिनकी ज़मीन का पुनर्वितरण नहीं किया जा सकता था।** यानी कि उनका भूस्वामित्व आनुवांशिक हो चुका था। कहने की ज़रूरत नहीं कि पूरे रूसी साम्राज्य में खेती में यह पूँजीवादी विकास समान रूप से नहीं हुआ था और अधिकांश एशियाई रूस अभी भी सामन्ती भूमि सम्बन्धों के अधीन ही था। यहाँ तक कि यूरोपीय रूस के भीतर भी यह पूँजीवादी विकास बेहद असमान रूप से हुआ था। **लेकिन इन सबके बावजूद पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध अब कृषि के क्षेत्र में प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे, इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया था।**

रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास की पूरी प्रक्रिया का विवरण देते हुए रूसी इतिहास के तमाम अध्येताओं ने अलग-अलग दृष्टिकोण पेश किये हैं, जिनमें से कुछ की आलोचनात्मक समीक्षा करना यहाँ उपयोगी होगा, क्योंकि वे कई अहम सैद्धान्तिक प्रश्नों को उठाते हैं, जो कि सामान्य महत्व रखते हैं। हम शुरुआत **ई.एच.कार** से करते हैं, क्योंकि आज भी सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का सबसे विस्तृत और तमाम अर्द्ध-त्रात्स्कीपंथी विचलनों के बावजूद हमारे विचार में सबसे उपयोगी अध्ययन उन्हीं का है। कार के इतिहास-लेखन पर ब्रिटिश अनुभववाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **इज़ाक डॉइशर** के प्रभाव के कारण सोवियत समाजवाद के कार द्वारा लिखे गये इतिहास में कई स्थानों पर त्रात्स्की के प्रति स्पष्ट रूप में सहानुभूति देखी जा सकती है। एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी न होने के कारण कई जगह कार के विश्लेषण में उदार बुर्जुआ विचारों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। **लेकिन इसके बावजूद कार द्वारा लिखा गया सोवियत समाजवाद का इतिहास सबसे वस्तुपरक माना जा सकता है।** कार तथ्यों का चुनाव अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार नहीं करते, वरन् वह अपनी रचना के लिखे जाने तक उपलब्ध सभी तथ्यों को पाठक के समक्ष खोलकर रख देते हैं। वह अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के आधार पर तथ्यों का चुनाव या उनका विकृतिकरण नहीं करते। इसके बाद, उनके पास विश्लेषणात्मक उपकरणों की कमी है, जो कई जगह उन्हें ग़लत नतीजों तक पहुँचा देती है। क्रान्ति-पूर्व दौर में रूस में पूँजीवादी विकास के विषय में कार का पूरा ब्यौरा कहीं-कहीं ग़लत नतीजों तक पहुँच जाता है। कुछ मिसालों से हम इसे स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया था, लेनिन ने रूस में कृषि में पूँजीवादी विकास के रास्ते को प्रशियाई पथ का नाम दिया था और उसकी तुलना पूँजीवादी भूमि सुधार के अमेरिकी पथ से की थी। ई.एच.कार इस विभाजन के सैद्धान्तिक आधार को नहीं समझ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वह लेनिन द्वारा किये गये इस विभाजन के बुनियादी तर्क को ही नहीं समझ पाये हैं। कार कहते हैं कि लेनिन ने भूस्वामियों के हितों में किये जाने वाले भूमि सुधार को

प्रशियाई पथ का नाम दिया, जिसमें कि सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामियों में तब्दील हो जाने का मौका मिलता है और भूमि का गरीब किसानों और भूमिहीन मजदूरों के बीच वितरण नहीं किया जाता; भूमि के रैडिकल रूप से किसानों के बीच कमोबेश समानतापूर्ण वितरण करने वाले पूँजीवादी भूमि सुधार को लेनिन ने अमेरिकी पथ का नाम दिया। लेनिन ने दिखलाया कि रूस में शासक वर्गों ने पूँजीवादी भूमि सुधार का प्रशियाई पथ चुना था। **कार का मानना है कि लेनिन द्वारा किया गया यह वर्गीकरण उपयुक्त नहीं है और रूसी भूमि सुधार को प्रशियाई पथ से किया गया भूमि सुधार नहीं माना जा सकता है।** कार इसके लिए जो कारण देते हैं उसका रिश्ता सिर्फ उत्पादकता से है। उनकी दलील है कि प्रशा में जो पूँजीवादी भूमि सुधार लागू किया गया उसने वहाँ बड़े पैमाने की युंकर खेती को जन्म दिया जो कि बेहद उत्पादक थी और साथ ही उसमें कुशलता का स्तर भी काफी ऊँचा था। जबकि रूस में भूमि सुधारों में ऐसा कुछ नहीं हुआ। यहाँ हम कार पर ब्रिटिश अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी इतिहास-लेखन का प्रभाव स्पष्ट रूप में देख सकते हैं, जिसकी विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु बेहद दरिद्र है। तथ्यों के प्रति अपने सम्मोह के कारण कई बार वह बेहद जाहिर और मुख़्तसर सी बातों को नहीं देख पाते। हम आगे इसके अन्य उदाहरण भी देंगे, लेकिन फिलहाल इस विशिष्ट उदाहरण पर कुछ बातें। **लेनिन द्वारा प्रशियाई पथ और अमेरिकी पथ में किये जाने वाले फर्क का वास्तव में उत्पादकता या कुशलता के स्तर से कोई रिश्ता नहीं है। इस वर्गीकरण का मूल और मुख्य आधार है वर्ग सम्बन्ध और उत्पादन सम्बन्ध।** प्रशियाई पथ हमेशा ज़्यादा उत्पादक होगा या अमेरिकी पथ ज़्यादा उत्पादक होगा, यह कभी मुद्दा था ही नहीं। मिसाल के तौर पर अमेरिकी पूँजीवादी कृषि की उत्पादकता बेहद कम थी। प्रति एकड़ उपज को पैमाना मानें तो ब्रिटिश पूँजीवादी खेती और यहाँ तक कि फ्रांसीसी पूँजीवादी खेती उससे आगे थी। पूँजी के संकेन्द्रण और भूमि के चन्द हाथों में केन्द्रित होने के साथ जब विशालकाय फार्म अमेरिकी पूँजीवादी खेती की चारित्रिक अभिलाक्षणिकता बन गये, तब जाकर प्रति एकड़ उपज में ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई। ठीक उसी प्रकार प्रशा जैसे भूमि सुधारों ने कुछ देशों में अधिक उत्पादक खेती को जन्म दिया तो अन्य देशों में बेहद पिछड़ी और आदिम खेती को जन्म दिया। इसका कारण यह है कि उत्पादकता और कुशलता के स्तरों का रिश्ता कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है, जैसे कि अलग-अलग देशों के कुलक वर्ग की प्रकृति, विश्व अर्थव्यवस्था में सम्बन्धित देश का स्थान, भूमिहीन मजदूरों और किसानों के वर्ग का चरित्र, वगैरह। प्रशियाई पथ इस रूप में प्रतिक्रियावादी पथ है कि यह किसानों की विशाल बहुसंख्या को दरिद्रता और भुखमरी में ही जीते रहने को बाध्य करता है। उसके जनवादी अधिकार भी उसे आधे-अधूरे तौर पर हासिल होते हैं। कानूनी तौर पर भूदासत्व और बंधुआ मजदूरी के खात्मे के बावजूद इस प्रकार के भूमि सुधारों के बाद भी वह कर्ज में डूबा रहता है और पूँजी और भूमि की भयंकर असमानता के कारण वह पूँजीवादी कुलकों पर निर्भर ही रहता है। यह निर्भरता कई मामलों में श्रम के अस्वतन्त्र रूपों को जन्म देती है, जो कि कई लोगों के लिए सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का 'ऑप्टिकल' भ्रम पैदा करते हैं (भारत में आज भी चीन जैसी नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाले तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूह इसी भ्रम से पीड़ित हैं)। इसी वजह से लेनिन ने स्तोलिपिन के सुधारों की आलोचना की थी और अमेरिकी पथ के भूमि सुधारों को ज़्यादा प्रगतिशील बताया था। अमेरिकी पथ से होने वाले भूमि सुधारों में ज़मीन को जोतने-बोने वालों

को ही भूमि का स्वामी बनाया जाता है, भूमि को सामन्ती भूस्वामियों, चर्च और राज्य के हाथ से छीन कर किसानों के बीच (समानतापूर्ण रूप से या कुछ असमानतापूर्ण रूप से) वितरित कर दिया जाता है। यह छोटे पैमाने की खेती करने वाले विशाल किसान वर्ग को जन्म देता है, जो कि सामन्ती उत्पीड़न, भूदासता और बंधुआ मजदूरी से सही मायने में मुक्त होता है। निश्चित रूप से यह पूँजीवादी भूमि सुधार ही होते हैं मगर यह ज़्यादा प्रगतिशील होते हैं। लेनिन ने स्तोलिपिन सुधारों की आलोचना करते हुए कहा कि इनसे आम गरीब किसानों और भूमिहीन मजदूरों को कुछ नहीं हासिल होगा। इन सुधारों का लाभ कुलकों और धनी किसानों को होगा। **यहाँ पर भी कार एक भ्रम का शिकार हो जाते हैं।** कार लिखते हैं कि एक तरफ़ तो लेनिन ने अपने सैद्धान्तिक लेखन में स्तोलिपिन के सुधारों को ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील बताया तो वहीं दूसरी ओर जनता के बीच उद्वेलन और प्रचार हेतु किये गये लेखन में उसकी कटु आलोचना की। **इस विरोधाभास को व्याख्यायित करने के लिए कार 'प्रचारक लेनिन' और 'मार्क्सवादी, अर्थशास्त्री लेनिन' में विभेदीकरण करते हैं!** कार दलील देते हैं कि जनता को उद्वेलित करने और आन्दोलित करने के लिए लेनिन ने स्तोलिपिन के सुधारों को भूस्वामी-समर्थक और प्रतिक्रियावादी बताते हुए जनता को इसके खिलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित किया; स्तोलिपिन का उद्देश्य कुलकों और युंकरों को भूमि का स्वामी बनाकर और उनके विकास से सारी बाधाएँ हटाकर रूसी कृषि का पूँजीवादी विकास द्रुत गति से करना और इस प्रकार गाँवों में उबल रहे किसान विद्रोह को शान्त करना था, लेकिन लेनिन जानते थे कि इस प्रकार के भूमि सुधारों से यह उद्देश्य पूरा होने वाला नहीं है। इससे रूसी खेती में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध तो हावी हो जायेंगे लेकिन किसानों के भीतर पनप रहा विस्फोटक असन्तोष इससे शान्त नहीं होने वाला है, और न ही कुलकों और युंकरों को समर्थन देकर रूसी शासक वर्ग अपना कोई इतना शक्तिशाली वर्ग मित्र पैदा कर सकता है, जो कि करोड़ों किसानों के जनसैलाब की ताक़त को प्रति-सन्तुलित कर दे। इसलिए ऐतिहासिक तौर पर सामन्ती अवशेषों को एक हद तक झाड़-बुहारकर किनारे करने की भूमिका के चलते स्तोलिपिन के सुधार प्रगतिशील थे, लेकिन उद्वेलनात्मक उद्देश्यों के लिए लेनिन ने इनकी आलोचना की और इनके खिलाफ़ किसानों के बीच संघर्ष करने का आह्वान किया। स्पष्ट है कि कार लेनिन की समझदारी की द्वन्द्वात्मक एकता को समझ पाने में वैचारिक तौर पर असफल रहे हैं। कार यह नहीं समझ पाये कि स्तोलिपिन के सुधारों की प्रगतिशीलता इस बात में भी निहित थी कि उसने आम गरीब और मँझोली किसान आबादी और भूमिहीन किसानों की आबादी की आकांक्षाओं पर तुषारापात किया और पूँजीवादी भूमि सुधारों को रैडिकल अमेरिकी पथ से अंजाम नहीं दिया।

यहाँ पर कार के विश्लेषण की एक और समस्या हमारे सामने आती है। अपने पूरे लेखन में लेनिन के बारे में लिखते हुए कार, निश्चित रूप से प्रशंसा करने के इरादे से, कई बार लेनिन के व्यक्तिगत दूरदर्शी विवेक, रणनीतिक और कूटनीतिक कौशल की तारीफ़ करते हैं और उसे सिद्धान्तकार और मार्क्सवादी लेनिन से अलग करते हैं। कृषि प्रश्न पर लेनिन द्वारा किये गये सैद्धान्तिकीकरण पर कार की अवस्थिति केवल एक उदाहरण है। ऐसा कार सोवियत समाजवाद के अपने इतिहास-लेखन में बार-बार करते हैं, खास तौर पर पहले तीन खण्डों में ('दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड 1, 2, 3) जो लेनिन की मृत्यु तक के कालखण्ड को समेटते हैं। मिसाल के तौर पर, आपको कार की इस प्रकार की टिप्पणियाँ बीच-बीच में मिल

जाएँगी, 'लेनिन एक ठोस यथार्थवादी थे', 'यह लेनिन की असाधारण रणनीतिक प्रतिभा थी', वगैरह। अलग से कार 'सिद्धान्तकार, दार्शनिक मार्क्सवादी लेनिन' की भी प्रशंसा में ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ देते हैं। **लेकिन कार के लिए यह दो अलग-अलग प्रशंसनीय लेनिन हैं।** कार लेनिन को उनके चिन्तन (दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक और साथ ही रणनीतिक, रणकौशलात्मक भी) की एकता में नहीं समझ पाते हैं और यह नहीं देख पाते कि लेनिन के सैद्धान्तिक और दार्शनिक नतीजे उन्हीं रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजों में रूपान्तरित हो सकते थे जिनमें कि वे हुए, यानी, वे उनकी नैसर्गिक परिणति थे।

कृषि में पूँजीवादी विकास का ब्यौरा देते हुए हम कुछ बातें और स्पष्ट करना चाहेंगे, जो आगे रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन और उसके द्वारा अपनाये गये कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम को समझने के लिए आवश्यक हैं। अगर हम उत्पादन सम्बन्धों की बात करें तो उपरोक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि रूसी खेती में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। चूँकि कृषि में पूँजीवादी विकास का जो रास्ता रूस में शासक वर्ग ने चुना था, वह रैडिकल और किसान-केन्द्रित भूमि सुधार का नहीं बल्कि युंकरिकरण के प्रशियाई पथ से किये जाने वाले भूमि सुधार का था, इसलिए निश्चित तौर पर कई सामन्ती अवशेष रूसी कृषि में बचे रह गये थे; जो पूँजीवादी कृषि उभरकर सामने आ भी रही थी उसकी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता थी अत्यधिक भूमि असमानता, निर्भर किसानों की एक विशालकाय आबादी, पिछड़ापन, उत्पादकता का बेहद निम्न स्तर और ग्रामीण सर्वहारा और गरीब किसानों का भयंकर और बर्बर आर्थिक और आर्थिकेतर शोषण। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि रूस में खेती में पूँजीवादी विकास नहीं हुआ था, या वह चीनी अर्थों में अर्द्ध-सामन्ती थी। न ही इसका यह अर्थ था कि चूँकि रूसी खेती में सामन्ती अवशेष बहुत ज़्यादा थे इसीलिए बोल्शेविक क्रान्ति ने जो भूमि कार्यक्रम लागू किया वह मूलतः जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करता था। कई अध्येता यहीं पर चूक कर जाते हैं, जैसे कि चार्ल्स बेतेलहाइम। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है कि रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का दोहरा चरित्र था: गाँवों में यह जनवादी क्रान्ति थी और शहरों में समाजवादी क्रान्ति! इस पूरी थीसिस का विस्तृत खण्डन हम आगे करेंगे, लेकिन अभी इतना बताना पर्याप्त होगा कि जिन देशों में पूँजीवादी भूमि सुधार किसी रैडिकल बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के रास्ते न होकर क्रमिक दीर्घकालिक पथ से होंगे, वहाँ अगर किन्हीं अपवादस्वरूप परिस्थितियों में कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों के लम्बे समय तक परिपक्व हुए बगैर ही समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं, तो निश्चय ही उस क्रान्ति को बहुत से छूटे-फटके जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़ते हैं। रूस में ऐसा ही हुआ था।

यदि रूसी क्रान्ति युद्ध, अकाल और सोवियतों के स्वतःस्फूर्त उभार के कारण पैदा हुई अपवादस्वरूप परिस्थितियों में 1917 में न होकर तीन या चार दशक बाद सम्पन्न होती, तो प्रशियाई पथ से होने वाले कृषि पूँजीवाद के विकास के बावजूद रूसी क्रान्ति को कुछ ही छूटे जनवादी कार्यों को पूरा करना होता। मिसाल के तौर पर, 1920 के दशक में सम्भावित जर्मन सर्वहारा क्रान्ति को शायद ही ज़्यादा जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़ते, क्योंकि वहाँ प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधार कई दशकों की परिपक्वता हासिल कर चुके थे। या आज के भारत में समाजवादी क्रान्ति के पास पूरे करने के लिए छूटे हुए जनवादी कार्यभार इने-गिने ही होंगे। लेकिन रूस में 1917 में ही अपवादस्वरूप स्थितियों में समाजवादी क्रान्ति की

परिस्थितियों के तैयार होने के कारण बोल्शेविकों को जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी भी निभानी पड़ी। लेकिन बेतेलहाइम द्वारा इसे जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों का अन्तर्गुथन कहना एक सैद्धान्तिक भूल है। ऐसा दावा वस्तुगत तौर पर बेतेलहाइम को त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के करीब ले जाता है, हालाँकि बेतेलहाइम त्रात्स्की के समान किसानों को 'अज्ञात चर राशि' या 'बीजगणितीय अज्ञात' नहीं मानते थे। त्रात्स्की की विस्तृत आलोचना हम इस अध्याय के अन्तिम खण्ड में रखेंगे।

दूसरी अहम बात जो इसी से जुड़ी हुई है, उसे भी समझ लेना यहाँ अनिवार्य है क्योंकि यह विषयवस्तु आगे बार-बार प्रकट होने वाली है। किसी देश में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के कृषि में हावी होने के बाद भी समाजवादी क्रान्ति तत्काल किस प्रकार का भूमि कार्यक्रम लागू करेगी, यह आर्थिक आधार पर नहीं बल्कि राजनीतिक आधार पर ही निर्धारित हो सकता है। मिसाल के तौर पर, रूस में 1917 में कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध मूल और मुख्य रूप से प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। लेकिन चूँकि ये पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध कृषि में किसी रैडिकल भूमि सुधार के द्वारा नहीं बल्कि क्रमिक प्रशियाई पथ से हुए थे, इसलिए किसानों के बीच भूमिहीनता बड़े पैमाने पर थी और अभी उनकी ज़मीन की भूख बरकरार थी। निश्चित तौर पर, ज़मीन की भूख बरकरार रहने का एक कारण नरोदवादी समाजवादी क्रान्तिकारियों का किसानों में ज़्यादा और बोल्शेविकों का कम असर भी था। लेकिन ज़्यादा अहम कारण यह था कि रूस के किसानों ने कृषि में (किसी भी रास्ते से आये) पूँजीवाद का दीर्घकालिक अनुभव हासिल नहीं किया था, और वे राजनीतिक तौर पर अभी भी जनवादी आकांक्षाएँ ही रखते थे। सामन्ती उत्पीड़न, ऋण-दासत्व, आर्थिकतः शोषण व उत्पीड़न, बंधुआ मजदूरी अभी उनकी स्मृति में बहुत दूर नहीं हुई थीं। इसलिए उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर पूँजीवाद में प्रवेश कर जाने के बाद भी रूसी किसान आबादी राजनीतिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के लिए तैयार नहीं थी। यही कारण है कि लेनिन ने 1917 में स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों ने समाजवादी क्रान्तिकारियों के रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपना लिया, क्योंकि किसानों की व्यापक बहुसंख्या राजनीतिक तौर पर अभी इसी के लिए तैयार थी, और आबादी के 75 फीसदी हिस्से पर आप समाजवाद थोप नहीं सकते हैं। चूँकि यह भूमि कार्यक्रम भूमि के राष्ट्रीयकरण की बात करता था, इसलिए यह जनवादी क्रान्ति के दायरे में सबसे रैडिकल भूमि कार्यक्रम था, जो कि कानूनी तौर पर भूमि में निजी मालिकाने को समाप्त करता था; लेकिन साथ ही यह समान पुनर्वितरण के ज़रिये किसानों की व्यापक जनसंख्या को छोटी-छोटी जोतों का भोगाधिकार देता था, जो प्रभावी तौर पर मालिकाना ही था। लेनिन का मानना था कि इस रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से कालान्तर में समाजवादी भूमि कार्यक्रम तक जाना ज़्यादा सहज होगा और किसानों को एक लम्बी प्रक्रिया में अपने अनुभव से सीखने दिया जाय कि छोटी जोत की किसानी उन्हें भुखमरी, गरीबी और दरिद्रता से मुक्ति नहीं दिला सकती है। इस पूरे मामले पर लेनिन की अवस्थिति जिस बात को साफ़ कर रही थी वह यह थी कि क्रान्ति के अहम फैसलाकुन प्रश्नों पर निर्णय राजनीतिक आधार पर होता है, न कि आर्थिक तौर पर। यही बात अपनी अलग-अलग विजातीय पहुँचों के कारण कारुत्स्की, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, "वामपंथी" कम्युनिस्ट भी नहीं समझ पाये और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और चार्ल्स बेतेलहाइम जैसे सिद्धान्तकार भी, जो कि माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में लेनिनवादी भी नहीं रह गये! वास्तव में,

अक्टूबर 1917 में रूसी किसान आबादी आर्थिक तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर अभी भी उसकी भूमि-क्षुधा और जनवादी आकांक्षाएँ जीवित थीं और वह समाजवादी भूमि कार्यक्रम के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। इस पर हम आगे और विस्तार से चर्चा करेंगे, लेकिन अभी यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक था ताकि आगे तथ्यों का विवरण ज़्यादा साफ तौर पर दिया जा सके।

ख) क्रान्ति-पूर्व रूस में औद्योगिक विकास और सम्बन्धित इतिहास-लेखन का आलोचनात्मक ब्यौरा

क्रान्ति से पहले कृषि में हुए परिवर्तनों के बाद हम औद्योगिक विकास और अवसंरचनागत ढाँचे पर चर्चा कर सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के पहले दशक में रूसी उद्योग किस स्थिति में था, इसे समझने के लिए इस औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि संक्षेप में जान लेना उपयोगी होगा।

रूस में उद्योगीकरण की शुरुआत सही मायने में अट्टारहवीं सदी के मध्य में पीटर महान के शासन के दौरान हुई थी। पीटर महान आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का समर्थक था। उसने जो पश्चिमीकरण अभियान चलाया उसके तहत पहली बार अट्टारहवीं सदी के मध्य में रूस के कुछ क्षेत्रों में खानों-खदानों खुलनी शुरू हुईं। ये खानें शुरुआत में मुख्य रूप से लोहे की थीं। इनका मालिकाना मुख्य तौर पर राज्य या फिर बड़े सामन्तों के हाथ में था। कुछेक उद्यमी पूँजीपति भी थे, जो मुख्य रूप से वाणिज्य व व्यापार से सम्बन्ध रखते थे, जो कि इन खानों-खदानों के मालिक बने थे। लेकिन अट्टारहवीं सदी में उनके लिए इन खानों को चलाना लगभग नामुमकिन था क्योंकि श्रम आपूर्ति बेहद कम थी। अभी तक भूदासत्व उन्मूलन नहीं हुआ था और राज्य या बड़े सामन्त इन खानों-खदानों में भूदास श्रम और बंधुआ श्रम द्वारा ही काम करवाते थे। जिन क्षेत्रों में ये खानें थीं, वे मॉस्को के निकट पड़ने वाले केन्द्रीय प्रान्तों से काफ़ी दूर थे, जैसे कि उराल का क्षेत्र। इसलिए मुक्त श्रम के मिलने की गुंजाइश वैसे भी कम थी, क्योंकि केन्द्रीय प्रान्तों के इलाके में सीमित पैमाने पर कुछ मुक्त श्रम मुक्त कर दिये गये या भाग आये भूदासों या फिर बरबाद हो चुके कारीगरों व दस्तकारों के रूप में उद्यमी पूँजीपतियों को मिल जाता था। लेकिन दूरस्थ क्षेत्रों में उनकी उपलब्धता नगण्य थी। बीसवीं सदी की शुरुआत आते-आते भी अगर रूस में पूँजीवादी विकास की अगुवाई एक स्वतन्त्र उद्यमशील पूँजीपति वर्ग नहीं कर सका, तो इसके कारण हमें अट्टारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही मिलते हैं। अट्टारहवीं सदी में अपने भूदास श्रम और आदिम तकनीक के ज़रिये भी रूस का लोहा उत्पादन इंग्लैण्ड से भी आगे था और वह इसके निर्यात के मामले में स्वीडन से प्रतिस्पर्द्धा कर रहा था। लेकिन अट्टारहवीं सदी के अन्त में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद यह बढ़त समाप्त हो गयी और रूस में राजनीतिक परिवर्तन न होने के कारण आर्थिक-सामाजिक तौर पर भी रूस पिछड़ता गया। इस प्रकार अगर अट्टारहवीं सदी में शुरू हुए उद्योगीकरण को देखें तो वह राज्य द्वारा ऊपर से किया गया सीमित उद्योगीकरण था, जो कि अभी मुख्य रूप से खनन के क्षेत्र में हो रहा था।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया, केन्द्रीय प्रान्तों में मुक्त श्रम की सीमित उपलब्धता

के आधार पर कुछ उद्योग लगने शुरू हुए। मुख्य तौर पर यह कपड़ा उद्योग था। सूत उत्पादन इसमें प्रमुख था। कुछ कारखाने अट्टारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लग चुके थे, लेकिन अभी भी ज़्यादातर 'पुटिंग आउट' व्यवस्था ही लागू होती थी जिसमें कि उत्पादन के कार्य को वाणिज्यिक पूँजीपति घरों में, ग्रामीण कुटीर उद्योग में और छोटी-छोटी वर्कशॉपों में दिया करते थे, जहाँ उत्पादक अपने उत्पादन के उपकरणों के साथ काम करते थे। लेकिन 1840 के दशक में पावरलूम आने के साथ यह व्यवस्था धीरे-धीरे खत्म होती गयी और कारखाना व्यवस्था प्रभावी होती गयी। शुरुआती दौर में जो अधिकांश कारखाने लगे थे वे विदेशी निवेशकों के थे। 1860 के दशक में भूदासत्व उन्मूलन कानून विदेशी वित्तीय पूँजी और राजकीय वित्तीय पूँजी के लिए ज़रूरी था क्योंकि इन कारखानों को श्रम चाहिए था, जो कि भूदासों की मुक्ति के बिना सम्भव नहीं था। 1861 में भूदासों की मुक्ति के द्वारा रूसी निरंकुश राजतन्त्र ने वित्त पूँजी की ज़रूरतों को पूरा किया। 1860 के दशक से लेकर इस सदी के अन्त तक रूस में सूती उद्योग में लगी श्रम शक्ति में तीन गुने की बढ़ोत्तरी हुई। इस उद्योग में पूँजी का संकेन्द्रण ज़बर्दस्त था। उपभोग में भी 1910 तक करीब 12 गुना की बढ़ोत्तरी हुई। उराल का खनन उद्योग अट्टारहवीं सदी के अन्त तक काफी कमज़ोर हो गया था क्योंकि वहाँ कोयला बेहद कम था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में खनन उद्योग फिर से पुनर्जीवित होना शुरू हुआ, लेकिन इस बार यह दक्षिण में दोनेत्ज़ और द्नीपर के बीच के इलाके में था, न कि उराल में। इसके पुनर्जीवित होने का एक बड़ा कारण 1860 और 1870 के दशक में बड़े पैमाने पर राज्यसत्ता द्वारा रेलवे का निर्माण था जो कि सूती उद्योग और साथ ही कृषि उत्पादों के निर्यात के लिए अनिवार्य था। 1890 से लेकर 1914 तक रूसी उद्योग, खनन और रेलवे में ज़बर्दस्त विकास हुआ। हालाँकि ज़्यादातर क्षेत्रों में यह अभी भी ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के पीछे था, लेकिन बीच का अन्तर काफी घट चुका था।

कुल मिलाकर रूस का आर्थिक विकास यूरोप के उन्नत देशों और एशिया के पिछड़े देशों के बीच खड़ा था। यह स्थिति विशेष तौर पर पिछड़ी खेती के कारण थी। लेकिन जहाँ तक रूस के औद्योगिक विकास का प्रश्न था, यहाँ बेहद उन्नत और आधुनिक उद्योग पूँजी के अत्यधिक संकेन्द्रण के साथ मौजूद थे। विशेष तौर पर, यूरोपीय रूस के कई हिस्सों में औद्योगिक विकास यूरोप के कई उन्नत देशों के औद्योगिक विकास से पीछे नहीं था, विशेष तौर पर, दक्षिण में द्नीपर और दोनेत्ज़ के क्षेत्र में और साथ ही मॉस्को और पीटर्सबर्ग के क्षेत्र में। कई क्षेत्रों में पूँजी का संकेन्द्रण इस कदर ज़्यादा था कि 1914 आते-आते पूरे रूस में 500 से अधिक मजदूरों वाले कारखानों का हिस्सा कुल कारखानों में करीब 53 प्रतिशत हो चुका था; गौरतलब है कि इसी समय अमेरिका में कुल कारखानों में केवल 31 प्रतिशत ऐसे थे जिनमें कि 500 मजदूरों से ज़्यादा काम करते थे। निश्चित तौर पर, इससे कुल औद्योगिक उत्पादन की कोई तस्वीर नहीं उपस्थित होती है। अमेरिका कुल औद्योगिक उत्पादन में उस समय कहीं आगे था। लेकिन रूस में जो औद्योगिक विकास हुआ था उसके चरित्र को समझने के लिए यह आँकड़ा महत्वपूर्ण है। रूस में खानों-खदानों में, विशेष तौर पर कोयले और लोहे की खदानों का आकार, उनमें पूँजी का संकेन्द्रण और प्रति इकाई मजदूरों की संख्या जर्मनी से ज़्यादा थी, अमेरिका के मुकाबले लगभग आधा और इंग्लैण्ड की तुलना में करीब 60 प्रतिशत थी। 1913 में मात्र नौ लोहा व इस्पात संयन्त्र

कुल कच्चे लोहा उत्पादन के करीब आधे का उत्पादन करते थे; रेल उत्पादन का करीब 90 प्रतिशत केवल सात कम्पनियाँ करती थीं और बाकू क्षेत्र में होने वाले कुल तेल उत्पादन का करीब 70 प्रतिशत मात्र छह कम्पनियाँ करती थीं। इन आँकड़ों से हम इन कम्पनियों के आकार का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। इनके कारखाने दैत्याकार हुआ करते थे जिनमें कई बार कई हजार मज़दूर एक साथ काम किया करते थे। वास्तव में, रूस में बड़े पैमाने के उद्योगों का संकेन्द्रण उस समय यूरोप के किसी भी देश से ज़्यादा था। एक आकलन के अनुसार 1913 में रूसी औद्योगिक मज़दूरों का करीब 25 प्रतिशत हिस्सा उन कारखानों में काम करता था जिनमें हजार से ज़्यादा मज़दूर थे और करीब 10 प्रतिशत हिस्सा ऐसे कारखानों में काम करता था जिनमें 500 से 1000 मज़दूर काम करते थे। इसी समय कुल औद्योगिक विकास में रूस से कहीं आगे खड़े जर्मनी में 1000 से ज़्यादा मज़दूरों वाले कारखानों में जर्मन औद्योगिक मज़दूर वर्ग का मात्र 8 प्रतिशत और 500 से 1000 मज़दूरों वाले कारखाने में 6 प्रतिशत काम करता था। यानी रूस में औद्योगिक मज़दूर वर्ग का 35 प्रतिशत हिस्सा ऐसे कारखानों में काम करता था जिनमें 500 से ज़्यादा मज़दूर थे, जबकि उसी समय जर्मनी में यह हिस्सा मात्र 14 प्रतिशत था।

रूस में उद्योगों का विकास दस्तकारी से होते हुए कारखाना व्यवस्था तक नहीं पहुँचा था। यह औद्योगिक विकास ऊपर से राज्य और बैंकों द्वारा किया गया था। रूसी वित्तीय पूँजी के अलावा विदेशी वित्तीय पूँजी निवेश का स्तर रूस में काफी ज़्यादा था। 1914 में रूसी उद्योगों में लगी विदेशी वित्तीय पूँजी का परिमाण करीब 2 अरब रूबल था, जिसमें से करीब 32.6 प्रतिशत हिस्सा फ्रांसीसी, 22.6 प्रतिशत ब्रिटिश, 19.7 प्रतिशत जर्मन, 14.3 प्रतिशत बेल्जियन और 5.2 प्रतिशत अमेरिकी वित्तीय पूँजी का था। ज़ाहिर है कि विदेशी वित्तीय पूँजी निवेश के साथ विदेशी तकनीक और मशीनें भी रूसी उद्योग में शुरू से ही आयीं।

इस पूँजीवादी विकास से जो रूसी सर्वहारा वर्ग अस्तित्व में आया था, उसके चरित्र को समझ लेना भी आवश्यक है क्योंकि यह चरित्र ही आने वाले समय में काफी हद तक उनके बर्ताव और प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करने वाला था। यह सच है कि रूसी सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के ठीक पहले तक कुल रूसी आबादी का मात्र 13 प्रतिशत था, लेकिन यह बेहद बड़े कारखानों में काम करता था और उसकी वर्ग चेतना के विकास के लिए रूसी उद्योग में स्थितियाँ काफी अनुकूल थीं। हालाँकि, इस मज़दूर वर्ग का एक हिस्सा ऐसा भी था जो अभी भी नाम भर के लिए गाँव में एक छोटी-सी जोत का मालिक था और गाँव से जीवन्त सम्पर्क कायम रखता था और साथ ही मन्दी या बेरोज़गारी के समय गाँव वापस भी चला जाता था। लेकिन यह भी सच है कि बड़े पैमाने के उद्योगों में, विशेषकर बड़े सूत के कारखानों, धातु कार्य के कारखानों और खनन में लगी एक बड़ी आबादी अब पूरी तरह से शहरी बन चुकी थी और गाँव से उसका रिश्ता अब नगण्य ही था। सर्वहारा वर्ग की जीवन स्थितियाँ नारकीय थीं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के दूसरे दशक तक मज़दूर वर्ग की भयंकर जीवन स्थितियों का ज़िक्र तत्कालीन अकादमिक और साहित्यिक रचनाओं में हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गोर्की की तमाम रचनाएँ, जैसे कि 'तलछट', 'फोमा गोर्दयेव' और उनकी तीन खण्डों की जीवनी इसी शहरी सर्वहारा वर्ग के जीवन की दर्दनाक हालत का जीवन्त यथार्थवादी चित्रण करती हैं और कई मायने में किसी भी इतिहास या समाजशास्त्र की रचना की बजाय ज़्यादा अच्छी तरह से इन हालात का बयान करती हैं। यह मज़दूर वर्ग 1895 में

पहली बार हड़तालों में उतरा। मज़दूर वर्ग की राजनीतिक गतिविधियों की शुरुआत का ब्यौरा हम आगे देंगे, लेकिन पहले क्रान्ति-पूर्व रूस के सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास लेखन के कुछ विवादास्पद मुद्दों पर आलोचनात्मक चर्चा ज़रूरी है।

ई.एच. कार का मानना है कि दो अलग रास्तों से हुए पूँजीवादी औद्योगिक विकास के कारण रूसी उद्योगों और मज़दूर वर्ग और यूरोपीय उद्योगों और मज़दूर वर्ग, दोनों का ही चरित्र काफ़ी अलग था। इस विषय-वस्तु पर हम थोड़ा आगे आएँगे, लेकिन यहाँ सामान्य महत्व की एक बात समझ लेनी चाहिए। आधुनिक विश्व का आर्थिक इतिहास स्पष्टतः उद्योगीकरण के कई रास्तों की मिसालें पेश करता है। **लेकिन इन सभी रास्तों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।** सबसे पहले जिन देशों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियाँ हुईं वहाँ पूँजीपति वर्ग नीचे से विकसित हुआ था; दस्तकारी, वर्कशॉपों, गिल्ड व्यवस्था से होते हुए मैनुफैक्चर और मशीनोफैक्चर या कारखाना व्यवस्था तक की यात्रा तय की गयी थी। यह एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जो कि यूरोप के कुछ देशों में 11वीं-12वीं सदी से जारी थी। इन देशों में सबसे पहले औद्योगिक क्रान्तियाँ/उद्योगीकरण हुआ। यहाँ पर उद्योगीकरण एक लम्बे वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में हुआ जिसमें उदीयमान उद्यमशील बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तों को पराजित किया और बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व को स्थापित किया। पूँजीवादी व्यवस्था के एक विश्व व्यवस्था के तौर पर उभरने के बाद विश्व के जो हिस्से पीछे रह गये थे उनमें उद्योगीकरण का एक अलग रास्ता अपनाया गया। यहाँ पूँजीवादी विकास की अगुवाई एक उद्यमशील उदीयमान बुर्जुआ वर्ग नहीं कर रहा था, बल्कि राज्य और/या बैंक कर रहे थे। **ई.एच. कार** ने भी इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित किया है और इससे ही कुछ ऐसे नतीजे निकाले हैं जो कि दिक्कततलब हैं और जिन पर हम आगे अपने विचार रखेंगे। फिलहाल, यह समझना ज़रूरी है कि इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है कि पहले उद्योगीकृत होने वाले और बाद में उद्योगीकृत होने वाले देशों में उद्योगीकरण के रास्ते अलग थे। यह नैसर्गिक था। जाहिर है कि बाद में उद्योगीकृत होने वाले जर्मनी, जापान या एक बिल्कुल अलग अर्थ में सोवियत संघ को वही रास्ता अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी जो कि इंग्लैण्ड या हॉलैण्ड ने अपनाया था। जर्मनी, जापान या बिल्कुल अलग सन्दर्भ में सोवियत संघ में पूँजीवादी उद्योगीकरण या तो देशी-विदेशी वित्तीय पूँजी की सहायता से हुआ था, या फिर राज्यसत्ता द्वारा किये गये पूँजी संचय के द्वारा। भारत के सन्दर्भ में बात करें तो स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भी पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा किये गये पूँजी संचय की सहायता से ही बुर्जुआ वर्ग को उसके पैरों पर खड़ा किया गया और साथ ही विदेशी वित्त पूँजी की भी सहायता लेकर पूँजीवादी उद्योगीकरण किया गया। जैसा कि प्रसिद्ध उक्रेनी-अमेरिकी अर्थशास्त्री **अलेक्ज़ैण्डर गर्शेनक्रॉन** ने देर से उद्योगीकृत होने वाले देशों के अपने अध्ययनों में दिखलाया था, कई मायने में वे एक लाभ की स्थिति में रहते हैं। उन्हें सभी तकनीकी कुशलताएँ और तौर-तरीके, प्रबन्धन के रास्ते फिर से नहीं ढूँढने होते हैं। एक पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के अस्तित्व में आने के बाद तकनीकी ज्ञान, पूँजी, प्रबन्धकीय ज्ञान और कौशल आसानी से राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार जा सकते थे और इन देशों में उद्योगीकरण अभूतपूर्व तेज़ रफ़्तार से हो सकता था। इन देशों में आम तौर पर यह विकास राज्य और/या बैंकों द्वारा किया जाता है। जापान और जर्मनी ने 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस बात को सही साबित किया। **अलेक्ज़ैण्डर गर्शेनक्रॉन के आर्थिक पिछड़ेपन के लाभ के**

सिद्धान्त को ज्यों का त्यों सोवियत संघ में होने वाले उद्योगीकरण पर तो नहीं लागू किया जा सकता है, लेकिन क्रान्ति से पहले रूस में हुए पूँजीवादी उद्योगीकरण पर एक सीमित अर्थ में यह सिद्धान्त लागू होता है। कुछ लोगों ने इसे सोवियत संघ में हुए उद्योगीकरण पर भी लागू करने का प्रयास किया है। लेकिन सोवियत संघ में हुआ उद्योगीकरण वास्तव में सोवियत जनता के अकूत साहस, बलिदान और श्रम के बूते हुआ था। निश्चित तौर पर, इसमें अभिकर्ता राज्यसत्ता थी लेकिन यह राज्यसत्ता मजदूर वर्ग की हिरावल पार्टी के हाथों में थी और सोवियत संघ में हुआ उद्योगीकरण राज्य और/या बैंक द्वारा जनता की इच्छा से स्वतन्त्र ऊपर से किया गया उद्योगीकरण नहीं था। इसलिए पूँजीवादी उद्योगीकरण के अलग-अलग मॉडलों को समझने के लिए गर्शेनक्रॉन के आर्थिक पिछड़ेपन के लाभों का सिद्धान्त निश्चित तौर पर फायदेमन्द है, लेकिन सोवियत संघ में उद्योगीकरण के तकनीकी पहलू को आंशिक तौर पर व्याख्यायित करने के बावजूद, यह उस महान ऐतिहासिक घटना को सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट नहीं कर सकता है।

बहरहाल, क्रान्ति से पहले रूस में हुए उद्योगीकरण को यूरोप के कुछ उन्नत देशों में हुए उद्योगीकरण के बरक्स रखते हुए ई.एच.कार ने कुछ दिलचस्प प्रेक्षण सामने रखे हैं। कार अपनी पुस्तक 'दि बोलशेविक रिवोल्यूशन, 1917-23' के दूसरे खण्ड में लिखते हैं कि रूस में पूँजीवादी विकास वित्तीय पूँजी के ज़रिये हुआ था, जिसका एक अच्छा-खासा हिस्सा फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी से आता था। यह पूँजीवादी विकास दस्तकारी और गिल्ड व्यवस्था के रास्ते नहीं हुआ था और इसकी अगुवाई करने वाली आबादी का अतीत दस्तकारी में नहीं था, बल्कि वित्तीय पूँजी में था। चूँकि पश्चिमी यूरोप में दस्तकारों की ही एक आबादी पूँजीपति वर्ग में और दूसरा हिस्सा सर्वहारा वर्ग में तब्दील हुआ था इसलिए वहाँ का मजदूर वर्ग अभी भी अपने शहरी दस्तकारी के अतीत की स्मृतियों से जुड़ा हुआ था, और उसके भीतर "पूँजीवाद के फलों" में भरोसा था। कार आगे लिखते हैं कि रूस का मजदूर वर्ग इससे बिल्कुल भिन्न था। उसका ग्रामीण किसान अतीत उससे अभी बहुत दूर नहीं हुआ था और शहरों में प्रवासी औद्योगिक मजदूर बनने के बाद भी वह गाँव और किसान वर्ग से करीबी से जुड़ा हुआ था। यह मजदूर वर्ग किसानों की उस विशाल बहुसंख्या से जुड़ा हुआ था जो कि भूस्वामियों और ज़ारशाही का भयंकर दमन झेल रहा था। यह पश्चिम के मजदूर वर्ग के समान शिक्षित, कुशल और पूँजीवादी जनवाद के फलों में यकीन रखने वाला मजदूर वर्ग नहीं था, बल्कि एक ऐसा मजदूर वर्ग था जो कुछ दशकों या यहाँ तक कि कुछ वर्षों पहले तक किसान था और किसानों से बहुत करीबी से जुड़ा हुआ भी था; तमाम मजदूर ऐसे थे जो मन्दी के दौरान या निकाले जाने पर गाँव वापस चले जाते थे और खेती में लग जाते थे। कार के मुताबिक इस विशेष चरित्र के कारण रूस में मजदूरों और किसानों के हितों में काफी हद तक समानता थी और ठीक इसीलिए यहाँ पर क्रान्तिकारी प्रचार के लिए ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन मौजूद थी। यानी, अगर रूस का मजदूर वर्ग भी यूरोप के मजदूर वर्ग के समान दस्तकारी की ज़मीन से पैदा हुआ होता और किसान अतीत रखने वाला न होता, अति-शोषित न होता, किसान वर्ग से करीबी रखने वाला न होता तो उसमें क्रान्तिकारी प्रचार का असर कम होता और एक क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन खड़ा हो पाना मुश्किल होता। कार के तर्क के अनुसार यूरोप का मजदूर वर्ग क्रान्तिकारी इसलिए नहीं था क्योंकि उसने पूँजीवाद के फल अगर चखे नहीं तो कम-से-कम देखे थे क्योंकि मध्यकालीन और उत्तर-मध्यकालीन दस्तकार

वर्ग की ही एक अल्पसंख्या पूँजीपति वर्ग में तब्दील हुई थी और बाकी हिस्सा सर्वहारा वर्ग में तब्दील हुआ था; यह मजदूर वर्ग भी शिक्षित, कुशल और शहरी था, किसान वर्ग से अलग था। इसलिए वहाँ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रचार का मजदूर वर्ग में वह असर नहीं होने वाला था जो कि रूस में हुआ।

ई.एच. कार का यह पूरा विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है। तथ्यात्मक तौर पर दिये गये व्यौरे में कहीं कोई कमी नहीं है और वह एकदम सटीक है। लेकिन विश्लेषण विचारधारा-अन्धता के कारण कई स्तरों पर भयंकर ग़लतियाँ करता है। मिसाल के तौर पर, यूरोप का ही मजदूर वर्ग था जिसने साम्राज्यवाद के प्रभावी परिघटना में तब्दील हो जाने के ठीक पहले इन्हीं उन्नत पश्चिमी पूँजीवादी देशों में पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़े किये थे। चाहे वह 1848 की यूरोपीय क्रान्तियाँ हों जिसमें सर्वहारा वर्ग ने पहली बार पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति के प्रयास किये थे, या फिर 1871 का पेरिस कम्यून हो। ये मजदूर वर्ग के आर्थिक आन्दोलन नहीं थे, बल्कि राजनीतिक आन्दोलन थे और सत्ता का प्रश्न उठाते थे। और इस समय तो कोई सुगठित कम्युनिस्ट पार्टी भी नहीं मौजूद थी जो इस मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी प्रयास करती। साथ ही, दस्तकारी के अतीत से भी यह मजदूर अब आगे आ चुका था और पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में विभाजित हो चुका था। समान वर्ग मूल रखने के बावजूद उदीयमान सर्वहारा वर्ग ने नये बुरुजुआ वर्ग के खिलाफ़ अपनी जंग छेड़ दी थी। यदि, कार के शब्दों में 'पूँजीवाद के फलों में भरोसा' यूरोपीय मजदूर वर्ग को क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर जाने से रोकता तो वह 1840 के दशक से लेकर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भी उस मजदूर वर्ग को पूँजीवाद-विरोध बगावतों की ओर जाने से रोकता। पश्चिमी यूरोप और विशेष तौर पर जर्मनी और फ्रांस के मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं के क्षीण पड़ने के पीछे मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के समान वर्ग मूल का होना (जर्मनी में तो ऐसा पूरी तरह था भी नहीं) या फिर 'पूँजीवाद के फलों में भरोसा होना' नहीं था। इसका कारण 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वित्त पूँजी का पूँजी के संघटन में निर्णायक तौर पर हावी होना और साम्राज्यवाद के दौर की शुरुआत होना था। लेनिन ने 'दूसरे इण्टरनेशनल का पतन', 'सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काऊत्स्की', 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की चरम अवस्था', 'तथाकथित बाज़ार प्रश्न पर' आदि जैसी रचनाओं में साम्राज्यवाद के उदय, कुलीन मजदूर वर्ग और संशोधनवाद के उदय के बीच के सम्बन्धों को स्पष्ट किया है। पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवाद के मॉडल में नैसर्गिक तौर पर कुछ ऐसा नहीं था कि उसने क्रान्तिकारी सम्भावना खो दी थी; यह साम्राज्यवाद के दौर की एक विशिष्टता थी जिसके कारण यूरोप का मजदूर आन्दोलन संशोधनवाद और सुधारवाद के गड्ढे में जा गिरा था। इंग्लैण्ड में कुलीन श्रमिक वर्ग का उद्भव पहले होता है, क्योंकि वित्तीय पूँजी और साम्राज्यवाद के मामले में भी यह देश सबसे आगे और सबसे पहले था। यहाँ पर मजदूर आन्दोलन के ही एक हिस्से के पूँजीवादीकरण के बारे में तो एंगेल्स ने ही लिखा था। ई.एच. कार साम्राज्यवाद की परिघटना और यूरोपीय मजदूर आन्दोलन पर उसके प्रभाव को समझने में पूरी तरह से असफल रहे हैं। इसी कारण से कार समाजवाद का एक पूर्वी और औपनिवेशिक, अर्द्धऔपनिवेशिक या पिछड़े देशों की परिघटना के रूप में सारभूतीकरण (एसेंशियलाइज़ेशन) या नैसर्गिकीकरण (नैचुरलाइज़ेशन) करते हैं।

वास्तव में, कुछ जगहों पर यह विश्लेषण तथ्यात्मक गलतियाँ भी करता है। मिसाल के तौर पर, पूरा का पूरा सर्वहारा वर्ग इंग्लैण्ड, फ्रांस या जर्मनी में भी सिर्फ दस्तकारों के बीच से पैदा नहीं हुआ था। इन सभी देशों में अलग-अलग समय पर बाड़ेबन्दी के कानूनों के ज़रिये कृषि में लगी अतिरिक्त आबादी को उद्योगों में काम करने के लिए मुक्त किया गया था और उनका सर्वहाराकरण किया गया था। इसलिए इन सभी देशों में 19वीं सदी के अन्त में जो सर्वहारा वर्ग मौजूद था, उसका अच्छा-खासा हिस्सा विकिसानीकृत (depeasantize) होकर आया था और उसका अतीत दस्तकारी में नहीं बल्कि कृषि में था। इस पूरे उदाहरण में भी हम देख सकते हैं कि ई.एच.कार का पूरा विश्लेषण विचारधारा के प्रति एक सन्देह रखने और तथ्यों और आनुभविक सामग्री के प्रति अति-आग्रह रखने के कारण एक बड़ी भूल करता है।

रूस का परिवहन तन्त्र 1880 से 1910 के दशकों के बीच अच्छा-खासा विकसित हुआ। इसी बीच 4000 मील लम्बी ट्रांस-साइबेरिया रेलवे लाइन का निर्माण हुआ था। रेलवे का करीब दो-तिहाई हिस्सा सरकार के नियन्त्रण में था। देश के अन्य हिस्सों में भी 1914 तक रूस में 48 हजार मील की रेलवे लाइनें बन चुकी थीं। अलग से देखा जाये तो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 20वीं सदी के पहले दशक तक रेलवे का विकास विचारणीय था, लेकिन कुल मिलाकर यह पश्चिमी यूरोप के लगभग हर देश से पीछे था। सड़कों के मामले में भी रूस अभी बहुत पीछे था। मॉरिस डॉब ने अपनी पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' में दिखलाया है कि सड़क परिवहन के मामले में रूस 1910 के दशक में वहीं खड़ा था, जहाँ इंग्लैण्ड अट्ठारवीं सदी के अन्त तक पहुँचा था।

जहाँ तक व्यापार का प्रश्न है तो रूस मूलतः अनाज और कच्चे माल का निर्यात करता था और उत्पादित मैनुफैक्चर किये गये मालों का मुख्य रूप से आयात करता था। रूस पूँजी के आयात और निर्यात के मामले में मुख्य तौर पर पूँजी का आयातक था। पूँजी का कुल आयात पूँजी के कुल निर्यात से कहीं ज़्यादा था। रूस उस समय पूरे पश्चिमी यूरोप के गेहूँ के करीब एक तिहाई की आपूर्ति करता था। अन्य खाद्यान्नों के निर्यात में भी रूस की स्थिति अग्रणी थी। खाद्यान्न निर्यात रूस के कुल निर्यात का करीब 50 फीसदी था, जबकि अन्य कच्चे मालों व अर्द्धनिर्मित मालों का निर्यात करीब 36 फीसदी था। रूस में कृषि में जो विकास 19वीं सदी में हुआ था उसके लिए निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था काफ़ी हद तक जिम्मेदार थी। लेकिन मॉरिस डॉब का ज़ोर इस निर्यात के बाह्य कारक पर थोड़ा ज़्यादा है। रूस में कृषि के विकास का एक कारण यह भी था कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से औद्योगिक विकास में जो तेज़ी आयी और भूदास प्रथा के उन्मूलन के साथ पैदा होने वाले विशाल भूमिहीन मज़दूरों के वर्ग के एक हिस्से के शहरों की ओर पलायन के कारण शहरों की कुल आबादी में जो बढ़ोत्तरी हुई, उसका पेट भरने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना ज़रूरी था। इसलिए निर्यात के साथ-साथ यह आन्तरिक कारण भी रूसी कृषि में होने वाले परिवर्तनों के लिए काफ़ी हद तक जिम्मेदार था। रूस में उत्पादित मालों का बाज़ार सीमित था। यह मात्र पश्चिमी रूस के कुछ बड़े शहरों और औद्योगिक केन्द्रों तक सिमटा हुआ था। खैर, इन उत्पादित मालों का बड़ा हिस्सा आयात के ज़रिये आता था। बीसवीं सदी के पहले दशक के ख़त्म होने तक रूस मूल रूप से खाद्यान्न और कच्चे माल का निर्यातक और उत्पादित मालों और पूँजी का आयातक था। विदेशी पूँजी निवेश का ब्यौरा हम ऊपर दे आये हैं। वित्तीय पूँजी

के क्षेत्र में भी अगर विदेशी निवेश की बात करें तो हम पाते हैं कि रूस के 18 अग्रणी जॉइंट स्टॉक बैंकों की कुल पूँजी का करीब 42 फीसदी विदेशी पूँजी था। इसमें प्रमुख हिस्सा उस समय फ्रांस और जर्मनी का था। लेकिन इस पूरे चित्रण से ऐसा ज़ाहिर नहीं होना चाहिए कि रूस की स्थिति पश्चिमी यूरोप के उन्नत देशों के बरक्स एक अर्द्धउपनिवेश की थी। मॉरिस डॉब ने ठीक ही लिखा है कि इन उन्नत देशों की तुलना में रूस की स्थिति अगर अर्द्धउपनिवेशिक जैसी दिखती है तो दूसरी ओर दक्षिणी-पूर्वी यूरोप, मध्य एशिया और सुदूर पूर्व के देशों के लिए उसकी स्थिति एक साम्राज्यवादी शक्ति की थी। इन देशों में सैन्य हस्तक्षेप और कब्जे के अलावा रूस का छोटा किन्तु संगठित पूँजीपति वर्ग इन देशों के बाज़ारों में निवेश कर रहा था, पूँजी का निर्यात कर रहा था और उत्पादित माल भी बेच रहा था। 1905 में लिखते हुए लेनिन ने कहा था कि रूस में राज्यसत्ता पर ज़ार के नेतृत्व में मुट्ठी भर सामन्तों का कब्ज़ा है जो कि विशाल वित्तीय पूँजीपतियों के साथ मिलकर देश पर शासन कर रहे हैं। यही कारण है कि रूस की ज़ारशाही और उसकी नीतियों का चरित्र “सैन्य-सामन्ती” है। लेनिन के शब्दों में रूस की अर्थव्यवस्था उस समय अत्यधिक उन्नत पूँजीवाद व साम्राज्यवाद तथा प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों का एक मिश्रण है जिसमें बेहद पिछड़ी कृषि और आदिम गाँव बेहद उन्नत उद्योग व वित्तीय पूँजी के साथ सह-अस्तित्वमान हैं। ज़ाहिर है कि 1916 आते-आते रूस का पूँजीवादी विकास काफी अधिक हो चुका था। 1906 में स्तोलिपिन के सुधार कानूनों के आने के बाद पूँजीवादी विकास ने रूस में और तीव्र गति पकड़ ली थी। स्तोलिपिन, सर्गेई विट्टे जैसे लोगों को ज़ार के मन्त्रीमण्डल में नियुक्त किया जाना, दूमा के राजनीतिक प्रभाव का बढ़ना श्रम विनियमनों का आना, यह सब दिखलाता था कि निरंकुश राजशाही तन्त्र में बुर्जुआ वर्ग का प्रभाव धीरे-धीरे विस्तारित हो रहा है, या कहें कि उसमें उसकी हिस्सेदारी बढ़ रही है।

यहाँ दो सामान्य महत्व की बातों पर ध्यान देना ज़रूरी है: पहली बात यह कि निरंकुश राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र को लेकर एक बहस मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्दर मौजूद है। पेरी एण्डरसन ने अपनी पुस्तक ‘लीनियेजेज़ ऑफ़ दि एब्सॉल्यूटिस्ट स्टेट’ में यह दावा किया था कि मार्क्स और एंगेल्स ने निरंकुश राज्यतन्त्र को सामन्ती न मानकर मुख्यतः पूँजीवादी माना है और यह उनकी भूल थी क्योंकि इतिहास दिखलाता है कि निरंकुश राज्यतन्त्र का वर्ग चरित्र मूलतः सामन्ती था। लेकिन यह पूरा तर्क तथ्यतः भी ग़लत है और पद्धति के धरातल पर भी। हमें मार्क्स और एंगेल्स के लेखन में दोनों ही प्रकार के निरंकुश राज्यतन्त्रों का ब्यौरा मिलता है; एक, जहाँ पूँजीपति वर्ग राज्यसत्ता पर हावी हो चुका था और दूसरा जहाँ अभी भी सामन्ती भूस्वामियों का वर्ग राज्यसत्ता पर मुख्य रूप से काबिज़ था, हालाँकि पूँजीपति वर्ग भी उसमें हिस्सेदार बन चुका था। वास्तव में, निरंकुश राज्यतन्त्र जिस प्रकार का स्वायत्त बर्ताव करते थे उससे कई बार ऐसा दृष्टिभ्रम पैदा हो जाता था, मानों वे वर्गेतर हों। एंगेल्स ने ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति’ में लिखा था, “...प्राचीन काल का राज्य सर्वप्रथम दासों को दबाकर रखने के उद्देश्य से बना दास-स्वामियों का राज्य था, जैसे कि सामन्ती राज्य भूदासों और बंधुआ आबादी के शोषण का एक उपकरण था और आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य पूँजी द्वारा उजरती श्रम के शोषण का एक उपकरण है। यद्यपि, अपवादस्वरूप, ऐसे काल आते हैं जब युद्धरत वर्ग एक दूसरे को इस कदर करीबी से सन्तुलित करते हैं कि राज्यसत्ता, एक प्रतीतिगत मध्यस्थ के रूप में, क्षण भर के लिए

दोनों से ही एक निश्चित हद तक स्वतन्त्रता हासिल कर लेती है। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के निरंकुश राज्यतन्त्र ऐसे ही थे जो कि कुलीन वर्ग और बर्गों के वर्ग के बीच सन्तुलन रखते थे; पहले और उससे भी ज़्यादा दूसरे फ्रांसीसी साम्राज्य का बोनापार्टवाद भी ऐसा ही था, बुर्जुआ वर्ग को सर्वहारा वर्ग से और सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग से भिड़ा देता था।” (एंगेल्स, ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति’, 1978, फॉरेन लैंग्वेज प्रेस, पीकिड, पृ. 208, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा) इसी प्रकार के निरंकुश राज्यसत्ता के नवीनतम उदाहरण के तौर पर बिस्मार्क के दौर के जर्मनी की बात एंगेल्स ने आगे की है। रूस में जो निरंकुश राज्यतन्त्र आया वह हूबहू ऐसा नहीं था। इतिहास में कभी घटनाओं का हूबहू दुहराव नहीं होता। रूसी निरंकुश राज्य की अपनी विशिष्टताएँ थीं। लेकिन निरंकुश राज्यसत्ता दोनों ही वर्गों के प्रतीतिगत सन्तुलन को क्षण भर के लिए दिखला सकती है। अन्ततः उस पर या तो सामन्ती वर्ग को हावी होना होता है या फिर बुर्जुआ वर्ग को। चूँकि इस राज्यसत्ता में दोनों ही वर्गों की हिस्सेदारी होती है ठीक इसीलिए निरंकुश राज्यसत्ता कई बार इन वर्गों के बीच की मध्यस्थ प्रतीत होती है। निरंकुश राज्यसत्ता अक्सर एक तरल और संक्रमणशील ऐतिहासिक दौर में बदलते वर्ग शक्ति सन्तुलन का प्रतीक होती है। रूस में भी सामन्त वर्ग और पूँजी की शक्तियों के बीच के बदलते शक्ति सन्तुलन को ज़ार की सत्ता अभिव्यक्त करती थी। इस सन्तुलन में धीरे-धीरे पलड़ा एक ओर से दूसरी ओर झुकता गया। इस प्रक्रिया के अपने अन्तर्विरोध होते हैं और बुर्जुआ वर्ग का पलड़ा भारी होते ही पारम्परिक राजतन्त्र के भीतर बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास असम्भव हो जाता है। इसलिए या तो राजतन्त्र एक प्रतीकात्मक चीज़ बनकर रह जाती है, जैसा कि इंग्लैण्ड में हुआ; या फिर जर्मनी या रूस जैसी स्थिति पैदा होती है जब पूँजीपति वर्ग भूतपूर्व सामन्ती भूस्वामियों (जो कि अब पूँजीवादी युंकर/कुलक में तब्दील हो चुके हैं) के साथ मिलकर एक ऐसी बुर्जुआ क्रान्ति या क्रमिक सुधार करता है जिसमें जनवादी कुछ भी नहीं होता; मज़दूरों और व्यापक किसान आबादी को कुछ भी नहीं मिलता। रूस में काफी हद तक ऐसा ही हुआ था।

दूसरी बात जो यहाँ समझना ज़रूरी है वह यह कि इस प्रकार के संक्रमण दो शोषणकारी व्यवस्थाओं, दो शोषणकारी वर्गों के बीच हो सकते हैं। ग्याँगी लूकाच ने लिखा था कि बुर्जुआ क्रान्तियाँ अभूतपूर्व सुगमता (पूजी इतपससपंदज कसंद) के साथ आगे बढ़ती हैं क्योंकि एक पुरानी शोषणकारी व्यवस्था के गर्भ में ही नयी शोषणकारी व्यवस्था का आर्थिक और भौतिक विकास काफी हद तक हो चुका होता है; बुर्जुआ क्रान्तियों को केवल राजनीतिक परिवर्तनों को अंजाम देना होता है; लूकाच के शब्दों में उन्हें बस कानून पास करने होते हैं। इन क्रान्तियों के सम्पन्न होने के लिए कोई उथल-पुथलकारी, हिंस्र विद्रोह या इंस्पेक्शन (सशस्त्र विद्रोह) होना अनिवार्य नहीं होता। कई बार किसी एक विशाल आमूलगामी विद्रोह या उथल-पुथल की कोई प्रक्रिया घटित नहीं होती और यह कई दशकों के छोटे-मोटे उथल-पुथल (जो कानूनों, विनियमनों, छोटे विद्रोहों के रूप में हो सकती हैं) के रूप में विस्तारित होती है। ऐसी प्रक्रिया ज़ाहिरा तौर पर पूँजीवाद के इने-गिने सकारात्मक ही लाती है, नकारात्मक ज़्यादा देती है। जैसा कि मार्क्स ने एक बार मज़ाक में कहा था, “जर्मनी में हम पूँजीवाद के विकास से उतना पीड़ित नहीं हैं, जितना कि पूँजीवाद का विकास न होने से।” इस रूपक से मार्क्स का इशारा पूँजीवादी रूपान्तरण के उस रास्ते से है जो कि किसी जनवादी

क्रान्ति द्वारा सम्पन्न नहीं होता, बल्कि एक पीड़ादायी, दीर्घकालिक और क्रमिक प्रक्रिया में सम्पन्न होता है और जिसमें पूँजीवाद के सकारात्मक जनसमुदायों को हासिल नहीं होते, लेकिन नकारात्मक सारे मिलते हैं। रूस में काफ़ी हद तक ऐसा ही हुआ था। फरवरी क्रान्ति के दस माह बाद ही सर्वहारा क्रान्ति के होने के पीछे युद्ध, भूख और सोवियतों के स्वतःस्फूर्त उदय के अलावा एक कारण यह भी था कि एक अपूर्ण किस्म की जनवादी क्रान्ति को फरवरी क्रान्ति के बाद बनी बुर्जुआ सरकार पूर्णता तक पहुँचाने में अक्षम थी, क्योंकि इस सरकार का वर्ग चरित्र पूँजीपति-युंकर गठजोड़ था। पूँजीपति वर्ग अब भूस्वामी वर्ग से शक्ति सन्तुलन में आगे निकल चुका था लेकिन पूँजीपति वर्ग का नेतृत्व यह समझता था उसकी शक्ति अभी इतनी भी ज़्यादा नहीं थी कि वह भूस्वामी वर्ग के खिलाफ़ चलायमान युद्ध छेड़ पाता और साथ ही वह आम मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी के खुलने से भयभीत भी था। और यही कारण था कि लेनिन ने 'अप्रैल थीसीज़' में स्पष्ट किया कि रूस आने वाली आपदा से सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति के रास्ते ही बच सकता है।

1860 के दशक से लेकर 1914 में प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के समय तक रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के इस संक्षिप्त ब्यौरे और इससे जुड़े इतिहास-लेखन की कुछ समस्याओं पर आलोचनात्मक विवेचन के बाद हम रूस में मजदूर आन्दोलन, किसान विद्रोहों के शुरू होने और इस दौरान प्रमुख राजनीतिक रुझानों पर चर्चा कर सकते हैं। रूस में मजदूर आन्दोलन और किसान विद्रोहों की शुरुआत का संक्षिप्त विवरण के बाद राजनीतिक विकास का जो ब्यौरा हम पेश करेंगे, उसमें हमारा जोर रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास और पार्टी के जन्म और विकास पर होगा। खास तौर पर 1895 से लेकर 1917 तक कम्युनिस्ट आन्दोलन और पार्टी के विकास की पूरी प्रक्रिया को समझना बेहद ज़रूरी है। हमारा मानना है कि क्रान्ति के बाद विशेष तौर पर 1917 से लेकर 1923 तक और उसके बाद भी कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर राज्य, पार्टी और वर्ग के बीच के रिश्तों को लेकर जो गम्भीर बहसें चलीं, उसे समझने के लिए क्रान्ति से पहले दो लाइनों के संघर्ष के उस पूरे इतिहास को समझना बेहद ज़रूरी है, जिसके ज़रिये पार्टी विकसित हुई। पार्टी के भीतर "वामपंथी" भटकाव और दक्षिणपंथी अवसरवाद के बीच के संघर्ष के ज़रिये ही लेनिनवादी अवस्थिति निःसृत हुई और इसके बाद भी यह लेनिनवादी कार्यदिशा लगातार "वामपंथी" और दक्षिणपंथी भटकावों से सतत संघर्षरत रही। सोवियत रूस (आर.एस.एफ.एस.आर.) में और फिर सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण की समस्याओं को समझने का सबसे उपयुक्त तरीका हमारे विचार में यही होगा कि पार्टी के भीतर सतत जारी दो लाइनों के संघर्ष को समझा जाय और यह समझा जाय कि इस संघर्ष में समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ और उनके प्रति अप्रोच किस रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। यह बात भी अहम है कि इन संघर्षों को महज उस समय की विशिष्ट समस्याओं पर चलने वाली बहसों के रूप में समझने की बजाय सामान्य ऐतिहासिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक महत्व रखने वाले मुद्दों पर चली बहसों के रूप में समझा जाय। अन्यथा, इन बहसों का महत्व ऐतिहासिक आकस्मिकता के दायरे में सिमट कर रह जाता है जबकि वास्तव में ये बहसें किसी भी देश में समाजवादी संक्रमण के दौरान सही अवस्थिति के निःसरण के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं।

2. फरवरी क्रान्ति से पहले रूस में किसान विद्रोह, मज़दूर आन्दोलन और प्रारम्भिक राजनीतिक आन्दोलन व संगठन

जैसा कि हम ऊपर विवरण दे चुके हैं, रूस में प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधार ने सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामियों में तब्दील होने का अवसर दिया। भूदासों की मुक्ति के बाद जिन शर्तों पर किसानों को मुक्त किया गया था और ज़मीनें दी गयी थीं, वे ऐसी थीं कि उन किसानों का भूमिहीन मज़दूरों में तब्दील हो जाना या फिर निर्भर किसान आबादी या अर्द्धसर्वहारा आबादी में तब्दील हो जाना अवश्यम्भावी था। किसानों को अपनी मुक्ति के एवज़ में अपने सामन्ती भूस्वामी को एक रकम अदा करनी पड़ती थी। आम तौर पर यह रकम इतनी ज़्यादा होती थी कि किसानों को इन भूस्वामियों की भूमि पर श्रम करके चुकानी पड़ती थी, या फिर अपनी ज़मीनें खोकर। ज़मीन का एक अधूरा और निष्प्रभावी पुनर्वितरण सीमित रूप में हुआ लेकिन उत्पादन के अन्य साधनों जैसे कि पशुधन, कृषि के उपकरण आदि का कोई पुनर्वितरण या ज़ब्ती नहीं हुई। नतीजतन, कुछ इलाकों में यदि किसानों को कुछ ज़मीनें हासिल भी हुई तो उस पर खेती करने के लिए न तो उनके पास घोड़े थे, न हल और न ही पूँजी। वास्तव में, उत्पादन के अन्य साधनों के पुनर्वितरण की माँग को किसानों या उनके भावी राजनीतिक प्रतिनिधियों ने कभी उठाया ही नहीं, जो कि किसान आन्दोलन में राजनीतिक चेतना की दुर्वस्था का प्रतीक था। लेकिन अभी हम इस विवरण में जाने की बजाय 1861 से 1907-8 तक किसानों पर इस क्रमिक प्रक्रिया से होने वाले भूमि सुधार के असर पर अपनी चर्चा केन्द्रित करेंगे। भूमि सुधार का असर पूरे रूस में एकसमान नहीं था। अलग-अलग इलाकों में यह अलग-अलग तरीके से लागू हुआ और इसके प्रभावों में भी वैविध्य रहा। लेकिन इस सारे वैविध्य के बावजूद किसान आबादी को इन भूमि सुधारों से कुछ खास हासिल नहीं हुआ। दूसरी तरफ़ जिन सामन्ती भूस्वामियों ने अपने आपको पूँजीवादी कुलक में तब्दील करने में दिलचस्पी नहीं दिखलायी वे भी एक क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त हो गये। 1906 के स्तोलिपिन सुधार कानून ने रूसी ग्राम समुदाय मीर के बन्धनों से किसानों को अलग होने की आज़ादी दी; लेकिन इसका लाभ भी जाहिरा तौर पर पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों के छोटे-से वर्ग को ही मिलना था, जिसका कि अब ग्राम समुदाय की चौहद्दियों में दम घुटने लगा था। स्तोलिपिन का मक़सद था कि खेती के संकट को ख़त्म करने के लिए ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग को मुक्त किया जाय; भूमि सुधार को कोई रैडिकल स्वरूप देना उसका मक़सद कतई नहीं था। यह बात दीगर है कि इसके बाद कुछ वर्षों तक खेती के क्षेत्र में आयी तेज़ी को छोड़ दें तो रूसी कृषि का ढाँचागत संकट समाप्त नहीं हुआ और 1913 आते-आते फिर से रूस के गाँवों में किसान विद्रोहों की आग भड़कने लगी थी। इस प्रकार से हुए भूमि सुधारों ने करोड़ों किसानों के जीवन को नारकीय स्थिति में पहुँचा दिया था और 1890 के दशक से किसानों के विद्रोहों की बारम्बारता में बढ़ोत्तरी और 1905 की असफल रूसी क्रान्ति के दौरान इनका शीर्ष पर पहुँचना इन्हीं जीवन स्थितियों के कारण हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक केवल दो-तिहाई किसान परिवारों के पास खेती के लिए घोड़े थे, और उनमें से भी अधिकांश के पास एक या दो घोड़े हुआ करते थे, जो अगर किसी वजह से मर जाते थे तो ज़मीन होने के बावजूद किसान के पास मज़दूरी करने या फिर किराये पर धनी किसानों या कुलकों से घोड़े लेने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता था। कृषि के

उपकरणों या पशुओं के लिए धनी किसानों और कुलकों द्वारा लिया जाने वाला किराया इतना ज्यादा होता था कि किसान जल्द ही ऋण के तले दब जाता था, या निर्भर किसान में तब्दील होकर धनी किसानों व कुलकों के खेतों पर श्रम करता था, या फिर ज़मीन बेच कर पूरी तरह खेतिहर मज़दूर या औद्योगिक मज़दूर में तब्दील हो जाता था। 1895 में यूरोपीय रूस के 46 प्रान्तों के सर्वेक्षण में पता चला कि आधे से अधिक किसानों को भर पेट भोजन भी नहीं मिल पाता है। किसानों की खेती से औसत वार्षिक आय 150 से 180 रूबल के बीच थी। इन्हीं जीवन स्थितियों और कुलकों और धनी किसानों के हाथों होने वाले शोषण के खिलाफ़ 1890 के दशक के उत्तरार्द्ध से किसान विद्रोहों ने गति पकड़ी और 1905 में किसान विद्रोहों की लहर ने रूस के अच्छे-खासे हिस्से को अपनी चपेट में ले लिया था। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये किसान विद्रोह राजनीतिक चेतना की कमी का शिकार थे और अक्सर उनके निशाने पर पूरी ज़ारशाही नहीं बल्कि स्थानीय भूस्वामी हुआ करते थे। लेकिन धीरे-धीरे उनमें राजनीतिक चेतना प्रवेश कर रही थी। 1905 की रूसी क्रान्ति के समय तक किसान आन्दोलन में समाजवादी-क्रान्तिकारियों का असर पर्याप्त हो चुका था और वे अपने भूमि सुधार के कार्यक्रम के इर्द-गिर्द किसानों को एक हद तक संगठित कर रहे थे। 1905 की क्रान्ति मज़दूर आन्दोलन और किसान विद्रोहों के बीच तालमेल का पहला प्रयास था जो कि बहुत व्यवस्थित नहीं था। अभी मज़दूर वर्ग का हिरावल भी बहुत व्यवस्थित तरीके से विचारधारात्मक और राजनीतिक तौर पर संगठित नहीं हो पाया था।

मज़दूर वर्ग की स्थिति की चर्चा हम संक्षेप में ऊपर कर चुके हैं। ज़्यादातर मज़दूर मुक्त हुए भूदास थे और जहाँ कहीं नियोक्ता राज्यसत्ता नहीं थी, वहाँ अधिकांश पूँजीपति वास्तव में भूतपूर्व सामन्त थे। **मान्या गॉर्डन** ने अपनी पुस्तक '**वर्कर्स बिफोर एण्ड आफ्टर लेनिन**' में लिखा है कि वास्तव में इन औद्योगिक मज़दूरों का शोषण किसी भी रूप में भूदासों के शोषण से कम नहीं था। मज़दूरों पर पूँजीपति मनमाने तरीके से जुर्माने लगाते थे और उनके विरुद्ध मज़दूर कुछ भी नहीं कर सकते थे। 12 घण्टे का कार्यदिवस अपवाद था क्योंकि अधिकांश जगहों पर मज़दूर 13 घण्टे से ज़्यादा काम करते थे। मज़दूरों को उनके काम के लिए भुगतान साल में दो या चार बार किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इस शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध पहली बार मज़दूरों ने आवाज़ उठानी शुरू की। लेकिन अभी ये मज़दूर बगावतें स्वतःस्फूर्त थीं और आम तौर पर कारखाने में तोड़-फोड़ आदि जैसी गतिविधियों तक सीमित थीं। 1870 के दशक के अन्त से मज़दूरों ने हड़तालें शुरू कीं और 1880 के दशक में इन हड़तालों की बारम्बारता तेज़ी से बढ़ी। 1881 से 1886 के बीच 48 हड़तालें हुईं जो कि उस समय के मानकों से काफ़ी ज़्यादा मानी जाएँगी और खास तौर पर इसलिए भी क्योंकि रूस में विशालकाय औद्योगिक इकाइयाँ ज़्यादा थीं, जिनमें मज़दूर अक्सर हज़ारों की संख्या में काम करते थे। लेकिन अभी भी यह मज़दूर आन्दोलन पूर्णतः स्वतःस्फूर्त ही था। रूसी इतिहास के लगभग सभी प्रमुख अध्येता इस बात पर सहमत हैं कि 1893 से पहले रूसी मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादियों या अन्य रैडिकल ग्रुपों का कोई असर नहीं था। 1890 के दशक से पहले रूस का क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग अपनी राजनीतिक गतिविधियों को मुख्य तौर पर किसानों के बीच केन्द्रित कर रहा था। इसी मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग के बीच से पहला आतंकवादी राजनीतिक ग्रुप **नरोदनाया वोल्या** पैदा हुआ था, जो कि रूस में किसान आबादी को भावी समतामूलक व्यवस्था की नेतृत्वकारी ताक़त मानता था और मानता था कि

आने वाले समय में अपने समतामूलक ग्राम समुदाय मीर के बूते रूस पूँजीवाद के चरण को लौंघकर समाजवादी व्यवस्था में प्रवेश कर जायेगा। इसी गुप के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे रूस के **समाजवादी-क्रान्तिकारी** जिन पर हम आगे चर्चा करेंगे। 1890 के दशक में बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण के कारण शहरों में एक विशाल मजदूर वर्ग पैदा हुआ और इनमें से एक अच्छी-खासी आबादी ऐसी थी, जो पूरी तरह शहरी बन चुकी थी। यह नया सर्वहारा वर्ग नये राजनीतिक अप्रोच और नये राजनीतिक संगठन की माँग कर रहा था। नतीजतन, 1890 के दशक में पहला सामाजिक जनवादी प्रकाशन 'नया युग' प्रकट होता है और पहले सामाजिक-जनवादी समूह रूस के अलग-अलग शहरों में बनना शुरू होते हैं। इनका ब्यौरा हम आगे देंगे, लेकिन पहले मजदूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादी चेतना के प्रवेश के प्रभाव पर बात करना उपयोगी होगा।

1895 की हड़तालों में सामाजिक-जनवादियों की मौजूदगी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी। इन हड़तालों के विरुद्ध ज़ारशाही ने बर्बर दमन का रुख अपनाया। लेकिन इसके बावजूद इनकी दर बढ़ती गयी। 1881 से 1886 के बीच हुई 48 हड़तालों से तुलना करें तो इस वृद्धि के पैमाने का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। 1896 में 118, 1897 में 145, 1898 में 215, 1899 में 189 और 1900 में 125 हड़तालें हुईं। 1901 आते-आते हड़तालों के माँगपत्रकों और उनके प्रदर्शनों ने स्पष्ट रूप से एक राजनीतिक चरित्र धारण कर लिया था। अब वे महज़ वेतन और कार्यस्थितियों के मुद्दे नहीं उठा रही थीं, बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग और ज़ारशाही पर प्रश्न खड़े कर रही थीं। 1903 में करीब 550 बड़ी हड़तालें हुईं। यहाँ प्रसंगवश बता दें कि 1898 में मिंस्क में **रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी** की स्थापना कांग्रेस हुई और 1901 में 'इस्क्रा' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। 1903 में दूसरी कांग्रेस हुई जिसमें कि सांगठनिक प्रश्न और मजदूर वर्ग में कार्य के अप्रोच को लेकर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पहली फूट पड़ी और बोल्शेविक और मंशेविक धड़े अस्तित्व में आये। इनके विवरणों में हम आगे जाएँगे जब रूस में पार्टी के उद्भव और विकास पर चर्चा करेंगे।

1902-3 तक रूसी मजदूर आन्दोलन के विकास और उसमें सामाजिक-जनवादियों के बढ़ते प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने के लिए रूस के शासक वर्ग ने एक नायाब प्रयोग किया जो अन्त में बुरी तरह असफल हुआ। रूस के शासक वर्ग ने खुफिया पुलिस को मजदूर आन्दोलन के राजनीतिकरण को रोकने के लिए इस्तेमाल करने का प्रयास किया। ज़ार की राज्यसत्ता के कुछ "उदार" तत्वों का मानना था कि बढ़ते मजदूर असन्तोष और कम्युनिस्टों के प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने के लिए कुछ सुधारों की आवश्यकता है। हालाँकि, स्वयं ज़ार और कुछ प्रतिक्रियावादी मन्त्री ऐसा नहीं मानते थे। लेकिन इसके बावजूद मॉस्को की खुफिया पुलिस के प्रमुख सर्गेई जुबातोव ने एक प्रयोग शुरू किया। जुबातोव खुद आन्दोलन का भगोड़ा था जिसे अपने साथियों के खिलाफ गद्दारी करने के लिए ज़ारशाही ने मॉस्को खुफिया पुलिस का प्रमुख बनाकर ईनाम दिया। 1902 में जुबातोव आधिकारिक पदानुक्रम के शीर्ष पर पहुँच गया था और एक राजनीतिक व्यक्ति होने के कारण वह समझ रहा था कि बढ़ता मजदूर असन्तोष ज़ारशाही के लिए खतरा बन सकता है। उसने मजदूर आन्दोलन में से क्रान्तिकारी तत्वों को किनारे लगाकर मजदूरों की यूनियनों बनवाने का निर्णय किया। ये यूनियनों मजदूरों के आर्थिक हकों की बातें करतीं लेकिन उन्हें किसी भी प्रकार के राजनीतिकरण से बचातीं थीं। मॉस्को में पुलिस द्वारा प्रायोजित ये यूनियनों काफी सफल हो गयीं और इनमें मजदूरों की

भागीदारी भी काफी बढ़ गयी। कई मौकों पर जुबातोव ने इन यूनियनों से प्रदर्शन भी करवाये। लेकिन जल्द ही ये प्रदर्शन इतने बड़े होने लगे कि रूसी पूँजीपति वर्ग इससे घबरा गया। घबराना वाजिब भी था क्योंकि जुबातोव ने एक ऐसा प्रयोग शुरू कर दिया था जिसे नियन्त्रित कर पाना उसके बूते की बात नहीं था। जुबातोव को पीटर्सबर्ग स्थानान्तरित कर दिया गया, लेकिन तब तक मॉस्को में मजदूरों ने एकता और संगठन का स्वाद चख लिया था। पीटर्सबर्ग में भी जुबातोव ने एक 'सोसायटी ऑफ दि रशियन फैक्टरी एण्ड मिल वर्कर्स' बनायी और पादरी गेपॉन को इसका निदेशक नियुक्त कर दिया। पादरी गेपॉन स्वयं खुफिया पुलिस का एक सदस्य था। लेकिन पादरी गेपॉन में लोकरंजकता के प्रति झुकाव था। 1905 में रूस-जापान युद्ध के कारण जनता में असन्तोष बढ़े पैमाने पर बढ़ा। पहले इस नये संगठन का काम था मजदूरों की सांस्कृतिक व अन्य गैर-राजनीतिक गतिविधियाँ आयोजित करना और साथ ही मजदूरों के सहकारी संघ जैसे निकाय बनाना जो कि संकट में 'शॉक एब्जॉर्बर' का काम करें और मजदूर वर्ग के रैडिकलाइज़ेशन को रोकें। लेकिन 1904 के अन्त से ही इस संगठन का चरित्र बदलने लगा और यह मजदूरों की आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू किस्म के प्रदर्शन करने लगा। अभी भी संगठन का घोषित तौर पर ज़ारशाही से अपील करने में और उससे सुधारों की उम्मीद करने में यकीन था। पादरी गेपॉन के नेतृत्व में मजदूरों के प्रदर्शन विशालकाय होते गये और उनका चरित्र भी अधिक से अधिक जुझारू होता गया। जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि पादरी गेपॉन इन मजदूरों का नेतृत्व नहीं कर रहा था, बल्कि मजदूर आन्दोलन पादरी गेपॉन का नेतृत्व कर रहा था। पादरी गेपॉन के भाषणों की अन्तर्वस्तु जल्द ही राजनीतिक रुख अख़्तियार करने लगी और ज़ार से अपील का स्वर याचना से बदलकर जुझारू माँग में तब्दील होने लगा। पादरी गेपॉन ने पूँजीपतियों से वेतन वृद्धि और कार्यस्थितियों में सुधार को लेकर माँगें कीं, जिन्हें पूँजीपतियों ने टुकरा दिया। इसके बाद गेपॉन ने अपनी उम्मीदें ज़ारशाही पर लगायीं और एक नया माँगपत्रक बनाया जो कि ज़ार को सम्बोधित था। यह नया माँगपत्रक राजनीतिक स्वर अख़्तियार कर चुका था, और शायद गेपॉन स्वयं इसे लेकर सचेत नहीं था। गेपॉन ने इस माँगपत्रक के साथ 22 जनवरी 1905 को ज़ार के दरवाजे पर दस्तक देने का एलान किया और इस बाबत 21 जनवरी को एक पत्र गृह मन्त्री को भेजा। ज़ार ने जुलूस की इजाज़त नहीं दी, लेकिन तब तक मजदूरों की चेतना गेपॉन के नियन्त्रण से बाहर निकल चुकी थी। 22 जनवरी को हज़ारों की तादाद में पीटर्सबर्ग के मजदूर और आम मेहनतकश इस उम्मीद में ज़ार के महल की ओर बढ़े कि उनकी माँगों की सुनवाई होगी और ज़ार उनकी जीवन स्थितियों में सुधार के लिए ज़रूरी क़दम उठायेगा। लेकिन वहाँ पर मजदूरों पर ताबड़तोड़ गोलियाँ चलायीं गयीं। सैंकड़ों मजदूर और आम लोग मारे गये जिनमें बच्चे और औरतें भी शामिल थे। यह दिन **खूनी रविवार** के नाम से इतिहास में दर्ज़ हुआ। इस घटना का पूरे रूस में आम जनता पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। इसके बाद ज़ार ने अपनी छवि सुधारने के लिए कुछ मजदूर प्रतिनिधियों से मुलाकात कर मामले को सम्भालने की कोशिश की लेकिन तब तक मामला हाथ से निकल चुका था। जनता के बीच ज़ारशाही के उदार और दयालु होने और उसकी ओर से कोई सुधार किये जाने को लेकर जो आखिरी भ्रम बचा हुआ था, वह निर्णायक रूप से टूट चुका था।

1905 के बाकी ग्यारह महीने रूस में अभूतपूर्व हड़तालों के महीने बने। सरातोव में रेल मजदूरों की हड़ताल से शुरू हुआ सिलसिला जल्द ही लगभग सभी शहरों में मजदूरों के

बीच फैल गया। मज़दूर राजनीतिक स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे और उनकी यह माँग उनके माँगपत्रक में तमाम आर्थिक माँगों के पहले दर्ज थी। 1905 में ही किसान विद्रोह भी अपने चरम पर थे। लेकिन एक बात स्पष्ट तौर पर दिखलायी दे रही थी: रूस में जनवादी क्रान्ति के संघर्ष में मज़दूर नेतृत्वकारी स्थिति में थे। ज़ारशाही ने हर जगह हड़तालों और मज़दूर बगावतों का भीषण दमन किया। लेकिन दमन जितना बढ़ता विद्रोह की आग उतनी ही भड़कती। लेकिन 1905 में पार्टी एक स्पष्ट नज़रिये के साथ मज़दूरों को नेतृत्व देने के लिए तैयार नहीं थी; न ही किसानों के विद्रोह की धारा के साथ शहरों का मज़दूर विद्रोह सही तरीके से जुड़ पाया था। 14 अक्टूबर 1905 में पीटर्सबर्ग सोवियत संगठित हुई थी। यह सोवियत मूल और मुख्य रूप से जनसमुदायों की स्वतःस्फूर्त पहलकदमी पर संगठित हुई थी, लेकिन इसके करीब 50 दिनों के जीवन में इस पर मंशेविकों का प्रभाव बोल्शेविकों के मुकाबले ज़्यादा था। पूरे रूस में तमाम क्षेत्रों में सोवियतें संगठित हुईं और स्वतःस्फूर्त रूप से इन्होंने राजनीतिक कार्रवाइयों में हिस्सेदारी की। अभी बोल्शेविक पार्टी की सोवियतों के आन्दोलन पर कोई विशेष पकड़ नहीं थी। लेनिन अभी सोवियतों को जनता की सत्ता के निकाय के रूप में नहीं देख रहे थे। वह इन संस्थाओं को जनसमुदायों के विशिष्ट राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के लिए उपयोगी संस्था के रूप में देख रहे थे। कुछ अध्येताओं ने दावा किया है कि त्रात्स्की शुरू से ही सोवियतों को जनता की सत्ता का निकाय मानते थे, लेकिन तथ्य कुछ और ही सिद्ध करते हैं। त्रात्स्की ने स्वयं ही अपनी रचना 'वर्ष 1905' में कहा था कि पीटर्सबर्ग सोवियत की पहली बैठक से ही साफ़ था कि इसकी भूमिका संसद से ज़्यादा एक युद्ध परिषद् की है। इस समय बोल्शेविकों की लन्दन कांग्रेस में यह निर्णय लिया गया कि सर्वहारा वर्ग को निरंकुश ज़ारशाही के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार किया जाय और आरज़ी क्रान्तिकारी सरकार में भागीदारी के लिए तैयार रहा जाय। लगभग इसी समय मंशेविकों ने जिनेवा में एक सम्मेलन किया और तय किया कि पार्टी को अभी सत्ता पर कब्ज़ा करने का लक्ष्य निर्धारित नहीं करना चाहिए और न ही किसी आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी को लक्ष्य बनाना चाहिए; उसे अतिरेकपूर्ण क्रान्तिकारी विरोध की पार्टी बने रहना चाहिए। खैर, इस राजनीतिक संघर्ष का 1905 में क्रान्ति की ओर बढ़ते आन्दोलन पर और विशेष तौर पर सोवियतों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था। सोवियतों में सक्रिय सामाजिक जनवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर अभी 1903 की बोल्शेविक-मंशेविक फूट का विशेष प्रभाव नहीं था और ज़्यादातर व्यावहारिक मसलों पर वे तालमेल करते हुए ही काम कर रहे थे। दिसम्बर में पीटर्सबर्ग सोवियत की सशस्त्र बगावत का प्रयास ज़ारशाही ने आसानी से कुचल दिया। शहर की बगावत में शामिल मज़दूर न तो हथियारबन्द थे, न सेना और पुलिस अभी उनके पक्ष में थी और न ही किसान विद्रोह की शक्ति के साथ कोई उपयुक्त तालमेल बिठाने का प्रयास किया गया था। वास्तव में, उस समय लेनिन का सोवियतों की शक्ति के प्रति रुझान बिल्कुल सही था। 1905 की सोवियतों और 1917 में सोवियतों के पुनर्जागरण के बीच बहुत फर्क था, जिस पर हम आगे त्रात्स्कीपंथ की आलोचना पर केन्द्रित हिस्से में चर्चा करेंगे। 1905 की क्रान्ति की असफलता ने लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन और त्रात्स्की की वामपंथी कार्यदिशा और "स्थायी क्रान्ति" के सिद्धान्त के दीवालियेपन को सिद्ध किया। क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त और त्रात्स्कीपंथी सिद्धान्त के बीच के विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष पर हम

आगे चर्चा करेंगे। फिलहाल, 1905 की क्रान्ति की असफलता के बाद के दौर पर अपनी चर्चा को हम जारी रखेंगे।

दिसम्बर 1905 में पीटर्सबर्ग में मजदूर बग़ावत के कुचले जाने और इसके प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के बाद भी देश के अलग-अलग हिस्सों में बिखरे हुए मजदूर विद्रोह, हड़तालें और किसान विद्रोह होते रहे। 1905 की असफल क्रान्ति के ठीक पहले ज़ार ने एक संवैधानिक राजतन्त्र और दूमा का वायदा किया था। 1905 के बाद जारी सामाजिक असन्तोष के बरक्स ज़ारशाही ने बर्बर दमन और प्रतिक्रिया का रास्ता अपनाया और 1907 आते-आते यह साफ़ हो गया था कि जिन जनवादी अधिकारों का ज़ारशाही ने वायदा किया था, वे या तो अपूर्ण रूप में मिले हैं या निष्प्रभावी हैं। 1907 से लेकर 1912 तक का दौर प्रतिक्रिया का दौर था। इस दौर में मजदूर आन्दोलन पीछे गया। किसान विद्रोह भी उस बारम्बारता के साथ नहीं हो रहे थे। इस दौर में बोल्शेविक पार्टी का विकास जारी रहा लेकिन आन्दोलन कमज़ोर पड़ा। 1912 आते-आते मजदूरों का सब्र फिर से जवाब दे रहा था। किसानों के बीच भी असन्तोष एक बार फिर से बढ़ रहा था। 1912 में लेना की सोने की खानों में मजदूरों के प्रदर्शन पर गोलियाँ बरसायी गयीं जिसमें करीब 500 मजदूर मारे गये। यह जनवरी 1905 के 'खूनी रविवार' के बाद दमन का सबसे भयंकर मौका था। इसके साथ ही मजदूर आन्दोलन का फिर से उभार शुरू हुआ। 1912 ही वह वर्ष था जब बोल्शेविक पार्टी का औपचारिक तौर पर मेशेविकों से अलग, एक नयी पार्टी के रूप में गठन हुआ। 1912 से देश के मजदूर आन्दोलन में एक नया दौर शुरू होता है। 1914 में युद्ध की शुरुआत ने आम मेहनतकश जनता के बीच के असन्तोष को नये सिरे से बढ़ाने का काम किया।

1913 से ही हम विभिन्न पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में युद्ध के अनुसार तैयारियाँ देख सकते हैं। रूस में भी 1914 की शुरुआत से ही युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गयी थीं। 1913 से 1917 के बीच रूस के औद्योगिक मजदूरों का करीब 20 प्रतिशत युद्ध के लिए गोलबन्द किया जा चुका था। नतीजतन, औद्योगिक मजदूरों में महिलाओं का हिस्सा 1913 के 39 प्रतिशत से बढ़कर 44 प्रतिशत हो गया। इसके साथ ही किशोरों और बच्चों को भी बड़े पैमाने पर उद्योगों में लगाया गया। 1916 में कुल पुरुष मजदूरों का करीब 11 प्रतिशत किशोरवय लड़के थे। महिलाओं को पुरुषों को मिलने वाली मजदूरों का एक-तिहाई और किशोरों को करीब आधी मजदूरी मिलती थी। युद्ध में रूस की भागीदारी के परिणाम भयंकर साबित हो रहे थे। एक तरफ़ मोर्चों पर पराजय और दूसरी तरफ़ रूस में कृषि और उद्योग दोनों का ही ध्वंस आम मेहनतकश जनता के लिए असहनीय स्थिति पैदा कर रहा था। युद्ध में ज़बरन सेना में भर्ती किये गये मजदूर सेना के भीतर युद्ध-विरोधी राजनीतिक प्रचार का केन्द्र बन रहे थे। सेना जो कि राज्यसत्ता के साम्राज्यवादी सैन्यवाद का उपकरण थी, वह युद्ध में होने वाली मौतों और हताहतों की बढ़ती संख्या के साथ तेज़ी से क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार का केन्द्र बनती जा रही थी। 1915 आते-आते सेना के भीतर और देश के आम मेहनतकश आबादी के भीतर युद्ध-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ती जा रही थी। लेनिन ने 1915 को वह वर्ष बताया जब देश में बड़े पैमाने पर जन गोलबन्दी शुरू हुई। तमाम मजदूर संगठनों और ट्रेड यूनियनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था; सामाजिक जनवादी आन्दोलन के अधिक से अधिक नेताओं को गिरफ्तार करके निर्वासन में भेजा जा रहा था। मार्च 1915 से पहले हड़तालों और बड़े प्रदर्शनों की संख्या कम थी। लेकिन गर्मियाँ शुरू होते ही मजदूर आन्दोलन तेज़ी पकड़ने

लगा। युद्ध के दौरान बोल्शेविकों का असर रूस के मजदूर वर्ग पर तेजी से बढ़ा। लेनिन ने लिखा था, “प्राव्दावादी अखबारों और ‘मुरानोव शैली’ के कार्य ने रूस के लगभग 80 फीसदी वर्ग सचेत मजदूरों को एकजुट कर दिया है। करीब चालीस हजार मजदूर प्राव्दा खरीदते हैं; इससे कहीं ज्यादा इसे पढ़ते हैं। अगर युद्ध, जेल, साईबेरिया और कठोर श्रम इसके पाँच गुने या दस गुने को भी बरबाद कर दें—तो भी मजदूर खत्म नहीं हो सकते। वे जीवित हैं। वे क्रान्तिकारी भावना से ओत-प्रोत हैं, कट्टरता-विरोधी हैं। केवल वे ही जनसमुदायों के बीच खड़े रह सकते हैं, उनके भीतर गहरी जड़ों के साथ, मेहनतकशों, शोषितों और उत्पीड़ितों के अन्तरराष्ट्रीयतावाद के हिमायती के रूप में। केवल यही वर्ग अर्द्धसर्वहारा तत्वों को कैडेटों, त्रुदोविकों, प्लेखानोव और नाशा ज़ार्या के सामाजिक-कट्टरवाद से दूर और समाजवाद की ओर ले जा रहा है।” (वी.आई. लेनिन, “रूसी सामाजिक-जनवादी श्रम दूमा समूह के मुकदमे से क्या ज़ाहिर हुआ है”, कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 21, 1964, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, माँस्को, पृ. 176, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)। 1915 में रूस में केन्द्रीय कमेटी का रूसी ब्यूरो गिरफ्तारियों और दमन के कारण भंग हो गया था। 1916 आते-आते कुछ नये और युवा बोल्शेविकों के बूते यह फिर से स्थापित हो गया। बोल्शेविक प्रचार तेजी से जनसमुदायों के आन्दोलन का क्रान्तिकारी राजनीतिकरण कर रहा था। फरवरी 1917 से पहले बोल्शेविकों ने करीब 580 पर्चे छापे और उन्हें 20 लाख की संख्या में वितरित किया। पेत्रोग्राद में मजदूरों का राजनीतिक संगठन सबसे तेजी से बढ़ रहा था। बोल्शेविकों का असर पेत्रोग्राद के मजदूरों में तेजी से बढ़ रहा था और वहाँ पर उनका पार्टी ढाँचा जल्द ही मेशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से आगे निकल चुका था, आकार में भी और गतिविधियों में भी। रूस के मजदूर वर्ग में बोल्शेविकों के बढ़ते असर को 1915 और 1916 में हड़तालों में बढ़ोत्तरी के रूप में देखा जा सकता था। 1916 में 1410 हड़तालें हुईं जिनमें करीब 11 लाख मजदूरों ने शिरकत की। इनमें से 243 हड़तालें शुद्ध रूप से राजनीतिक मुद्दों पर हुई थीं, जबकि 1167 हड़तालें ने आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही मुद्दे उठाये थे। सर्वहारा वर्ग के हड़ताल आन्दोलन के बढ़ने का असर रूस के ग्रामीण क्षेत्रों पर भी होना 1915 से ही शुरू हो चुका था। 1914 के पहले भी किसानों के बीच असन्तोष जब-तब फूटने लगा था। लेकिन 1915 और 1916 में ये छोटे-मोटे अव्यवस्थित किसान उपद्रव बड़े पैमाने के किसान विद्रोहों में तब्दील होने लगे। 1915 में 117 किसान बगावतें रूस के अलग-अलग हिस्सों में हुईं और 1916 में यह संख्या बढ़कर 294 हो गयी। रूस में मेहनतकश जनता के आन्दोलन विभिन्न बिखरे किसान विद्रोहों और सर्वहारा वर्ग द्वारा चलाये जा रहे हड़ताल आन्दोलन (जो समय के साथ अधिक से अधिक राजनीतिक और संगठित होता जा रहा था) 1916 के अन्त तक अपने चरम पर पहुँच चुके थे।

इसी दौरान सैनिकों के भीतर भी विद्रोह बढ़ रहा था। तमाम हिस्सों में नौसेना और फौज में बगावतें हो रही थीं। सेना का बड़ा हिस्सा अब युद्ध के खिलाफ़ खड़ा था और जनान्दोलनों से जुड़ रहा था। इस पूरे आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग अग्रणी स्थिति में था। अक्टूबर 1916 में बोल्शेविकों के नेतृत्व में हड़ताल आन्दोलन की तीन बड़ी लहरें उठीं। जल्द ही इन हड़तालों में मजदूरों की संख्या बढ़ कर ढाई लाख तक पहुँच गयी। यह हड़ताल ही आने वाले समय में फरवरी की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में तब्दील होने वाली थीं। पेत्रोग्राद के मजदूर वर्ग का आन्दोलन पूरे रूस के मेहनतकशों के लिए अनुसरण करने

के लिए एक उदाहरण में तब्दील हो रहा था। इस दौरान रूस में आर्थिक विघटन और अव्यवस्था अपने चरम पर थी। शहरों में भोजन का अभाव इस हद तक पहुँच रहा था कि उसे अकाल का नाम दिया जा सकता था। पेत्रोग्राद में भोजन के लिए लम्बी कतारें लगी हुई थीं। अलग-अलग हड़तालें जल्द ही आपस में जुड़ने लगीं और मजदूर वर्ग के बीच आम हड़ताल का नारा धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा। जनवरी-फरवरी 1917 में हड़तालियों की संख्या सात लाख के करीब पहुँच रही थी। यह हड़ताल सेना में मौजूद असन्तोष और गाँवों में चल रहे किसान विद्रोहों के साथ जनवरी के अन्त तक मजबूती से जुड़ने लगी और इसी ने फरवरी में रूस में क्रान्तिकारी परिस्थिति को जन्म दिया। मजदूर आन्दोलन में बोल्शेविक पार्टी निर्विवाद नेतृत्व के रूप में उभर चुकी थी। लेकिन दो प्रमुख कारणों से फरवरी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग और किसान वर्ग के हाथों में सत्ता नहीं पहुँचा सकी। पहला कारण यह था कि बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के अधिकांश सदस्य जेल में थे, लेनिन अभी भी निर्वासन में और पार्टी के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक रूप से सचेत मजदूरों में से तमाम मजदूर मोर्चे पर थे या फिर जेल में। यही कारण था कि बोल्शेविक पार्टी मजदूर वर्ग के निर्विवाद नेतृत्व में होने के बावजूद पूरी क्रान्ति को नेतृत्व देते हुए उसे मजदूर वर्ग और किसानों की जनवादी तानाशाही के मुकाम तक नहीं पहुँचा सकी। दूसरा कारण यह था कि किसानों और रूस की विशाल टुटपूँजिया आबादी में बोल्शेविक पार्टी का प्रभाव तो दूर उपस्थिति भी नाममात्र की थी। इनमें मुख्य रूप से समाजवादी-क्रान्तिकारी और मॅशेविकों का प्रभाव था। नतीजतन, जैसे ही मजदूर वर्ग के जुझारू आन्दोलन के साथ इन वर्गों के आन्दोलन जुड़े और जनवादी क्रान्ति की परिस्थिति जनवादी क्रान्ति में तब्दील होने की मंज़िल में आयी तो बोल्शेविक इस सम्पूर्ण उभार को बिना किसी चुनौती के नेतृत्व देने की स्थिति में नहीं थे। नतीजतन, फरवरी 1917 में जो क्रान्ति शुरू हुई वह धीरे-धीरे मॅशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के वर्चस्व के तहत आ गयी। बोल्शेविकों का प्रस्ताव मजदूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियत को आरज़ी सरकार घोषित करने और इन्हें देश का संविधान बनाने की जिम्मेदारी देने का था। यही रास्ता मजदूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही को स्थापित कर सकता था। लेकिन किसानों और टुटपूँजिया आबादी के बीच प्रभाव के बूते और मजदूर वर्ग के भी एक हिस्से पर प्रभाव के बूते मॅशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों से समझौता करके दूमा समिति को आरज़ी सरकार बनाने का कार्यभार सौंपने के प्रस्ताव को लागू करवाया। हालाँकि, क्रान्तिकारी जनसमुदायों के दबाव में समझौतापरस्त बुर्जुआज़ी द्वारा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना या उसके साथ समझौते की कोशिशें नाकाम हो गयीं, आरज़ी सरकार को तमाम नागरिक व जनवादी स्वतन्त्रताएँ देनी पड़ीं, बोल्शेविकों को जेल से मुक्त करना पड़ा और मजदूरों से वे शस्त्र भी नहीं रखवा पाये। मॅशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के समझौतापरस्त रुख के कारण सर्वहारा वर्ग और किसान वर्ग ने स्वेच्छा से सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथों सौंप दी। लेकिन फरवरी क्रान्ति ने जिस बुर्जुआ वर्ग को सत्ता में बिठाया था वह न तो युद्ध से मुक्ति दिला सकता था, न रैडिकल भूमि सुधार लागू कर सकता था और न ही देश को भुखमरी से मुक्त करा सकता था। वास्तव में, नयी सरकार सबसे बुनियादी जनवादी अधिकारों के मुद्दे पर चुप थी जैसे कि आठ घण्टे का कार्यदिवस, भूमि की ज़ब्ती और राष्ट्रीयकरण। इन सभी को आरज़ी सरकार ने संविधान सभा बुलाये जाने तक स्थगित कर दिया था। साथ

ही यदि सोवियत सत्ता एकमात्र सत्ता के तौर पर नहीं उभरी तो वह 1905 की तरह खत्म भी नहीं हुई। मजदूर हथियारबन्द थे, सैनिक सोवियतों के पक्ष में थे, राजनीतिक कैदी कैद और निर्वासन से मुक्त हो चुके थे, राज्यसत्ता का पुलिस तन्त्र लगभग तबाह हो चुका था, और नयी बुर्जुआ सरकार के पास सोवियत सत्ता को कुचलने का कोई शक्तिशाली उपकरण नहीं बचा था। फरवरी के बाद “दोहरी सत्ता” की जो स्थिति पैदा हुई उस स्थिति का दृष्ट ही अन्ततः अक्टूबर क्रान्ति तक जाना था। बोल्शेविकों के नेतृत्व में जनता ने बहुत कुछ हासिल किया, हालाँकि जनता की सोवियत सत्ता अकेली और निर्विवाद सत्ता के रूप में रूस में अभी स्थापित नहीं हो पायी।

ई.एच.कार ने फरवरी क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया को मुख्य रूप से स्वतःस्फूर्त करार दिया है जिसमें युद्ध, भुखमरी और भूमि असमानता से त्रस्त रूसी मजदूरों, सैनिकों और किसानों ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका था। लेकिन यह दृष्टिकोण पूरी तरह से सन्तुलित नहीं है क्योंकि पेत्रोग्राद और मॉस्को जैसे प्रमुख शहरी और औद्योगिक केन्द्रों में सर्वहारा वर्ग के हड़ताल आन्दोलन की बात करें, तो इसमें बोल्शेविक स्पष्ट रूप से मौजूद थे और उसे नेतृत्व दे रहे थे। यह एक दीगर बात है कि केन्द्रीय कमेटी के रूसी व्यूरो (जिसके सदस्य कुछ तुलनात्मक रूप से कम तजुरबे वाले श्ल्यापिनकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की थे) अभी केन्द्रीय कमेटी से जीवन्त सम्पर्क कायम नहीं कर पाये थे। साथ ही अन्य अधिक अनुभवी बोल्शेविक नेता भी फरवरी क्रान्ति से पहले साईबेरिया में निर्वासन पर थे और उनसे सम्पर्क स्थापित करना भी मुश्किल था। ऐसे में एक अनुभवहीन और अपेक्षाकृत युवा नेतृत्व ने पीटर्सबर्ग और मॉस्को में बोल्शेविकों की गतिविधियों को काबिले-तारीफ़ ढंग से नेतृत्व दिया था और मजदूरों के वर्ग सचेत और राजनीतिक हिस्से पर अपने वर्चस्व को निर्विवाद रूप से स्थापित किया था। फरवरी क्रान्ति की समय-सीमा निर्धारित करना तो किसी भी राजनीतिक शक्ति के बूते की बात नहीं थी, लेकिन 1916 के अन्त में ही लेनिन ने रूस में पैदा होती क्रान्तिकारी परिस्थिति की बात की थी और साथ ही हड़ताल आन्दोलन को आगे बढ़ाने, ग्रामीण आबादी के बीच राजनीतिक कार्य और सेना को क्रान्ति के पक्ष में खड़ा करने को सामाजिक-जनवादियों के समक्ष सबसे प्रमुख कार्य बताया था। निश्चित रूप से, जिस गति से और जिस स्वतःस्फूर्तता से फरवरी क्रान्ति सम्पन्न हुई, उसने सभी राजनीतिक शक्तियों को एक हद तक चकित कर दिया था। लेकिन जिस दीर्घकालिक प्रक्रिया का चरम-बिन्दु फरवरी क्रान्ति थी, उस पूरी प्रक्रिया में बोल्शेविक राजनीतिक प्रचार कार्य और संगठन का केन्द्रीय महत्व था, खास तौर पर मजदूर वर्ग के आन्दोलन में। इसलिए **ई.एच. कार** का दृष्टिकोण कि फरवरी क्रान्ति पूर्णतः स्वतःस्फूर्त थी जिसने सभी राजनीतिक शक्तियों के मूल्यांकनों को ध्वस्त कर दिया, थोड़ा अतिरेकपूर्ण है। इस विषय में चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे दृष्टिकोण की आलोचना हम इस अध्याय के परिशिष्ट में रखेंगे।

फरवरी से लेकर अक्टूबर तक का इतिहास बेहद दिलचस्प है और क्रान्ति की गतिकी और उसमें हिरावल की भूमिका को समझने के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। लेकिन हम फरवरी से अक्टूबर तक के इतिहास पर अगले अध्याय में आयेंगे। फिलहाल, हम 1890 के दशक से 1917 तक रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और पार्टी के विकास पर चर्चा करेंगे और इस पूरे दौर में दो लाइनों के उस संघर्ष का आलोचनात्मक विवेचन करेंगे जो अक्टूबर क्रान्ति के बाद भी बोल्शेविक पार्टी की कार्यदिशा को काफ़ी हद तक निर्धारित करने वाले थे।

समाजवादी संक्रमण के दौर में बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका की सफलताओं और असफलताओं को समझने के लिए रूस के सामाजिक जनवादी आन्दोलन में राजनीतिक रुझानों और कार्यदिशाओं के संघर्ष को 1890 के दशक से ही समझना होगा।

3. रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन और उसके भीतर दो कार्यदिशाओं के संघर्ष का इतिहास

1890 के दशक से फरवरी क्रान्ति तक रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास कई महत्वपूर्ण चरणों से होकर गुज़रा और उसे बारीकी से समझना पूरे सोवियत समाजवाद के प्रयोग के दौरान बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक और विचारधारात्मक व्यवहार को समझने के लिए ज़रूरी है।

रूस में मार्क्सवाद का विकास विजातीय राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रवृत्तियों से संघर्ष की प्रक्रिया में हुआ। हम ऊपर 1860 से लेकर फरवरी 1917 तक रूस में हुए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का संक्षेप में जिक्र कर चुके हैं। इन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप हम रूस में किसानों के विद्रोहों और मजदूरों के आन्दोलन के शुरुआत का भी जिक्र कर चुके हैं। इन आन्दोलनों में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की शिरकत 1870 के दशक से बढ़ने लगी थी। पहले भी आधुनिकता और पश्चिमी प्रगति के समर्थक कुछ बुद्धिजीवी तत्व रूसी राज्यसत्ता की नौकरशाही में और खास तौर पर पेशेवर मध्यवर्ग के बीच मौजूद थे, जैसे कि वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, शोधकर्ता, साहित्यकार आदि। लेकिन जनान्दोलनों में बौद्धिक वर्ग की शिरकत बड़े पैमाने पर उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में ही शुरू हुई। पहले-पहल प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की भागीदारी मजदूर आन्दोलनों में नहीं हुई, बल्कि किसान विद्रोहों में हुई। मजदूर आन्दोलन में सामाजिक जनवाद को ले जाने का काम करने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दखल का 1890 के दशक से पहले हमें कोई विचारणीय उदाहरण नहीं मिलता है। आगे हम रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इस विषय पर इतिहास-लेखन की प्रमुख रुझानों का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन भी रखेंगे, विशेष तौर पर, ई.एच.कार, चार्ल्स बेतेलहाइम और मॉरिस डॉब के लेखन का।

क) रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के विकास का प्राक्-इतिहास: नरोदवाद से संघर्ष की प्रक्रिया में रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी चिन्तन और आन्दोलन का आरम्भिक विकास

रूस में पीटर महान के काल में पश्चिमीकरण की मुहिम शुरू होने के बाद से ही बौद्धिक और राजनीतिक हलकों में एक बहस जारी थी। यह बहस उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस सवाल पर हो रही थी कि रूस आगे पश्चिमी यूरोप के विकास के रास्ते को अपनायेगा या फिर उसके विकास का रास्ता पश्चिम से अलग स्लाव देशों की एक अलग और विशिष्ट संस्कृति पर आधारित होगा। जो पश्चिम के विकास के रास्ते की हिमायत कर रहे थे और कह रहे थे कि रूस को भी ब्रिटेन और फ्रांस के समान औद्योगिक पूँजीवादी विकास का रास्ता

अपनाना चाहिए और यही रूस को आने वाले समय उसकी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से निजात दिलायेगा, उस धड़े को 'वेस्टर्नर्स' कहा गया। दूसरा धड़ा यह मानता था कि समूचे स्लाव जगत में ज़मीन को जोतने वाले को ही उसका स्वामी मानने की एक अन्तर्जात संस्कृति है। यहाँ पर एक समानतामूलक ग्राम समुदाय है जो यह सुनिश्चित करता है ज़मीन कुछ हाथों में संकेन्द्रित नहीं होती है और इसका बँटवारा समानतापूर्ण होता है। इस धड़े का मानना था कि रूस में यूरोपीय किस्म का सामन्तवाद है ही नहीं जिसका मुख्य कारण वे रूसी ग्राम समुदाय मीर की उपस्थिति को बताते थे। इस धड़े का यकीन था कि एक बार सामन्ती भूस्वामियों और राजतन्त्रवादी कुलीन वर्ग का प्रभुत्व समाप्त हो जाये तो अपने समतामूलक ग्राम समुदाय के बूते रूस औद्योगिक पूँजीवाद की कुरूपताओं से बच सकता है और सीधे छलाँग लगाकर एक कृषक साम्यवाद में प्रवेश कर सकता है। इस स्लावप्रेमी धड़े ने आगे चलकर अपने आपको *नरोद्दिनकी* कहा। एक नरोदवादी लेखक **स्तेपनियाक** ने कहा था कि रूसी ग्राम समुदाय ने इस विचार को जीवित रखा है कि ज़मीन उसी की होती है जो उसे जोतता-बोता है और यह विचार एक "विशिष्ट रूप से रूसी विचार है...जो कि समूचे स्लाव जगत में गहराई से जड़ जमाये हुए है।" (मॉरिस डॉब, *सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेंट सिंस 1917, 1972*, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल, लन्दन, में उद्धृत, पृ. 61, *अनुवाद हमारा*) यह नरोद्दिनकी नाम उन्नीसवीं सदी की एक बौद्धिक राजनीतिक धारा से निकला था जो अपने आपको **वी नरोद** कहती थी। यह युवा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का एक रोमाण्टिक किस्म का आन्दोलन था जो मानता था कि बुद्धिजीवियों को किसान वर्ग के बीच जाना चाहिए, उसे जागृत करना चाहिए, उससे सीखना चाहिए और उसे पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए जगाना चाहिए। इस आन्दोलन का किसानों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हो पाया था। किसान उन्हें भला मानते थे, लेकिन साथ ही उन्हें शहर से आने वाले अव्यावहारिक बुद्धिजीवी मानते थे। वे अक्सर किसानों के बीच मज़ाक का विषय होते थे और कई बार किसान उन्हें तंग करने वाली तमाम गतिविधियाँ भी किया करते थे। जल्द ही इस धारा को ज़ार की पुलिस ने कुचल दिया। 1876 में नये सिरे से ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाने वाला एक नया राजनीतिक समूह बना जिसका नाम था **जेम्ल्या ई वोल्या** जिसका अर्थ था 'भूमि और स्वतन्त्रता'। इस समूह ने समानतामूलक भूमि पुनर्वितरण की ठोस माँग रखी और इसके पक्ष में किसानों के बीच प्रचार किया। यह समूह जल्द ही दो धड़ों में विभाजित हो गया। एक समूह था **चोर्नी पेरेदेल** जो कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक रास्ते की वकालत करता था, और दूसरा समूह था **नरोद्नाया वोल्या** जो कि आतंकवादी गतिविधियों जैसे कि राजतन्त्रवादियों, मन्त्रियों और पुलिस अधिकारियों आदि की हत्या में यकीन रखता था। **ग्याँगी प्लेखानोव चोर्नी पेरेदेल** से जुड़े हुए थे। लेकिन वह व्यक्तिगत आतंकवाद के मुद्दे पर 1870 के दशक के अन्त में **चोर्नी पेरेदेल** से अलग हो गये। प्लेखानोव विदेश चले गये और 1883 में उन्होंने स्विट्ज़रलैण्ड में वेरा ज़ासुलिच व एक्सेलरोद के साथ मिलकर 'दि लिबरेशन ऑफ़ लेबर' (कई स्थानों पर इसका अनुवाद 'दि इमैसिपेशन ऑफ़ लेबर' भी किया गया है, इससे भ्रम पैदा न हो इसके लिए दोनों अंग्रेज़ी अनुवादों से परिचित होना आवश्यक है) नामक एक ग्रुप बनाया जिसका मक़सद था मार्क्सवाद का अध्ययन और उसका रूस में प्रचार-प्रसार। 'पूँजी' का पहला रूसी संस्करण 1872 में प्रकाशित हुआ और जल्द ही यह रूसी बौद्धिक दायरों में काफ़ी प्रभावी हो गया। प्लेखानोव द्वारा इस समूह के निर्माण के साथ नरोदवादी धारा के साथ मार्क्सवाद

का संघर्ष शुरू हुआ और यह इस मायने में एक अहम मील का पत्थर था।

जब लेनिन राजनीतिक दृश्यपटल पर आते हैं, उस समय तक प्लेखानोव नरोदवाद के विरुद्ध अपने राजनीतिक संघर्ष को आगे ले जा चुके थे। लेकिन नरोदवाद की निर्णायक विचारधारात्मक पराजय लेनिन के आने के साथ हुई। नरोदवाद के ही उत्तराधिकारी के रूप में **समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी** 1902 में रूस में बनी थी। यह मार्क्सवाद से कई जुमलों को और अवधारणाओं को उधार लेती थी और यह मानने को तैयार थी कि किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग भी क्रान्ति में मुख्य भूमिका में रहेगा। लेकिन उनका भूमि के “समाजीकरण” का कार्यक्रम वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के एक रैडिकल संस्करण से आगे नहीं जाता था। दरअसल, “समाजीकरण” शब्द का उपयोग वे बेजा ही कर रहे थे; उनका कार्यक्रम वास्तव में भूमि के समान पुनर्वितरण का कार्यक्रम का था, जिसे वे समाजीकरण का नाम दे रहे थे। बहरहाल, प्लेखानोव के ग्रुप ने 1883 के बाद आने वाले करीब डेढ़ दशक तक नरोदवाद के खिलाफ संघर्ष जारी रखा। प्लेखानोव ने अपनी आलोचना में स्पष्ट किया कि औद्योगिक पूँजीवाद की मंज़िल को लाँघा नहीं जा सकता है और ज़ारशाही और कुलीन वर्ग के शासन की जगह ग्राम समुदायों की व्यवस्था को नहीं लाया जा सकता है। रूस में क्रान्ति औद्योगिक पूँजीवाद की स्थापना के बाद और सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन के ज़रिये ही हो सकती है। 1880 और 1890 के दशक में रूस में तेज़ी से होने वाले औद्योगिक विकास और औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के द्रुत विकास ने एक प्रकार से प्लेखानोव के दृष्टिकोण की पुष्टि की। लेकिन किसानों को प्लेखानोव भी उस समय किसी सम्भावना-सम्पन्न क्रान्तिकारी वर्ग और सर्वहारा वर्ग के सक्रिय भावी मित्र के तौर पर नहीं देख रहे थे। उस समय तक की उनकी सोच यही थी कि उदीयमान रूस में दो वर्ग क्रान्तिकारी सम्भावना रखते हैं: प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग। बाद में, लेनिन ने वर्ग संश्रय की इस अवधारणा पर प्रश्न खड़ा किया और रूस और रूस जैसे अन्य पिछड़े पूँजीवादी देशों की ठोस परिस्थितियों के मूल्यांकन के आधार पर जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में किसान आबादी को प्रमुख वर्ग मित्र के रूप में चिन्हित किया। लेकिन इस चर्चा पर हम आगे आयेंगे।

लेनिन के रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में प्रवेश की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। यहाँ लेनिन का नया जीवन वृत्त लिखना हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि उस प्रक्रिया को समझना हमारा मकसद है जिसने लेनिन के उत्तरवर्ती राजनीतिक चिन्तन की एक मज़बूत बुनियाद तैयार की। सही मायनों में जीवन-पर्यन्त लेनिन का राजनीतिक चिन्तन इसी बुनियाद पर निर्मित होता रहा। 1890 के दशक के मध्य में लेनिन का राजनीतिक दृश्यपटल पर प्रवेश होता है। लेनिन अपने बड़े भाई की पुस्तकों को पढ़कर मार्क्सवाद के सम्पर्क में आते हैं, जो कि *नरोदनाया वोल्या* से जुड़े हुए थे। उन्हें अलेक्जैण्डर द्वितीय की हत्या के षड्यन्त्र से जुड़े होने के कारण ज़ारशाही ने मृत्युदण्ड दिया था। लेनिन तब एक स्कूली बालक थे और उनकी बहन ने अपने संस्मरण में लिखा था कि अपने भाई की फाँसी की ख़बर सुनकर लेनिन बुदबुदाये थे, “हमें उस रास्ते पर नहीं जाना चाहिए, हमें उस रास्ते पर जाने की कोई ज़रूरत नहीं है।” मार्क्सवादी विचारों से परिचय के बाद लेनिन कज़ान में उच्च शिक्षा के लिए गये जहाँ से उन्हें राजनीतिक गतिविधियों में संलग्नता के कारण निकाल दिया गया। अपनी उच्च शिक्षा पूरी करने के लिए वह राजधानी पीटर्सबर्ग गये और कानून की डिग्री हासिल की। लेकिन पीटर्सबर्ग में उन्होंने अपनी राजनीतिक गतिविधियों की बाकायदा

शुरुआत की और पीटर्सबर्ग के मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी प्रचार शुरू किया। यहीं पर उन्होंने अपने राजनीतिक लेखन की भी शुरुआत की। उनका शुरुआती लेखन नरोदवाद के प्लेखानोव द्वारा खण्डन का ही विस्तार था। इस समय तक लेनिन वैचारिक तौर पर प्लेखानोव के शिष्य बन चुके थे। इस समय वे युवा मार्क्सवादियों के बीच प्लेखानोव की उस समय की एक प्रसिद्ध रचना 'ऑन दि क्वेश्चन ऑफ डेवेलपमेण्ट ऑफ मोनिस्ट व्यू ऑफ हिस्ट्री' का सरलीकरण और व्याख्या कर रहे थे। इसी बीच वह एक अग्रणी नरोदवादी वोरोन्तसोव के साथ बहस में उलझे और उन्होंने नरोदवादी विचारों का खण्डन करते हुए अपनी पहली अहम राजनीतिक रचना का लेखन किया जो कि "व्हाट दि 'फ्रेण्ड्स ऑफ दि पीपुल' आर एण्ड हाउ दे फाइट दि सोशल-डेमोक्रेट्स" नाम से प्रकाशित हुई। इस रचना की तैयारी लेनिन ने समारा मार्क्सवादी अध्ययन चक्र में 1892-93 में कर दी थी। वास्तव में, यह उसी अध्ययन चक्र में लेनिन द्वारा नरोदवादी विचारों पर दिये गये व्याख्याओं को समेटती थी। क्रुप्सकाया उस अध्ययन चक्र की एक सदस्य थीं और उन्होंने 'रेमिनिसेंसेज़ ऑफ लेनिन' में लिखा है कि इस रचना के पहले संस्करण का अध्ययन चक्र के भीतर वितरण हुआ और बाद में यह रूस के विभिन्न मार्क्सवादी समूहों में प्रसारित हुई। क्रुप्सकाया बताती हैं कि इसका रूस के मार्क्सवादी दायरों पर गहरा असर पड़ा था, "मुझे याद है कि इसने हमें कैसे रोमांचित कर दिया था। संघर्ष के लक्ष्यों को इस पुस्तिका में प्रशंसनीय स्पष्टता के साथ रखा गया था। इसकी हेक्टोग्राफ की गयी प्रतिलिपियाँ बाद में "दि येलो कॉपी बुक्स" के नाम से प्रसारित हुई थीं। उन पर अभी लेखक का नाम नहीं था। इन्हें काफ़ी व्यापक तौर पर पढ़ा गया और निस्सन्देह रूप से इसका उस समय के मार्क्सवादी युवा वर्ग पर गहरा असर पड़ा था।" (नदेज़्दा क्रुप्सकाया, *रेमिनिसेंसेज़ ऑफ लेनिन*, माँस्को, 1959, पृ. 15, *अनुवाद हमारा*) ई.एच.कार ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि इस रचना में लेनिन ने केवल प्लेखानोव द्वारा की गयी नरोदवादियों की आलोचना को आगे बढ़ाने का काम नहीं किया, बल्कि "नरोदवादियों के विरुद्ध लेनिन की शुरुआती रचनाओं ने प्लेखानोव के तर्कों को मुकाम तक पहुँचाने से कुछ ज़्यादा काम किया। इनमें से बिल्कुल पहले ही लेखन में उन्होंने युवत्वपूर्ण जोर के साथ सर्वहारा वर्ग में अपनी क्रान्तिकारी आस्था की घोषणा की..." (ई.एच. कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन*, खण्ड-1, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, पृ. 8, *अनुवाद हमारा*) आगे ई.एच.कार लेनिन का एक उद्धरण देते हैं जो शुरू से ही जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग की अगुवा भूमिका पर लेनिन के जोर को स्पष्ट करता है। यह उद्धरण आगे हमने प्रस्तुत किया है। वास्तव में लेनिन का यह नज़रिया ही था जो उस समय सामाजिक-जनवादियों के बीच मौजूद दो अन्य रुझानों से, यानी कि अर्थवादियों और "कानूनी" मार्क्सवादियों से लेनिन को अलग करता था। इन रुझानों पर हम आगे चर्चा करेंगे और यह भी देखेंगे कि आज के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और संशोधनवादियों में इन विचार सरणियों से क्या साझा है। लेकिन पहले लेनिन के इस महत्वपूर्ण उद्धरण पर गौर करें:

"यह औद्योगिक मजदूर वर्ग है जिस पर सामाजिक-जनवादी अपना ध्यान और गतिविधि केन्द्रित करते हैं। जब उस वर्ग के उन्नत सदस्य वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों और इतिहास में रूसी मजदूर की भूमिका के विचार को आत्मसात कर लेंगे, जब उनके विचार व्यापक तौर पर फैल जाएँगे और मजदूरों ने स्थिर संगठन बना लिये होंगे जो कि आज के विभाजित आर्थिक युद्ध को एक सचेत वर्ग संघर्ष में तब्दील करेंगे—तब

रूसी मज़दूर सभी जनवादी तत्वों के नेतृत्व में आते हुए, निरंकुश तन्त्र को उखाड़ फेंकेगा और (सभी देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ) रूसी सर्वहारा वर्ग को *विजयी कम्युनिस्ट क्रान्ति* की ओर खुले राजनीतिक संघर्ष के सीधे रास्ते पर ले जायेगा।” (वी.आई. लेनिन, “व्हाट दि फ्रेण्ड्स ऑफ पीपुल आर एण्ड हाउ दे फाइट दि सोशल-डेमोक्रेट्स”, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-1, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, चौथा संस्करण, 1977, पृ. 300, अनुवाद हमारा)

यह रचना नरोदवादी दृष्टिकोण पर तीखा हमला थी। इसमें लेनिन ने नरोदवाद को एक प्रतिक्रियावादी रुझान बताया था जो कि अतीतग्रस्त था, प्रगति-विरोधी था और अपने तमाम क्रान्तिकारी जुमलों के बावजूद यथास्थितिवादी था। लेनिन को 1897 में साईबेरिया निर्वासित कर दिया गया। यहाँ पर उन्होंने नरोदवादी विचारों का और अधिक विस्तार से खण्डन करने वाली और रूस में पूँजीवाद के विकास को औद्योगिक क्षेत्र से लेकर कृषि के क्षेत्र तक में प्रमाण सहित प्रदर्शित करने वाली वृहत् रचना ‘रूस में पूँजीवाद का विकास’ को पूरा किया। सबसे पहले लेनिन ने इसमें नरोदवादियों के इस विचार का खण्डन किया कि पूँजीवाद रूस में एक कृत्रिम और ऊपर से थोपी गयी परिघटना है और इसके विकास के पीछे मूलतः और मुख्यतः विदेशी पूँजी और विदेशी बाज़ार का हाथ है। लेनिन ने दिखाया कि विदेशी पूँजी और विदेशी बाज़ार केवल सहायक कारक हैं और रूस में पूँजीवाद आन्तरिक अन्तरविरोधों के परिणामस्वरूप विकसित हो रहा है। ‘रूस में पूँजीवाद का विकास’ आज भी उत्पादन सम्बन्धों के विश्लेषण की पहुँच और पद्धति की सही मार्क्सवादी समझदारी का एक प्रातिनिधिक उदाहरण है। इस रचना का बड़ा हिस्सा लेनिन ने कृषि में होने वाले पूँजीवादी विकास को समर्पित किया। लेनिन का मूल तर्क इस रचना में यह था कि रूस में पूँजीवाद का ऐतिहासिक मिशन है सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास और रूस में छोटे पैमाने के उत्पादन का ध्वंस कर बड़े पैमाने के उत्पादन को स्थापित करना और उत्पादन और श्रम का समाजीकरण करना। पूँजीवाद रूस में प्राक्-पूँजीवादी व्यवस्था में मौजूद निजी, व्यक्तिगत निर्भरताओं को खत्म करेगा जो कि वास्तव में शोषण और उत्पीड़न में सहायता करती हैं, उत्पादक की स्थिति को अधिक से अधिक नीचे गिराती जाती हैं और प्राच्य निरंकुशता के अनगिनत रूपों को जन्म देती हैं। यहाँ लेनिन का इशारा नरोदवादियों के प्रिय रूसी ग्राम समुदाय मीर की ओर था, जहाँ सामुदायिक खेती की आड़ में कुलकों और धनी किसानों का प्रभुत्व और खेतिहर मज़दूरों और गरीब किसानों का शोषण और उत्पीड़न चलता था। लेनिन ने सप्रमाण प्रदर्शित किया कि गाँवों की करीब 20 प्रतिशत आबादी पहले ही आजीविका के लिए मुख्य रूप से उजरती श्रम पर निर्भर है और सर्वहारा या अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुकी है। दूसरे छोर पर पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों का वर्ग है जो कि बाज़ार सम्बन्धों में उतर चुका है और खेती में अधिक से अधिक पूँजीवादी तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर रहा है। हालाँकि, पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों की तुलना में पूँजीवाद का विकास मद्धिम था, लेकिन फिर भी रूसी कृषि में मौजूद अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों और सामुदायिक सम्बन्धों के अवशेष को किनारे लगाने के लिए यह रफ़्तार भी पर्याप्त थी। लेनिन ने लिखा कि नरोदवादियों की यह प्रतिक्रियावादी सोच कि इन अवशेषों को बचाया जाना चाहिए केवल “अर्द्ध-भूदास, अर्द्ध-मुक्त श्रम की पुरानी भली व्यवस्था को ही आगे बढ़ायेगा—जो

कि एक ऐसी व्यवस्था है जो शोषण और उत्पीड़न की हर भयावहता को अपने अन्दर समेटे हुए है, लेकिन उससे बच निकलने की कोई सम्भावना नहीं रखती।” (वही, पृ. 243, अनुवाद हमारा)

इस प्रकार लेनिन ने नरोदवाद की आलोचना को नयी वैचारिक ऊँचाइयों तक पहुँचाया और 19वीं सदी के अन्त तक लेनिन ने यह नतीजा निकाला कि रूसी क्रान्ति का अग्रणी वर्ग किसान वर्ग नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग होगा; नरोदवादियों की यह उम्मीद कि पूँजीवाद को आने से रोका जा सकता है और ग्राम समुदायों के बूते सीधे कृषि साम्यवाद जैसी किसी व्यवस्था में प्रवेश किया जा सकता है, न केवल अनैतिहासिक और अव्यावहारिक है बल्कि यह प्रतिक्रियावादी भी है जो व्यवहारतः यथास्थिति को मामूली परिवर्तनों के साथ बनाये रखने की बात करती है। लेनिन ने स्पष्ट किया कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सामाजिक-जनवादियों (यानी कम्युनिस्टों) को सर्वहारा वर्ग के स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन और स्वतन्त्र संघर्षों को निर्मित करने पर बल देना चाहिए। पूँजीवाद की ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील भूमिका की बात करते हुए लेनिन ने साफ़ शब्दों में कहा कि इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक गतिविधियाँ किसी भी रूप में रूस के बुर्जुआ वर्ग के लक्ष्यों के अनुसार संगठित की जानी चाहिए। लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के लिए रूस के पूँजीपति वर्ग की पूँछ पकड़कर नहीं चलेगा, जैसा कि “कानूनी” मार्क्सवादी पीटर स्त्रूवे का मानना था। सर्वहारा वर्ग समाजवाद के लिए संघर्ष में जनवादी अधिकारों, भूमि सुधारों और नागरिक स्वतन्त्रता के संघर्ष को शामिल करेगा और हर ऐसे जनसंघर्ष में नेतृत्वकारी भूमिका अदा करेगा जो जनवादी क्रान्ति के इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए लड़े जायेंगे। 1897 में लेनिन ने लिखा, “हमारा काम प्राथमिकतः और मुख्यतः शहरी कारखाना मज़दूर पर केन्द्रित है। रूसी सामाजिक जनवादियों को अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं होने देना चाहिए... लेकिन इस बात को मानते हुए भी कि हमारे लिए कारखाना मज़दूरों पर केन्द्रित करना महत्वपूर्ण है और हमें अपनी शक्ति विसर्जित नहीं होने देनी चाहिए, हम एक क्षण के लिए भी यह सुझाव नहीं दे रहे हैं कि रूसी सामाजिक जनवादियों को सर्वहारा वर्ग और मज़दूर वर्ग के अन्य संस्तरों की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसा कुछ भी नहीं है।” (वी.आई. लेनिन, “दि टास्क ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रेट्स”, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2, पृ. 330, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)। इसी बीच, 1898 में रूस के विभिन्न सामाजिक-जनवादी समूहों ने मिलकर एक कांग्रेस की और रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की स्थापना की। पार्टी गठन की चर्चा करते हुए हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। बहरहाल, अपने राजनीतिक चिन्तन को पूर्ववत् जारी रखते हुए 1899 में लेनिन ने लिखा, “सर्वहारा वर्ग को अन्य वर्गों और पार्टियों को ‘सजातीय प्रतिक्रियावादी समुदाय’ (जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के गोथा कार्यक्रम में उपयोग किया गया शब्द जिसकी मार्क्स ने आलोचना की थी) नहीं मानना चाहिए: इसके विपरीत, उसे समूचे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हिस्सा लेना चाहिए, प्रगतिशील वर्गों और पार्टियों का समर्थन करना चाहिए, मौजूद व्यवस्था के विरुद्ध हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए, हर दमित राष्ट्रीयता या नस्ल, हर सताये गये धर्म, वोट के अधिकार से वंचित हर लैंगिक समुदाय, आदि का समर्थन करना चाहिए।” (वी.आई. लेनिन, “ए प्रोटेस्ट बाई

रशियन सोशल-डेमोक्रेट्स”, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-4, पृ. 177, अंग्रेजी संस्करण, अनुवाद हमारा) लेकिन लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि रूसी पूँजीपति वर्ग का चरित्र प्रगतिशील रैंडिकल बुर्जुआ वर्ग जैसा होने की बजाय एक कमजोर बुर्जुआ वर्ग का है जो सामन्त वर्ग और ज़ारशाही के विरुद्ध चलायमान युद्ध छेड़ ही नहीं सकता (इसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं कि रूसी बुर्जुआ वर्ग का ऐसा चरित्र क्यों था); उल्टे वह सर्वहारा वर्ग के संघर्षों के उठते ज्वार के समक्ष प्रतिक्रियावादी वर्गों की शरण में जायेगा और उनसे एकता बनायेगा। लेनिन के अनुसार रूस में सर्वहारा वर्ग पूरे किसान वर्ग के साथ मिलकर ज़ारशाही के विरुद्ध जनवादी क्रान्ति करेगा और मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व को स्थापित करेगा और ऐसा करके वह रुकेगा नहीं बल्कि ‘सतत् क्रान्ति’ (uninterrupted revolution) करते हुए आगे बढ़ेगा और ग़रीब किसानों, यानी कि अर्द्धसर्वहारा और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा। कई अध्येता लेनिन द्वारा ‘सतत् क्रान्ति’ के सिद्धान्त को त्रात्स्की के ‘स्थायी क्रान्ति’ से गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं, जैसे कि एक हद तक ई.एच.कार और इज़ाक डॉइशर और एक दूसरे अर्थ में चाल्ट्स बेटेलहाइम भी। लेकिन इन दोनों के बीच ज़मीन-आसमान का फ़र्क है जिस पर हम इस अध्याय के आखिरी खण्ड में त्रात्स्की के साथ लेनिन के विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष की चर्चा करते हुए करेंगे। साथ ही, कुछ अध्येता इस भ्रम का भी शिकार हैं कि ‘सतत् क्रान्ति’ के सिद्धान्त से लेनिन का यह अर्थ था कि क्रान्ति के जनवादी और समाजवादी चरणों के बीच कोई अन्तराल नहीं होगा और जनवादी क्रान्ति विकसित होकर अनिवार्यतः तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जायेगी। लेकिन लेनिन के ‘सतत् क्रान्ति’ के सिद्धान्त का दोनों चरणों के बीच की कालावधि से भी कोई रिश्ता नहीं है। अध्याय के आखिरी खण्ड में हम इस पर भी चर्चा करेंगे।

बहरहाल, 1905 की रूसी क्रान्ति ने लेनिन के इस पूरे विश्लेषण को सटीक तौर पर सही साबित किया। लेनिन ने रूस में दो चरणों में क्रान्ति के अपने पूरे सिद्धान्त को विस्तार से अपनी प्रसिद्ध रचना ‘जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ’ में स्पष्ट रूप में रखा, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

इस प्रकार रूस में मार्क्सवाद ने अपनी पहली विचारधारात्मक विजय हासिल की, जो कि नरोदवाद के खिलाफ़ थी। नरोदिनकी की धारा धीरे-धीरे विघटित होती गयी और 1902 में यह एक नये अवतार में सामने आयी जब रूस में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना हुई। इस पार्टी की स्थापना करने वाले प्रमुख लोगों में **विक्टर चेर्नोव** और **प्योत्र लावरोव** थे (जो कि प्लेखानोव के गुरु रह चुके थे)। इस पार्टी की विचारधारा में नरोदवाद के साथ मार्क्सवाद की कुछ अवधारणाओं को मिश्रित करने का प्रयास किया गया। इस पार्टी ने शहरों के सर्वहारा वर्ग में भी काम करने का प्रयास शुरू किया लेकिन उनका ज़ोर किसानों के बीच ही था क्योंकि अभी भी वे रूस की क्रान्ति में किसानों की ही भूमिका को प्रधान मानते थे। उनका विश्वास बढ़े पैमाने के उत्पादन में नहीं था और वैज्ञानिक समाजवाद के आर्थिक मॉडल से भी वे सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि छोटे पैमाने की आर्थिक इकाइयाँ ज़्यादा व्यावहारिक और प्रभावी होती हैं और रूस में जो कृषि कार्यक्रम या किसानों का माँगपत्रक उन्होंने पेश किया वह भी भूमि के “समाजीकरण” के नाम पर भूमि का रैंडिकल बुर्जुआ राष्ट्रीयकरण और समानतामूलक पुनर्वितरण करने की ही बात करता था। इस

पार्टी का अक्टूबर क्रान्ति के समय भी किसानों के बीच सबसे ज़्यादा आधार था। किसानों की व्यापक आबादी के अक्टूबर क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों के समाजवादी भूमि कार्यक्रम पर सहमत न होने का एक कारण उनके बीच इस पार्टी का लम्बा प्रचार कार्य और आधार भी था। लेकिन फिर भी रूस के पूरे क्रान्तिकारी आन्दोलन में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग की भूमिका ही अग्रणी बनी और किसानों की भी व्यापक बहुसंख्या का नेतृत्व क्रान्ति के समय विचारधारात्मक तौर पर तो नहीं लेकिन राजनीतिक तौर पर बोल्शेविकों के हाथ ही आया, क्योंकि स्वयं समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी रूसी बुर्जुआ वर्ग का दुलमुल चरित्र प्रदर्शित करते हुए अपने ही रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम पर अमल करने में टाल-मटोल कर रही थी और उनका एक हिस्सा भूस्वामियों को मुआवज़ा देने तक की बात कर रहा था और साथ ही वे किसानों को ज़मीन-दखल करने से मना कर रहे थे और संविधान सभा का इन्तज़ार करने को कह रहे थे। दूसरी ओर, बोल्शेविकों ने किसानों के रैडिकल ज़मीन दखल आन्दोलन का पूर्ण समर्थन किया क्योंकि वह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के एक कार्यभार को पूरा करने की ओर निर्देशित था और जल्द ही राजनीतिक तौर पर किसान आबादी का समर्थन बोल्शेविकों को मिलने लगा था। नरोदवाद की टुटपूँजिया विचारधारा की निर्णायक पराजय विचारधारात्मक तौर पर 20वीं सदी के शुरू में ही हो चुकी थी और इसकी राजनीतिक पराजय होने में दो दशक का समय और लगा। लेकिन यह भी सच है किसानों की व्यापक बहुसंख्या का विचारधारात्मक नेतृत्व क्रान्ति के बाद भी जल्दी बोल्शेविकों के हाथों में नहीं आया और उनके बीच समाजवादी-क्रान्तिकारियों के निम्न पूँजीवादी विचारों का प्रभाव बना रहा। इस पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। फिलहाल, हम उस दूसरे प्रमुख संघर्ष पर आते हैं जिसके ज़रिये मार्क्सवाद ने रूस में अपने विचारधारात्मक और राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित किया।

ख) रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में दो कार्यदिशाओं के संघर्ष की शुरुआत: “कानूनी” मार्क्सवादियों और अर्थवाद से संघर्ष और अराजकतावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के अंकुरण

हम ऊपर “कानूनी” मार्क्सवादियों का जिक्र कर चुके हैं। “कानूनी” मार्क्सवादी 1890 के दशक में अस्तित्व में आया एक बुद्धिजीवियों का समूह था जो कि किताबों और लेखों के ज़रिये मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहा था। इनका लेखन इस तरह से संरचनाबद्ध था कि ज़ारशाही की सेंसरशिप से बच सके। मार्क्सवाद का प्रचार 1890 के दशक में रूसी बुद्धिजीवियों के बीच तेज़ी से हुआ था और इसका कारण यह था कि इसी दशक में रूस में उद्योगों और सर्वहारा वर्ग का द्रुत विकास हुआ था। ई.एच.कार इस कारक को स्वीकार करते हैं लेकिन साथ में यह भी जोड़ देते हैं कि चूँकि रूस में इस समय कोई उदार बुर्जुआ विचारधारा भी मौजूद नहीं थी इसलिए भी मार्क्सवाद का प्रचार-प्रसार इस दौर में तेज़ी से हुआ! कार का निहितार्थ यह है कि यदि कोई उदारवादी बुर्जुआ विचारधारा पश्चिमी यूरोप के समान रूस में भी मौजूद होती तो रूस में मार्क्सवाद का इस गति से विकास नहीं हुआ होता! दूसरे शब्दों में, कार के अनुसार, किसी भी राजनीतिक चुनौती के अभाव में रूस में मार्क्सवादी आन्दोलन का विकास हुआ! यह दृष्टिकोण तथ्यों से पुष्ट नहीं होता है। पहली बात

यह कि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही रूस में पश्चिमी तार्किकता और उदार व आधुनिक बुर्जुआ जनवादी विचारों का प्रचार-प्रसार शुरू हो गया था। वास्तव में, **हर्ज़ेन, बेलिंस्की, चेर्नीशेव्स्की** और **दोब्रोवोव** जनपक्षधर रैडिकल बुर्जुआ विचारक ही थे और उस समय इनका रूस के बौद्धिक दायरों पर अच्छा-खासा प्रभाव था। रूस में 19वीं सदी के अन्त में मार्क्सवाद के तेज़ प्रचार-प्रसार का कारण रूस में मार्क्सवाद का प्रवर्तन करने वाली नेतृत्वकारी शक्तियों की विचारधारात्मक और राजनीतिक समझ और साथ ही सर्वहारा वर्ग से उनका जीवन्त जुड़ाव भी था। **मार्क्सवाद के द्रुत गति से रूस में पाँव जमाने का कारण किसी बाह्य कारक की मौजूदगी या गैर-मौजूदगी नहीं थी बल्कि रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के अपने आन्तरिक अन्तरविरोध थे।** यहाँ एक बार फिर ई.एच.कार की अनुभववादी पहुँच उजागर होती है। ई.एच. कार इस बात को समझने में बिल्कुल नाकाम रहते हैं कि वास्तव में “कानूनी” मार्क्सवाद स्वयं एक उदार बुर्जुआ विचारधारा ही था जो मार्क्सवाद के भेस में उस दौर में पैदा हुआ था।

बहरहाल, “कानूनी” मार्क्सवाद की धारा रूसी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के एक हिस्से में प्रभावी हुई। यह बौद्धिक वर्ग सामन्तवाद-विरोधी था और इसने मार्क्सवाद को अपनाते में इसके सामन्तवाद-विरोध को अपनाया। **इनके लिए मार्क्सवाद का सबसे अहम पहलू था पूँजीवाद की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता में आस्था।** लेकिन उन्होंने इस राजनीतिक-ऐतिहासिक तथ्य को पूँजीवाद के समर्थन में तब्दील कर दिया। “कानूनी” मार्क्सवादियों ने मार्क्सवाद को अपनाते में उसकी पूरी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को खत्म कर दिया। इनमें से सबसे प्रमुख थे **पीटर स्त्रूवे** जो 1902 तक रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के साथ ही थे और दरअसल 1898 की पहली पार्टी कांग्रेस का घोषणापत्र भी इन्होंने ही लिखा था। लेकिन 1902 के बाद इन्होंने पार्टी से रिश्ता पूरी तरह से तोड़ लिया। इस घटनाक्रम पर हम बाद में आयेंगे। स्त्रूवे ने 1894 में ही एक पुस्तक लिखी थी—**‘क्रिटिकल नोट्स ऑन दि क्वेश्चन ऑफ दि इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट ऑफ रशिया’**। इस पुस्तक में स्त्रूवे ने स्पष्ट शब्दों में किसी भी क्रान्तिकारी कार्यक्रम को नकारा था और कहा था कि क्रान्तिकारियों को **“स्वर्ग पर हमला करने”** के ख्वाब नहीं देखने चाहिए और सर्वहारा वर्ग को पहले **“पूँजीवाद की पाठशाला में सीखना चाहिए।”** जहाँ तक नरोदवाद से संघर्ष का सवाल था वे लेनिन के साथ खड़े थे; लेकिन 1902 में मुद्दा अर्थवाद, मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता और सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका का था। नतीजतन, उनके बीच सम्बन्ध-विच्छेद होना ही था।

“कानूनी” मार्क्सवादियों ने रूस में पूँजीवाद के विकास के कुछ प्रशंसनीय अध्ययन किये, जैसे कि **तुगान-बारानोव्स्की** जिनका रूसी उद्योग पर अग्रणी शोध था। “कानूनी” मार्क्सवादी लेनिन और प्लेखानोव से इस बात पर पूर्णतः सहमत थे कि पूँजीवाद के चरण को लाँचकर रूस किसी “किसान साम्यवाद” में नहीं पहुँच सकता है, रूस में पूँजीवाद का विकास आन्तरिक गति से उद्योग और कृषि दोनों में ही हो रहा है। नरोदवाद की “कानूनी” मार्क्सवादियों ने कठोर आलोचना की। **लेकिन चूँकि पूँजीवाद को एक ऐतिहासिक वस्तुगत तथ्य से उन्होंने एक वांछित चरण बना दिया था, इसलिए वे नरोदवाद के विपरीत छोर पर चले गये।** इनका मानना था कि रूस में सर्वहारा वर्ग को किसान वर्ग से कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए और उसे पूँजीवादी विकास और जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों की पूर्ति के लिए पूँजीपति वर्ग का सहायक बनना चाहिए। इन कार्यभारों की पूर्ति के लिए भी वे क्रान्तिकारी

रास्ते के समर्थक नहीं थे, बल्कि सुधारों की हिमायत करते थे। और पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए भी वे सुधारवादी रास्ते की ही हिमायत करते थे। हम देख सकते हैं कि कई अर्थों में “कानूनी” मार्क्सवादी उन बातों को ही कह रहे थे जो बाद में संशोधनवाद ने कही। इस रूप में वे मार्क्सवाद को उसकी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु से रिक्त कर उसे एक बुर्जुआ विचारधारा में ही तब्दील कर रहे थे। बाद में लेनिन ने इस धारा का विश्लेषण करते हुए लिखा था, “वे बुर्जुआ जनवादी थे जिनके लिए नरोदवाद से अलग होने का अर्थ टुटपूँजिया (या किसान) समाजवाद से सर्वहारा समाजवाद में संक्रमण की बजाय (जैसा कि हमारे मामले में हुआ) बुर्जुआ उदारवाद में संक्रमण था।” (वी.आई. लेनिन, “प्रेफेस टू दि कलेक्शन ट्वेल्थ इयर्स”, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-13, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, माँस्को, 1972, पृ. 94, अनुवाद हमारा) लेनिन ने अपने निबन्ध ‘नरोदवाद की आर्थिक अन्तर्वस्तु और श्रीमान स्त्रूवे की पुस्तक में इसकी आलोचना’ में जहाँ नरोदवाद की धज्जियाँ उड़ायीं वहीं उदार बुर्जुआ “कानूनी” मार्क्सवाद द्वारा पूँजीवाद की हिमायत की भी आलोचना की। 1890 के दशक के अन्तिम वर्षों में ही लेनिन ने “कानूनी” मार्क्सवाद की तमाम लेखों में आलोचना शुरू कर दी थी और 1902 में यह आलोचना ‘क्या करें?’ के प्रकाशन के साथ उस मुकाम पर पहुँच गयी जहाँ पर “कानूनी” मार्क्सवादियों और कम्युनिस्टों के बीच का गठजोड़ टूटना ही था। जब तक नरोदवाद से संघर्ष प्रमुख एजेण्डा था तब तक ही यह एकता कायम रह सकती थी। जैसे ही नरोदवाद की निर्णायक पराजय हुई वैसे ही लेनिन के एजेण्डे पर “कानूनी” मार्क्सवाद और अर्थवाद की आलोचना का प्रश्न आ गया।

अर्थवाद सामाजिक जनवादी पार्टी के भीतर ही एक शक्तिशाली रुझान के रूप में पैदा हुआ था। अर्थवाद का सारतत्व लेनिन के अनुसार उस विचारधारात्मक रुझान में निहित था जो कि मार्क्सवाद को महज एक “आर्थिक सिद्धान्त” में तब्दील कर देता था। वास्तव में, “कानूनी” मार्क्सवाद और अर्थवाद में बहुत-सी समानताएँ थीं, लेकिन उनमें कुछ बुनियादी फर्क भी थे, जिन पर हम आगे आएँगे। अर्थवाद के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या केवल आर्थिक कारकों के विकास के ज़रिये की जा सकती है। अर्थवाद उत्पादक शक्तियों के विकास को गैर-द्वन्द्वात्मक रूप से इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में देखता है और मानता है कि आर्थिक कारकों में होने वाले परिवर्तनों के ज़रिये सामाजिक शक्तियाँ अपने आप, स्वतःस्फूर्त रूप से परिवर्तन की ओर क्रमिक प्रक्रिया में आगे बढ़ती हैं। निश्चित तौर पर, व्यापक तौर पर उत्पादक शक्तियों का पहलू इतिहास में अधिक गतिशील कारकों की भूमिका निभाता है, लेकिन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन/क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों का कारक भी पलटकर उत्पादक शक्तियों के विकास को प्रेरणा प्रदान करता है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है और मार्क्स ने ‘राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान’ और ‘पूँजी’ जैसी रचनाओं में इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को सटीक तरीके से सूत्रबद्ध किया है। यहाँ पर यह स्पष्टीकरण अनिवार्य था क्योंकि अर्थवाद की समूची प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए चार्ल्स बेतेलहाइम और कोस्तास मावराकिस जैसे कई तथाकथित “माओवादी” अध्येता मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के सिद्धान्तों का हेगेलीय भाववादी हस्तगतीकरण करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सम्पूर्ण मानव इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों का पहलू प्राथमिक प्रेरक तत्व होता है। ऐसे भाववादी नियोजकों से पूछा जा सकता है कि किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग में मानव जन कोई विशिष्ट उत्पादन

सम्बन्ध किस आधार पर बनाते हैं? वे कोई अन्य उत्पादन सम्बन्ध क्यों नहीं बना लेते? वही जो उत्पादक शक्तियों के उत्पादन सम्बन्धों से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को न समझकर मानते हैं कि उत्पादक शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं और उत्पादन सम्बन्ध निष्क्रिय कारक के समान उनके पीछे घिसटते हुए आगे बढ़ते रहते हैं, उनसे भी पूछा जा सकता है उत्पादक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास के पीछे कौन-से कारक काम करते हैं और एक निश्चित मंजिल पर पहुँचकर उनका विकास पुराने उत्पादन सम्बन्धों के ढाँचे में बाधित क्यों हो जाता है और उस ढाँचे के क्रान्तिकारी परिवर्तन के ज़रिये बदलने पर उत्पादक शक्तियों का विकास फिर से निर्बन्ध किस कारक से प्रेरणा मिलने के कारण होता है? यदि किसी भी सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के भीतर उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को सही ढंग से व्याख्यायित न किया जाय तो वह या तो यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की अर्थवाद की पुरानी ग़लती को दुहरायेगा जो कि मानता है कि उत्पादक शक्तियों विकसित होती जाती हैं और उनके अनुरूप उत्पादन सम्बन्ध बदलते जाते हैं (यह दृष्टिकोण उत्पादक शक्तियों में भी मनुष्य को प्रमुख और प्राथमिक कारक नहीं मानता, बल्कि तकनोलॉजी, यंत्रों और उपकरणों को प्रमुख और प्राथमिक कारक मानता है); या फिर वह चार्ल्स बेतेलहाइम जैसे “अतिमाओवादियों” की ग़लती का शिकार होगा जिसके अनुसार मानव जन किसी “परम भाव” से प्रेरित होकर पहले कोई उत्पादन सम्बन्ध बनाते हैं और उनके अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास करते हैं। ये दोनों ही छोर यांत्रिक अर्थवाद और यांत्रिक भाववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं और मार्क्स, लेनिन और माओ की समझदारी इससे बिल्कुल भिन्न थी। चार्ल्स बेतेलहाइम में “अतिमाओवाद” की आलोचना रखते हुए हम उनकी सम्पूर्ण हेगेलीय भाववादी अवस्थिति की आलोचना रखेंगे।

बहरहाल, हम रूस के अर्थवादियों की चर्चा पर वापस लौटते हैं। वर्गों के बीच का संघर्ष अर्थवादियों के लिए आर्थिक कारकों में होने वाले परिवर्तन का सीधा और प्रत्यक्ष परिणाम होता था। **कुल मिलाकर, उनका नतीजा यह था कि जब आर्थिक परिस्थितियाँ उपयुक्त और अनुकूल हो जाती हैं तो सामाजिक परिवर्तन स्वयं ही हो जाते हैं।** यानी कि मज़दूर वर्ग को सचेतन तौर पर संगठित करने और इस काम के लिए किसी अनुशासित, गुप्त और संगठित हिरावल की कोई ज़रूरत नहीं है। मज़दूर वर्ग को महज़ अपने आर्थिक हकों के लिए ट्रेड यूनियन संघर्ष करना चाहिए। अर्थवाद रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के भीतर ही एक रुझान के रूप में पैदा हुआ और लम्बे समय तक इसका असर मौजूद रहा। अपने तमाम विकृतिकरणों और “अतिमाओवाद” के बावजूद, **बेतेलहाइम** ने सही ही कहा है कि **अर्थवाद “जब भी व्यवस्थित नहीं होता तो यह सापेक्षिक रूप से एक गौण भूमिका निभा सकता है, और तब हम “अर्थवाद के प्रति रुझान” की बात कर सकते हैं।** (चार्ल्स बेतेलहाइम, “प्रेफ़ेस”, *क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फ़र्स्ट पीरियड: 1917-23*, पृ. 33, 1976, मन्थली रिव्यू प्रेस, *अनुवाद हमारा*) एक रुझान के तौर पर अलग-अलग रूपों में अर्थवाद बोल्शेविक पार्टी के भीतर एक पूँजीवादी और निम्न-पूँजीवादी भटकाव के रूप में लम्बे समय तक मौजूद रहा, बल्कि कहना चाहिए कि सोवियत संघ में समाजवाद के जीवित रहते भी यह रुझान किसी न किसी रूप में पार्टी में मौजूद रहा। अर्थवादियों का मानना था कि मज़दूरों की राजनीतिक मुद्दों में कोई दिलचस्पी नहीं होती और राजनीति पार्टी के बौद्धिक नेताओं का काम है। मज़दूरों की रुचि तो केवल

उनके आर्थिक हितों की लड़ाई में होती है, यानी कि उन संघर्षों में जो ट्रेड यूनियन के ज़रिये लड़े जाते हैं। इस प्रकार मज़दूर वर्ग की समूची गतिविधि को उसकी आर्थिक ट्रेड यूनियन गतिविधियों तक सीमित कर दिया जाता है, यानी कि मालिकों से बेहतर मज़दूरी और कार्यस्थितियों के लिए संघर्ष तक। जाहिर है कि यह संघर्ष मौजूदा व्यवस्था के ढाँचे के भीतर लड़ा जा सकता है। अर्थवादी सैद्धान्तिक तौर पर क्रान्ति की अनिवार्यता को खारिज नहीं करते थे। लेकिन चूँकि रूस अभी जनवादी क्रान्ति की मंजिल में था इसलिए एकमात्र राजनीतिक कार्यक्रम जिसकी कल्पना की जा सकती थी वह पूँजीवादी जनवादी सुधारों का कार्यक्रम था, जिसके लिए कि उदार पूँजीपति वर्ग का सहयोग किया जाना चाहिए था और दूसरी बात यह कि मज़दूर वर्ग स्वयं पूँजीपति वर्ग से बेहतर वेतन और कार्यस्थितियों की माँगों के अलावा किसी अन्य माँग के लिए संघर्ष नहीं कर सकता। इन अर्थवादियों के अनुसार पूँजीवादी जनवाद और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मुकम्मिल तौर पर स्थापित होने के बाद पूँजीवाद अपनी नैसर्गिक गति से मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों को इस हद तक सघन और जुझारू बनाता जायेगा कि यह संघर्ष स्वतःस्फूर्त ढंग से राजनीतिक संघर्ष में तब्दील हो जायेगा। एक प्रमुख अर्थवादी और “क्रीडो” मतावलम्बी सिद्धान्तकार कुस्कोवा के शब्दों में, “एक स्वतन्त्र मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी के बारे में चर्चा विदेशी कार्यभारों और विदेशी उपलब्धियों को हमारी ज़मीन पर स्थानान्तरित करने के परिणाम के अलावा और कुछ नहीं है...ऐतिहासिक स्थितियों का एक पूरा समुच्चय हमें पश्चिमी मार्क्सवादी होने से रोकता है और हमसे एक अलग मार्क्सवाद की माँग करता है जो कि रूसी स्थितियों में उपयुक्त और आवश्यक है। हरेक रूसी नागरिक में राजनीतिक भावना और समझ की कमी साफ़ तौर पर राजनीति के बारे में चर्चाओं से या अनुपस्थित ताक़तों के नाम अपीलियों के ज़रिये पूरी नहीं हो सकती। यह राजनीतिक बोध केवल उस प्रशिक्षण के ज़रिये हासिल किया जा सकता है (चाहे यह कितना भी ग़ैर-मार्क्सवादी क्यों न हो) जो कि रूसी यथार्थ हमारे सामने पेश कर रहा है...रूसी मार्क्सवादी के सामने केवल एक ही रास्ता है: सर्वहारा वर्ग के आर्थिक संघर्ष का समर्थन करना और उदार विपक्ष की गतिविधियों में हिस्सेदारी करना।” (ई.एच. कार, दि बोलशेविक रिवोल्यूशन में उद्धृत, पृ. 11)

लेनिन ने अर्थवाद पर 1899 से ही तीखा हमला बोलना शुरू कर दिया था। लेनिन का मानना था कि रूस में जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए उदार पूँजीपति वर्ग के भरोसे नहीं रहा जा सकता है, जो सर्वहारा वर्ग के संघर्षों के समक्ष किसी भी समय प्रतिक्रियावाद की गोद में बैठने को तैयार है। लेनिन के शब्दों में रूस में “राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने का कार्यभार भी सर्वहारा वर्ग के मज़बूत कन्धों पर आ पड़ा था।” प्लेखानोव और मातौव ने भी अर्थवाद की आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान किया लेकिन अर्थवाद की विचारधारात्मक-राजनीतिक जड़ों पर सबसे मज़बूत हमला लेनिन ने अपने 1899 से लेकर 1903 तक की तमाम रचनाओं में किया। 1902 में लेनिन की प्रसिद्ध रचना ‘क्या करें?’ प्रकाशित हुई। इस रचना में लेनिन ने “कानूनी” मार्क्सवाद की संक्षिप्त आलोचना के बाद अर्थवाद की चीरफाड़ की और दिखलाया कि किस प्रकार अर्थवाद मार्क्सवाद को विकृत करने वाली एक बुर्जुआ विचारधारा है। अर्थवाद की पहचान मूल तौर पर दो चीज़ों पर ज़ोर से की जा सकती है: पहला, इसका मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्षों को सर्वोपरि मानने पर

जोर और दूसरा मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता पर जोर। 'क्या करें?' में लेनिन ने इन्हीं दोनों चीजों पर हमला बोला। लेनिन ने कहा कि एक सामाजिक जनवादी की चेतना महज़ एक ट्रेड यूनियन सचिव की नहीं होती, बल्कि जनता के हिरावल की होती है। मज़दूर वर्ग की पूरी राजनीति को ट्रेड यूनियन की राजनीति तक सीमित कर देना वास्तव में मज़दूर वर्ग की राजनीति के एक पूँजीवादी संस्करण की बात करना होगा। लेनिन के लिए आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों के बीच कोई 'चीन की दीवार' नहीं थी, क्योंकि उनके लिए हर आर्थिक संघर्ष भी मूल तौर पर राजनीतिक था। लेनिन का मानना था कि राजनीतिक चेतना मज़दूर वर्ग के भीतर आर्थिक संघर्षों के ज़रिये स्वयं ही नहीं पैदा हो जायेगी। बिना किसी बाह्य राजनीतिक अभिकर्ता (यानी, सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों) के हस्तक्षेप के मज़दूर वर्ग अपने आप केवल ट्रेड यूनियन चेतना तक ही पैदा कर सकता है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि मज़दूर वर्ग अपने राजनीतिक सिद्धान्तकार नहीं पैदा कर सकता है। इस बात को काऊत्स्की ने सही तरीके से स्पष्ट नहीं किया था और लेनिन ने काऊत्स्की की इस चूक को 'क्या करें?' में दुरुस्त किया था। यहाँ लेनिन ने स्पष्ट किया कि एक मज़दूर जब आर्थिक संघर्षों से अलग मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक राजनीतिक लक्ष्यों की बात करता है तो वास्तव में वह महज़ एक सामान्य मज़दूर नहीं होता बल्कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सिद्धान्तकार की भूमिका निभा रहा होता है। लेकिन एक वर्ग के तौर पर समूचा मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से ऐसी चेतना, यानी कि राजनीतिक वर्ग चेतना, को जन्म नहीं दे सकता है। यह कम्युनिस्ट चेतना मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में बाहर से ही आती है और यह कम्युनिस्ट चेतना इतिहास की वैज्ञानिक समझदारी और तार्किकता के मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के साथ मेल के साथ पैदा होती है। काऊत्स्की ने बताया था कि ऐतिहासिक तौर पर तार्किकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के वाहक का काम इतिहास में बुर्जुआ बौद्धिक वर्ग के एक छोटे-से हिस्से ने किया था इसलिए सामान्य रूप में इतिहास की वैज्ञानिक समझदारी के ज़रिये वैज्ञानिक समाजवाद तक पहुँचने का काम भी इस बौद्धिक वर्ग का एक जनपक्षधर हिस्सा ही करेगा। लेनिन ने अर्थवाद का खण्डन करते हुए कहा कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना स्वतःस्फूर्त रूप से नहीं पैदा होगी, बल्कि उसमें इस चेतना को पैदा करना एक हिरावल का सचेतन कार्य होगा। वास्तव में, 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' में भी मार्क्स व एंगेल्स ने काल्पनिक समाजवादियों की आलोचना करते हुए कहा था कि सर्वहारा वर्ग का संगठन क्रमिक स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया में नहीं पैदा हो सकता है। स्वतःस्फूर्तता पर अर्थवादियों का जोर अन्त में इस मंज़िल तक जाता है कि वह किसी भी प्रकार के राजनीतिक हिरावल की भूमिका को ही नकारने लगते हैं क्योंकि उनकी दलील ही यह है कि सर्वहारा वर्ग की आर्थिक कार्रवाइयों जैसे कि ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ और हड़तालें अन्ततः उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार कर देती हैं। लेनिन और प्लेखानोव के अलावा अलग से स्तालिन ने भी मज़दूर वर्ग को सचेतन तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित करने की ज़रूरत पर बल दिया। 1901 में लिखी गयी स्तालिन की रचना 'दि रशियन सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी एण्ड इट्स इमीडियेट टास्क्स' में स्तालिन ने लिखा था कि सामाजिक जनवाद से पहले रूस में मज़दूरों का आन्दोलन स्वतःस्फूर्तता के दायरे से बाहर नहीं आया था; सामाजिक जनवादियों ने पहली बार रूस में मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना से लैस करने का काम अपने हाथों में लिया। अर्थवादियों के बारे में स्तालिन ने इस रचना में लिखा, "स्वतःस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने

की बजाय, जनसमुदायों को सामाजिक-जनवादी आदर्शों से ओत-प्रोत करने की बजाय और हमारे अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्हें निर्देशित करने की बजाय, रूसी सामाजिक-जनवादियों का यह हिस्सा इस आन्दोलन का अन्धा उपकरण बन गया; यह मजदूरों के अनुपयुक्त रूप से शिक्षित हिस्से के पीछे आँख मूँदकर चलता रहा और इसने अपने आपको उन आवश्यकताओं और ज़रूरतों को सूत्रबद्ध करने तक सीमित कर दिया जिनके प्रति मजदूरों के जनसमुदाय उस समय सचेत थे। संक्षेप में, यह खड़ा होकर एक खुले दरवाजे को खटखटाता रहा, और घर में प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाया। यह मजदूरों के जनसमुदायों को न तो अन्तिम लक्ष्य-यानी कि समाजवाद-के बारे में समझा पाया और न ही तात्कालिक लक्ष्य-यानी कि निरंकुश तन्त्र को उखाड़ फेंकने-के बारे में; और इससे भी ज्यादा निन्दनीय बात यह थी कि इसने इन दोनों ही लक्ष्यों को बेकार, बल्कि नुकसानदेह तक माना। यह रूसी मजदूरों को बच्चों की तरह मानता था और उसे डर था कि वह कहीं ऐसे विचारों से उन्हें डरा न दे। यही नहीं, सामाजिक-जनवाद के कुछ दायरों में समाजवाद लाने के लिए भी क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उनकी राय में जिस चीज़ की ज़रूरत थी वह था महज़ आर्थिक संघर्ष-हड़तालें और ट्रेड यूनियन, उपभोक्ता व उत्पादक सहकारी संघ, और बस, यह रहा समाजवाद।” (जोसेफ़ स्तालिन, “दि रशियन सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी एण्ड इट्स इमीडियेट टास्क्स”, वर्क्स, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मॉस्को, 1954, पृ. 15-16, अनुवाद हमारा) यहाँ गौरतलब बात यह है कि अभी तक स्तालिन की लेनिन से मुलाकात नहीं हुई थी और स्तालिन लेनिन की कुछ रचनाओं से ही परिचित थे। अर्थवाद के बारे में इन नतीजों तक स्तालिन काफ़ी हद तक स्वतन्त्र रूप से पहुँचे थे।

अर्थवादियों के विरुद्ध लेनिन ने जो संघर्ष चलाया उसमें बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच होने वाले विभाजन के बीज थे। 1903 में बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच विभाजन हुआ और इस विभाजन का मूल मुद्दा वास्तव में “स्वतःस्फूर्तता” और सचेतनता का प्रश्न, कम्युनिस्ट पार्टी की ज़रूरत और उसके सांगठनिक सिद्धान्त का प्रश्न और क्रान्तिकारी विचारधारा और अर्थवाद के बीच का संघर्ष था। ‘क्या करें?’ में इस बहस को लेनिन ने निर्णायक तौर पर मुकाम पर पहुँचाया और उसकी राजनीतिक परिणति 1903 की पार्टी कांग्रेस में हुई। ‘क्या करें?’ में लेनिन ने उस स्वतःस्फूर्ततावाद और पुछल्लेवाद की जो आलोचना की जिसका प्रवचन अर्थवादियों द्वारा दिया जा रहा था। इस पर हम पिछले अध्याय में ‘मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन’ की आलोचना रखते हुए बात कर चुके हैं और उसे हम यहाँ दुहरायेंगे नहीं। लेकिन ‘मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन’ के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रूस के अर्थवादियों, मेशेविकों और “कानूनी” मार्क्सवादियों के समान बुर्जुआ वर्ग से सहयोग करने या क्रान्तिकारी संघर्ष को छोड़ने की बात नहीं कर रहे हैं। वे सचेतन संशोधनवादी नहीं हैं। फिर यह समानता क्यों? यहाँ पर हम अर्थवाद के बारे में कुछ अहम नुक्तों पर चर्चा करना ज़रूरी समझते हैं।

अर्थवाद का भटकाव रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और दुनिया के किसी भी देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दोनों ही रूपों में प्रकट होता है: दक्षिणपंथी अवसरवाद के रूप में (जैसे कि रूस के मेशेविक, अर्थवादी और “कानूनी” मार्क्सवादी या भारत में भाकपा, माकपा आदि जैसी संशोधनवादी पार्टियाँ) और “वामपंथी” भटकाव (जैसे कि रूस में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, ‘वर्कर्स

अपोज़ीशन', बुखारिन का "वामपंथी" विपक्ष और भारत में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' व इसी प्रकार के तमाम गैर-पार्टी क्रान्तिवादी)। इन दोनों ही भटकावों में जो बात साझा है वह यह है कि ये दोनों ही आर्थिक कारकों को राजनीतिक कारकों पर प्रधानता देते हैं और इस रूप में मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा से प्रस्थान करते हैं। संशोधनवादी अर्थवाद आर्थिक कारकों की प्रधानता का हवाला देकर क्रान्ति की ज़रूरत को ही नकारता है; आर्थिक संघर्षों का अनालोचनात्मक महिमा-मण्डन करते हुए उनके ही राजनीतिक संघर्ष में बदल जाने की बात करता है; ट्रेड यूनियन संघर्ष और हड़तालों को मजदूर वर्ग का एकमात्र लक्ष्य बनाकर राजनीतिक सत्ता के प्रश्न को मजदूर वर्ग के एजेण्डे से बाहर कर देता है; बुर्जुआ वर्ग से सहयोग-सहकार की बात करते हुए वर्ग संघर्ष की बजाय वर्ग सहयोग की अवस्थिति पर जाकर खड़ा हो जाता है। "वामपंथी" अर्थवाद क्रान्ति को नकारता नहीं और न ही सत्ता के प्रश्न को मजदूर वर्ग की राजनीति से बाहर करता है, लेकिन यह इस पूरी राजनीति में हिरावल की भूमिका को औपचारिक या अनौपचारिक तौर पर नकारता है; इस रूप में इसका नतीजा भी काफी कुछ यही होता है कि मजदूर वर्ग को क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना में प्रवेश के लिए किसी "बाह्य" हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती और मजदूर वर्ग अपने अनुभवों के ज़रिये इस चेतना को हासिल कर सकता है; अगर ऐसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी पार्टी की ज़रूरत को नाम लेकर नहीं नकारते तो भी वे पार्टी की भूमिका को एक सुदूर मार्गदर्शक के रूप में सीमित कर देते हैं, जैसा कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास जैसे अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादी करते हैं; समाजवादी संक्रमण के दौरान भी आर्थिक कारकों को राजनीति पर प्रधानता देने के कारण "वामपंथी" अर्थवाद पार्टी की भूमिका को नकारता है और "उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण" की बात करता है; उनके लिए समाजवाद का पूरा प्रश्न अलग-अलग बिखरी उत्पादकों या उत्पादक समुदायों का उत्पादन के साधनों पर "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" है। रूस में स्मिर्नोव, ओसिंस्की आदि का वामपंथी विपक्षी धड़ा, बुखारिन व प्रियोब्रेज़ेन्स्की का वामपंथी विपक्षी धड़ा (जो कि बाद में, "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में, दक्षिणपंथी अर्थवाद का शिकार हो गया था) और उसके बाद श्ल्यापनिकोव और कोलोन्ताई का 'वर्कर्स अपोज़ीशन' इसी वामपंथी अर्थवाद का शिकार था। क्रान्ति के पहले क्रीडो मतावलम्बी, 1911 में एक्सेलरोद का मजदूर कांग्रेस का प्रस्ताव इसी प्रकार के वामपंथी अर्थवाद का शिकार था। अपने दोनों ही रूपों में अर्थवाद एक बुर्जुआ भटकाव या विकृति के तौर पर दुनिया के हर देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन में बार-बार प्रकट होता रहा है। रूस में भी क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद अर्थवाद का भटकाव दोनों ही अवतारों में बार-बार प्रकट होता रहा। यह कहा जा सकता है कि समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि के दौरान अर्थवाद का भटकाव बार-बार प्रकट होगा ही क्योंकि इसका कारण है समाज में मौजूद वर्ग संघर्ष जो कि समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक दौर में रूप बदलकर लेकिन और भी अधिक सघनता और कटुता के साथ बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा अर्थवाद के भटकाव के रूप में ही मजदूर वर्ग की पार्टी और राज्यसत्ता में प्रवेश करती है। मजदूर वर्ग के आन्दोलन में अर्थवाद के भटकाव की शुरुआत ही उन लोगों के द्वारा हुई थी जो बुर्जुआ सत्ता के साथ सहयोग की लाइन अपना चुके थे या जिनका स्पष्ट तौर पर बुर्जुआकरण हो चुका था। बाद में समाजवादी संक्रमण के दौरान

भी राजकीय बुर्जुआ वर्ग ने अर्थवाद को सबसे प्रमुख रूप में संरक्षण प्रदान किया। अर्थवाद के वाहक कम्युनिस्ट आन्दोलन में अक्सर पूँजीवादी रास्ते को अपना चुके लोग ही बनते हैं।

यहाँ पर हम ई.एच.कार के एक और विश्लेषण की चर्चा करते हुए आगे बढ़ेंगे। ई.एच.कार अर्थवाद के विरुद्ध मार्क्सवाद के संघर्ष की चर्चा करते हुए सभी सही तथ्यों का जिक्र करते हैं, लेकिन उनकी व्याख्या एक बार फिर अनुभववाद के गड्ढे में जा गिरती है। कार बताते हैं कि अर्थवाद के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के ज़रिये ही लेनिन ने मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्त को भी विकसित किया और साथ ही हिरावल पार्टी के बोल्शेविक सिद्धान्त को भी। वास्तव में, अर्थवाद जन पार्टी की सभी अवधारणाओं की जड़ में कहीं न कहीं मौजूद होता है। ज़ाहिर है, जो भी मज़दूर वर्ग की राजनीति को ट्रेड यूनियनवाद पर लाकर केन्द्रित कर देगा, वह एक गोपनीय ढाँचे वाली अनुशासित पार्टी की ज़रूरत को क्यों समझेगा? बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच फूट का तात्कालिक मुद्दा पार्टी सदस्यता की शर्तों का प्रश्न था, लेकिन उसके मूल में मेशेविकों का अर्थवाद ही था। कार बताते हैं कि मार्क्स भी मानते थे कि कम्युनिस्ट पार्टी और पूरे मज़दूर वर्ग में अन्तर है; कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग के सबसे उन्नत, दृढ़ और प्रगतिशील तत्व हैं और वे ही पूरे मज़दूर वर्ग को उसके संघर्षों में क्रान्तिकारी नेतृत्व दे सकते हैं। मज़दूर वर्ग स्वयं यह कार्य स्वतःस्फूर्त रूप से नहीं कर सकता है। लेकिन कार कहते हैं कि राजनीतिक चेतना से मज़दूर वर्ग को लैस करने वाली पार्टी कैसी होगी इसके बारे में मार्क्स व एंगेल्स के विचार परिस्थितियों के मुताबिक बदलते रहे। कार का कहना है कि जब मार्क्स व एंगेल्स जर्मनी में थे जहाँ पर उदार बुर्जुआ जनवाद नहीं था तब वे 'कम्युनिस्ट लीग' जैसे संगठन में यकीन रखते थे, जो कि कोई जन पार्टी जैसा संगठन नहीं था। लेकिन जब वे इंग्लैण्ड आये तो उन्होंने 'इण्टरनेशनल वर्किंग मंस एसोसियेशन' बनाया जो कि एक व्यापक जन (मास) संगठन जैसा था। यानी, कार यह नतीजा निकाल रहे हैं कि मार्क्स व एंगेल्स के मुताबिक पार्टी का ढाँचा इस बात पर निर्भर करता था कि बुर्जुआ जनवाद कितना उदार या कितना गैर-जनवादी व तानाशाहाना है! इसीलिए जर्मनी और रूस में निरंकुश शासन की चौकसी से बचकर कार्य करने के लिए एक गोपनीय और अनुशासित पार्टी की ज़रूरत होगी, लेकिन इंग्लैण्ड, डेनमार्क, हॉलैण्ड या फ्रांस जैसे देशों में ऐसी पार्टी की ज़रूरत नहीं होगी, बल्कि एक जन पार्टी जैसी पार्टी वांछित होगी। और इसी तर्क के मुताबिक जिस दिन भारत जैसे देशों में भी बुर्जुआ जनवादी 'स्पेस' विस्तारित हो जायेगा, उस दिन से वहाँ भी एक लेनिनवादी बोल्शेविक पार्टी की ज़रूरत खत्म हो जायेगी! आप देख सकते हैं कि मूल रूप में यह वही तर्क है जो कि दुनिया भर के संशोधनवादी और संसदवादी वामपंथी देते हैं। लेकिन यहाँ कार एक अनैतिहासिक नज़रिया अपना रहे हैं। पहली बात तो यह है कि मार्क्स और एंगेल्स के काल में बुर्जुआ राज्यसत्ता का पूरा ढाँचा उस कदर व्यापक, व्यवस्थित और सुदृढ़ीकृत नहीं हुआ था, जिस कदर वह लेनिन के काल में हो चुका था। एंगेल्स के जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में ऐसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनने लगी थीं, जो अगर बोल्शेविक पार्टी जैसी नहीं थीं तो जन पार्टी जैसी भी नहीं थीं। लेनिन ने पार्टी सिद्धान्त को पहली बार व्यवस्थित किया, बल्कि कहना चाहिए कि मार्क्सवाद के पार्टी सिद्धान्त के निर्माता लेनिन ही थे। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर बताया कि एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हर हालत में अपना गोपनीय ढाँचा कायम रखेगी। वह किस हद तक संसदीय कार्य और अन्य खुले

राजनीतिक कार्यों के रूपों का इस्तेमाल करेगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि बुर्जुआ राज्यसत्ता कितने जनवादी अधिकार और जनवादी 'स्पेस' जनता को देती है। लेकिन उदार से उदार बुर्जुआ जनवादी गणराज्य में भी काम करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी अपने समूचे ढाँचे को कभी पूरी तरह खुला नहीं कर सकती है। ऐसा करने का अर्थ होगा पार्टी और इस प्रकार क्रान्ति के भविष्य को बुर्जुआ राज्यसत्ता की दया पर रखना। लेनिन की इस महान ऐतिहासिक शिक्षा को इतिहास ने सही साबित किया है और दिखलाया है कि पूँजीवाद जब आर्थिक और राजनीतिक संकट का शिकार होता है तो उदार से उदार बुर्जुआ राज्यसत्ताएँ जनवाद और स्वतन्त्रता के मुखौटों को नोचकर फेंक देती हैं और मजदूर वर्ग के समक्ष अपने 'खाने के दाँतों', यानी कि फौज, पुलिस व सशस्त्र बलों के साथ उपस्थित हो जाती हैं। लेकिन कार इस पूरे सैद्धान्तिक प्रश्न को एक व्यावहारिक प्रश्न बना देते हैं, और इस बात को सिद्ध करने के लिए यह दलील देते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स का इस प्रश्न पर कोई एकरूप और निरन्तरतापूर्ण व्यवहार नहीं रहा था। इसी को हम ऐतिहासिक दृष्टि की कमी कह रहे थे। मार्क्स और एंगेल्स से पार्टी के ढाँचे के प्रश्न पर निरन्तरतापूर्ण राजनीतिक व्यवहार की उम्मीद करना ही अनैतिहासिक है। उन्होंने हिरावल की ज़रूरत पर पर्याप्त बल दिया था। लेकिन यह हिरावल किस प्रकार का होगा यह बुर्जुआ सत्ताओं की शासन कला और शिल्प के विकास के मुकम्मिल मंज़िल पर पहुँचने के साथ ही तय हो सकता था। मार्क्स व एंगेल्स से बोल्शेविक पार्टी के उसूलों के ईजाद की उम्मीद करना वैसे ही होगा, जैसे कि हम उनसे साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रतिपादन की उम्मीद करें। ई.एच. कार इस प्रकार के अनैतिहासिक विश्लेषण की ग़लती अन्य कई जगहों पर करते हैं। उन पर हम उपयुक्त स्थानों पर चर्चा करेंगे। फिलहाल, हम उन शुरुआती राजनीतिक संघर्षों की चर्चा पर वापस लौटते हैं, जिन्होंने शुरुआती वर्षों में रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन और बोल्शेविक पार्टी को आकार दिया।

अर्थवाद के विरुद्ध लेनिन के संघर्ष की यह केवल शुरुआत थी। रूसी पार्टी के पूरे इतिहास में अर्थवाद का विचलन कभी "वामपंथी" तो कभी दक्षिणपंथी भटकाव के रूप में बार-बार प्रकट होता रहा। इसके खिलाफ़ लेनिन ने अपने जीवित रहते दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाया, जिसकी टुकड़ों-टुकड़ों में हमने पिछले अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अर्थवाद की आलोचना रखते समय चर्चा की थी। आगे हम अलग-अलग समय इसके खिलाफ़ चले संघर्षों में से एक-एक पर अलग-अलग अपना विश्लेषण रखेंगे और यह भी प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे कि अर्थवाद का भटकाव आज भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर भी एक अहम चुनौती के तौर पर मौजूद है।

बहरहाल, ये तीन प्रमुख संघर्ष थे जिन्होंने शुरुआती वर्षों में बोल्शेविक पार्टी को ठोस रूप देने का काम किया, यानी कि नरोदवाद, "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद के विरुद्ध संघर्ष। आगे बढ़ने से पहले इन तीनों को समझना इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि 1900-1901 से लेकर 1917 तक पार्टी के भीतर चले दो लाइनों के संघर्ष, अन्य राजनीतिक शक्तियों से बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक संघर्ष और विभिन्न दार्शनिक विचलनों के विरुद्ध विशेष तौर पर लेनिन के संघर्ष कुछ मायनों में इन तीन प्रमुख शुरुआती राजनीतिक संघर्ष का विस्तार और उन्नत रूप थे। ई.एच. कार ने इन तीनों संघर्षों को ठीक ही 'बोल्शेविज़्म की बुनियाद' का नाम दिया है। चार्ल्स बेतेलहाइम ने रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन में दो

लाइनों के संघर्ष का जो ब्यौरा दिया है, उसमें द्वन्द्वात्मक विश्लेषण की गम्भीर कमी है और तथ्यों का चयन भी मनमाने ढंग से किया गया है। बेतेलहाइम के ब्यौरे पर हम आगे आएँगे, लेकिन पहले हम इन तीन बुनियादी संघर्षों के दौरान पार्टी संगठन के विकास और उसके बाद हुए प्रमुख राजनीतिक संघर्षों की चर्चा करेंगे।

4. पार्टी का निर्माण और गठन

हमने ऊपर 1880 और 1890 के दशक में रूस और रूस के बाहर रूसी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के छोटे समूहों के संगठन की चर्चा की थी। अब इन पर थोड़े विस्तार से चर्चा करना राजनीतिक संघर्षों के आगे की रूपरेखा देने के लिए ज़रूरी होगा। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया था, प्लेखानोव 1870 के दशक के अन्त में *चोर्नी पेरेंदेल* नामक नरोदवादी समूह से अलग हुए थे। प्लेखानोव ने अन्य दो रूसी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों वेरा ज़ासुलिच व एक्सेलरोद के साथ मिलकर ज्यूरिख (स्विट्ज़रलैण्ड) में 'लिबरेशन ऑफ लेबर' नामक मार्क्सवादी समूह की स्थापना की और नरोदवाद के साथ सैद्धान्तिक संघर्ष की शुरुआत की, जिसका हम ऊपर ब्यौरा दे चुके हैं। प्लेखानोव का यह लेखन रूस के राजनीतिक दायरों में भी पहुँच रहा था। साथ ही, 1872 में 'पूँजी' के पहले रूसी संस्करण के प्रकाशन के साथ स्वतःस्फूर्त तरीके से रूस में कुछ अन्य मार्क्सवादी समूह भी अस्तित्व में आ चुके थे। ऐसा ही एक समूह था 'लीग ऑफ स्ट्रगल फॉर लिबरेशन ऑफ वर्किंग क्लास'। इस संगठन के संस्थापक सदस्यों में एक व्लादीमिर इल्यीच लेनिन थे। लेनिन जब पीटर्सबर्ग में थे तो वे एक छात्र समूह 'ओल्ड मेन' में शामिल हुए। जल्दी ही वह इसके नेता बन गये। इसके बाद उनका पीटर्सबर्ग के कुछ राजनीतिक मजदूरों से परिचय हुआ, जिसमें से इवान बाबुशिकन भी एक थे। उस समय ही लेनिन ने लोकरंजकतावाद और नरोदवाद के विरुद्ध अपने सैद्धान्तिक संघर्ष की शुरुआत की। 1894 में लेनिन के प्रस्ताव पर इस समूह ने पीटर्सबर्ग के मजदूरों के हड़ताल आन्दोलन में हस्तक्षेप करना शुरू किया। उस समय 'दि यूथ्स' नामक एक छात्र समूह जिसमें कि इंजीनियरिंग व मेडिकल के छात्र शामिल थे, मजदूरों के बीच अर्थवादी सोच के साथ काम कर रहा था। लेनिन ने इनके अर्थवाद की कठोर आलोचना की, जो कि मजदूरों की गतिविधियों को केवल आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष तक सीमित करना चाहता था। 1895 में पीटर्सबर्ग के मार्क्सवादियों के एक हिस्से ने मिलकर लेनिन को प्लेखानोव के 'लिबरेशन ऑफ लेबर' समूह से सम्पर्क करने के लिए विदेश भेजा। विदेश जाने पर लेनिन ने यूरोप के सामाजिक जनवादी आन्दोलन का भी गहरा अध्ययन किया और प्लेखानोव से मुलाकात कर राजनीतिक एकता स्थापित की। लेनिन के वापस आने के बाद पीटर्सबर्ग के सभी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच एकता स्थापित हुई और 'लीग ऑफ स्ट्रगल फॉर लिबरेशन ऑफ वर्किंग क्लास' की नवम्बर 1895 में स्थापना हुई। यह एक मील का पत्थर था क्योंकि पहली बार मार्क्सवादियों का एक ऐसा समूह अस्तित्व में आया था जो महज़ वैचारिक और सैद्धान्तिक बहसों में संलग्न नहीं था बल्कि मजदूर वर्ग के बीच व्यावहारिक राजनीतिक गतिविधियों में लगा हुआ था। जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं, वह यह स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि इस मायने में 'लीग ऑफ स्ट्रगल' रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में एक मील का पत्थर था। लेनिन के अलावा इस संगठन की स्थापना या उसके कुछ समय बाद ही

इससे जुड़ गये शुरुआती सदस्यों में **मार्टोव** और **क्रुप्सकाया** भी शामिल थे।

सही मायने में कहें तो कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन के बारे में लेनिन के विचारों के व्यवस्थित होने की शुरुआत इसी समय हो गयी थी। **यह लीग एक गोपनीय और अनुशासित संगठन था जिसका कि एक केन्द्रीकृत नेतृत्व था।** इस ढाँचे की व्याख्या इस बात से नहीं की जा सकती है कि पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी देशों के विपरीत रूस में एक निरंकुश राजतन्त्र था और इसलिए ऐसा सांगठनिक ढाँचा रूस के क्रान्तिकारियों के लिए एक मजबूरी था। क्योंकि उसी समय ऐसे अन्य कई मार्क्सवादी समूह थे जो इन उसूलों का पालन नहीं करते थे। निश्चित रूप से ज़ारशाही का चौकसी तन्त्र खुले राजनीतिक कार्य को मुश्किल बनाता था और हरेक राजनीतिक ग्रुप को (यदि वह कोई व्यावहारिक राजनीतिक गतिविधि करता था) सावधान रहना पड़ता था। **लेकिन लीग का सांगठनिक ढाँचा एक सकारात्मक प्रस्ताव था।** यह सिर्फ बाहरी राजनीतिक गतिविधियों को ज़ारशाही की खुफिया पुलिस से बचकर करने के लिए नहीं था। यह गोपनीयता और अनुशासन की अनिवार्यता को स्वतन्त्र रूप से समझता था। **इस रूप में लेनिन की सांगठनिक लाइन भ्रूण रूप में 1895 में ही विकसित होना शुरू हो चुकी थी।** खैर, लीग की बढ़ती राजनीतिक गतिविधियाँ खुफिया पुलिस की निगाह में आने लगी थीं और वह इस संगठन को लेकर सचेत भी हो गयी थी। अगस्त 1896 तक अलग-अलग मौकों पर लीग के करीब 100 सदस्य गिरफ्तार किये जा चुके थे जिसमें कि लेनिन, क्रुप्सकाया, मार्टोव और बाबुशिकन शामिल थे। लीग का संगठन काफी हद तक तबाह हो गया था। लेकिन लेनिन ने जेल से अपनी गतिविधियाँ और सैद्धान्तिक कार्य जारी रखा। जेल से लेनिन ने लीग के उन सदस्यों से सम्पर्क बनाये रखा जो अभी बाहर थे और सक्रिय थे। जेल से ही उन्होंने कई हड़तालों के दौरान मज़दूरों में वितरण के लिए पर्चे और मई दिवस का पर्चा भी लिखा। जल्द ही लीग ने कियेव, नीज़्नी नोवोग्राद, मॉस्को आदि के मार्क्सवादी मण्डलों से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया और राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों के केन्द्र के रूप में काम करने लगा। लेकिन 1897 तक लीग के सभी प्रमुख मार्क्सवादी गिरफ्तार हो चुके थे। नेतृत्वकारी निकाय के अभाव में लीग को नेतृत्व देने में लिए 'दि यूथ्स' के सदस्य आये। इनमें से ज़्यादातर मार्क्सवाद से ज़्यादा बर्नस्टीनवाद से प्रेरित थे और संशोधनवादी अर्थवाद की सोच पर काम करते थे। **यही कोर समूह था जो अर्थवाद की धारा का प्रमुख नुमाइन्दा बना। लेकिन लेनिन की 'लीग ऑफ स्ट्रगल' अपना काम कर चुकी थी और तब तक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट विचार रूस के मज़दूर आन्दोलन में पाँव जमा चुके थे। रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के जोर पकड़ने के साथ लीग अप्रासंगिक होती गयी, जिस पर अब अर्थवाद का वर्चस्व कायम हो चुका था।**

मार्च 1898 में मिन्स्क में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की स्थापना कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में मात्र 9 लोग शामिल थे जो कि पीटर्सबर्ग, मॉस्को, कियेव, और एकातेरिनोस्लाव के स्थानीय मार्क्सवादी संगठनों और रूस और पोलैण्ड की यहूदी जनरल मज़दूर यूनियन के, जिन्हें आम तौर पर "बुण्ड" कहा जाता था, प्रतिनिधि थे। कांग्रेस 1 से 3 मार्च तक, यानी तीन दिन चली। इसने एक केन्द्रीय कमेटी को नियुक्त किया और एक पार्टी पत्र निकालने का निर्णय लिया। लेकिन इसके आगे कुछ और ठोस हो पाता, पुलिस ने सभी प्रमुख भागीदारों को गिरफ्तार कर लिया। नतीजतन, इस स्थापना कांग्रेस ने कोई कार्यक्रम भी नहीं निर्धारित किया था। **लेकिन इसकी एक उपलब्धि यह थी कि जिन स्थानीय**

मार्क्सवादी समूहों ने इसमें भागीदारी की थी उन्हें अब एक साझा पार्टी नाम मिल गया था और अब वे इसी साझा नाम का प्रयोग करने लगे थे। हालाँकि, जैसा कि ई.एच. कार ने बताया है कि इन तमाम अलग-अलग स्थानीय संगठनों में से कई में आपस में अभी कोई सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाया था। जो नौ प्रतिनिधि इस स्थापना कांग्रेस में शामिल हुए थे, उनमें से कोई भी पार्टी के निर्माण के लिए आगे चलने वाले दो लाइनों के संघर्ष में कोई भूमिका नहीं निभाने वाला था। कांग्रेस के सम्पन्न हो जाने के बाद पीटर स्त्रूवे (“कानूनी” मार्क्सवादी, जिनका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं) ने रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का एक घोषणापत्र लिखा। इस घोषणापत्र में स्त्रूवे ने माना कि रूस में जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की जिम्मेदारी का बड़ा हिस्सा भी सर्वहारा वर्ग के कन्धों पर आ गया है क्योंकि, “आप यूरोप में जितना पूरब की तरफ़ जाते हैं, राजनीतिक अर्थों में बुर्जुआ वर्ग उतना ही कमज़ोर, दुष्ट और कायर होता जाता है, और सर्वहारा वर्ग पर सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्यभार उतने ही ज़्यादा बढ़ते जाते हैं। अपने मज़बूत कन्धों पर रूसी मज़दूर वर्ग को राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने के कार्य को उठाना चाहिए और उसे उठाना ही होगा। यह एक बुनियादी क़दम है, लेकिन केवल पहला क़दम, सर्वहारा वर्ग के उस महान ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने की ओर, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए जिसमें आदमी के हाथों आदमी के शोषण का कोई स्थान नहीं रहेगा।” (ई.एच.कार, *दि बोलशेविक रिवोल्यूशन*, खण्ड-2 में उद्धृत, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, 1985, पृ. 4, अनुवाद हमारा)। जैसा कि हम देख सकते हैं कि इस घोषणापत्र में दो चरणों में क्रान्ति के सम्पन्न होने की बात की गयी है। ताज्जुब की बात है कि स्त्रूवे ने उस समय बुर्जुआ वर्ग की कमज़ोरी और कायरता की और साथ ही सर्वहारा वर्ग पर जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की जिम्मेदारी की भी बात की थी। लेकिन बाद में स्त्रूवे पूरी तरह से बुर्जुआ वर्ग का पुछल्ला बन जाने की नीति की हिमायत करने लगे और यह कहने लगे कि बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों के पूरा होने तक सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग की पूँछ पकड़कर चलना चाहिए। बहरहाल, दो अहम मुद्दों पर यह घोषणापत्र कुछ भी नहीं कहता था: एक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का पूरे घोषणापत्र में कहीं जिक्र नहीं था और दूसरा, कोई तात्कालिक या दूरगामी ठोस कार्यक्रम इस घोषणापत्र में नहीं रखा गया था। कार ने ठीक ही कहा है कि यह घोषणापत्र एक अकादमिक कवायद बनकर रह गया।

इस बीच 1900 में लेनिन अपने निर्वासन से मुक्त हो चुके थे। अपने निर्वासन के दौरान ही वह मार्तोव, पोत्रेसोव और क्रुप्सकाया के साथ एक राजनीतिक मज़दूर अखबार की योजना बना रहे थे। लेनिन का मानना था कि एक पार्टी अखबार के बगैर रूसी सामाजिक-जनवादी सर्वहारा वर्ग के उन्नत तत्वों को संगठित करने का काम नहीं कर सकते हैं। इसके बाद लेनिन, मार्तोव और पोत्रेसोव जिनेवा में प्लेखानोव से मिले। उन्होंने पार्टी अखबार की योजना पर बात की और उनके बीच इसे लेकर एक राय बनी। इसके बाद यह तय हुआ कि दो पार्टी ऑर्गन निकाले जाएँगे: पहला एक राजनीतिक मज़दूर अखबार, *इस्क्रा* और दूसरा एक सैद्धान्तिक पार्टी ऑर्गन, *ज़ार्या*। इन पार्टी मुखपत्रों के लिए जो सम्पादक मण्डल तय हुआ उसमें प्लेखानोव, लेनिन, मार्तोव, एक्सेरोद, वेरा ज़ासुलिच और पोत्रेसोव शामिल थे।

इस्क्रा का पहला अंक स्टटगार्ड में 1 दिसम्बर, 1900 को छपा। *ज़ार्या* का पहला अंक 1 अप्रैल 1901 को छपकर आया। इन दोनों ही मुखपत्रों में सम्पादक मण्डल के सिर्फ़ तीन

वरिष्ठ सदस्यों का नाम प्रकाशित होता था: प्लेखानोव, एक्सेलरोद और वेरा जासुलिच। लेनिन, मार्तॉव और पेत्रोव अभी भी प्लेखानोव को अपना विचारधारात्मक गुरु मानते थे और रूसी मार्क्सवादियों के नेता के तौर पर दुनिया में लोग प्लेखानोव को ही जानते थे। लेकिन लेनिन इस समय तक इस्क्रा और ज़ार्या के सबसे प्रमुख लेखक बन चुके थे। दिसम्बर 1901 से पहले लेनिन कुछ अन्य नामों से लिखा करते थे जैसे 'पेत्रोव', 'फ्रेई' आदि। दिसम्बर 1901 में ज़ार्या में पहली बार 'लेनिन' नाम से उनका एक लेख प्रकाशित हुआ। 1901 के अन्त तक लेनिन अपनी विचारधारात्मक और राजनीतिक स्पष्टता, दृढ़ता और निर्णायकता के चलते समूह के प्रमुख नेता के रूप में उभरने लगे थे। लेनिन के नेतृत्व में क्रान्तिकारियों के इस समूह का दो लक्ष्य था: पहला, एक सुदृढ़ क्रान्तिकारी विचारधारा का विकास जिस पर कि रूसी मार्क्सवादियों के अधिकतम सम्भव हिस्से को सहमत किया जा सके और दूसरा 1898 में शुरू हुई पार्टी गठन की प्रक्रिया को फिर से शुरू करते हुए एक नयी पार्टी कांग्रेस बुलाना। पहले काम में इस्क्रा और ज़ार्या में निरन्तर राजनीतिक लेखन और बहसें जारी रखने के अलावा रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का एक कार्यक्रम तय करना भी शामिल था। इस्क्रा का घोषित लक्ष्य था बिखरे हुए रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन को "एक निश्चित संगठन और मुखाकृति" प्रदान करना था। लेकिन रूसी सामाजिक जनवादियों को संगठित करने में लेनिन किसी भी किस्म का राजनीतिक समझौता नहीं चाहते थे, न ही विचारधारात्मक-राजनीतिक मुद्दों पर और न ही सांगठनिक उसूलों पर। हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं कि एक केन्द्रीकृत और अनुशासित सर्वहारा हिरावल पार्टी की सोच लेनिन के दिमाग में 1895 में पीटर्सबर्ग में 'लीग ऑफ स्ट्रगल' की स्थापना के समय ही पैदा हो चुकी थी। इसलिए इस्क्रा के शुरू होने की घोषणा में लेनिन ने लिखा, "एकजुट होने से पहले, और एकजुट होने के लिए, हमें पहले निर्णायक और सुनिश्चित तौर पर सीमा रेखाएँ खींच लेनी चाहिए। अन्यथा हमारी एकता महज़ एक कपोल कल्पना होगी जो कि मौजूदा भ्रम को ढँकने का काम करेगी और इसके आमूलगामी ढंग से सफाये को रोकेगी। इसलिए यह समझ लिया जाय कि हम अपने मुखपत्र को वैविध्यपूर्ण रायों का एक संग्रह मात्र बनाने का इरादा नहीं रखते। इसके विपरीत, इसे एक सख्ती से निर्धारित नीति की भावना में संचालित करेंगे।" (वी.आई.लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 5, मॉस्को, 1960, पृ. 430, अनुवाद हमारा)

लेनिन में शुरू से ही यह दृढ़ता और लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा मौजूद थी। साथ ही, जिस तरीके से वह राजनीतिक बहस चलाते थे, विरोधियों पर हमला करते थे और पार्टी की गतिविधियों को नेतृत्व देते थे, उसमें किसी किस्म का आडम्बर या आत्मश्लाघा नहीं था। उनकी बात हमेशा सीधी और सटीक हुआ करती थी और बेहद नपे-तुले शब्दों में। मिसाल के तौर पर क्या करें? के प्रकाशन के बाद दूसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने अर्थवादियों की अपनी इस आलोचना के पक्ष में दलील रखते हुए कहा था, "अर्थवादियों ने छड़ी को एक तरफ़ मोड़ दिया था। छड़ी को सीधा करने के लिए उसे दूसरी ओर मोड़ना ज़रूरी था; मैंने बस यही किया।" लेनिन की बात की यही निर्णायकता उन्हें रूसी जनता और कम्युनिस्ट पार्टी का नेता बनाती थी। लेनिन की ज़बर्दस्त बौद्धिक क्षमता, विचारधारात्मक समझ, दार्शनिक अध्ययन, विश्लेषणात्मक कौशल और राजनीतिक निर्णायकता ही थी कि इस्क्रा 1902 तक रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी का एक कार्यक्रम प्रस्तावित करने में सफल रहा। लगभग इसी समय

लेनिन की प्रसिद्ध रचना 'क्या करें?' का प्रकाशन हुआ जो कि अर्थवादियों और "कानूनी" मार्क्सवादियों की निर्णायक आलोचना थी; लेकिन हमारा मानना है कि इस रचना को 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' और अन्य जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और गैर-पार्टी क्रान्तिवादी रुझानों की आलोचना के तौर पर भी पढ़ा जाना चाहिए, जो कि पिछले एक दशक में विशेष तौर पर देश के मजदूर आन्दोलन के अलग-अलग हिस्सों में उग आये हैं। इनमें से अधिकांश रुझान लेनिनवाद का नाम लेते हुए वास्तव में लेनिनवाद के कोर उसूलों पर हमला करते हैं। वास्तव में, इसे सामान्य तौर पर अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद के साथ हर प्रकार के गैर-पार्टी क्रान्तिवाद की आलोचना के तौर पर भी पढ़ा जाना चाहिए। लेनिन के नेतृत्व में *इस्क्रा* के प्रकाशन और 'क्या करें?' के प्रकाशन ने विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर दूसरी पार्टी कांग्रेस की ज़मीन तैयार कर दी थी। 1902 में 'क्या करें?' के प्रकाशन के साथ तीन प्रमुख राजनीतिक विरोधियों, यानी कि नरोदवाद, अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद पर निर्णायक रूप से विजय प्राप्त कर ली गयी थी। साथ ही, इस समय तक मजदूर वर्ग के बीच सतत राजनीतिक कार्य ने पार्टी संगठन का भी बुनियादी ढाँचा खड़ा कर दिया था।

1903 की पार्टी कांग्रेस ने रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पहली फूट को जन्म दिया जो कि कुछ अहम राजनीतिक और सांगठनिक सवालों को लेकर हुई थी। इस फूट ने दो नये राजनीतिक संघर्षों को जन्म दिया जो कि रूसी क्रान्ति के बाद भी चलते रहे: बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच का संघर्ष और बोल्शेविकों व त्रात्स्कीपंथ के बीच संघर्ष। जिन तीन बुनियादी संघर्षों ने बोल्शेविज़्म और लेनिनवाद की बुनियाद रखी (जिनका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं) उन तीनों की छाया अगले दो बड़े राजनीतिक संघर्षों में भी हमें दिखती है, जो कि लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी और मेशेविकों तथा बोल्शेविक पार्टी और त्रात्स्कीपंथ के बीच हुआ।

1903 से रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इतिहास का एक नया चरण शुरू होता है। इस चरण की शुरुआत मेशेविकों से फूट के साथ हुई। इस फूट के बाद का इतिहास नये राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्षों का इतिहास है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। इस इतिहास की शुरुआत मेशेविज़्म से संघर्ष के साथ होती है। सही मायनों में, मेशेविज़्म पुराने अर्थवादियों और "कानूनी" मार्क्सवादियों का वंशज था और मेशेविज़्म के साथ सांगठनिक लाइन पर लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का जो टकराव हुआ वह राजनीतिक अन्तरविरोधों का ही नतीजा था और इन राजनीतिक अन्तरविरोधों का मूल अर्थवाद और रूस में क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को लेकर ही था।

5. पार्टी के गठन के बाद पार्टी के भीतर दो कार्यदिशाओं का संघर्ष

क) मेशेविज़्म से संघर्ष

1900 से लेकर 1903 तक *इस्क्रा* को आधार बनाकर जो राजनीतिक कार्य लेनिन के नेतृत्व में हुआ, उससे वह सांगठनिक और राजनीतिक ज़मीन तैयार हुई जिसकी बुनियाद पर 1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस हुई। सही मायने में यह पार्टी कांग्रेस स्थापना कांग्रेस मानी जानी चाहिए क्योंकि 1898 में पहली पार्टी कांग्रेस में जो पहल शुरू हुई थी, उसका अब कुछ नहीं बचा था। सिर्फ एक नाम बचा था जिसे कि दूसरी पार्टी कांग्रेस में भी अपनाया गया।

इस पार्टी कांग्रेस से पहले लेनिन व प्लेखानोव के नेतृत्व में काम कर रहे सामाजिक जनवादियों में पार्टी कार्यक्रम और पार्टी संहिता को लेकर बहस शुरू हुई, जिन्हें अब इस्क्रा समूह के नाम से जाना जाता था। इस्क्रा समूह के भीतर पार्टी कार्यक्रम और पार्टी संहिता को लेकर जो चर्चाएँ शुरू हुईं उसमें लेनिन और प्लेखानोव के बीच कुछ गम्भीर मतभेद उभरकर सामने आये। प्लेखानोव ने पार्टी कार्यक्रम का पहला मसविदा पेश किया, जिसमें कि सैद्धान्तिक तौर पर कुछ ग़लत नहीं था, लेकिन रूस में पूँजीवाद के विकास को लेकर और इसके परिणामस्वरूप रूस में क्रान्ति की तैयार होती परिस्थितियों की विवेचना ढीली-ढाली थी। नतीजतन, इससे कोई ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं निकलता था। किसान प्रश्न पर भी प्लेखानोव के मसौदे में कुछ ख़ास नहीं था। लेनिन ने इस मसौदे का विरोध करते हुए कहा, “यह व्यावहारिक संघर्ष में संलग्न किसी पार्टी का कार्यक्रम नहीं है बल्कि सिद्धान्तों का घोषणापत्र है—बल्कि छात्रों के लिए एक कार्यक्रम है।” लेनिन ने इस मसौदे के जवाब में एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया जो कि सभी सैद्धान्तिक मसलों पर ज़्यादा ठोस और सटीक अवस्थिति अपनाता था। लेकिन इस्क्रा समूह में रूसी सामाजिक जनवादियों के सबसे पुराने और सम्मानित नेता के तौर पर प्लेखानोव की प्रतिष्ठा अत्यधिक थी और लेनिन अभी 33 वर्ष के एक युवा थे। संगठन ने इसके बाद इस प्रश्न के निपटारे के लिए आयोग बनाया जिसका काम दोनों मसौदों को मिलाकर एक मसौदा तैयार करना था। दोनों मसौदों को मिलाकर जो पार्टी कार्यक्रम तैयार हुआ उसमें लेनिन के मसौदे के लगभग सभी बिन्दुओं को प्लेखानोव द्वारा कुछ मामूली संशोधनों के साथ स्वीकार किया गया था, और प्लेखानोव के मसौदे के उन सभी बिन्दुओं पर लेनिन के संशोधन शामिल किये गये थे, जो सैद्धान्तिक तौर पर कमज़ोर थे। कार्यक्रम का भूमि कार्यक्रम का पूरा हिस्सा लेनिन ने लिखा था। लेनिन उस समय ही भूमि के राष्ट्रीयकरण को कार्यक्रम में शामिल करना चाहते थे, जबकि प्लेखानोव इस पर सहमत नहीं थे। अन्त में, इस बात पर सहमति बनी कि किसानों को वे सारी ज़मीनें बिना मुआवज़ा वापस करने की माँग कार्यक्रम में शामिल की जाये जो कि भूदास मुक्ति के समय उनसे ले ली गयी थी। सर्वहारा अधिनायकत्व और क्रान्ति में मजदूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका पर भी लेनिन के प्रस्ताव को कार्यक्रम में शामिल किया गया। इस समय लेनिन और प्लेखानोव के बीच जो मतभेद हुए थे, वास्तव में वही मतभेद आगे प्लेखानोव को मेशेविकों के पक्ष में खड़ा करने वाले थे। अन्तिम तौर पर अपनाये गये कार्यक्रम का विचारधारात्मक हिस्सा मानता था रूस में पूँजीवाद अब आगे की प्रगति के लिए बाधा है। उसके अन्तरविरोधों के बढ़ने के साथ सर्वहारा वर्ग की “संख्या और एकजुटता बढ़ रही है और शोषकों के साथ उसका संघर्ष और तीखा होता जा रहा है।” कार्यक्रम ने इस बात का जिक्र किया कि पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के तीव्र होते जाने के साथ समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तेज़ी से तैयार हो रही है। यह पहला कार्यक्रम था जिसने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात की। कार्यक्रम का वह हिस्सा जो रूसी क्रान्ति के तात्कालिक लक्ष्यों से सम्बन्धित था, मूल तौर पर निरंकुश राजतन्त्र के खात्मे, संविधान सभा बुलाने, जनवादी अधिकारों (जैसे कि अभिव्यक्ति, समान व सार्वभौमिक मताधिकार, संगठित होने और एकत्र होने की स्वतन्त्रता और न्यायाधीशों के चुनाव का अधिकार), और चर्च व राज्य के अलगाव की बात करता था। इन राजनीतिक अधिकारों के अलावा एक हिस्सा आर्थिक माँगों को समर्पित था जिसमें कि आठ घण्टे का

कार्यदिवस, बाल श्रम पर प्रतिबंध, बुजुर्गों के लिए राज्य बीमा, और जुर्मानों पर रोक की माँगें शामिल थीं। किसानों की आर्थिक माँगों में उनसे भूदास उन्मूलन के समय छीनी गयी ज़मीनों को वापस करने की माँग प्रमुख थी। ज़ाहिर है कि यह कार्यक्रम जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए था और इसे रैडिकल बुर्जुआ और किसानों को साथ लेने को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था। साथ ही कार्यक्रम में हर उस आन्दोलन को समर्थन देने की बात की गयी थी जो कि मौजूद व्यवस्था के वास्तविक रूप में खिलाफ़ था। **इस कार्यक्रम को कुछ मामूली संशोधनों के साथ 1903 की कांग्रेस में पास कर लिया गया था और यह 1919 तक मूल रूप में बदला नहीं गया था।**

दूसरी पार्टी कांग्रेस में करीब 25 सामाजिक जनवादी संगठनों के प्रतिनिधियों ने भागीदारी की। हर प्रतिनिधि को दो वोट देने का अधिकार था। यहूदी बुण्ड को कांग्रेस ने स्वायत्त संगठन की विशेष स्थिति प्रदान की थी और उनके प्रतिनिधियों को 3 वोट का अधिकार दिया गया था। कुछ संगठन एक ही प्रतिनिधि भेज पाये इसलिए अन्ततः कांग्रेस में कुल 43 वोट देने का अधिकार रखने वाले प्रतिनिधि आये जिनके पास 51 वोट डालने का अधिकार था। इसके अलावा कुछ अन्य संगठनों के 14 प्रतिनिधि और भी थे, लेकिन उनके पास वोट डालने का अधिकार नहीं था। इस कांग्रेस में 30 प्रतिनिधि ऐसे थे जो कि इस्क्रा समूह से थे या उसकी कार्यदिशा से घोषित तौर पर सहमत थे। लेकिन ऐसा नहीं था कि इस्क्रावादियों के बीच की एकता कोई एकाग्रता थी; वास्तव में, शुरू से ही इस्क्रावादियों को लेनिन-नीत इस्क्रावादियों और अन्य इस्क्रावादियों के बीच विभाजित किया जा सकता था। यह बात कांग्रेस में कार्यक्रम पर चर्चा और उसे अपनाये जाते समय पूरी तरह खुलकर सामने नहीं आयी। **नतीजतन, कांग्रेस में कार्यक्रम पर चर्चा तक सभी इस्क्रावादियों का धड़ा ही बहुमत में था।** जिन स्रोतों से कुछ विरोध आ सकता था वह यहूदी बुण्ड के प्रतिनिधि थे जो कि पार्टी में सिर्फ़ अपने जातीय अल्पसंख्यक होने के अधिकारों और स्वायत्तता के विशिष्ट अधिकारों की रक्षा में दिलचस्पी रखते थे। इसके अलावा 2 अर्थवादी रुझान रखने वाले प्रतिनिधि थे, **एकिमोव और मार्तीनोव।** इन प्रतिनिधियों की तरफ़ से सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के प्रश्न पर सवाल उठाये गये।

‘बोल्शेविक पार्टी का इतिहास’ (1936) के अनुसार कुछ अर्थवादी रुझान वाले समूह अपनी पहचान को छिपाकर कांग्रेस में आये थे और सभी अहम सैद्धान्तिक मुद्दों पर उनकी अवस्थिति डावाँडोल होती रही। लेकिन एकिमोव और मार्तीनोव खुले तौर पर शुरू से अर्थवादी रुझान की नुमाइन्दगी कर रहे थे। ये दोनों विदेशी रूसी सामाजिक जनवादी यूनियन की नुमाइन्दगी कर रहे थे। दो विरोध के वोटों के साथ इस्क्रा को पार्टी का मुखपत्र स्वीकार किया गया। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अलावा, कार्यक्रम के जिन हिस्सों पर कुछ बहस हुई उनमें एक था सर्वहारा वर्ग की चेतना का प्रश्न। **कार्यक्रम एक जगह सर्वहारा वर्ग की बढ़ती संख्या और एकजुटता का जिक्र कर रहा था; वहाँ पर मार्तीनोव ने ‘चेतना’ शब्द जोड़ने का प्रस्ताव रखा।** यह वास्तव में उसी बहस का असर था जो पिछले वर्ष ‘क्या करें?’ के प्रकाशन के साथ अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। अर्थवादियों का मानना था कि सर्वहारा वर्ग स्वतःस्फूर्त ढंग से राजनीतिक चेतना पैदा कर सकता है, जबकि लेनिन ने इसकी आलोचना करते हुए स्पष्ट किया था कि सर्वहारा वर्ग अपने आप महज़ ट्रेड यूनियन चेतना पैदा कर सकता है; सामाजिक-जनवादी चेतना मजदूर आन्दोलन में हमेशा बाहर से आती है। इस कांग्रेस

में अपने इसी अर्थवादी रुझान के कारण मार्तीनोव ने सर्वहारा वर्ग की स्वतःस्फूर्त रूप से बढ़ती चेतना का जिक्र करने का प्रस्ताव रखा था। इस प्रस्ताव को रखते हुए मार्तीनोव ने लेनिन की रचना 'क्या करें?' की आलोचना रखी। लेनिन ने अपनी कार्यदिशा में पक्ष में पुरजोर तर्क रखे और **प्लेखानोव**, **मार्तोव** और **त्रात्स्की** ने लेनिन के पक्ष में हस्तक्षेप किया। नतीजतन, मार्तीनोव के संशोधन का प्रस्ताव खारिज हो गया। इसके अलावा अवसरवादी तत्वों ने किसान प्रश्न को पार्टी कार्यक्रम में शामिल करने पर भी प्रश्न उठाया। बुण्डवादियों और पोलिश सामाजिक-जनवादियों ने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को पार्टी कार्यक्रम में शामिल करने का विरोध किया। लेकिन ये सभी आपत्तियाँ कांग्रेस में अन्ततः पराजित हुईं। पार्टी के दूरगामी कार्यक्रम (यानी, समाजवादी क्रान्ति) और तात्कालिक न्यूनतम कार्यक्रम (यानी, निरंकुश राजतन्त्र का खात्मा और संविधान सभा बुलाना, जनवादी गणराज्य की स्थापना, किसानों को ज़ब्त ज़मीनों लौटाना, आठ घण्टे का कार्यदिवस आदि) पर कोई विशेष विवाद नहीं हुआ। कुल मिलाकर, कार्यक्रम का हिस्सा छोटी-मोटी बहसों, आपत्तियों और चर्चा के बाद सहज तरीके से अनुमोदित हो गया।

मुख्य विवाद हुआ पार्टी संहिता पर। दरअसल, जिस आयोग ने पार्टी संहिता के प्रश्न पर मसौदा तैयार किया था, उसमें ही एक अहम सैद्धान्तिक मसले पर विवाद हो गया था और इस वजह से इस आयोग ने दो मसौदे पेश किये थे। यह विवाद लेनिन और मार्तोव के बीच हुआ था। विवाद का मूल मुद्दा पार्टी सदस्यता की शर्तों से सम्बन्धित था। संहिता के पहले ही पैराग्राफ में पार्टी की सदस्यता की शर्तों को लेकर बात की गयी थी। जिस पार्टी आयोग को पार्टी संहिता का मसौदा तैयार करने का उत्तरदायित्व दिया गया था, उसमें ही विवाद पैदा हो गया। लेनिन और मार्तोव ने वैकल्पिक मसौदे पेश किये। देखने में दोनों के मसौदों के पहले वाक्य में बहुत बड़ा फर्क नहीं लगता, लेकिन गौर किया जाय तो यह एक बुनियादी फर्क था। लेनिन द्वारा पार्टी सदस्यता की शर्तों पर प्रस्तावित वाक्य इस प्रकार था:

“पार्टी का सदस्य वह है जो कि इसके कार्यक्रम को स्वीकार करता है और दोनों प्रकार से, यानी भौतिक तौर पर और इसके किसी संगठन में भागीदारी के ज़रिये व्यक्तिगत भागीदारी करके, पार्टी का समर्थन करता है।”

मार्तोव का मसौदा इस शर्त को इस प्रकार रखता था:

“रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का सदस्य वह है जो इसके कार्यक्रम को स्वीकार करता है और दोनों प्रकार से, यानी भौतिक तौर पर और इसके किसी संगठन के नेतृत्व में नियमित सहकार के ज़रिये, पार्टी का समर्थन करता है।”

यह अन्तर शुरु में किसी को मामूली लगता है लेकिन इनके पीछे कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन और ढाँचे को लेकर दो अलग अवधारणाएँ मौजूद हैं। लेनिन की सोच एक केन्द्रीकृत, गोपनीय और लौह अनुशासन में कसी हुई पार्टी की थी। इसलिए उनके मसौदे में शामिल सदस्यता-सम्बन्धी शर्त पार्टी सदस्यता के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं करती है। लेनिन के अनुसार पार्टी की सदस्यता के लिए महज़ पार्टी के कार्यक्रम में भरोसा करना और उसे भौतिक और वित्तीय तौर पर सहयोग देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके लिए अमुक व्यक्ति को पार्टी के किसी न किसी संगठन का सदस्य होना और उसके अनुशासन में काम करना होगा। मार्तोव के मसौदे के अनुसार पार्टी का सदस्य होने के लिए किसी को किसी पार्टी संगठन के सदस्य के तौर पर और उसके अनुशासन में बंधकर काम करना आवश्यक नहीं है। इसके अनुसार,

पार्टी का सदस्य कोई भी ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो किसी पार्टी संगठन के अनुशासन में न हो, लेकिन वह कार्यक्रम को स्वीकार करता हो और वित्तीय सहयोग करता हो। यदि इस शर्त को अपनाया जाय तो सदस्यों के लिए पार्टी अनुशासन का पालन करना बाध्यताकारी नहीं रह जायेगा। किसी पार्टी संगठन का हिस्सा हुए बगैर पार्टी का सदस्य होने का अर्थ होगा एक ऐसे व्यक्ति का पार्टी सदस्य बनना जो कि पार्टी अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। लेनिन ने इसका सख्त विरोध किया। उनका मानना था कि ऐसे में पार्टी में तमाम किस्म के अस्थिर और गैर-सर्वहारा तत्व भर जायेंगे और पार्टी मजदूर वर्ग का एक उन्नत दस्ता नहीं रह जायेगी; वह एक यूरोपीय शैली की सामाजिक-जनवादी या समाजवादी पार्टी बन जायेगी। हमेशा ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करने वाले और कई बार उसे भौतिक सहायता देने वाले ऐसे तमाम सदस्य होते हैं जो कि पार्टी अनुशासन में बंधने को तैयार नहीं होते, या कहें कि, बंध ही नहीं सकते। तमाम ऐसे बुद्धिजीवी, शिक्षक आदि होते हैं जो मुद्दा-आधारित समर्थन पार्टी को देते हैं। मार्तोव के अनुसार, ऐसे सभी तत्वों को पार्टी सदस्यता दी जानी चाहिए और उन पर अनुशासन का पालन करने की बाध्यता नहीं लादी जानी चाहिए। लेनिन का कहना था कि ऐसे लोग गैर-सदस्य समर्थकों के दायरे में ही रह सकते हैं और सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्ते के तौर पर पार्टी की राजनीतिक-सांगठनिक शुद्धता पर समझौता नहीं किया जा सकता है। इसी बहस में दृढ़ इस्क्रावादियों और अस्थिर इस्क्रावादियों के बीच एक फूट पैदा हुई और यही फूट कांग्रेस में आगे चलकर बोलशेविक और मेशेविक धड़ों के बीच की फूट में तब्दील हो गयी। मार्तोव का कहना था कि “संगठन” और “पार्टी” के बीच फर्क किया जाना चाहिए; संगठन को सख्त गोपनीयता के ढाँचे में ढाला जाना चाहिए लेकिन पार्टी को हमदर्दों का एक विशाल दायरा होना चाहिए। लेनिन का कहना था कि अगर इस प्रस्ताव पर अमल किया जाता है तो पार्टी व्यर्थ वितण्डा करने वाले बातूनी तत्वों का जमावड़ा बन जायेगी और पार्टी का जुझारू, सैन्य चरित्र जाता रहेगा।

इस्क्रावादियों के बीच फूट के कारण कांग्रेस में अवसरवादी, अर्थवादी और बीच का रास्ता निकालने का प्रयास करने वाले अस्थिर तत्वों की ताकत लेनिन के इस्क्रावादी धड़े से बढ़ गयी। प्लेखानोव एक प्रकार से बेमन से लेनिन के पक्ष में आये। इस्क्रा के पुराने सम्पादक मण्डल में से एक्सेलरोद खुले तौर पर मार्तोव के पक्ष में आ गये। वेरा ज़ासुलिच और पोत्रेसोव ने कुछ बोला नहीं लेकिन उनका मौन समर्थन मार्तोवपंथियों के साथ ही था। त्रात्स्की, जिसने कि कार्यक्रम के मसले पर लेनिन की अवस्थिति का बचाव करते हुए मार्तीनोव व अन्य अर्थवादियों का विरोध किया था, मार्तोव के पक्ष में आ गया। नतीजतन, लेनिन के मसौदे के पक्ष में 22 वोट पड़े जबकि मार्तोव के मसौदे का 28 वोट मिले। एक प्रतिनिधि ने वोट नहीं डाला। कांग्रेस ने मार्तोव के मसौदे को स्वीकार किया। बुण्ड, अर्थवादियों और अस्थिर (गैर-लेनिनवादी) इस्क्रावादियों के वोट मिलकर लेनिनवादी इस्क्रावादी धड़े के कुल वोटों से ज़्यादा सिद्ध हुए। लेकिन यहाँ गौर करने की बात यह है कि रूस भर में जो तमाम सामाजिक-जनवादी संगठन कांग्रेस में शामिल हुए थे, उनमें लेनिन की कार्यदिशा का प्रभाव अधिक था। अगर बुण्ड और प्रच्छन्न और खुले अर्थवादियों के वोटों को हटा दें (जो हर तरह से एक कमज़ोर और गैर-हिरावल पार्टी की हिमायत करते थे) तो मार्तोवपंथियों का इन सामाजिक-जनवादी समूहों पर प्रभाव लेनिन के मुकाबले कम था। इस मुद्दे पर वोट ने पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर त्रात्स्की के मेशेविक रुझान को भी उघाड़कर रख दिया। यहीं से लेनिन

का त्रात्स्की के बारे में मूल्यांकन बदलना शुरू होता है। त्रात्स्की के साथ लेनिन के संघर्ष की चर्चा हम अलग से करेंगे, क्योंकि आम तौर पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी इस मूल्यांकन से हम सहमत नहीं हैं कि त्रात्स्की एक सतत् मेशेविक था। निश्चित तौर पर, त्रात्स्की पर मेशेविज़्म का प्रभाव था, लेकिन त्रात्स्की की पहुँच और पद्धति को केवल मेशेविज़्म के रूप में अपचयित करना एक सटीक द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन नहीं होगा। खैर, पार्टी सदस्यता के प्रश्न पर विवाद के इस वाक्य के बाद के घटनाक्रम ने कांग्रेस के पूरे रुझान को बदल डाला।

संहिता के प्रश्न पर फैसले के बाद पार्टी के विभिन्न केन्द्रीय संगठनों में चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ। इनमें केन्द्रीय कमेटी और इस्क्रा के सम्पादक मण्डल के चुनाव का प्रश्न प्रमुख था जिसे कि कांग्रेस ने आधिकारिक तौर पर पार्टी का मुखपत्र स्वीकार किया था। इन संगठनों में चुनाव के पहले कांग्रेस को बुण्ड के प्रश्न पर अपनी अवस्थिति को स्पष्ट करना था। बुण्ड एक जातीय आधार पर बना मजदूर संगठन था जो कि पार्टी में अपनी स्वायत्त स्थिति को कायम रखना चाहता था और यहूदी मजदूरों के प्रतिनिधित्व को अपना एकाधिकार मानता था। इस प्रश्न पर कांग्रेस में शामिल ज़्यादातर प्रतिनिधि सहमत थे। उनका मानना था कि किसी भी रूप में एक सामाजिक-जनवादी पार्टी में कोई जातीय समूह इस प्रकार की स्वायत्तता नहीं रख सकता है। कांग्रेस ने बुण्ड के यहूदी मजदूरों के प्रतिनिधित्व के एकाधिकार को मानने से इंकार किया। नतीजतन, बुण्ड के प्रतिनिधि कांग्रेस से उठकर चले गये। इसके बाद कांग्रेस ने तय किया कि रूसी सामाजिक-जनवादियों के केवल एक विदेशी समूह को पार्टी संगठन की मान्यता दी जायेगी। इसमें 'लीग ऑफ रिवोल्यूशनरी सोशल-डेमोक्रेसी' को चुना गया, न कि एकिमोव और मार्तीनोव के अर्थवादी संगठन 'यूनियन ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रेट्स अब्रोड' को। नतीजतन, यह अर्थवादी संगठन भी कांग्रेस से उठकर चला गया। नतीजतन, अब मार्तौवपंथी और मध्यमार्गियों का बहुमत समाप्त हो गया और लेनिनवादी इस्क्रावादी धड़ा बहुमत में आ गया। गौर करने की बात यह है कि बुण्ड और अर्थवादियों को बाहर करने के निर्णय पर सभी इस्क्रावादी साथ थे।

इसके बाद, इस्क्रा के सम्पादक मण्डल के चुनाव की बारी आयी। इस सम्पादक मण्डल की स्थिति पार्टी में एक प्रकार से विचारधारात्मक-राजनीतिक मार्गदर्शक जैसी थी, जबकि केन्द्रीय कमेटी शीर्षतम केन्द्रीय पार्टी संगठन था। लेनिन ने कांग्रेस से पहले ही इस्क्रा के सम्पादक मण्डल के समक्ष यह प्रस्ताव रखा था कि केन्द्रीय कमेटी और इस्क्रा के सम्पादक मण्डल में सदस्यों की संख्या तीन-तीन कर दी जाय। इस्क्रा के सम्पादक मण्डल में उस समय छह सदस्य हुआ करते थे। उस समय मार्तौव, एक्सेलरोद या ज़ासुलिच ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की थी। लेकिन जब कांग्रेस में लेनिन ने सम्पादक मण्डल के सदस्यों के तौर पर प्लेखानोव, अपना और मार्तौव का नाम प्रस्तावित किया तो मार्तौव ने इसका विरोध किया। इस समय तक लेनिन की कार्यदिशा हर तौर पर बहुमत में आ चुकी थी। इस सम्पादक मण्डल के प्रस्ताव को 2 के मुकाबले 25 वोटों से विजय मिली। 17 लोगों ने वोट नहीं डाला। मार्तौव ने इस सम्पादक मण्डल में शामिल होने से इंकार कर दिया और लेनिन पर आरोप लगाया कि उनके धड़े ने कांग्रेस में "मार्शल लॉ लागू कर दिया है" और "कुछ विशिष्ट समूहों के विरुद्ध आपात कानून" लगा दिया गया है। इसके जवाब में लेनिन ने कहा, "मैं "मार्शल कानून" और "विशिष्ट व्यक्तियों और समूहों के विरुद्ध असाधारण कानून" के बारे में बड़े-बड़े शब्दों से बिल्कुल नहीं डरता। लेनिन का कहना था कि अस्थिर और दुलमुल्यकीन तत्वों के साथ

निपटने के लिए हम न सिर्फ “मार्शल कानून” लागू कर सकते हैं, बल्कि हम ऐसा करने को बाध्य हैं, और हमारी पूरी पार्टी संहिता, “केन्द्रीयता” की पूरी नीति, जिसके की कांग्रेस ने अभी-अभी अनुमोदित किया है, वह और कुछ नहीं बल्कि राजनीतिक अनुशासनहीनता के ऐसे तमाम स्रोतों से निपटने के लिए “मार्शल कानून” ही तो हैं। राजनीतिक अनुशासनहीनता के प्रति विशेष, बल्कि असाधारण कानूनों की आवश्यकता है; और कांग्रेस द्वारा उठाये गये क़दम ने ऐसे कानूनों और ऐसे क़दमों के लिए एक ठोस आधार तैयार करके सही राजनीतिक दिशा निर्धारित की है।” (इकतीसवाँ सत्र, दूसरी कांग्रेस, रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी, 1903) इसके बाद कांग्रेस के चुनावों में मार्तॉव के समर्थकों ने हिस्सा नहीं लिया और दोनों धड़ों ने अपनी अलग-अलग बैठकें शुरू कर दीं। नयी केन्द्रीय कमेटी में सभी लेनिन के इस्क्रावादी धड़े के लोग चुने गये। प्लेखानोव को पार्टी परिषद् का अध्यक्ष चुना गया। यहीं से जो लोग लेनिन-नीत बहुमत के पक्ष में थे उन्हें बोल्शेविक (*बोल्शिन्स्वो* जिसका अर्थ है बहुमत) और जो मार्तॉव के अल्पमत के पक्ष में थे उन्हें मेशेविक (*मेशिन्स्वो*, यानी अल्पमत) कहा गया।

दूसरी पार्टी कांग्रेस बोल्शेविक और मेशेविक धड़ों के बीच संघर्ष की शुरुआत थी। कांग्रेस के तुरन्त बाद प्लेखानोव ने अपना पक्ष बदल लिया। हालाँकि कांग्रेस में जब एक प्रतिनिधि ने लेनिन के ज़्यादा दृढ़ विचारों और प्लेखानोव के विचारों के बीच फर्क करने की कोशिश की थी, तो प्लेखानोव ने जवाब दिया था कि उन्हें लेनिन से अलग कर पाना असम्भव है। लेकिन कांग्रेस के पहले ही पार्टी कार्यक्रम के मसले पर लेनिन और प्लेखानोव के बीच जो विवाद हुआ था उसने दिखला दिया था कि एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण और गठन की प्रक्रिया में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक मसलों पर जिस दृढ़ता और स्पष्टता की ज़रूरत है, उसकी प्लेखानोव में कमी है। वैसे भी कांग्रेस के दौरान लेनिन और मार्तॉव के धड़ों के बीच जो फूट पड़ी उसमें प्लेखानोव दुखी मन से ही लेनिन के पक्ष में आये थे, क्योंकि वह किसी भी कीमत पर पार्टी की एकता को बचाना चाहते थे। जबकि लेनिन का मानना था किसी ढीले-ढाले सांगठनिक उसूलों पर एक विशालकाय पार्टी बनी रहे, इससे बेहतर होगा कि दृढ़ उसूलों पर एक छोटी पार्टी बने। लेनिन का एकता के प्रति दृष्टिकोण साफ़ था: एकता से पहले मतभेद के बिन्दुओं को रेखांकित किया जाना चाहिए ताकि एकता अधिक मज़बूत और स्थायी हो, यदि वह बन पाती है। प्लेखानोव द्वारा अवसरवादियों के साथ एकता बनाये रखने का प्रयास जल्द ही स्वयं अवसरवाद में तब्दील हो गया। ई.एच. कार के मुताबिक कांग्रेस में लेनिन अपने मत की विजय के बाद जितनी तेज़ी से इस विजय का लाभ उठाने के लिए आगे बढ़े उससे प्लेखानोव चकित रह गये; लेकिन यह प्रमुख कारण नहीं था। लेनिन ने कांग्रेस में ही मार्तॉव के इस आरोप पर, कि लेनिन पार्टी संगठन पर अपने धड़े का प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, कहा कि यह सच है, और विभिन्न राजनीतिक प्रवृत्तियों के बीच जो संघर्ष जारी है वह पार्टी संगठन पर प्रभाव बढ़ाने के लिए ही तो है। लेनिन एक दृढ़, अनुशासित और गोपनीय पार्टी के सिद्धान्त पर अटल थे क्योंकि लेनिन बौद्धिक सिद्धान्त दुहराते रहने वाले व्यक्ति नहीं थे; उनके सभी सिद्धान्त और विचारधारात्मक अन्वेषण सिर्फ़ इसलिए थे कि वे क्रान्तिकारी व्यवहार की सेवा कर पायें। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि ज़ारशाही के राज्य तन्त्र के खिलाफ़ कोई भी ऐसी पार्टी जिसका ढाँचा ढीला-ढाला हो, नहीं टिक सकती है। कई लोगों ने इस बात को इस प्रकार से व्याख्यायित

किया है कि ऐसे सख्त गोपनीयता और अनुशासन वाले पार्टी ढाँचे की आवश्यकता उन देशों में नहीं पड़ेगी, जहाँ उदार बुर्जुआ जनवाद होगा। लेकिन यह एक गलतफहमी है। लेनिन ने जिस आधार पर एक दृढ़, गुप्त और अनुशासित पार्टी ढाँचे की हिमायत की थी, उस आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि 20वीं सदी ने पूँजीवादी राज्य तन्त्र और संरचना में जिस प्रकार के बदलाव देखे हैं, पूँजीपति वर्ग ने क्रान्तियों से सबक लेकर अपने राज्य तन्त्र को जिस तरह चाक-चौबन्द किया है, जिस प्रकार से आधुनिक बुर्जुआ खुफिया तन्त्र विकसित हुआ है, उसके मददेनज़र एक सख्त बोल्शेविक उसूलों वाली पार्टी की आवश्यकता आज पहले हमेशा से कहीं ज़्यादा है। निश्चित तौर पर, बुर्जुआ जनवाद यदि ज़्यादा जनवादी 'स्पेस' मुहैया कराता है, तो कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी उसका जनता की राजनीतिक चेतना के स्तरोन्नयन और जनान्दोलनों को आगे बढ़ाने के लिए पूरा इस्तेमाल करेगी। लेकिन निश्चित तौर पर, ऐसी पार्टी अपने समूचे ढाँचे को खुला नहीं कर सकती। ऐसा करने का अर्थ होगा राज्यसत्ता के रहमोकरम पर रहना। और पिछली सदी में ऐसी गलती का खामियाज़ा कई देशों की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों ने भुगता है। इसलिए लेनिन के पार्टी सिद्धान्त को तत्कालीन रूस के राज्यतन्त्र और राजनीतिक स्थितियों की विशिष्ट परिस्थितियों के लिए जायज़ बताना लेनिन के पूरे सांगठनिक सिद्धान्त को न समझ पाना है। ई. एच. कार भी इस गलती के शिकार हैं।

बहरहाल, कांग्रेस के बाद मार्तॉव, एक्सेलरोद और त्रात्स्की ने 'फॉरेन लीग ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रेट्स' के बैनर तले मार्तॉव के शब्दों में "लेनिनवाद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।" लेनिन के अनुसार इन मेशेविकों ने पार्टी की गतिविधियों में व्यवधान पैदा करने, लक्ष्य को नुकसान पहुँचाने से लेकर पार्टी में बिखराव पैदा करने तक हर सम्भव प्रयास किये। कांग्रेस के तुरन्त बाद ही प्लेखानोव ने अपना पक्ष बदल लिया और मेशेविकों के पक्ष में चले गये। इसका कारण यह था कि मेशेविक धड़े ने उन्हें चेतावनी दी थी कि वे पार्टी में फूट डालेंगे। प्लेखानोव ने पार्टी में फूट के डर से अवसरवाद का पक्ष ले लिया। इसके बाद तमाम मुद्दों पर उन्होंने अपनी अवस्थितियाँ लेनिन से अलग कर लीं, जो कि थोड़ा शर्मनाक था क्योंकि अभी एक वर्ष पहले तक ही वह उन सभी अवस्थितियों पर लेनिन का समर्थन कर रहे थे। उन्होंने *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल में उन सभी मेशेविकों को शामिल करने की माँग की जिन्हें कांग्रेस ठुकरा चुकी थी। जैसा कि ई.एच. कार ने लिखा है, "लेनिन जिन मेशेविकों को बाहर करना चाहते थे, उनमें प्लेखानोव के पुराने दोस्त और सहयोगी थे। लेनिन के सख्त पार्टी अनुशासन का प्लेखानोव ने सैद्धान्तिक तौर पर समर्थन किया था, लेकिन जब इसे लागू करने की बात आयी, तो यह अनुशासन राजनीतिक संगठन की उन कम कठोर धारणाओं के विरुद्ध साबित हुआ जिन्हें प्लेखानोव ने पश्चिम में अपने लम्बे प्रवास के दौरान आत्मसात कर लिया था।" (कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन*, खण्ड-1, 1985, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, पृ. 32, *अनुवाद हमारा*) निश्चित तौर पर, इस कथन में पूरी सच्चाई नहीं है लेकिन यह आंशिक तौर पर एक यही तस्वीर पेश करता है। लेकिन यह सिर्फ व्यक्ति की "किस्म" की बात नहीं थी, जैसा कि कार कई बार बना देते हैं। प्लेखानोव के विचार नरोदवाद के विरुद्ध संघर्ष में, अर्थवाद के विरुद्ध संघर्ष में पुरजोर तरीके से मार्क्सवादी सिद्धान्तों की हिफाज़त करते थे; लेकिन रूस की ठोस परिस्थितियों के ठोस मूल्यांकन में प्लेखानोव लेनिन से कहीं पीछे थे। मिसाल के तौर पर, किसान प्रश्न पर उनकी अवस्थिति मार्क्सवाद की एक

सही समझदारी की कमी को दर्शाती थी। साथ ही, सांगठनिक उसूलों के मामले में उनकी अवस्थिति यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन से ज़्यादा प्रेरित थे। लेकिन यह प्रश्न, जैसा कि कार मानते हैं, महज़ अलग-अलग देशों का फ़र्क नहीं था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो लेनिन के विचार भी ऐसे ही होते क्योंकि उन्होंने भी क्रान्ति से पहले राजनीतिक जीवन का बड़ा हिस्सा विदेशों में ही बिताया। यहाँ लेनिन का मतान्तर प्लेखानोव के उदारवाद और अवसरवाद से था। और इस मायने में विदेश में रहने या न रहने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता था। सवाल मार्क्सवादी विचारधारा, राजनीति और सांगठनिक उसूलों की एक सही द्वन्द्वात्मक समझदारी का था।

प्लेखानोव द्वारा मेशेविकों का पक्ष लिये जाने पर लेनिन ने 1903 में ही इस्क्रा के सम्पादक मण्डल से इस्तीफ़ा दे दिया। अपने बावनवें अंक से इस्क्रा मेशेविकों के हाथ में चला गया। यहीं से पुराने इस्क्रा (यानी कि लेनिनवादी इस्क्रा) और नये इस्क्रा (यानी कि मेशेविक इस्क्रा) के बीच अन्तर किया जाने लगा। इस्क्रा का सम्पादक मण्डल एक प्रकार से पार्टी का मार्गदर्शक नेतृत्वकारी निकाय था, जिसकी भूमिका वास्तव में केन्द्रीय कमेटी से भी ज़्यादा थी। चूँकि अब इस्क्रा पर मेशेविक धड़े का कब्ज़ा हो चुका था इसलिए एक प्रकार से नेतृत्वकारी व शीर्ष पार्टी संगठनों पर भी मेशेविकों का प्रभाव बढ़ गया था। यहीं से लेनिन ने पार्टी के भीतर अपने बोल्शेविक धड़े को अलग से संगठित करने की शुरुआत की और साथ ही मेशेविज़्म के साथ निर्णायक संघर्ष छेड़ दिया। अगले एक वर्ष तक इस्क्रा में लेनिन के बोल्शेविक धड़े पर तीखा हमला बोलते हुए मार्तोव, प्लेखानोव, त्रात्स्की आदि के लेख प्रकाशित होते रहे। लगभग हर अंक में ही प्रमुख ज़ोर लेनिन पर चोट करना था। इसी समय से मेशेविज़्म अपने पूरे रंग में सामने आने लगा।

वास्तव में, मेशेविज़्म और बोल्शेविज़्म में बुनियादी राजनीतिक फ़र्क था, जो कांग्रेस में महज़ सांगठनिक कार्यदिशा के फ़र्क के रूप में सामने आया था। दरअसल, फ़र्क सिर्फ़ इस बात का नहीं था कि लेनिन सदस्यता की ज़्यादा दृढ़ शर्तें चाहते थे जबकि मार्तोव कुछ उदार शर्तें। जिस प्रकार के पार्टी ढाँचे की माँग थी, लेनिन उसे पूरा करने की बात कर रहे थे क्योंकि उनके पास रूस में क्रान्ति का एक सही कार्यक्रम और विश्लेषण मौजूद था और यह पूरी समझदारी क्रान्तिकारी व्यवहार को उन्नत बनाने पर केन्द्रित थी। जबकि मेशेविक एक ढीले-ढाले ढाँचे की बात कर रहे थे क्योंकि क्रान्ति के सबसे केन्द्रीय प्रश्नों पर उनकी समझदारी ग़लत या अधूरी थी, जैसे कि किसान प्रश्न, मजदूर वर्ग के बीच में राजनीतिक कार्य के तौर-तरीके, जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में मित्र वर्गों का प्रश्न, हिरावल पार्टी के चरित्र का प्रश्न, सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रश्न, आदि। ये विचलन पहले पूरी तरह खुलकर सामने नहीं आये थे। लेकिन 1903 से लेकर 1904 तक लेनिन की अवस्थिति पर सतत हमला करने की प्रक्रिया में ये विचलन अपने नंगे रूप में खुलकर सामने आ गये। और इनके साथ ही यह बात उजागर हुई कि मेशेविज़्म वास्तव में उन दो पुराने भटकावों का सक्षम वारिस है जिनके खिलाफ़ रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने संघर्ष किया था, यानी कि अर्थवाद और “कानूनी” मार्क्सवाद।

इस दौर में प्लेखानोव ने लेनिन पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को ‘सर्वहारा वर्ग पर अधिनायकत्व’ से गड्डमड्ड करने का आरोप लगाया और कहा कि लेनिन में बोनापार्टवाद के तत्व हैं। मार्तोव ने एक बार फिर पार्टी में “मार्शल लॉ” और उसके विरुद्ध संघर्ष करते हुए

पार्टी के अपने उसूलों की हिमायत की और लेनिन में निरंकुशता की प्रवृत्ति होने का आरोप लगाया। **वेरा ज़ासुलिच** ने लिखा कि लेनिन का पार्टी की अवधारणा वही है, जो लुई चौदहवें की राज्यसत्ता की थी। (फ्रांस के निरंकुश शासक लुई चौदहवें ने कहा था, “मैं ही राज्य हूँ और मैं जो बोलता हूँ वह कानून है।”) लेनिन पर सबसे लम्बा हमला **त्रात्स्की** ने किया जिसने एक अलग पुस्तिका लिखी: *हमारे राजनीतिक कार्यभार। इस पुस्तिका को त्रात्स्की ने अपने “प्रिय शिक्षक पावल बोरिसोविच एक्सेलरोद” को समर्पित किया।* त्रात्स्की ने लेनिन पर **जैकोबिनवाद के प्रहसन** होने, पार्टी को पार्टी के संगठन, पार्टी के संगठन को केन्द्रीय कमेटी और केन्द्रीय कमेटी को एक तानाशाह से प्रतिस्थापित करने का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने भी प्लेखानोव का अनुसरण करते हुए लेनिन पर **प्रतिस्थापनवाद (substitutionism)** का आरोप लगाया। उनकी पुस्तिका के आखिरी अध्याय का नाम ही *‘सर्वहारा वर्ग पर तानाशाही’* था। करीब तीन दशक बाद त्रात्स्की ने अपनी इस अवस्थिति के बारे में लिखा था कि वह सही नहीं थी और लेनिन की अवस्थिति सही थी। लेकिन इसका कारण ईमानदार आत्मालोचना या ग़लती का अहसास कम था और उस समय विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के समक्ष स्तालिन को एक क्रूर तानाशाह और अपने आपको लेनिन का उचित उत्तराधिकारी घोषित करना ज़्यादा था। साथ ही, त्रात्स्की की यह “आत्मालोचना” कितनी सतही थी और किस प्रकार त्रात्स्की मूल तौर पर अभी भी अपने पुराने सांगठनिक उसूलों पर खड़े थे, यह भी ज़ाहिर हो गया। जल्द ही मंशेविकों को जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेता कारुत्स्की के रूप में एक प्रबल समर्थक मिल गया। कारुत्स्की ने मंशेविकों का पक्ष लिया और अपने मुखपत्र में लेनिन का जवाब छापने से भी इंकार कर दिया। कारुत्स्की, जो कि उस समय यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के निर्विवाद नेता थे, के समर्थन ने मंशेविकों को यूरोप और बाहरी दुनिया में रूसी सामाजिक-जनवादियों का स्वीकार्य प्रतिनिधि बना दिया। इसके बाद जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के ही मुखपत्र में **रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग** ने लेनिन पर हमला बोलते हुए लिखा कि लेनिन का पार्टी में केन्द्रीयता पर अतिशय ज़ोर पार्टी के भीतर जनवाद का निषेध है और यह नेतृत्व की तानाशाही की ओर ले जायेगा। हालाँकि, उस समय कुछ सामाजिक-जनवादियों ने बोल्शेविकों और मंशेविकों के बीच सुलह कराने की पेशकश भी की, लेकिन ऐसे प्रस्तावों को लेनिन ने ही सबसे पहले खारिज कर दिया। दूसरी ओर, मंशेविक ऐसे मध्यस्थता के प्रस्तावों को तत्परता के साथ मान गये थे। पूरे 1903 के वर्ष और 1904 के शुरुआती दौर तक देश-विदेश में सामाजिक-जनवादी लेनिन पर लगातार हमला बोलते रहे। इस पूरे दौर में संगठन के सिद्धान्त के प्रश्न पर अब मंशेविक खुले तौर पर बुण्डवादियों और अर्थवादियों जैसी बातें करने लगे थे। हम आगे दिखलायेंगे कि इसका कारण मंशेविकों की राजनीतिक समझदारी में निहित था, जो कि अर्थवाद और “कानूनी” मार्क्सवाद के मिश्रण का एक विशिष्ट संस्करण तैयार करती थी। मंशेविक धड़ा अब खुलकर संगठन में अल्पमत के बहुमत के तहत रहने, केन्द्रीय कमेटी के अनुशासन और नेतृत्व और सांगठनिक अनुशासन के सिद्धान्त का विरोध कर रहा था। वास्तव में, सांगठनिक उसूलों पर बहस के दौरान सदस्यता की शर्तों पर बहस में मंशेविकों ने मार्तोव के नेतृत्व में जो कार्यदिशा पेश की थी, अब वह अपनी तार्किक परिणति को पहुँच चुकी थी। प्लेखानोव जो पहले पार्टी के अनुशासन और केन्द्रीयता के उसूलों पर आधारित होने पर लेनिन के साथ खड़े थे वह भी अपनी राजनीतिक दुलमुलपन और मेलमिलाप की सोच के कारण अवसरवादियों और मंशेविकों के साथ खड़े थे।

मंशेविकों ने इस्क्रा के सम्पादक मण्डल पर तो कब्जा कर ही लिया था, उन्होंने आगे केन्द्रीय कमेटी पर भी अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया, क्योंकि उसके दो बोल्शेविक सदस्य **क्रासिन** और **नोस्कोव** अपने दुलमुलपन के साथ मंशेविकों के साथ जा खड़े हुए।

अब बोल्शेविकों और मंशेविकों के बीच का अन्तर इतना बढ़ चुका था कि उसे कम कर पाना सम्भव नहीं था। 1903 में मंशेविकों और सामाजिक-जनवादियों द्वारा यूरोप भर से किये जा रहे हमलों के जवाब में लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **‘एक कदम आगे, दो कदम पीछे’** लिखी। इस पुस्तक में लेनिन ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से व्यवस्थित रूप से पार्टी के संगठन और ढाँचे पर पेश किये गये सिद्धान्त बने और आगे चलकर विश्व भर में मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों ने इन्हीं सिद्धान्तों को कम-से-कम सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार किया और कुछ ने सही मायनों में लागू भी किया।

लेनिन ने इस पुस्तक में मंशेविकों पर हमला बोलते हुए कहा कि अगर मार्तोवपंथियों के सिद्धान्त लागू हुए तो एक आम हड़ताली और ऐसे प्रोफेसर, छात्र आदि भी पार्टी के सदस्य बन जायेंगे जो कि पार्टी अनुशासन को स्वीकार नहीं करना चाहते। ऐसे में पार्टी सर्वहारा वर्ग का हिरावल होने और उसका उन्नत दस्ता होने के अपने चरित्र को खो देगी। **किसी वर्ग की समूची आम आबादी और उसके उन्नत दस्ते, यानी कि हिरावल पार्टी में हमेशा फर्क होगा। हिरावल पार्टी उस वर्ग के विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप होती है और वह उस वर्ग के सबसे उन्नत तत्वों को अपने अन्दर समाहित करती है।** यह हिरावल पार्टी का फर्ज बनता है कि वह वर्ग के अधिक से अधिक वर्ग सचेत तत्वों को सामाजिक-जनवादी राजनीतिक वर्ग चेतना के स्तर तक, पार्टी के स्तर तक लाये; न कि इसके विपरीत स्वयं एक आम हड़ताली मजदूर के स्तर पर उतर जाये। ऐसा करने वाली पार्टी वर्ग का हिरावल नहीं बल्कि उसका पुछल्ला बनेगी। मार्तोव ने लेनिन पर हमला करते हुए स्वयं ही मंशेविक सिद्धान्तों को नंगा कर दिया। मार्तोव ने कहा कि अगर लेनिन का सिद्धान्त लागू हुआ तो पार्टी में वे बुद्धिजीवी, अध्यापक और छात्र नहीं शामिल हो पायेंगे जो कि पार्टी के अनुशासन को नहीं मानना चाहते। लेनिन ने इसका तीखा जवाब देते हुए कहा कि हमें ऐसे तत्वों की कोई आवश्यकता पार्टी के भीतर नहीं है, और वे बाहर रहकर ही पार्टी की सहायता जारी रख सकते हैं। अनुशासन में बँधने के लिए मजदूर वर्ग तैयार है; टुटपूँजिया बौद्धिक वर्ग पार्टी संगठन के अनुशासन में इसलिए नहीं बँधना चाहता क्योंकि यह उसकी वर्ग चेतना है, जो उसे किसी पार्टी संगठन के अनुशासन में बँधकर काम करने, वह भी किसी स्थानीय पार्टी निकाय के अनुशासन में बँधकर काम करने को अपने अहं पर चोट मानती है, अपनी शान के ख़िलाफ़ मानती है। ऐसे तत्वों को पार्टी में शामिल करने की मंशेविक माँग इस अराजकतावादी-सर्वखण्डनवादी टुटपूँजिया वर्ग के लिए विशेषाधिकारों की माँग करना है; यह टुटपूँजिया बुद्धिजीवियों को बिना कोई कर्तव्य निभाये पार्टी सदस्यता के सभी हक़ देने की माँग करना है। लेनिन की दलील थी कि यदि ऐसे सदस्यों को पार्टी सदस्यता में जगह दी गयी तो जल्द ही पार्टी अर्कमण्य, बातूनी तत्वों का जमावड़ा बन जायेगी और अपना हिरावल चरित्र खो बैठेगी।

दूसरी बात जो लेनिन ने अपनी इस रचना में रखी वह यह थी कि पार्टी न सिर्फ़ वर्ग का राजनीतिक वर्ग चेतना से लैस हिरावल दस्ता है, बल्कि यह एक सुसंगठित और अनुशासित हिरावल दस्ता है। मंशेविकों का कहना था कि वे पार्टी में केन्द्रीयता और केन्द्रीय कमेटी के नियन्त्रण के विरुद्ध हैं और वे “अराजकतावादी स्वायत्तता” की माँग करते हैं।

लेनिन ने कहा कि एक क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी अपने हिरावल चरित्र और जुझारू प्रवृत्ति को तभी कायम रख सकती है, जब वह लौह अनुशासन पर आधारित हो। पूँजी की संगठित ताकत का क्रान्ति पूर्व दौर में मुकाबला करने के लिए सर्वहारा वर्ग के पास केवल एक हथियार है: संगठन और अनुशासन। लेनिन लिखते हैं: “सत्ता के लिए संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के पास संगठन के अलावा और कोई हथियार नहीं है। पूँजीवादी विश्व में प्रतिस्पर्धा के अराजकतापूर्ण नियम द्वारा विसंगठित, पूँजी के लिए बँधुआ श्रम द्वारा कुचला गया, भयंकर दरिद्रता, पाशविकता और पतन की ओर लगातार धकेला जाने वाला सर्वहारा वर्ग एक अपराजेय शक्ति तभी बन सकता है, और अवश्यम्भावी रूप से बनेगा, जब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर इसकी विचारधारात्मक एकजुटता एक ऐसे संगठन की भौतिक एकजुटता द्वारा सुदृढ़ होगी जो लाखों मेहनतकशों को मजदूर वर्ग की एक सेना के रूप में जोड़ देगा। न तो ज़ारशाही का जर्जर शासन और न ही अन्तरराष्ट्रीय पूँजी का डगमगाता शासन इस सेना के सामने टिक पायेगा।” (वी.आई. लेनिन, *सेलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड 2, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 466, अंग्रेजी संस्करण, *अनुवाद हमारा*) पार्टी के नियमों और अनुशासन के प्रति मार्तोवपंथियों का प्रतिरोध वास्तव में पार्टी के भीतर सर्वहारा कार्यदिशा और बौद्धिकतावादी कुलीन पूँजीवादी कार्यदिशा के बीच के संघर्ष का परिणाम था। लेनिन ने इसके बारे में लिखा, “यह कुलीनतावादी अराजकतावाद रूसी सर्वखण्डनवाद की विशिष्ट चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है। वह पार्टी संगठन को एक ‘दानवी’ कारखाने के रूप में देखता है; यह अंश के पूर्ण और अल्पमत के बहुमत के मातहत होने को दासता मानता है...एक केन्द्र के अन्तर्गत श्रम विभाजन उसमें इन त्रासद-कामदीय चीखों को जन्म देता है कि लोगों को ‘दाँतों और पहियों’ में तब्दील किया जा रहा है। (वही, पृ. 442-43, *अनुवाद हमारा*)

लेनिन ने अपने जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को विस्तारित करते हुए लिखा कि एक क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी के सांगठनिक उसूल में केन्द्रीय कमेटी को दो पार्टी कांग्रेसों के बीच सर्वोच्च निकाय माना जाना चाहिए, जिसके निर्णय हरेक पार्टी सदस्य पर बाध्यताकारी होने चाहिए। निश्चित तौर पर, पार्टी कांग्रेस में प्रतिनिधि केन्द्रीय कमेटी से असहमत होने पर नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव कर सकते हैं। लेनिन ‘आलोचना की पूर्ण स्वतन्त्रता’ और ‘अराजकतावादी स्वायत्तता’ को यदि कांग्रेसों के बीच भी लागू किया जायेगा तो वह पार्टी सर्वहारा वर्ग का एक उन्नत दस्ता, हिरावल और सैन्य दस्ता नहीं रह जायेगी बल्कि ‘विज्ञान की अकादमी’ (विडम्बना की बात यह है कि ये शब्द प्लेखानोव ने कहे थे, जब वह सांगठनिक उसूलों के संघर्ष में लेनिन के साथ थे और अवसरवादी नहीं बने थे!), क्लब या बौद्धिक मण्डली बन जायेगी। ऐसे में, पार्टी या तो संशोधनवाद के रास्ते पर जायेगी अथवा विसर्जित हो जायेगी। लेनिन के अनुसार पार्टी कांग्रेस सर्वोच्च निकाय है और दो कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी सर्वोच्च निकाय है; सभी कमेटियों को केन्द्रीय कमेटी के अन्तर्गत होना चाहिए और नीचे की कमेटियों को ऊपर की कमेटियों के मातहत होना चाहिए; केवल उसी व्यक्ति को पार्टी सदस्यता दी जा सकती है जो पार्टी कार्यक्रम को मानने के अलावा किसी पार्टी इकाई (कमेटी, फ्रैक्शन, या कोई भी अन्य पार्टी संगठन) का सदस्य हो और उसके अनुशासन में काम करता हो।

लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि ऐसी हिरावल पार्टी यदि सतत् जनता से सम्पर्क में नहीं

होगी, तो वह एक संकीर्ण दायरे की मानसिकता रखने वाले एक समूह में तब्दील हो जायेगी और जनता का विश्वास खो बैठेगी। इसलिए पार्टी को जनता से सतत् सम्पर्क बनाये रखना चाहिए। लेनिन का मानना था कि मजदूर वर्ग के कई संगठन हो सकते हैं लेकिन उसका राजनीतिक नेतृत्वकारी संगठन केवल पार्टी हो सकती है। यह पार्टी को मजदूर वर्ग के अन्य सभी संगठनों से अलग करता है क्योंकि पार्टी वर्ग से सबसे उन्नत, मार्क्सवादी विज्ञान से लैस तत्वों को अपने अन्दर शामिल करती है, जो इसे वर्ग का हिरावल होने की क्षमता प्रदान करती है। लेकिन ऐसी पार्टी अपनी नेतृत्वकारी भूमिका तभी अमल में उतार सकती है जब वह लाखों-लाख मजदूरों से सतत् सम्पर्क स्थापित करे। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि पार्टी में सदस्यों के लिए जो नियम तय होने चाहिए वे सभी सदस्यों के लिए समान होने चाहिए। वास्तव में, मेशेविक अलग-अलग वर्ग के सदस्यों के लिए अनुशासन के अलग-अलग मानकों की माँग कर रहे थे। पार्टी संगठन के सदस्य मजदूरों को तो पार्टी अनुशासन के मातहत रहना था लेकिन पार्टी के ऐसे सदस्य जो किसी संगठन के अनुशासन में नहीं थे, उन्हें भी सदस्यता के सभी अधिकार प्राप्त होते! लेनिन ने इसी पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, “**मार्टोव का सूत्रीकरण दिखने में सर्वहारा वर्ग के व्यापक संस्तरों के हितों की हिफाजत करता है, लेकिन वास्तव में यह बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के हितों की सेवा करता है, जो सर्वहारा अनुशासन और संगठन से भाग खड़े होते हैं। इस बात का खण्डन करने का कोई प्रयास नहीं करेगा कि यह उसका व्यक्तिवाद ही है और उसकी संगठन और अनुशासन के प्रति अक्षमता ही है, जो बौद्धिक वर्ग को आधुनिक पूँजीवादी समाज के एक अलग संस्तर के रूप में अलग करती है।**” (वी.आई. लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, रूसी संस्करण, खण्ड-6, पृ. 205-6, अनुवाद हमारा)

त्रात्स्की ने लेनिन पर जैकोबिनवाद का आरोप लगाया था और पूरी तरह से मेशेविकों के सांगठनिक सिद्धान्त का पक्ष लिया था। लेनिन ने त्रात्स्की के अवसरवाद पर करारा प्रहार करते हुए लिखा, “**अपने वर्ग हितों के प्रति सचेत सर्वहारा वर्ग के संगठन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ जैकोबिनवादी—यही तो है क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी।**” लेनिन ने ‘एक कदम आगे, दो कदम पीछे’ में मेशेविकों के सांगठनिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ायीं और दिखलाया कि पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल होती है और सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों को अपने में समाहित करती है; पार्टी को न सिर्फ विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर नेतृत्व देने वाला हिरावल होना चाहिए, बल्कि उसे संगठित हिरावल होना चाहिए; पार्टी सर्वहारा वर्ग के संगठन का एकमात्र तो नहीं लेकिन उच्चतम रूप है और सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक केन्द्र की भूमिका केवल पार्टी ही निभा सकती है; पार्टी का अनुशासन सभी के लिए समान होना चाहिए और पार्टी के भीतर जनवादी केन्द्रीयता का उसूल लागू होना चाहिए। रूस भर के सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों के दायरे में लेनिन की इस रचना के वितरण के साथ ही तेजी से तमाम सामाजिक-जनवादी समूह लेनिन के धड़े के पक्ष में आने लगे। लेनिन की आलोचना मेशेविकों के धड़े के लिए विचारधारात्मक रूप से विध्वंसकारी थी और जल्द ही लेनिन ने सांगठनिक तौर पर अपनी कार्यदिशा के पक्ष में सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों को गोलबन्द करना शुरू किया। लेनिन मेशेविकों से किसी भी शर्त पर एकता के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके द्वारा प्रतिपादित सांगठनिक सिद्धान्त में किसी भी किस्म की मिलावट सर्वहारा वर्ग की पार्टी की हिरावल भूमिका के साथ समझौता करना होगा।

इसलिए समझौते या बीच का रास्ता निकालने के सभी प्रयासों को लेनिन ने ठुकरा दिया। लेनिन ने 1904 से ही बोल्शेविकों को संगठित करना शुरू किया और अगस्त 1904 में उन्होंने बाइस बोल्शेविकों की एक बैठक बुलायी। इस सम्मेलन ने “**पार्टी के नाम**” नामक एक अपील को पास किया जिसमें कि तीसरी पार्टी कांग्रेस बुलाने की तैयारियों की बात की गयी थी। बोल्शेविक कमेटियों के तीन क्षेत्रीय सम्मेलनों में एक “बहुमत की कमेटियों का ब्यूरो” का चुनाव किया गया। इस ब्यूरो को बोल्शेविकों के केन्द्रीय संगठन का कार्य सौंपा गया। इसके बाद 4 जनवरी 1905 को बोल्शेविकों के नये मुखपत्र *वेपेयोद* का प्रकाशन शुरू हुआ। चूँकि अब बोल्शेविकों के पास अपना मुखपत्र था और पुरानी केन्द्रीय कमेटी उनके हाथों से निकल चुकी थी, इसलिए लेनिन के नेतृत्व में उनके सभी प्रयास अब तीसरी पार्टी कांग्रेस करने पर केन्द्रित थे। नतीजतन, अप्रैल 1905 में लन्दन में बोल्शेविकों ने अपनी नयी पार्टी कांग्रेस की और उसे तीसरी पार्टी कांग्रेस का नाम दिया। इस कांग्रेस का मंशेविकों ने बहिष्कार किया और जेनेवा में अपना समानान्तर पार्टी सम्मेलन किया। **इसके साथ ही बोल्शेविकों और मंशेविकों का बँटवारा अपनी तार्किक परिणति पर पहुँच गया।**

यही वह दौर था जब रूस में क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ तैयार हो रही थीं, जो कि अन्त में 1905 की असफल रूसी क्रान्ति तक गयीं। इन परिस्थितियों का हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं। 1900 से 1903 तक आर्थिक संकट, 1905 में युद्ध में जापान से हार और मजदूरों और किसानों के बढ़ते हुए आन्दोलनों ने 1905 में क्रान्तिकारी परिस्थितियों को जन्म दिया था। लगभग यही समय था जब बोल्शेविकों और मंशेविकों के बीच का अलगाव अपने चरम पर पहुँच रहा था। 1905 की पहली रूसी क्रान्ति के साथ ही क्रान्ति की रणनीति को लेकर भी मंशेविकों से अन्तरविरोध सामने आने लगे थे। इन अन्तरविरोधों के सामने आने के साथ ही यह साफ़ हो गया था कि 1903 में बोल्शेविकों और मंशेविकों के बीच सांगठनिक कार्यदिशा को लेकर हुए विवाद के पीछे वास्तव में विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तरविरोध थे। मंशेविकों की अवस्थिति पूरी तरह से “कानूनी” मार्क्सवादियों और अर्थवादियों की अवस्थितियों का एक मिश्रण था। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना ‘**जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ**’ में इसी अवस्थिति पर चोट की और बोल्शेविक अवस्थिति को स्पष्ट किया। क्रान्ति की रणनीति और कार्यनीति को लेकर विवाद में यह स्पष्ट तौर पर सामने आ गया कि मंशेविक लगभग वही बातें नये स्वरूप में कर रहे थे जो कि “कानूनी” मार्क्सवादी और अर्थवादी पहले करते रहे थे। जैसे कि मंशेविकों का मानना था कि 1905 में रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल है जिसमें कि मुख्य नेतृत्वकारी भूमिका उदार बुर्जुआ वर्ग की होगी और सर्वहारा वर्ग को अभी ऐसा कोई कार्यक्रम अमल में नहीं लाना चाहिए जो कि उदार बुर्जुआ वर्ग को दूर कर दे या डरा दे; उनके अनुसार, सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने तक बुर्जुआ वर्ग के एक सहायक की भूमिका निभानी चाहिए और ज़्यादा से ज़्यादा सर्वहारा वर्ग के मुख्यतः आर्थिक अधिकारों (जैसे कि वेतन, कार्यदिवस, ट्रेड यूनियन बनाने के हक़, आदि) के लिए लड़ना चाहिए और उसे सीधे राजनीतिक सत्ता के प्रश्न को नहीं उठाना चाहिए; ज़ारशाही के विरुद्ध सशस्त्र बगावत की रणनीति, मंशेविकों के अनुसार ग़लत थी क्योंकि यह उदार बुर्जुआ वर्ग को डरा देती और दूर कर देती; मंशेविक किसानों को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग की मित्र शक्ति के तौर पर नहीं देखते थे, और न ही उन्हें

सक्रिय क्रान्तिकारी शक्ति के तौर पर देखते थे; क्रान्ति की मंज़िल पर अलग राय रखते हुए भी किसानों के प्रति अविश्वास के मामले में मेशेविकों और त्रात्स्की के विचार मिलते-जुलते थे। उनके अनुसार क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में तभी आ सकता है जबकि वह पूँजीवाद के तहत आर्थिक संघर्षों में परिपक्व हुआ हो और उसकी संख्या शक्ति इतनी बढ़ी हो चुकी हो कि वह अपने दम पर समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न कर सके। लेनिन ने मेशेविकों के इन विचारों का विश्लेषण करते हुए दिखलाया कि ये विचार वास्तव में पश्चिमी यूरोप की सामाजिक-जनवादी (संशोधनवादी) पार्टियों के विचार हैं जो वर्ग की एक अर्थवादी अवधारणा को मानते हैं; मेशेविक इतिहास की एक विकासवादी (एवोल्यूशनिस्ट) व्याख्या करते हैं, जिसमें क्रान्तिकारी आत्मगत शक्तियों की भूमिका नगण्य हो जाती है और क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया में सचेतनता का तत्व गायब कर दिया जाता है और वह एक स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया बन जाती है। ई.एच.कार ने बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच के फर्क की चर्चा करते हुए लिखा है कि उनके बीच का फर्क पश्चिम और पूरब का फर्क था। एक बार फिर ई.एच.कार ने राजनीतिक रुझानों का भौगोलिक सारभूतीकरण किया है। उनके अनुसार मेशेविक इस मायने में अधिक “पश्चिमी” थे कि वे रूस के हूबहू उसी विकास-पथ में यकीन रखते थे, जिस पर पश्चिमी यूरोप के देश चले थे। यानी कि पूँजीवाद की दीर्घकालिक अवधि, जिस दौरान सर्वहारा वर्ग अपने आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष करता है; सामन्तवाद-विरोधी बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण को वे ग़लत मानते थे; जबकि, ई.एच.कार के अनुसार लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का मानना था कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति भी रूस में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और किसान आबादी की सक्रिय भागीदारी से सम्पन्न होगी। ई.एच.कार यहाँ राजनीतिक कार्यदिशाओं के संघर्ष और ऐतिहासिक सन्दर्भ के अन्तर को बिल्कुल नहीं समझ पाये हैं। पश्चिमी यूरोप में भी सर्वहारा वर्ग का पहला प्रयास बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद सतत क्रान्ति (अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन) के ज़रिये समाजवादी क्रान्तियों की ओर आगे बढ़ने का ही था, जो कि 1848 में विफल हो गया था क्योंकि सर्वहारा वर्ग के पास पर्याप्त मज़बूत संगठन और किसान विद्रोह के साथ उसका उपयुक्त रूप से संलयन नहीं हुआ था। मार्क्स ने एक बार एंगेल्स को एक पत्र में लिखा था कि सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य जर्मनी में इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किसान विद्रोह का समर्थन मिलता है या नहीं। लेकिन इन प्रथम असफल प्रयासों के बाद यूरोप के उन्नत पूँजीवादी देश साम्राज्यवाद की मंज़िल में प्रवेश करते हैं और इसके बाद इन देशों के मज़दूर वर्ग में एक कुलीन मज़दूर वर्ग का प्रादुर्भाव बढ़े पैमाने पर हुआ और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में बुर्जुआ अर्थवादी रुझान ने जड़ जमायी। इसी प्रक्रिया की तार्किक परिणति खुले तौर पर संशोधनवाद और दूसरे इण्टरनेशनल के पतन के रूप में सामने आयी। ई.एच.कार इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने की बजाय बोल्शेविज़्म और संशोधनवादी मेशेविज़्म के फर्क को पूरब और पश्चिम के बीच के फर्क के रूप में सारभूतीकृत कर देते हैं, जो कि तथ्यवादी स्कीम में बिल्कुल फिट बैठता है लेकिन न तो मेशेविज़्म के कोर सिद्धान्तों की पूर्ण रूप से सही व्याख्या कर पाता है और न ही बोल्शेविज़्म की पूरी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को सही तरीके से समझ पाता है। ई.एच.कार आश्चर्य जताते हैं कि मेशेविकों की पकड़ रूसी मज़दूर वर्ग के सबसे संगठित, कुशल और शिक्षित हिस्से में थी, जैसे कि रेलवे

मजदूर, प्रिण्टर, आदि जबकि बोल्शेविकों का आधार मुख्य तौर पर असंगठित कारखाना मजदूरों में था। लेनिन ने लिखा था कि अर्थवादियों की अपील मजदूर वर्ग के राजनीतिक तौर पर सबसे पिछड़े हिस्सों में कारगर थी। ई.एच.कार कहते हैं कि लेनिन की यह बात अनुभवों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। **यहाँ भी कार यह नहीं समझते कि राजनीतिक तौर पर उन्नत होने का रिश्ता बड़े, उन्नत और सरकारी उद्योगों में काम करना नहीं है।** खैर, सिर्फ ई.एच.कार ही नहीं आज भारत के तमाम समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल को स्वीकारने वाले संगठन भी यह मानते हैं उन्नत मजदूर का अर्थ है बड़े उपक्रमों में काम करने वाला संगठित मजदूर! मजदूर वर्ग में काम की दिशा को लेकर अभी भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो बहस जारी है उसमें एक धड़े का यह मानना है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन को भारत के 93 फीसदी असंगठित/अनौपचारिक मजदूर आबादी में मुख्य रूप से जोर देना चाहिए, जबकि कुछ अर्थवादी संगठनों का यह मानना है कि सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्व केवल संगठित मजदूर आबादी में होते हैं जो कि बड़े उद्योगों में काम करती है और सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी केवल तभी बन सकती है, जब इन बड़े संगठित क्षेत्र के उद्योगों के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट काम करें! इस सोच का वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई लेना-देना रहा ही नहीं है और यह 1930 के दशक से 1970 के दशक के बीच पैदा हुआ एक फोर्डवादी पूर्वाग्रह है जिसे संशोधनवादी पार्टियों ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर प्रविष्ट करा दिया है। (इस पूरी बहस के लिए देखें, अभिनव सिन्हा, **“न्यू फॉर्म एण्ड स्ट्रैटेजी ऑफ़ दि वर्किंग क्लास मूवमेण्ट एण्ड रेजिस्टेंस इन दि एरा ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन”, दि वर्किंग क्लास मूवमेण्ट इन इण्डिया इन दि ट्वेण्टी फर्स्ट सेंचुरी**, 2013, अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, लखनऊ) ऐसे उपक्रमों में काम करना तो राजनीतिक तौर पर पिछड़े हुए कुलीन मजदूर वर्ग को भी जन्म दे सकता है। राजनीतिक चेतना के उन्नत होने से लेनिन का अर्थ था मजदूरों का अपनी राजनीतिक माँगों और सत्ता के प्रश्न के प्रति सचेत होना। मेशेविकों की असफलता का कारण ई.एच.कार के लिए यह था कि मेशेविक समझ नहीं पाये कि रूस में पश्चिमी यूरोप की तरह उन्नत और उदार बुर्जुआ जनवाद के पनपने की ज़मीन मौजूद नहीं थी; बोल्शेविक इस पूरब और पश्चिम के पूँजीवादों के अन्तर को समझने में सफल रहे और इसीलिए रूस में सर्वहारा वर्ग और किसानों, दोनों को ही वे एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम दे सके। यहाँ पर एक बार फिर कार भूल रहे हैं कि साम्राज्यवाद के उदय से पहले पश्चिमी यूरोप में भी बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा वर्ग के उभार से डर कर प्रतिक्रिया का पक्ष लिया था और वहाँ भी बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद ही सर्वहारा वर्ग ने सत्ता पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया था। कार का यह नतीजा आंशिक रूप से सही है कि यूरोप में बुर्जुआ क्रान्तियों के तेज़ी से सर्वहारा क्रान्ति में तब्दील होने की जो घटनाएँ घटी थीं, उनसे विश्व के अन्य देशों के बुर्जुआ वर्ग ने सबक लिया था और बुर्जुआ क्रान्तियों के आमूलगामी चरित्र को कम कर सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रियावाद का पक्ष लेना शुरू कर दिया था। इसी मायने में इतिहास अपने आपको कभी दुहराता नहीं। पश्चिम में जो नाटक उन्नीसवीं सदी में मध्य में खेला जा चुका था वह बीसवीं सदी की शुरुआत में रूस में दुहराया नहीं जा सकता था। कार इसी तरीके से कई बार टुकड़ों में सटीक बातें कहते हैं, लेकिन उनका अकादमिक प्रशिक्षण अन्त में उन्हें भौगोलिक या वैयक्तिक सारभूतीकरण की ओर ले जाता है। मिसाल के तौर पर, मेशेविकों

और विशेषकर प्लेखानोव के 'पश्चिमी चरित्र' के लिए उन्होंने पश्चिम यूरोप में उनके लम्बे प्रवास जीवन को भी ज़िम्मेदार ठहराया है; लेकिन अगर यह कारण होता तो लेनिन को भी मंशेविक कार्यदिशा में यकीन करना चाहिए था क्योंकि लेनिन के भी क्रान्तिकारी जीवन का बड़ा हिस्सा विदेशों में प्रवास में ही बीता था। इसी प्रकार, ई.एच. कार एक स्थान पर लिखते हैं कि रूसी क्रान्ति की रणनीति और कार्यदिशा को लेकर मंशेविक कार्यक्रम जितना अयथार्थवादी था (जो कि रूस में यूरोप जैसे बुर्जुआ जनवाद की स्थापना के सपने देखता था) उतना ही बोल्शेविक कार्यक्रम भी था क्योंकि वह पहले चरण में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों और बुर्जुआ जनवाद को स्थापित करने को ही अपना लक्ष्य मानता था, और इसके बाद समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की बात करता था। कार पूछते हैं कि जिस जनवाद का आधार बुर्जुआ वर्ग है ही नहीं, वह बुर्जुआ जनवाद कैसे हो सकता है? कार कहते हैं कि यहाँ पर लेनिन अन्तरविरोधों के शिकार हैं। यहाँ वास्तव में कार बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में बुर्जुआ जनवाद और मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही के तहत क्रान्तिकारी जनता के जनवाद के बीच के अन्तर को नहीं समझ पाये हैं। पहली बात तो यह कि मालिक किसानों का वर्ग वास्तव में दार्शनिक और राजनीतिक तौर पर बुर्जुआ वर्ग की अवस्थिति को ही अपनाता है। यह टुटपूँजिया वर्ग सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होने वाली जनता की जनवादी क्रान्ति में आर्थिक तौर पर लगभग वही स्थान रखता है जो कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग रखता है, और इसकी माँगों की प्रधानता के कारण ही सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होने वाली जनवादी क्रान्ति बुर्जुआ जनवाद के दायरे से आगे नहीं जाती। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति जनवादी कार्यभारों को बुर्जुआ वर्ग से भी अधिक आमूलगामी रूप से पूरा करते हुए ज़मीन का राष्ट्रीयकरण और समान पुनर्वितरण करती है, आठ घण्टे के कार्यदिवस और न्यूनतम मज़दूरी को लागू करती है, जनवादी गणराज्य की स्थापना करती है, समझौताविहीन तरीके से सामन्ती वर्गों का सम्पत्ति-हरण करती है। लेकिन वह जो कार्यक्रम लागू करती है, वह राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर बुर्जुआ जनवाद से आगे नहीं जाता। **ज़ाहिर है कि कार एक बार फिर अपने अनुभववाद के कारण इतिहास की सैद्धान्तिक समस्याओं को नहीं समझ पाये हैं।** कार आगे अपनी ग़लत समझदारी को चरम पर पहुँचाते हुए दावा करते हैं कि बोल्शेविक स्कीम में विरोधाभास का कारण मूल मार्क्सवादी योजना में विरोधाभास था। उनके अनुसार मार्क्स ने यह कहा था कि हर जगह पूँजीवाद उन्नत होते-होते सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँचेगा और उसके अन्तरविरोध तीव्र होते-होते विस्फोट की हदों तक पहुँचेंगे; इस पूरे दौर में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ संविधान के तहत प्रशिक्षित होगा, वर्ग सचेत और राजनीतिक बनेगा और अन्ततः संगठित हो, बुर्जुआ सत्ता के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति करेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और पश्चिमी यूरोप के उन्नत पूँजीवादी देशों में मज़दूर वर्ग के ही एक हिस्से को बुर्जुआ सत्ता द्वारा सहयोजित कर लिया गया और इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग ने अपने शासन को दीर्घजीवी बना लिया, और क्रान्तियाँ इन उन्नत देशों में न होकर पिछड़े पूँजीवादी देशों में हुईं जिसके कारण मार्क्सवादी स्कीम के समक्ष शर्मिन्दगी की एक स्थिति पैदा हो गयी! रूस में सर्वहारा वर्ग सत्ता में आने पर नौसिखुआ साबित हुआ और समाजवाद मार्क्सवाद के पुराने दावे के विपरीत "प्रचुरता" की बजाय "अभाव" के साथ सहअस्तित्व में था। **ज़ाहिर है कि कार ने न तो मार्क्स के पूरे**

विश्लेषण को समझा है और न ही लेनिन के साम्राज्यवाद के दौर में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल के सिद्धान्त को।

पहली बात यह है कि मार्क्स ने ऐसी कोई स्कीम नहीं पेश की थी जो कि हर देश में पूँजीवाद के उन्नत हो जाने के बाद सर्वहारा क्रान्ति के स्वतः सम्पन्न होने की बात करती थी। मार्क्स जब जर्मनी में सम्भावित सर्वहारा क्रान्ति की बात कर रहे थे, उस समय पूँजीवादी विकास की दौड़ में जर्मनी कहीं पीछे था; उसी समय मार्क्स ने किसान युद्ध के दूसरे संस्करण की अपेक्षा की थी, जो पूरी न हो सकी। दूसरी बात, मार्क्स पूँजीवाद को एक विश्व अर्थव्यवस्था के रूप में समझते थे। मार्क्स ने लिखा था कि पूँजीवाद मानव इतिहास की अब तक की सबसे गतिशील उत्पादन पद्धति है और यह जल्द ही राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर पूरी दुनिया में कच्चे माल और श्रम के दोहन के लिए विचरण करेगी और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी। साम्राज्यवाद का दौर वास्तव में पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के विश्व स्तर पर तीव्र होने जाने की ही निशानी हैं। इस दौर में निश्चित तौर पर क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में परिवर्तन आ जायेगा। लेकिन मार्क्स की यह भविष्यवाणी बिल्कुल सही थी कि सर्वहारा क्रान्तियाँ पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के तीव्रतर होते जाने का परिणाम होंगी। मार्क्स ने पूँजीवाद की इस पूरी कार्यपद्धति को दिखलाने के लिए ब्रिटिश और एक हद तक जर्मन और फ्रांसीसी पूँजीवाद का विश्लेषण किया था। इसका यह अर्थ कतई नहीं था कि हरेक देश में अलग-अलग सर्वहारा क्रान्तियों की वह स्कीम अमल में आयेगी, जिसका मार्क्स ने एक आम प्रवृत्ति के तौर पर जिक्र किया था। कार का विश्लेषण प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी तथ्यवाद के प्रभाव में रहने के कारण एक सही कालानुक्रम में सभी तथ्यों को पाठक के सामने सटीक तरीके से पेश करता है, लेकिन एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि न होने के कारण यह कार के नतीजे को कई बार हास्यास्पद नतीजों तक पहुँचा देता है, जिसका आप कार जैसे इतिहासकार से उम्मीद नहीं करते लेकिन फिर भी चकित हुए बिना भी नहीं रह पाते। **नतीजतन, ई.एच. कार की पूरी समझदारी एक प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी समझदारी के रूप में सामने आती है, जो कि एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इतिहासकार को अन्तर्दृष्टियाँ दे सकती है, लेकिन अपने आप में एक पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाती।**

बहरहाल, मेशेविज़म द्वारा रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में एक अर्थवादी और संशोधनवादी रणनीति और आम कार्यदिशा प्रस्तुत किये जाने के जवाब में तीसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने आलोचना रखी और उसके दो माह बाद ही अपनी प्रसिद्ध रचना 'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' लिखी। यह वास्तव में लेनिन द्वारा 1905 की स्थितियों का एक समाहार था। 1905 के जारी घटनाक्रम के मद्देनज़र लेनिन ने तत्कालीन रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की रणनीति और आम रणकौशल को स्पष्ट किया था। यह मेशेविकों के उस दृष्टिकोण का खण्डन था जिसका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं। इसी समय त्रात्स्की ने 1905 को लेकर मेशेविकों और लेनिन, दोनों से अलग अवस्थिति अपनायी थी। लेकिन त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के संघर्ष पर हम अलग से पूरी चर्चा करेंगे, जिसमें कि 1903 से लेकर 1917 तक लेनिन और त्रात्स्की के बीच विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कार्यदिशा के फर्क का विश्लेषण करेंगे। लेकिन अभी लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों द्वारा मेशेविकों से चलाये गये संघर्ष पर हम अपनी चर्चा को जारी रखेंगे। इसमें लेनिन की

उपरोक्त रचना का सबसे अहम योगदान था और इस रचना में प्रस्तुत कार्यदिशा पर विचार करते हुए ही हम आगे बढ़ेंगे।

‘जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ’ में लेनिन ने जो सबसे अहम मुद्दा उठाया वह था **जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग की भूमिका**। मेशेविकों की आलोचना रखते हुए लेनिन ने कहा कि रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग को न सिर्फ सक्रिय भागीदारी करनी चाहिए, बल्कि वही उसे सक्षम नेतृत्व दे सकता है। रूस का बुर्जुआ वर्ग जो ज़ारशाही की राज्यसत्ता और वित्तीय पूँजी द्वारा ऊपर से किये गये विकास से पैदा हुआ है, ज़ारशाही और भूस्वामी वर्ग के विरुद्ध सीधा युद्ध छेड़ने की न तो ताकत रखता है और न ही इच्छा शक्ति। उल्टे वह सर्वहारा वर्ग के बढ़ते आन्दोलन से ज़्यादा भयभीत है और प्रतिक्रियावादी ताकतों से समझौता करने को तत्पर है। ऐसे में रूस में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में लेना ही होगा। लेनिन ने लिखा, “**मार्क्सवाद सर्वहारा को बुर्जुआ क्रान्ति से अलग-थलग रहना, इसके प्रति तटस्थ रहना और क्रान्ति के नेतृत्व को बुर्जुआ वर्ग द्वारा हथियाने देना नहीं सिखाता; उल्टे, वह उसे इसमें सबसे ऊर्जावान तरीके से भाग लेना, निरन्तरतापूर्ण सर्वहारा जनवाद के लिए सबसे दृढ़ता से लड़ना सिखाता है ताकि क्रान्ति को उसकी परिणति तक पहुँचाया जा सके। हम रूसी क्रान्ति की बुर्जुआ-जनवादी सीमाओं को लाँघ नहीं सकते लेकिन हम इसे व्यापक तौर पर विस्तारित कर सकते हैं, और इन सीमाओं के भीतर हम सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए और भावी पूर्ण विजय के लिए इसकी शक्तियों की तैयारी को सम्भव बनाने वाली स्थितियों के लिए लड़ सकते हैं और हमें लड़ना ही चाहिए।**” (वी.आई.लेनिन, *जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ*, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिंग, 1965, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 46, *अनुवाद हमारा*) आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति दो प्रकार के बुर्जुआ जनवाद को जन्म दे सकती है। एक, जिसमें कि राजतन्त्र को निर्णायक तरीके से उखाड़ फेंका गया हो और जनवादी गणराज्य की मजबूती से स्थापना की गयी हो; और दूसरा, जिसमें कि राजतन्त्र कायम रहे, बस उसे संवैधानिक राजतन्त्र में तब्दील कर दिया जाय और जिसमें बुर्जुआ वर्ग राजतन्त्र के साथ समझौता कर एक अधूरी, विकलांग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को जन्म दे। लेनिन का कहना था कि हर सूरत में पहली स्थिति सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों और अन्ततः समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार के लिए ज़्यादा बेहतर है। लेकिन यह पहली सम्भावना एक यथार्थ में तभी तब्दील हो सकती है जबकि रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में हो। सर्वहारा वर्ग सबसे क्रान्तिकारी वर्ग था और उसे बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनने की कोई आवश्यकता नहीं थी; सर्वहारा वर्ग के पास अपनी राजनीतिक पार्टी थी जो कि बुर्जुआ वर्ग से स्वतन्त्र थी, और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को आमूलगामी ढंग से अपनी पूर्णता तक पहुँचाने में सर्वहारा वर्ग का ज़्यादा लाभ था। लेनिन ने स्पष्ट किया कि जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग किसने नेतृत्व देगा यह सबसे अहम सवाल था जिस पर कि मेशेविकों की अवस्थिति एकदम ग़लत थी। लेनिन का कहना था कि जनवादी क्रान्ति में जिस वर्ग को ज़ारशाही के निर्णायक खात्मे और रैडिकल तरीके से जनवादी सुधारों के लागू होने से लाभ था, वह था पूरा किसान वर्ग।

सर्वहारा वर्ग को रूस में जनवादी क्रान्ति में पूरे किसान वर्ग के साथ मोर्चा बनाना चाहिए और बुर्जुआ वर्ग को अलग-थलग कर नेतृत्व में नहीं आने देना चाहिए। प्लेखानोव सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की बात तक स्वीकार करने को तैयार थे, लेकिन किसान आबादी को मुख्य मित्र बनाने और उदार बुर्जुआ वर्ग को अलग-थलग करने के प्रश्न पर वह लेनिन से सहमत नहीं थे। उनकी स्थिति उदार बुर्जुआ वर्ग को मित्र बनाने, उसे नाराज़ न करने की थी और किसान वर्ग को क्रान्ति के मज़बूत मित्र के तौर पर देखने को लेकर वह संशयवादी थे। नतीजतन, अन्त में उनकी अवस्थिति क्लासिकीय मॅशेविक स्थिति के साथ ही खड़ी होती थी, जो कि “कानूनी” मार्क्सवादियों और अर्थवादियों की अवस्थितियों का मिश्रण थी।

दूसरी बात जो लेनिन ने ‘दो कार्यनीतियाँ’ में रखी वह यह थी कि जनता की जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के लिए सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सशस्त्र विद्रोह को संगठित किया जाना चाहिए। इसके लिए एक आम हड़ताल आन्दोलन की शुरुआत की जानी चाहिए जो अन्त में जन राजनीतिक हड़तालों के ज़रिये सशस्त्र विद्रोह की मंज़िल तक जाए। लेनिन ने कहा कि जनता के समक्ष रैडिकल तरीके से आठ घण्टे के कार्यदिवस, भूमि सुधार आदि जैसे जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के नारे दिये जाने चाहिए, जो कि समझौतापरस्त बुर्जुआ कानूनी दायरे का उल्लंघन करते हों। साथ ही, मज़दूरों को हथियारबन्द करने का नारा दिया जाना चाहिए। लेनिन ने स्पष्ट किया कि इस रूप में जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के फलस्वरूप जो राज्यसत्ता आयेगी वह निश्चित तौर पर किसी वर्ग अधिनायकत्व के द्वारा ही पहचानी जायेगी। ऐसी जनवादी क्रान्ति के नतीजे के तौर पर जो राज्यसत्ता अस्तित्व में आयेगी वह जनता की जनवादी तानाशाही या *मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही* होगी। **जनता की जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त भी इस रचना में लेनिन का एक नया योगदान था।** इस सवाल पर लेनिन और त्रात्स्की के बीच मतभेद था, जिस पर हम आगे आयेंगे। एक अन्य प्रश्न जिस पर लेनिन ने मॅशेविकों का खण्डन किया वह था क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी का प्रश्न। इस पर लेनिन और त्रात्स्की के बीच भी मतभेद था, जिस पर हम त्रात्स्कीपंथ पर केन्द्रित हिस्से में चर्चा करेंगे। लेनिन ने स्पष्ट किया कि वैसे तो ऐसी सरकार में भागीदारी के प्रश्न को पहले से तय कर पाना मुश्किल है, लेकिन अगर सर्वहारा वर्गों के हितों के पोषण और जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए पार्टी को आरज़ी सरकार में भागीदारी करनी पड़े, तो इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। मॅशेविकों की अवस्थिति थी कि सामाजिक-जनवादियों को किसी भी सूरत में आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी नहीं करनी चाहिए और “अति क्रान्तिकारी विरोध” की पार्टी बने रहना चाहिए। आरज़ी सरकार में शामिल होने को उन्होंने उसी प्रकार की ग़लती माना जैसी कि फ्रांस के समाजवादियों ने की थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि फ्रांस में प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ सरकार में गैर-क्रान्तिकारी स्थिति में समाजवादियों ने भागीदारी की थी जो कि निश्चित रूप से ग़लत थी; लेकिन एक क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में क्रान्तिकारी परिस्थितियों में भागीदारी करना एक अलग प्रश्न है और यह स्थितियों के मद्देनज़र की जा सकती है।

आखिरी महत्वपूर्ण बात जो लेनिन ने इस रचना में कही वह यह थी कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सर्वहारा वर्ग को वहीं रुकना नहीं चाहिए और तत्काल समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिए। निश्चित रूप से, लेनिन

बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने के पक्ष में नहीं थे। न ही उन्होंने बुर्जुआ क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच की कालावधि बतायी। लेकिन उन्होंने इतना स्पष्ट किया कि बुर्जुआ क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद सर्वहारा वर्ग सतत् क्रान्ति करते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ सकता है और उसे बढ़ना चाहिए। जाहिर है कि ऐसी समाजवादी क्रान्ति के बाद वह तत्काल समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकता है, बल्कि प्रारम्भिक दौर में समाजवाद की ओर कुछ कदम उठा सकता है। लेनिन ने कहा कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में पूरी किसान आबादी के साथ मिलकर और उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में बुर्जुआ वर्ग और किसान आबादी के दुलमुल तत्वों की अस्थिरता के विरुद्ध ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी को साथ लेकर सर्वहारा वर्ग को आगे बढ़ना चाहिए। वास्तव में, सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त मार्क्स ने ही प्रतिपादित किया था। मार्क्स ने एंगेल्स को लिखे एक पत्र में कहा था जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य किसान युद्ध के दूसरे संस्करण पर निर्भर करता है। मार्क्स ने कहा था कि जर्मनी में बुर्जुआ क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सर्वहारा वर्ग को ग्रामीण सर्वहारा और गरीब किसान आबादी को साथ लेकर तत्काल ही सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिए। इसी को मार्क्स ने सतत् क्रान्ति कहा था। मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किया गया शब्द 'परमानेंट रिवोल्यूशन' था जिसका 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति' दोनों ही रूप में अनुवाद होता है। इन दोनों अनुवादों के उपयोग को लेकर भी एक प्रकरण था जिस पर हम त्रात्स्कीपंथ की आलोचना पर केन्द्रित उपशीर्षक में चर्चा करेंगे। बहरहाल, 1856 के बाद मार्क्स के क्रान्ति के बारे में विचारों का यह पहलू एक तरह से नेपथ्य में चला गया था, जिसे कि रूस के सन्दर्भ में लेनिन ने पुनर्जीवित किया और आगे विकसित किया। लेनिन ने भी सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया और रूसी स्थितियों में इसके लागू होने की शर्तों और स्थितियों पर विचार किया। कई लोगों ने, जिसमें कि ई. एच. कार शामिल हैं और अचेतन रूप से चार्ल्स बेतेलहाइम भी शामिल हैं, यह कोशिश की है कि त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की तुलना मार्क्स और लेनिन के सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त से करें और उन्हें वास्तव में एक सिद्ध करें। लेकिन लेनिन के सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त और त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त में बहुत बड़ा अन्तर है। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के संघर्ष का अलग से विस्तार में ब्यौरा देंगे। लेनिन ने सतत् क्रान्ति में वर्ग मोर्चे को स्पष्ट करते हुए लिखा, "सर्वहारा वर्ग को किसानों के जनसमुदायों के साथ गठजोड़ बनाते हुए जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जाना चाहिए ताकि वह निरंकुश तन्त्र के प्रतिरोध को कुचल सके और बुर्जुआ वर्ग के अस्थिर तत्वों को निष्क्रिय कर सके। सर्वहारा वर्ग को जनसंख्या के अर्द्धसर्वहारा जनसमुदायों के साथ मिलकर समाजवादी क्रान्ति को पूर्ण करना चाहिए, ताकि वह बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को कुचल सके और किसानों और टुटपुँजिया वर्गों की अस्थिरता को निष्क्रिय किया जा सके।" (वही, पृ. 109-110, अनुवाद हमारा)

इस रचना के प्रकाशन के बाद रूस के घटनाक्रम में लेनिन के सिद्धान्तों की पुष्टि की। 1905 की असफल क्रान्ति में नेतृत्वकारी भूमिका मजदूर वर्ग के हाथों में थी, लेकिन किसानों के विद्रोहों के साथ सही तरीके से समन्वय न स्थापित होने के कारण और वर्दीधारी किसानों, यानी कि सैनिकों, के ज़ारशाही के पक्ष में खड़े होने के कारण 1905 की क्रान्ति कुचल दी गयी। दिसम्बर 1905 के बाद भी देश भर में किसान व मजदूरों के छोटे-छोटे विद्रोहों और

आन्दोलनों जैसी घटनाएँ घटती रहीं, लेकिन मुख्य और मूल तौर पर क्रान्ति कुचली जा चुकी थी। लेकिन इस अधूरी क्रान्ति ने एक संविधान और दूमा देने के लिए ज़ार को मजबूर कर दिया। हालाँकि, ये अधिकार आधे-अधूरे थे, लेकिन फिर भी यह साफ़ हो गया था कि ज़ारशाही को कुछ सुधार के कदम उठाने ही पड़ेंगे। यह एक दीगर बात है कि 1907 में स्तोलिपिन के प्रतिक्रियावाद के दौर के शुरू होने के बाद इन आधे-अधूरे सुधारों का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया था। 1907 से लेकर 1911 तक का दौर रूसी मजदूर आन्दोलन में भाटे का दौर था। 1905 में क्रान्ति के कुचले जाने के बाद 1906 में बोल्शेविकों और मेशेविकों में एक एकता कांग्रेस हुई। चूँकि मेशेविकों ने बोल्शेविकों द्वारा आयोजित तीसरी कांग्रेस को उस समय मान्यता नहीं दी थी, इसलिए एकता कांग्रेस को उस समय चौथी कांग्रेस नहीं कहा गया। बाद में पार्टी इतिहास में इसे चौथी कांग्रेस के नाम से ही जाना गया। 1905 की क्रान्ति के बाद जब पीटर्सबर्ग सोवियत को कुचला गया तो बोल्शेविकों और मेशेविकों ने मिलकर इसका संयुक्त रूप से विरोध किया। इस सोवियत में मुख्य तौर पर मेशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी सक्रिय थे, लेकिन निश्चित तौर पर बोल्शेविकों का भी अच्छा-खासा प्रभाव था। पहले अध्यक्ष के गिरफ्तार होने के बाद त्रात्स्की इसके दूसरे अध्यक्ष बने थे क्योंकि बोल्शेविकों और मेशेविकों, दोनों को ही त्रात्स्की के नाम पर आपत्ति नहीं थी। **क्रासिन** के ब्यौरे के मुताबिक, 1903 में बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच हुई फूट अभी रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पूरी तरह लागू नहीं हो पायी थी, और 1905 की क्रान्ति के दौरान पीटर्सबर्ग में बोल्शेविक और मेशेविक ज़्यादातर ज़मीनी व्यावहारिक मसले पर साथ ही काम कर रहे थे। इस बात में कोई शक नहीं है कि इसमें बोल्शेविकों से ज़्यादा मेशेविकों का प्रभाव था और इन दोनों के अलावा समाजवादी-क्रान्तिकारी व अराजकतावादी भी इसमें सक्रिय थे। शुरुआत में लेनिन या त्रात्स्की ने सोवियतों को समानान्तर सर्वहारा सत्ता की संस्था के रूप में नहीं देखा था। लेनिन ने कहीं भी सैद्धान्तिक तौर पर सोवियतों को सर्वहारा सत्ता की एकमात्र सत्ता के रूप में मान्यता नहीं दी थी। लेनिन का सोवियतों के बारे में दृष्टिकोण बदलता रहा था। **क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद, दोनों ही दौरों में लेनिन के सोवियतों के बारे में दृष्टिकोण के बारे में हम आगे विस्तार से लिखेंगे क्योंकि सोवियतें सर्वहारा सत्ता का मुख्य निकाय होंगी, यह सिद्धान्त का मसला नहीं है। निश्चित तौर पर, इस प्रकार का कोई जनमंच सर्वहारा अधिनायकत्व को तृणमूल धरातल पर पहुँचाने का कार्य करेगा, लेकिन यह निकाय क्या होगा, किस प्रकार का होगा, इसके बारे में ए प्रायोरी किसी निर्णय तक नहीं पहुँचा जा सकता है।**

दिसम्बर 1905 में टैमर्सफोर्स में बोल्शेविकों ने एक सम्मेलन किया और तय किया कि व्यावहारिक मसलों में एकजुटता की आवश्यकता है और इसलिए बोल्शेविक और मेशेविक केन्द्रीय कमेटियों को मिला दिया जाना चाहिए। इसी सम्मेलन में **जोसेफ़ स्तालिन** पहली बार रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के राष्ट्रीय दृश्यपटल पर आते हैं और यहीं पर स्तालिन की पहली बार लेनिन से मुलाकात होती है। इस सम्मेलन में एक संयुक्त एकता कांग्रेस करने के प्रस्ताव पर सहमति जतायी गयी। 1906 की जनवरी और फरवरी में एक संयुक्त केन्द्रीय कमिटी ने कांग्रेस की तैयारी की घोषणा की और स्टॉकहोम में अप्रैल में यह एकता कांग्रेस हुई जिसे बाद में चौथी कांग्रेस के रूप में जाना गया। इसके बाद 1907 के अप्रैल-मई में एक और संयुक्त कांग्रेस हुई जिसे बाद में पाँचवीं कांग्रेस का दर्जा दिया गया। स्टॉकहोम एकता

कांग्रेस में मंशेविक बहुमत में थे, जबकि लन्दन कांग्रेस (पाँचवीं कांग्रेस) तक बोल्शेविक बहुमत में आ चुके थे। त्रात्स्की इस समय दोनों धड़ों के बीच में दोलन करते हुए और मुख्य रूप से मंशेविकों की ओर झुकाव रखते हुए अपने आपको “पार्टी गुटों से अलग” बता रहे थे। अधिकांश मसलों में उनकी अवस्थिति मंशेविकों के साथ जाकर खड़ी होती थी। 1907 आते-आते यह दिखने लगा था कि बोल्शेविकों और मंशेविकों के बीच कोई एकता सम्भव नहीं है, और दूरगामी तौर पर लेनिन की कार्यदिशा एकदम सही और सटीक साबित हो रही थी। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर अन्तरविरोध वास्तव में कोई तकनीकी नहीं बल्कि रूसी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को लेकर मंशेविकों से एक बुनियादी राजनीतिक अन्तरविरोध था, और उनके साथ किसी भी प्रश्न पर समझौते की बजाय फूट बेहतर थी।

1905 के बाद की विशिष्ट परिस्थितियों में एकता हुई थी और यह 1911 तक ही टिक पायी। 1907 में लन्दन कांग्रेस के बाद ही स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया का दौर शुरू हुआ। इस कांग्रेस से ठीक पहले मंशेविकों ने एक श्रमिक कांग्रेस का प्रस्ताव रखा था जिसमें कि सामाजिक-जनवादी, समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादी सभी को शामिल किये जाने का प्रस्ताव था। इसकी अवधारणा एक “गैर-पक्षधर पार्टी” की अवधारणा थी। लेनिन ने इस सोच पर पुरजोर शब्दों में हमला करते हुए इस सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी को विसर्जित करने का प्रयास बताया और विसर्जनवाद का दरिद्र उदाहरण बताया। 1908 के दिसम्बर में पेरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें बोल्शेविकों और मंशेविकों की औपचारिक एकता जारी रही। 1909 में सामाजिक-जनवादी पार्टी के दोनों धड़ों का संयुक्त मुखपत्र *सोत्सियल-डेमोक्रेट* के कई अंक प्रकाशित हुए, जिसके सम्पादक मण्डल में **मार्टोव, लेनिन, कामेनेव व जि़नोवियेव** बैठते थे। कामेनेव और जि़नोवियेव बोल्शेविक पार्टी में हाल ही में सक्रिय हुए थे। इसी दौर में लेनिन अलग बोल्शेविक केन्द्र और अलग बोल्शेविक मुखपत्र *प्रोलेतारी* को चला रहे थे। इस एकता के दौर में भी लेनिन का पूरा ज़ोर बोल्शेविकों को अलग से संगठित रखने का था।

1909 में बोल्शेविकों के बीच भी एक दो लाइनों का अहम संघर्ष चला। बोल्शेविक धड़े में ही **बोगदानोव, लूनाचास्की** और **गोर्की** नवकाण्टवादी माखवाद से प्रेरित होकर मार्क्सवाद के भीतर भाववादी विकृति पैदा कर रहे थे और धर्म के साथ मार्क्सवाद का संलयन करने का प्रयास कर रहे थे। यह समूह राजनीतिक तौर पर एक “वामपंथी” कार्यदिशा पेश कर रहा था और तीसरी दूमा के सामाजिक-जनवादियों के बहिष्कार की माँग कर रहा था। लेनिन ने इस दार्शनिक प्रवृत्ति की अपनी प्रसिद्ध रचना **‘भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना’** में धज्जियाँ उड़ा दीं और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की हिफ़ाज़त की। लेनिन ने इनकी राजनीतिक कार्यदिशा की भी सख्त आलोचना पेश की। बाद में लेनिन ने माखवादी भटकाव को बोल्शेविक पार्टी के भीतर “वामपंथी” भटकाव का पहला उदाहरण बताया था। इसके बाद, आन्दोलन के लगभग हर अहम प्रश्न पर “वामपंथी” कार्यदिशा से बोल्शेविकों का संघर्ष जारी रहा हालाँकि इस कार्यदिशा के वाहक अलग-अलग मौकों पर अलग-अलग लोग थे। बहरहाल, यहाँ हमें अपने विशिष्ट उद्देश्यों के मद्देनज़र माखवादियों के साथ चली बहस के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है; बस इतना जान लेना ज़रूरी है कि यह रुझान दार्शनिक धरातल पर एक भाववादी और अज्ञेयवादी भटकाव का मार्क्सवाद से मेल करने का प्रयास कर रहा था, जबकि राजनीतिक-विचारधारात्मक धरातल पर इसकी अवस्थिति एक

“वामपंथी” बचकाना अवस्थिति थी।

1910 में लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की बैठक में बोल्शेविकों और मेशेविकों के सांगठनिक तौर पर अलग हो जाने का प्रस्ताव रखा, लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने उसे पास नहीं किया। लेनिन खास तौर पर अलग बोल्शेविक केन्द्र और मुखपत्र को बन्द करने के फैसले से सहमत नहीं थे। बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच की यह असुविधाजनक औपचारिक एकता ज़्यादा समय तक नहीं चल सकती थी। अन्ततः जनवरी, 1912 में लेनिन ने प्राग में अपनी कार्यदिशा के पक्ष में खड़े बोल्शेविकों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में 14 वोट करने वाले सदस्य थे और इसमें स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया के दौर के परिणामस्वरूप पार्टी संगठन में आयी कमी को चिन्हित किया गया। इस सम्मेलन ने अपने आपको कांग्रेस का दर्जा देते हुए नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसमें लेनिन, जि़नोवियेव, ओर्ज़ोनिकिद्जे थे और साथ ही पाँच उम्मीदवार थे। ‘बोल्शेविक पार्टी का इतिहास’ (1939) के अनुसार केन्द्रीय कमेटी में सम्मेलन के दौरान ही स्तालिन और स्वेर्दलोव को भी चुना गया था, लेकिन क्रुप्सकाया ने ‘लेनिन एक संस्मरण’ में लिखा है कि स्तालिन को सम्मेलन के तुरन्त बाद केन्द्रीय कमेटी में सहयोजित किया गया था। ई.एच.कार ने भी अपनी किताब में क्रुप्सकाया की सूचना को ही ज़्यादा भरोसेमन्द बताया है। खैर, जो भी हो, 1912 में बोल्शेविक पार्टी एक अलग पार्टी के रूप में स्थापित हो गयी और इसकी केन्द्रीय कमेटी में पार्टी के दो भावी कद्दावर नेता लेनिन और स्तालिन मौजूद थे। 1912 ही रूस में मज़दूर आन्दोलन में पसरे सन्नाटे के टूटने का वर्ष भी था। अप्रैल में लेना सोने की खान के मज़दूरों पर ज़ार की पुलिस ने गोलियाँ बरसायीं जिसमें करीब 500 मज़दूर मारे गये। 1905 के खूनी रविवार के बाद यह सबसे भयंकर हत्याकाण्ड था। इसके साथ ही रूस में मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन तेज़ी से बढ़ने लगा। 1912 में नये बोल्शेविक अखबार प्राव्दा की स्थापना सघन होती सामाजिक-जनवादी राजनीतिक गतिविधियों का ही एक लक्षण था। 1912 में त्रात्स्की ने तथाकथित तौर पर सामाजिक-जनवादियों की औपचारिक एकता को कायम रखने के लिए अगस्त महीने में मेशेविकों, त्रात्स्कीपंथियों और कुछ अन्य सामाजिक-जनवादी संगठनों का एक सम्मेलन वियेना में किया, जो कि वास्तव में बोल्शेविक-विरोधी गुटवाद के अलावा और कुछ नहीं था। लेकिन बोल्शेविकों ने इसका विरोध किया और सिद्धान्तों पर समझौते से इंकार कर दिया। ‘अगस्त ब्लॉक’ के नाम से जानी गयी त्रात्स्की की यह कवायद ठीक से बन पाने के पहले ही बिखर गयी क्योंकि आम तौर पर अवसरवादियों में कोई एकता लम्बे समय तक कायम नहीं रह पाती है।

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत ने रूस में मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी गतिविधियों को और अधिक सघनता प्रदान की। 1914 में युद्ध पर अवस्थिति के प्रश्न पर भी मेशेविकों और बोल्शेविकों में टकराव हुआ। युद्ध शुरू होते ही बोल्शेविकों ने युद्ध-विरोधी प्रचार शुरू कर दिया। नतीजतन, ज़ार की पुलिस ने जल्द ही प्राव्दा का दमन कर दिया और कई बोल्शेविकों को गिरफ्तार कर लिया और निर्वासित कर दिया। इसके बाद बोल्शेविकों ने स्विट्ज़रलैण्ड में बर्न में अपना नया केन्द्र स्थापित किया और वहाँ से क्रान्तिकारी साहित्य को रूस में भेजने का इंतज़ाम करना शुरू कर दिया। 1914 में यूरोप के तमाम सामाजिक-जनवादी सामाजिक कट्टरवादी अवस्थिति पर जा खड़े हुए और “पितृभूमि की रक्षा” करने की बात शुरू कर दी। लेनिन ने इसे निकृष्टतम कोटि की गद्दारी

बताया और अपनी राष्ट्रीय सरकार को हराने की बोल्शेविक नीति को आगे बढ़ाने का काम जारी रखा। नवम्बर 1914 में लेनिन ने पार्टी मुखपत्र *सोत्सियल डेमोक्रेट* में युद्ध को लेकर अपनी थीसिस प्रकाशित की, जिसमें लिखा था: “सेना से लेकर सैन्य कार्रवाइयों के स्थानों पर समाजवादी क्रान्ति और अपने हथियारों को अन्य देशों के भाड़े के गुलामों, यानी अपने ही भाइयों की तरफ नहीं, बल्कि सभी देशों की प्रतिक्रियावादी और पूँजीवादी सरकारों की ओर मोड़ देने का सार्वभौमिक प्रचार करना होगा। सभी भाषाओं में ऐसे प्रचार के लिए सभी राष्ट्रों की सेनाओं में गैर-कानूनी सेल और समूह संगठित किये जाने की बिना शर्त जरूरत है। निरपवाद रूप से सभी देशों के पूँजीपति वर्गों के कट्टरतावाद और देशभक्ति के विरुद्ध कठोर संघर्ष।” इस थीसिस को लेनिन ने सितम्बर 1914 में बर्न में कुछ बोल्शेविकों के समक्ष प्रस्तुत किया था। फरवरी 1915 में बोल्शेविकों के एक अपेक्षाकृत बड़े सम्मेलन में इस थीसिस को पेश किया जिसे कि सम्मेलन ने पास कर दिया। इस सम्मेलन में बुखारिन, प्याताकोव, क्राइलेंको और जिंनोवियेव मौजूद थे। बोल्शेविकों ने स्पष्ट शब्दों में युद्ध-विरोधी अवस्थिति अपनायी थी। लेकिन मंशेविकों के बीच युद्ध के प्रश्न को लेकर दो गुट उभर आये। एक के नेतृत्व में प्लेखानोव थे जिन्होंने खुले तौर पर एक सामाजिक कट्टरवादी अवस्थिति अपना ली थी और कह रहे थे कि राष्ट्र-रक्षा आगे के सुधारों के लिए अनिवार्य है। लेकिन मार्तॉव ने प्लेखानोव से अलग अवस्थिति अपनाते हुए युद्ध का विरोध किया। वाम मंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच युद्ध-विरोध के प्रश्न को लेकर एकता हुई और लेनिन और मार्तॉव दोनों ने ही प्रसिद्ध **जिम्मरवाॅल्ड सम्मेलन** में हिस्सा लिया, जिसमें कि सभी युद्ध विरोधी सामाजिक-जनवादियों ने भागीदारी की थी। लेकिन वाम मंशेविकों और बोल्शेविकों के लिए युद्ध-विरोध का अलग-अलग अर्थ था। **लेनिन के लिए युद्ध का विरोध करने का अर्थ था अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों को हराने हुए समाजवादी सर्वहारा क्रान्ति की ओर जाना; जबकि मार्तॉव जैसे लोगों के लिए युद्ध विरोध का आधार था राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ जनवादी शान्ति।** जल्द ही इस अन्तर ने युद्ध के प्रश्न पर हुए अस्थायी समझौते को अर्थहीन बना दिया। दूमा में बोल्शेविक प्रतिनिधियों और रूस के विभिन्न हिस्से से आये बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने मिलकर लेनिन की युद्ध विरोधी थीसिस के समर्थन में प्रस्ताव पास किया। यह सितम्बर 1914 में एक गुप्त सम्मेलन में फिनलैण्ड में हुआ। एक माह बाद ही कई बोल्शेविक नेताओं और दूमा सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार बोल्शेविकों में कामेनेव भी शामिल थे। बाद में पता चला कि इन बोल्शेविकों पर चले मुकदमे में कामेनेव बोल्शेविक अवस्थिति से हिल गये थे और उन्होंने कहा था कि वह लेनिन के युद्ध-विरोधी प्रस्ताव के उस हिस्से से सहमत नहीं है, जिसमें अपनी सरकार को हराने की बात कही गयी थी। लेनिन ने कामेनेव की इस कमजोरी के लिए बाद में उनकी कड़े शब्दों में निन्दा की थी। बोल्शेविकों के एक बेहद छोटे हिस्से में लेनिन की कार्यदिशा को लेकर वह दृढ़ता नहीं थी, जो कि स्तालिन, बुखारिन जैसे बोल्शेविकों में थी। लेकिन अन्ततः बोल्शेविक युद्ध-विरोध की लेनिनवादी कार्यदिशा पर सहमत हो गये थे। वहीं दूसरी ओर युद्ध के दौरान मंशेविक अपना बचा-खुचा आमूलगामी चरित्र भी पूरी तरह से खो बैठे थे। उनके और अन्य तथाकथित प्रगतिशील सामाजिक-जनवादियों के बीच फर्क करना मुश्किल हो गया था, जो कि राष्ट्रीय रक्षा और जनवादी सुधार की बीन बजाये जा रहे थे। रूस के मंशेविकों ने लगभग पूरी तरह से काऊत्स्की की अवस्थिति को अपना लिया था

और बोल्शेविकों के बढ़ते प्रभाव के समक्ष वे अधिक से अधिक अप्रासंगिक होते चले गये।

मेंशेविज़्म से संघर्ष क्रान्ति के पहले इस बिन्दु तक पहुँच चुका था। फरवरी क्रान्ति के बाद भी मेंशेविकों से तमाम प्रश्नों पर राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष जारी रहा। फरवरी से लेकर अक्टूबर क्रान्ति तक के संघर्ष का ब्यौरा हम अगले अध्याय में देंगे। लेनिनवाद का एक अन्य रुझान से भी सतत् संघर्ष 1903-4 से जारी हो चुका था; यह रुझान था **त्रात्स्कीपंथ** का रुझान जो कि दक्षिणपंथी अवसरवाद और “वामपंथी” बचकानेपन का एक विचित्र मिश्रण था। हम त्रात्स्कीपंथ से लेनिनवाद के संघर्ष पर थोड़ा आगे आएँगे और यह भी प्रदर्शित करेंगे कि आज के अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद त्रात्स्कीपंथ से भी काफ़ी-कुछ उधार लेते हैं। त्रात्स्कीपंथ दार्शनिक धरातल पर एक कठमुल्लावादी, गैर-द्वन्द्वात्मक, निगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाली प्रवृत्ति है, जबकि राजनीतिक धरातल पर यह “वामपंथी” कम्युनिज़्म (रूप के मामले में) और दक्षिणपंथी अवसरवाद (अन्तर्वस्तु के मामले में) का मिश्रण है, जैसा कि आम तौर पर सभी “वामपंथी” और दक्षिणपंथी भटकाव हुआ करते हैं। लेकिन त्रात्स्कीपंथ पर थोड़ा आगे।



1915 की शुरुआत तक रूस में मौजूद सभी प्रमुख बोल्शेविक नेता गिरफ्तार हो चुके थे। बोल्शेविकों का रूस में संगठन ज़ारशाही के दमन के समक्ष नष्ट हो गया था। लेनिन ने **श्ल्यापिकोव** नामक एक पार्टी कार्यकर्ता को बर्न से पार्टी साहित्य को गुप्त रूप से रूस तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी सौंपी। श्ल्यापिकोव ने 1916 में दो अन्य बोल्शेविकों के साथ मिलकर बिखर चुके बोल्शेविक रूसी ब्यूरो को पुनर्गठित किया। ये दो बोल्शेविक थे **मोलोतोव** और **ज़ालुत्स्की**। जल्द ही इस नये रूसी ब्यूरो ने देश के अन्य बोल्शेविक पार्टी संगठनों से सम्पर्क स्थापित कर लिया था। बस दिक्कत यह थी कि बर्न में बोल्शेविक केन्द्रीय नेतृत्व से सम्पर्क बीच-बीच में ही हो पाता था और नियमित तौर पर दिशा-निर्देश ले पाना सम्भव नहीं था। इस बीच लेनिन ने स्विट्ज़रलैण्ड में अपना निवास बर्न से ज़्यूरिख में स्थानान्तरित कर लिया। यहाँ लेनिन को साम्राज्यवाद पर अपने अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल गयी और उन्होंने अपनी कालजयी रचना ‘**साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था**’ पूरी की। इस बीच उन्होंने सामाजिक-जनवादियों के पतन और संशोधनवाद के विरुद्ध भी काफ़ी-कुछ लिखा। अप्रैल 1916 में उन्होंने कियेथाल में ज़िम्मरवॉल्ड समूह के दूसरे सम्मेलन में भागीदारी की। इस सम्मेलन में लेनिन के विचारों के पक्ष में पहले से ज़्यादा लोग आये, लेकिन अभी भी कोई मज़बूत एकता नहीं स्थापित हो पायी थी। लेनिन अपनी कार्यदिशा पर दृढ़ थे, स्थितियों पर निगाह रखे हुए थे, सैद्धान्तिक-राजनीतिक कार्य कर रहे थे और इन्तज़ार कर रहे थे। **फरवरी 1917 में रूस में क्रान्ति की शुरुआत के साथ यह इन्तज़ार ख़त्म हो गया।** अप्रैल 1917 में लेनिन करीब बीस अन्य बोल्शेविकों के साथ पीटर्सबर्ग पहुँचे। इन बोल्शेविकों में **ज़िनोवियेव**, **सोकोलनिकोव**, **रादेक**, आदि शामिल थे। इसके साथ ही रूसी क्रान्ति का एक नया दौर शुरू हुआ। इस पूरे दौर में क्रान्ति द्रुत गति से आगे बढ़ी और फरवरी से लेकर अक्टूबर तक के नौ महीने में बोल्शेविकों के राजनीतिक-सांगठनिक और विचारधारात्मक कार्य और मेंशेविकों, त्रात्स्कीपंथियों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से वर्चस्व के लिए उनके संघर्ष का

आलोचनात्मक मूल्यांकन हम अगले अध्याय में करेंगे। लेकिन पहले त्रात्स्कीपंथ के साथ क्रान्ति से पहले के पूरे दौर में लेनिन के संघर्ष को समझना ज़रूरी है क्योंकि त्रात्स्की की वामपंथी-दक्षिणपंथी प्रवृत्तियाँ क्रान्ति के बाद के दौर में भी बार-बार सिर उठाती रहीं और उसके खिलाफ पहले लेनिन और बाद में स्तालिन ने संघर्ष जारी रखा। त्रात्स्कीपंथ से संघर्ष के बाद इस अध्याय के परिशिष्ट में क्रान्ति से पहले के पूरे दौर में रूस के कम्युनिस्ट आन्दोलन और बोल्शेविक पार्टी के उद्भव और विकास के बारे में हम चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे ब्यौरे का भी एक आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करेंगे।

ख) त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का संघर्ष

नरोदवाद से संघर्ष ने रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की नींव डालने का काम किया। इसके बाद सामाजिक-जनवादी आन्दोलन को अपने शुरुआती दौर में “कानूनी” मार्क्सवाद और अर्थवाद से संघर्ष करना पड़ा। इन दो शुरुआती विचारधारात्मक संघर्षों ने भी रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के उत्तरवर्ती विकास और साथ ही लेनिनवाद के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों के उद्भव में अहम भूमिका निभाई। मेशेविकों से संघर्ष में अर्थवाद और “कानूनी” मार्क्सवाद से चले विचारधारात्मक संघर्ष की ही एक नये स्तर पर पुनरावृत्ति हुई। लेकिन सांगठनिक उसूल मेशेविकों और बोल्शेविकों के बीच फूट का मूल कारण बने। मेशेविकों से संघर्ष बाद तक जारी रहा, लेकिन संघर्ष के मूल मुद्दे शुरु में ही रेखांकित हो चुके थे। इसके बाद जो विचारधारात्मक संघर्ष रूसी कम्युनिस्ट आन्दोलन और लेनिनवाद के विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, वह है **त्रात्स्कीपंथ से संघर्ष**।

यहाँ हम फरवरी 1917 तक के दौर में त्रात्स्कीपंथ से चले संघर्ष का ब्यौरा पेश करेंगे। फरवरी 1917 से लेकर लेनिन की मृत्यु तक और उसके बाद स्तालिन के साथ त्रात्स्की के संघर्ष का ब्यौरा हम आगे पेश करेंगे। फिलहाल, अक्टूबर क्रान्ति से पहले फरवरी 1917 तक त्रात्स्की और लेनिनवाद के बीच चले संघर्ष का ब्यौरा ही हमारे लिए प्रासंगिक है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बाद त्रात्स्की से लेनिन का और उसके बाद स्तालिन का जो संघर्ष चला, उसके मूल मुद्दे वास्तव में 1903 से 1917 के बीच ही रेखांकित हो चुके थे। समय के साथ संघर्ष का सन्दर्भ बदला, लेकिन मूल मुद्दे वही रहे। फरवरी 1917 तक त्रात्स्की के साथ लेनिन को दो अहम मसलों पर संघर्ष हुआ—**पहला, क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रश्न पर और दूसरा पार्टी के सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर**। इससे पहले कि हम इन दोनों विचारधारात्मक संघर्षों का ब्यौरा पेश करें और साथ ही इसके विषय में इतिहास-लेखन पर अपना आलोचनात्मक विश्लेषण पेश करें, हम त्रात्स्कीपंथ के सम्बन्ध में कुछ ज़रूरी मुद्दों पर बात करना चाहेंगे।

सबसे अहम बात यह है कि **क्या त्रात्स्कीपंथ अथवा त्रात्स्कीवाद जैसी किसी चीज़ के बारे में बात की जा सकती है?** दूसरे शब्दों में, क्या त्रात्स्कीपंथ/त्रात्स्कीवाद जैसी कोई चीज़ है? क्या ऐसे किसी अलग विचारधारात्मक अप्रोच व पद्धति की बात की जा सकती है? जहाँ तक स्वयं त्रात्स्कीपंथियों और यहाँ तक कि त्रात्स्की का दावा है, त्रात्स्कीपंथ जैसी कोई चीज़ नहीं होती। लेकिन ऐसा दावा करने के पीछे उनका असल मक़सद होता है यह सम्प्रेषित करना कि त्रात्स्कीपंथ दरअसल लेनिनवाद ही है। त्रात्स्की और अधिकांश त्रात्स्कीपंथियों के इस दावे

के बावजूद अगर हम त्रात्स्की के विचारधारात्मक-राजनीतिक लेखन व व्यवहार का अध्ययन करें तो हम देखते हैं कि **त्रात्स्की की एक विशिष्ट पहुँच और पद्धति है**; कह सकते हैं कि 'इस पागलपन में एक पद्धति है।' बहरहाल, स्वयं त्रात्स्की व उनके अनुयायियों का कहना है कि त्रात्स्कीपंथ शब्द स्तालिन व "स्तालिनवादियों" की पैदावार है। हालाँकि, यह दावा कतई सच नहीं है, लेकिन यह सच होता भी तो भी इतना तय है कि हम विशिष्ट त्रात्स्कीपंथी पहुँच और पद्धति की बात कर सकते हैं। **अर्नेस्ट मैण्डेल** और **इज़ाक डॉइशर** जैसे त्रात्स्कीपंथी बुद्धिजीवियों ने तो यहाँ तक कहा है कि जब लेनिन ने 'अप्रैल थीसीज़' पेश की, उस समय रूस में लेनिन से बेहतर कोई 'त्रात्स्कीपंथी' नहीं था! उनका यह दावा है कि लेनिन चोर दरवाज़े से त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त, यानी कि 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त, पर चले गये थे! खैर, चमचे हमेशा मालिक से ज़्यादा शोर मचाते हैं! यह देखना दिलचस्प होगा कि स्वयं त्रात्स्की का इस मसले पर क्या कहना था। त्रात्स्की का कहना था कि '**सिद्धान्त के मामले में मैं मार्क्स का शिष्य हूँ, जबकि पद्धति के मामले में मैंने लेनिन के विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की है।**' अगर यह कथन सच है तो कहा जा सकता है कि मार्क्स की पाठशाला में त्रात्स्की मुश्किल से 'ग्रेस मार्क्स' पाकर लेनिन के विद्यालय में पहुँचे थे, जहाँ वह बुरी तरह से फेल हो गये! पूरा त्रात्स्कीपंथ इसी औसतपन और विफलता की कहानी है।

हम त्रात्स्कीपंथ की बात निश्चित तौर पर कर सकते हैं। यह एक ऐसी विचार-सरणि है जो कि सारसंग्रहवादी ढंग से एकत्र किये गये विचारों का समुच्चय है। यह सिद्धान्तों का एक ऐसा समुच्चय है जो किसी भी रूप में क्रान्तिकारी 'प्रैक्टिस' का मार्गदर्शन नहीं कर सकता है। त्रात्स्की किताबी ज्ञान से सत्य का निवारण करते हैं। आम तौर पर **कोस्तास मावराकिस** द्वारा लेनिन व स्तालिन के बेतेलहाइमीय "अति-माओवादी" नियोजन पर आप सहमत नहीं हो सकते, लेकिन त्रात्स्की की आलोचना में टुकड़ों-टुकड़ों में उन्होंने कुछ सटीक प्रेक्षण रखे हैं। कोस्तास मावराकिस के अनुसार "**त्रात्स्की उत्तर-क्लासिकीय युग में ज़िन्दा बच गये एक 'क्लासिकीय' क्रान्तिकारी थे।**" (कोस्तास मावराकिस, 'ऑन ट्रॉट्स्कीज़्म', 1976, रूटलेज कीगन पॉल लि., पृ. 3, *अनुवाद हमारा*) मावराकिस मार्क्सवाद के विकास को तीन मंज़िलों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि मार्क्स के दौर का मार्क्सवाद पहली मंज़िल, लेनिन के दौर का मार्क्सवाद (लेनिनवाद) दूसरी मंज़िल, जबकि माओ के दौर का मार्क्सवाद (मावराकिस के शब्दों में माओ त्से-तुङ विचारधारा) मार्क्सवाद के विकास की तीसरी मंज़िल थी। ज़ाहिर है, ये तीन मंज़िलें अलग-अलग युगों में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम कार्यनीति का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेनिनवाद साम्राज्यवाद के युग का मार्क्सवाद है और आज भी हम साम्राज्यवाद के ही एक नये युग (भूमण्डलीकरण) के युग में जी रहे हैं। ऐसे में कोई यह प्रश्न पूछ सकता है कि फिर 'माओ-वाद' किस युग के मार्क्सवाद का प्रतिनिधित्व करता है? माओ का युगान्तरकारी योगदान था 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सिद्धान्त जो कि समाजवादी संक्रमण की पूरी ऐतिहासिक अवधि के दौरान सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की कार्यदिशा प्रस्तुत करता है। ऐसा नहीं है कि माओ से पहले समाजवादी संक्रमण पर कोई चिन्तन नहीं हुआ था, लेकिन यह भी सच है कि समाजवादी संक्रमण के कई केन्द्रीय असमाधित प्रश्नों को माओ ने हल किया और एक सुसंगत और पूर्ण सिद्धान्त पेश किया। सम्भव है कि लेनिन जीवित रहे होते या स्तालिन को परिस्थितियों ने मौका दिया होता तो वे भी अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचते। लेकिन जैसा कि हमने पहले भी कहा है सैद्धान्तिक और

ऐतिहासिक मसलों में प्रति-तथ्यात्मक इतिहास के लिए ज्यादा स्थान नहीं होता है। इस रूप में माओ ने समाजवादी संक्रमण का युग, जिसका कि एक हिस्सा साम्राज्यवाद के युग अतिच्छादित करता है, में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की रणनीति और आम कार्यनीति को सूत्रबद्ध किया। इसलिए हम मावराकिस के 'माओ त्से-तुङ विचारधारा' से आगे जाकर माओवाद की बात कर सकते हैं, क्योंकि मावराकिस की सैद्धान्तिक बुनियाद हमारी सैद्धान्तिक बुनियाद से बिल्कुल भिन्न है।

बहरहाल, मावराकिस कहते हैं कि मार्क्सवाद के विकास की तीसरी मंज़िल के दौर में त्रात्स्की पहली मंज़िल पर ही खड़े थे। हम इस कथन पर प्रश्न खड़ा कर सकते हैं कि त्रात्स्की मार्क्स के दौर के मार्क्सवाद पर भी किस हद तक खड़े थे और आगे हम प्रदर्शित भी करेंगे कि वास्तव में त्रात्स्की मार्क्सवाद की किसी मंज़िल पर नहीं, बल्कि मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति से अलग खड़े थे। लेकिन इतना जरूर है कि त्रात्स्की एक कठमुल्लावादी थे जो कि किताबी सिद्धान्त के अनुसार वास्तविकता का निर्धारण करते थे। त्रात्स्की सामान्य विचारधारात्मक अवस्थितियों से राजनीतिक कार्यक्रमों को निगमित करते थे; यथार्थ में मौजूद अन्तरविरोधों के स्वतन्त्र रूप से मार्क्सवादी विश्लेषण की बजाय, किन्हीं और परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर निकाले गये सामान्य नतीजों को त्रात्स्की जडसूत्र के रूप में देखते थे, और अपने राजनीतिक कार्यक्रम निर्धारित करते थे। त्रात्स्की की पूरी पहुँच और पद्धति की बात करें तो उसे निगमनवादी, कठमुल्लावादी, आधिभौतिकवादी और यान्त्रिक पहुँच और पद्धति कहा जा सकता है। यही कारण है कि त्रात्स्कीपंथ रूप के धरातल पर तमाम "वामपंथी" भाव-भंगिमाओं के बावजूद वास्तव में एक दक्षिणपंथी और (यदि मार्क्सवादी-विरोधी नहीं तो) गैर-मार्क्सवादी विचार-सरणि है।

हर "वामपंथी" भटकाव वास्तव में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु के मामले में कई दक्षिणपंथी तत्वों को भी समेकित करता है। त्रात्स्कीपंथ अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूपों में दिखता है। कभी दक्षिणपंथी अवसरवाद के रूप में तो कभी "वामपंथी" बचकानेपन के रूप में। इसका कारण यह है कि त्रात्स्कीपंथ में इन दोनों के ही तत्व निहित हैं। यही कारण है कि आज दुनिया भर के त्रात्स्कीपंथी संगठनों और समूहों को मोटे तौर पर दक्षिणपंथी त्रात्स्कीपंथी और "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी समूहों में बाँटा जा सकता है। दोनों ही प्रकार के विचलनों को अपने वैधीकरण हेतु स्रोत-सामग्री स्वयं त्रात्स्की के ही लेखन में मिल जाती है। मिसाल के तौर पर स्पार्टकसवादी जैसे "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी हैं जो त्रात्स्की के कठमुल्लावाद का कठमुल्लावादी तरीके से अनुसरण करते हैं और ऐसे किसी भी जनान्दोलन को प्रतिक्रियावादी मानते हैं जो सीधे समाजवादी क्रान्ति के प्रश्न को एजेण्डे पर नहीं रखता है। लेकिन साथ ही, इस किस्म के "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी यह भी मानते हैं कि संशोधनवादी ट्रेड यूनियन में मजदूरों की नैसर्गिक नेता हैं! "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथियों के बरक्स हमें दक्षिणपंथी अवसरवादी त्रात्स्कीवादी भी मिल जाएँगे, जिन्हें हम "त्रात्स्कीपंथ का संशोधनवादी" (!) कह सकते हैं। मिसाल के तौर पर, ब्रिटेन व अमेरिका की सोशलिस्ट वर्कर्स पार्टी। ये पार्टियाँ त्रात्स्की को तमाम क्रान्तिकारी चिन्तकों में से एक मानती हैं और त्रात्स्की की भी कई मसलों पर आलोचना करती हैं। ये पार्टियाँ अक्सर पतित सामाजिक-जनवादी पार्टियों से भी मेल-मिलाप करती हैं और उनके साथ संलयित हो जाने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। खैर, सुधारवाद और संशोधनवाद के प्रति इस नज़रिये के लिए हम इन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि यह प्रवृत्ति

स्वयं त्रात्स्की में थी क्योंकि त्रात्स्की का सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के निर्माण और गठन के बारे में कोई सिद्धान्त या चिन्तन तक नहीं था। इसका हम आगे विश्लेषण भी करेंगे।

त्रात्स्की के “वामपंथी” दक्षिणपंथ को समझने के लिए कुछ केन्द्रीय महत्व के प्रश्नों पर त्रात्स्की की अवस्थिति को देखा जा सकता है। “वामपंथी” कम्युनिस्टों के समान त्रात्स्की यह मानने को तैयार थे कि क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के लिए एक हिरावल पार्टी की आवश्यकता है; लेकिन “वामपंथी” कम्युनिस्टों के इस बचकानेपन को भी त्रात्स्की साझा करते हैं कि क्रान्ति के ‘अधिकतम कार्यक्रम’ के अतिरिक्त कोई ‘न्यूनतम कार्यक्रम’ नहीं होता! उनके अनुसार, पूँजीवाद के मौजूदा युग में सुधार की माँगें पूर्णतः अप्रासंगिक हो चुकी हैं, क्योंकि पूँजीवाद अपनी ‘मृत्यु-पीड़ा’ से गुज़र रहा है और वह किसी भी प्रकार की सुधार की क्षमता खो चुका है! जाहिर है, ऐसी कोई भी सोच व्यवहार में लागू नहीं हो सकती है। पूँजीवादी जनवाद की मरणासन्न अवस्था में भी पूँजीवादी जनवाद के औपचारिक वायदों के साथ **अति-अभिज्ञान (over-identification)** कर उन वायदों को पूर्ण करवाने के लिए लड़ने की प्रक्रिया में ही जनता सर्वहारा क्रान्ति की अनिवार्यता को भी ग्रहण करती है। यानी, ‘अधिकतम कार्यक्रम’ और ‘न्यूनतम कार्यक्रम’ के बीच कोई चीन की दीवार नहीं हो सकती। निश्चित तौर पर, जनवादी क्रान्ति की मंजिल में कम्युनिस्ट पार्टी का ‘न्यूनतम कार्यक्रम’ भी एक क्रान्ति का कार्यक्रम होता है (जैसा कि रूस में सामाजिक-जनवादी पार्टी का 1917 की क्रान्ति के पहले था)। लेकिन किसी भी किस्म के पूँजीवादी जनवाद की स्थापना के बाद भी एक ‘न्यूनतम कार्यक्रम’ रहेगा ही, जो कि पूँजीवादी जनवाद के भीतर भी सर्वहारा वर्ग के जनवादी अधिकारों के दायरे को और अधिक विस्तारित करने के लिए संघर्ष पर आधारित होगा। इस संघर्ष के बिना सर्वहारा वर्ग सीधे आम बग़ावत के लिए तैयार नहीं हो सकता है। सुधारों के लिए क्रान्तिकारी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए चलाया जाने वाला यह संघर्ष सुधारवाद नहीं है, बल्कि क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल है।

लेकिन साथ ही त्रात्स्की इस मायने में “वामपंथी” कम्युनिस्टों से भिन्न थे और दक्षिणपंथी अवसरवादियों और संशोधनवादियों से ज़्यादा करीबी रखते थे, क्योंकि त्रात्स्की के लिए समाजवाद का अर्थ था **सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण**। यदि किसी अर्थव्यवस्था में कानूनी तौर पर निजी सम्पत्ति समाप्त हो चुकी है तो त्रात्स्की के लिए वही समाजवाद का अन्तिम पैमाना है। राज्य का चरित्र भी यहाँ त्रात्स्की के लिए गौण हो जाता है। यहाँ हम देख सकते हैं कि उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त के शिकार त्रात्स्की स्तालिन से कहीं ज़्यादा थे। वास्तव में, अपनी मृत्यु से ठीक पहले स्तालिन अपनी समझदारी को दुरुस्त कर रहे थे और उनकी आखिरी दौर के लेखन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह आनुभविक तौर पर इस नतीजे पर पहुँचने लगे थे कि निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे के बाद भी समाजवाद को स्थापित करने का लम्बा कार्य बाकी रहता है। **लेकिन त्रात्स्की इस मामले में न सिर्फ़ अर्थवाद के भटकाव के शिकार थे, बल्कि वह कठमुल्लावादी अर्थवादी थे।** इसलिए जब त्रात्स्की यह भी मानने लगे थे कि सोवियत राज्यसत्ता एक ‘विकृत मज़दूर राज्य’ में तब्दील हो चुकी है, राज्यसत्ता पर नौकरशाही का कब्ज़ा हो चुका है तो भी वह यह मानते रहे कि सोवियत संघ एक समाजवादी मज़दूर राज्य ही है! यह बात दीगर है, कि त्रात्स्की का यह नतीजा सही था! लेकिन इसका कारण सोवियत संघ में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का स्थापित हो जाना बाद में था, जबकि राज्य पर एक सर्वहारा पार्टी और स्तालिन के रूप में

एक सर्वहारा नेतृत्व का मौजूद होना इसका प्रमुख कारण था। त्रात्स्की की पद्धति से चलें तो 1953 और 1956 के बाद भी सोवियत संघ को एक मजदूर राज्य माना जाना चाहिए क्योंकि कानूनी तौर पर निजी सम्पत्ति की पुनर्स्थापना तुरन्त नहीं हुई थी, बल्कि सोवियत संघ के विघटन के कुछ वर्षों पहले ही हुआ था। लेकिन चूँकि त्रात्स्की के लिए अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीयकरण ही समाजवाद का दूसरा नाम था, इसलिए वह सोवियत संघ का जीते-जी भी कोई सही विश्लेषण नहीं कर पाये और उनके मरने के बाद त्रात्स्कीपंथी भी सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का कोई सुसंगत विश्लेषण नहीं पेश कर पाये। त्रात्स्की का विश्लेषण अन्त में उन्हें मजाकिया नतीजों तक ले गया। मिसाल के तौर पर, जब सोवियत संघ में समाजवाद के पतन या तथाकथित “स्तालिनवादी नौकरशाही” के तख्तापलट की त्रात्स्की की भविष्यवाणी सही न सिद्ध हो सकी और सोवियत संघ में समाजवाद का विकास जारी रहा तो त्रात्स्की तीस के दशक के उत्तरार्द्ध में यह कहने लगे कि सोवियत संघ में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति सम्पन्न हो गयी है, और अब मजदूर वर्ग को “स्तालिनवादी नौकरशाही” के खिलाफ राजनीतिक क्रान्ति करनी होगी! हम पिछले अध्याय में इसका जिक्र कर चुके हैं कि सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति के बीच में भेद करना किस प्रकार त्रात्स्की को काऊत्स्की के बगल में बिठा देता है। क्रान्ति के बाद के दौर में त्रात्स्की और त्रात्स्कीपंथी विचारधारा के एक प्रतिक्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में पतन और साम्राज्यवादियों के साथ त्रात्स्की और त्रात्स्कीपंथियों के अपवित्र गठजोड़ स्थापित होने की चर्चा करते समय हम इस थीम पर वापस लौटेंगे। अभी इतना बताना पर्याप्त है कि समाजवाद की पहचान करने की त्रात्स्कीपंथी पद्धति एक निहायत कठमुल्लावादी किस्म की अर्थवादी पद्धति है।

अर्थवाद और वर्ग विश्लेषण के बीच का अन्तरविरोध समाजवादी सत्ताओं या उनके पतन के विश्लेषणों में बार-बार प्रकट हुआ है। मिसाल के तौर पर, 1956 के बाद सोवियत संघ के ही चरित्र निर्धारण को लेकर जो बहसें चली हैं ज़रा उन पर निगाह डालिये-नियोजित अर्थव्यवस्था बनाम बाज़ार अर्थव्यवस्था बहस; सार्वजनिक क्षेत्र बनाम निजी क्षेत्र बहस; सामूहिकीकरण बनाम निजी सम्पत्ति अर्थव्यवस्था बहस! ये सभी बहसें राज्यसत्ता के प्रश्न और क्रान्ति के कार्यक्रम के प्रश्न को उठाती ही नहीं हैं और केवल अर्थव्यवस्था के रूपगत विश्लेषण को किसी सामाजिक संरचना के चरित्र-निर्धारण का पैमाना बनाती हैं। त्रात्स्कीपंथ किस रूप में मार्क्सवाद के विरोध में खड़ी एक चिन्तन-प्रणाली है, किस रूप में यह निगमनवादी, गैर-द्वन्द्वात्मक आधिभौतिकवादी, अनुभववादी कठमुल्लावादी और उद्भववादी पद्धति है, इसे हम क्रान्ति से पहले के दौर में त्रात्स्की के चिन्तन के विकास और लेनिन से त्रात्स्की के विचारधारात्मक संघर्ष के ज़रिये ही समझेंगे। यह दौर इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जिस विचार-समुच्चय को त्रात्स्कीपंथ का नाम दिया जा सकता है, उसकी मूल चारित्रिक विशेषताओं ने इसी दौर में रूप ग्रहण किया था। बाद में, त्रात्स्की के चिन्तन में सिर्फ एक अहम पहलू जुड़ता है, जो ‘एक देश में समाजवाद के विकसित होने की असंभाव्यता’ की बात करता है। लेकिन उस पर हम बाद में ही चर्चा करेंगे, क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इतिहास का भी सही अध्ययन ऐतिहासिक तौर पर ही किया जा सकता है।

अब हम फरवरी 1917 से पहले लेनिन के साथ दो अहम मसले पर त्रात्स्की के विवादों के ज़रिये त्रात्स्कीपंथ की इन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं को समझने का प्रयास करेंगे, और

साथ ही यह भी दिखलायेंगे कि आज के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे भ्रमित 'मार्क्सवादियों' पर त्रात्स्की का भी गहरा असर है। वास्तव में, 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास की कई सूचनाएँ एक त्रात्स्कीपंथी लेखक टोनी क्लिफ की रचनाओं से ही आती हैं! बहरहाल, त्रात्स्कीपंथ 1903 से 1917 के बीच ही रूप ग्रहण करता है, जब दो अहम प्रश्नों पर त्रात्स्की का लेनिन से मतान्तर होता है। फिलहाल, हम इन दोनों विवादों का विश्लेषण करेंगे।

i) क्रान्ति का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त और त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त

त्रात्स्की के मौलिक सिद्धान्त कम ही थे; जिन्हें एक हद तक मौलिक कहा जा सकता है, वे भी वास्तव में विकृत रूप में अन्य लोगों के सिद्धान्त थे। जिस सिद्धान्त के लिए त्रात्स्की को सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि मिली, वह था 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त को मौलिक तौर पर एक मेशेविक रूसी सामाजिक-जनवादी एलेक्ज़ैण्डर हेल्पहैण्ड पार्वस ने पेश किया था। त्रात्स्की ने निश्चित तौर पर पूरे सिद्धान्त को हूबहू नहीं अपनाया और आगे चलकर इसमें कई बदलाव किये। लेकिन 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का मूल ढाँचा वही रहा जो कि पार्वस ने तैयार किया था।

1903 में त्रात्स्की और लेनिन के बीच पार्टी सिद्धान्त और हिरावल पार्टी के चरित्र को लेकर विवाद हो चुका था। 1903 से लेकर 1905 में मेशेविकों के कब्जे में जा चुके 'इस्क्रा' में अगर किसी एक व्यक्ति ने लेनिन के खिलाफ सबसे ज़्यादा ज़हर उगला, तो वह त्रात्स्की थे। पार्टी संगठन और हिरावल पार्टी के चरित्र के बारे में त्रात्स्की की एकता मेशेविकों के साथ बनी थी, हालाँकि त्रात्स्की का सिद्धान्त पूर्णतः वही नहीं था, जो कि मेशेविकों का था। चूँकि रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की तीसरी कांग्रेस में पार्टी सिद्धान्त पर हुए बँटवारे में त्रात्स्की ने अन्ततः मेशेविकों का पक्ष लिया था, इसलिए अक्सर त्रात्स्की को बस एक मेशेविक करार दिया जाता है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। न तो पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर (क्योंकि पार्टी निर्माण और गठन को लेकर त्रात्स्की का कोई सिद्धान्त था ही नहीं, सिवाय व्यवहारवाद के, जिसके कारण कभी त्रात्स्की गुटवाद (factionalism) और नौकरशाहाना केन्द्रीयता के बीच दोलन करते रहते हैं) और न ही क्रान्ति के व्यापक सिद्धान्त और क्रान्ति की मंज़िल को लेकर। त्रात्स्की राजनीतिक व्यवहार में पूरी तरह अवसरवादी थे, और इसलिए उन्हें अलग-अलग समय पर अलग-अलग जगह पर खड़ा देखा जा सकता है। कभी मेशेविकों के साथ, तो कभी "निष्पक्ष सुलहकर्ता" के रूप में, फिर बोल्शेविकों के साथ और अन्ततः फिर से बोल्शेविकों के विरोध के छोर पर। त्रात्स्की के राजनीतिक बर्ताव के इस 'कुण्डलाकार विकास' के कारणों पर हम आगे चर्चा करेंगे! अभी इतना समझ लेना ज़रूरी है कि अगर त्रात्स्की को सीधे मेशेविक करार दे दिया जाय, तो त्रात्स्की की एक सुसंगत मार्क्सवादी आलोचना पेश ही नहीं की जा सकती। इसलिए त्रात्स्की की पहुँच और पद्धति को सिर्फ उनके राजनीतिक व्यवहार की अनियतता के आधार विश्लेषित नहीं किया जा सकता। इसके लिए अलग-अलग मुद्दों पर त्रात्स्की के लेखन का आलोचनात्मक विश्लेषण भी ज़रूरी है। इसलिए हम त्रात्स्की का विश्लेषण एक आम मेशेविक के रूप में नहीं करेंगे। अब हम

‘स्थायी क्रान्ति’ के त्रात्स्की के सिद्धान्त के उद्गम और विकास की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस में सांगठनिक उसूल के मसले पर बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच का अन्तर पैदा हुआ। इस विवाद में कांग्रेस के शुरुआती दौर में त्रात्स्की लेनिन का साथ दे रहे थे, लेकिन अचानक उन्होंने अपनी अवस्थिति बदली और सांगठनिक प्रश्न पर मेशेविकों के साथ जा खड़े हुए। कांग्रेस के तुरन्त बाद मेशेविकों ने ‘इस्क्रा’ पर कब्जा कर लिया। 1905 तक तमाम मेशेविक और विशेष तौर पर एक्सेलरोद, मातोंव व ज़ासुलिच और साथ ही त्रात्स्की ने लेनिन पर हर प्रकार से हमला बोला। ये हमले कई बार विचारधारात्मक न होकर व्यक्तिगत भी होते थे। लेनिन किसी भी व्यक्तिगत हमले का जवाब देने की बजाय सांगठनिक उसूल के मसले पर मेशेविकों की सशक्त आलोचना पेश करते रहे। लेकिन दो अवसरवादियों में भी कभी बहुत दिनों तक पूर्ण सामंजस्य नहीं रह पाता है। 1904 में प्लेखानोव ने त्रात्स्की को ‘इस्क्रा’ के सम्पादक मण्डल में शामिल न करने पर बल दिया। इसके पहले, जब मेशेविकों और बोल्शेविकों का बँटवारा नहीं हुआ था, तब स्वयं लेनिन ने प्लेखानोव के समक्ष यह सुझाव रखा था कि त्रात्स्की को सम्पादक मण्डल में शामिल किया जा सकता है। लेकिन तब भी प्लेखानोव ने इसका विरोध किया था। बहरहाल, त्रात्स्की 1904 में म्यूनिख़ गये। यहाँ पर त्रात्स्की की मुलाकात एक पुराने रूसी सामाजिक-जनवादी एलेक्ज़ैण्डर हेल्पहैण्ड से हुई, जिनका राजनीतिक नाम पार्वस था।

पार्वस ने मेशेविकों और बोल्शेविकों के बीच एक मेल-मिलाप कराने वाले वार्ताकार जैसी भूमिका अपना रखी थी। त्रात्स्की ने भी पार्वस के प्रभाव में अपने लिए तथाकथित “गुटों से ऊपर खड़े एक पंच” की भूमिका का दावा किया। हालाँकि इस भूमिका को न तो बोल्शेविक मान्यता देते थे और न ही मेशेविक। लेकिन फिर भी सभी व्यावहारिक मसलों पर, विशेष तौर पर पार्टी सिद्धान्त से सम्बन्धित तमाम मसलों पर त्रात्स्की की एकता मेशेविकों के साथ ही बनती थी। यही स्थिति पार्वस की भी थी। त्रात्स्की करीब आधे वर्ष तक पार्वस के साथ रहे और इस बीच पार्वस का त्रात्स्की पर गहरा असर पड़ा। इसी दौर में त्रात्स्की ने अपने ‘स्थायी क्रान्ति’ के सिद्धान्त के मूल तत्व पार्वस से उधार लिये। ‘युद्ध और क्रान्ति’ नामक अपने लेखों की श्रृंखला में त्रात्स्की ने तर्क पेश किया कि राष्ट्र-राज्य का युग अब बीत रहा है। औद्योगिक पूँजीवाद व “मुक्त व्यापार” के युग ने राष्ट्र-राज्य को जन्म दिया था लेकिन एक एकीकृत विश्व बाज़ार के पैदा होने के साथ ही राष्ट्र-राज्यों के बीच का फर्क अपने मायने खोता जा रहा है और राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता को जन्म दे रहा है। त्रात्स्की के इस सिद्धान्त पर हम काऊत्स्की के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की छाया देख सकते हैं, हालाँकि काऊत्स्की का सिद्धान्त औपचारिक तौर पर 1914 में आया था। 1905 की क्रान्ति के आरम्भ में पार्वस ने त्रात्स्की की पुस्तक ‘हमारे राजनीतिक कार्यभार’ की प्रस्तावना लिखी। यही वह प्रस्तावना है जिसमें त्रात्स्की के ‘स्थायी क्रान्ति’ के सिद्धान्त के मूल तत्व हमें मिलते हैं।

इसमें पार्वस ने लिखा कि 1905 की आसन्न क्रान्ति के बाद जो आरज़ी सरकार आयेगी वह वास्तव में मज़दूर सरकार होगी और इसके शीर्ष पर सामाजिक-जनवादी क्रान्ति होगी; यह सरकार सीधे समाजवाद के निर्माण को अपने हाथों में लेगी। पार्वस का ऐसा मानना इसलिए था क्योंकि सरकार सामाजिक-जनवादी पार्टी के हाथों में होगी। यह एक **निगमनवादी पद्धति** है जिसके अनुसार किसी आन्दोलन का राजनीतिक एजेण्डा, वर्गों का मोर्चा और उसका लक्ष्य कुछ भी हो, लेकिन यदि नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी है, तो वह समाजवादी सत्ता की

स्थापना करेगी और यह समाजवादी मजदूर राज्य सीधे समाजवाद का निर्माण करेगा। यानी, 1905 में रूस में यदि ज़ार-विरोधी, जनवादी आन्दोलन में रूसी मजदूर वर्ग और समूची किसान आबादी का नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी करेगी, तो उस क्रान्ति का चरित्र इसी बात से निर्धारित हो जायेगा कि नेतृत्व समाजवादी शक्तियों के हाथों में है। **वास्तव में, त्रात्स्की ने जनवादी मंज़िल को लाँघने की यह कार्यदिशा पार्वस से ही अपनायी थी।** यहीं से त्रात्स्की ने 'स्थायी क्रान्ति' के अपने सिद्धान्त के बुनियादी तत्व लिए।

स्पष्ट है कि सांगठनिक उसूलों पर मेशेविकों के साथ खड़ा होने के बावजूद क्रान्ति के मंज़िल के बारे में त्रात्स्की की समझदारी बिल्कुल भिन्न थी। मेशेविक और बोल्शेविक दोनों ही मानते थे कि 1905 में रूस में क्रान्ति की मंज़िल मूलतः जनवादी है। मेशेविकों का मानना था कि इस जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने की ज़िम्मेदारी मुख्यतः और मूलतः उदार बुर्जुआ वर्ग की है। पहले सामाजिक-जनवादियों को जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करने में उदार बुर्जुआ वर्ग का साथ देना चाहिए और उसके बाद पूँजीवादी जनवाद के तहत रूसी मजदूर वर्ग का शिक्षण-प्रशिक्षण होना चाहिए, जिससे कि वह समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार हो सके। इस पूरी मेशेविक स्कीम में किसान कहीं भी नहीं थे, और किसानों के प्रति इस संशय के नज़रिये को अपने तरीके से त्रात्स्की भी साझा करते थे। बोल्शेविकों का मानना था कि रूस में जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को रूसी उदार बुर्जुआ वर्ग क्रान्तिकारी रूप से नहीं निभायेगा, और प्रतिक्रियावादी तरीके से क्रमिक रूपान्तरण का पीड़ादायी रास्ता चुनेगा। रूसी मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी उभार से घबराकर यह बुर्जुआ वर्ग ज़ारशाही की बगल में जा बैठा है, यह नौकरशाही में जगहें बना रहा है, भूस्वामियों से सहयोग-सहकार की नीति अपना रहा है। चूँकि मजदूर वर्ग से घबराया रूसी बुर्जुआ वर्ग ज़ारशाही की गोद में जा बैठा है, इसलिए लेनिन के अनुसार, रूस की वास्तविक परिस्थितियों में जनवादी क्रान्ति मजदूर वर्ग और समूची किसान आबादी के मोर्चे के ज़रिये सम्पन्न होगी, जिसमें कि राजनीतिक नेतृत्व अपनी हिरावत पार्टी के ज़रिये मजदूर वर्ग के हाथों में होगा। साथ ही, लेनिन ने यह भी बताया कि जनवादी क्रान्ति को सर्वाधिक आमूलवादी रास्ते से पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सामाजिक-जनवादियों को तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति के प्रयास शुरू कर देने होंगे और बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना शुरू कर देना होगा। लेनिन ने 'दो कार्यनीतियाँ' में बताया कि पहली मंज़िल में यानी सामन्तवाद, राजतन्त्र और निरंकुशतावाद के विरुद्ध समूची किसान आबादी को मजदूर वर्ग को साथ लेना होगा, जबकि क्रान्ति के समाजवादी चरण में प्रवेश के बाद मजदूर वर्ग के मित्र ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा व ग़रीब और निम्न मँझोले किसान (जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते) बनेंगे। **यही लेनिन का दो चरणों में सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त की मूल अन्तर्वस्तु है।** इस पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं इसलिए यहाँ पर और अधिक विस्तार में जाने की बजाय, त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की व्याख्या पर वापस लौटते हैं।

त्रात्स्की का मानना था कि रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन का चरित्र जनवादी हो, उसमें भूमि प्रश्न की प्रधानता हो, मजदूर वर्ग अभी अपने जनवादी व आर्थिक अधिकारों (न्यूनतम कार्यक्रम) के लिए ही लड़ने के लिए तैयार हो, मगर यदि नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी के हाथ में हो, तो यह क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति ही होगी और इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक समाजवादी मजदूर सरकार अस्तित्व में आयेगी और तत्काल समाजवाद के निर्माण के कार्य को अपने हाथों में लेगी। आगे त्रात्स्की इस

सिद्धान्त को विकसित करते हैं और कहते हैं कि आज के दौर में (यानी विश्व बाज़ार और इज़ारेदारियों के अस्तित्व में आने के साथ) पूरी दुनिया में हर जगह कोई भी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति ही होगी; किसी भी अन्य किस्म की क्रान्ति या तो प्रतिक्रिया में समाप्त होगी, या फिर असफलता में। चूँकि पूरी दुनिया में श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध सामान्य तौर पर मुख्य अन्तरविरोध बन चुका है, इसलिए आज पूरी दुनिया में राजनीतिक एजेण्डा पर समाजवादी मज़दूर क्रान्तियाँ हैं; किसी देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन किन्हीं भी मुद्दों को लेकर हो रहा हो, वर्ग शक्तियों का सन्तुलन और आपसी सम्बन्ध किसी भी किस्म के हों, आर्थिक विकास का स्तर चाहे कुछ भी हो, क्रान्ति को समाजवादी ही होना होगा। साथ ही, त्रात्स्की ने यह भी दावा किया कि कोई भी कम्युनिस्ट यदि किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी फ़्रेमवर्क में देखता है, तो वह मज़दूर वर्ग को बुर्जुआ वर्ग के हाथों बेच रहा है, उसका पिछलग्गू बना रहा है, और वास्तव में मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात कर रहा है। त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' की सबसे मूल प्रस्थापना यही है, लेकिन हमें इस सिद्धान्त के विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता है। इसके लिए लेनिन के शब्दों में "शुरू से ही शुरुआत करनी चाहिए।" इसलिए पहले हम इस शब्द 'स्थायी क्रान्ति' के इतिहास पर ही चर्चा करेंगे क्योंकि इस शब्द के उपयोग और दुरुपयोग के कारण काफी भ्रम पैदा किया गया है।

त्रात्स्की और बाद में त्रात्स्कीपंथियों ने यह दावा किया कि त्रात्स्की ने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को मार्क्स से लिया था, और इस मार्क्सवादी विरासत पर खड़े होकर उन्होंने लेनिन के चरणों में सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त को खारिज किया। यह सच है कि मार्क्स ने 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल किया है। लेकिन तब से इस शब्द का बहुत से अर्थों को सम्प्रेषित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है, और त्रात्स्की द्वारा इस शब्द का प्रयोग उनमें से एक है। **त्रात्स्की जिन अर्थों में 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल कर रहे थे, मार्क्स ने कभी भी उन अर्थों स्थायी क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल नहीं किया।** त्रात्स्की ने इस सिद्धान्त के वैध जनक, यानी कि पार्वस को इसका श्रेय इसलिए नहीं दिया क्योंकि पार्वस को कुछ ही वर्षों में यह सच्चाई सामने आ गयी कि पार्वस जर्मन सरकार के एजेण्ट, हथियार विक्रेता और सट्टेबाज़ की भूमिका निभा रहा था और **त्रात्स्की के लिए यही बेहतर था कि वह इस सिद्धान्त के मूल किसी तरह से मार्क्स के भीतर निकालें।** और इसीलिए विचारधारात्मक द्रविड़ प्राणायाम करते हुए त्रात्स्की ने यह बार-बार सिद्ध करने का प्रयास किया कि उनका 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त वास्तव में मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त का ही विस्तार या उसका एक विकसित संस्करण है। त्रात्स्की के लिए यह सम्भव था क्योंकि मार्क्स ने वाकई 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल किया है। **'फ़्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50'** में मार्क्स ने इस शब्द का इस्तेमाल किया था। लेकिन उन्होंने इस शब्द का इस्तेमाल बेहद सामान्य अर्थों में किया था। **कोस्तास मावराकिस** यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मार्क्स ने 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग लगभग उन्हीं अर्थों में किया था जिन अर्थों में माओ त्से तुङ ने 'सांस्कृतिक क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन यह दावा सच्चाई से काफी दूर है। मार्क्स जहाँ इस शब्द का इस्तेमाल करते हैं वहाँ वह इसकी कोई विस्तृत व्याख्या पेश नहीं करते। लेकिन मार्क्स द्वारा इस शब्द के इस्तेमाल से जो अर्थ निकलता है वह 'सतत् क्रान्ति' या 'निरन्तर क्रान्ति' का है, जिसमें क्रान्ति जनवादी चरण को पूर्ण करने के बाद पूँजीवाद के परिपक्व होने का इन्तज़ार नहीं करेगी, बल्कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक तौर पर संगठित होने की सूत्र में सीधे सर्वहारा

समाजवादी क्रान्ति के चरण में प्रवेश करेगी। वास्तव में, उन्नीसवीं सदी के मध्य में यूरोपीय, विशेषकर महाद्वीपीय यूरोपीय देशों में ऐसी सतत क्रान्ति होने की परिस्थितियाँ मौजूद भी थीं। लेकिन मार्क्स ने किसी भी रूप में इसका प्रयोग उन अर्थों में नहीं किया था, जिन अर्थों में त्रात्स्की इस शब्द का इस्तेमाल करते हैं।

क्रान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त कहता है कि क्रान्तियाँ विशिष्ट प्रकार के वर्ग अन्तरविरोधों और उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के विशिष्ट प्रकार के अन्तरविरोधों और विशिष्ट वर्ग चरित्र और संरचना वाली राज्यसत्ता की परिणति होती हैं। अलग-अलग प्रकार के अन्तरविरोध अलग-अलग प्रकार की क्रान्तियों को जन्म देते हैं। सामन्तवाद और व्यापक जन समुदायों (मजदूरों, किसानों व टुटपूँजिया वर्गों) के बीच का अन्तरविरोध किसी न किसी प्रकार की जनवादी क्रान्ति को जन्म देता है; मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तैयार करता है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति पूँजीवाद के दायरों का अतिक्रमण नहीं करती, लेकिन एक आमूलगामी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति समाजवाद के लिए संघर्ष हेतु मजदूर वर्ग के लिए ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन तैयार करती है। साथ ही, सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति में भी सक्रिय और सचेतन हिस्सेदारी करनी चाहिए, उसे महज जनवादी क्रान्ति की अगुवाई करने वाले पूँजीपति वर्ग की पूँछ पकड़कर नहीं चलना चाहिए। वास्तव में, मार्क्स ने जब 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था तो उनका यही अर्थ था कि आमूलगामी बुर्जुआ क्रान्तियों के दौरान भी सर्वहारा वर्ग को न सिर्फ़ इन क्रान्तियों में हिस्सेदारी करनी चाहिए, बल्कि अपने आपको स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करना चाहिए और बुर्जुआ क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद रुकना नहीं चाहिए बल्कि तत्काल ही समाजवाद के लिए संघर्ष की शुरुआत कर देनी चाहिए। मार्क्स ने दोनों चरणों के बीच अन्तराल होने या न होने के बारे में भी कोई सिद्धान्त नहीं पेश किया क्योंकि इस विषय में कोई भी समाज-वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं पेश कर सकता है। मार्क्स का पूरा बल इस बात पर था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के दौरान भी बुर्जुआ वर्ग का पुछल्ला नहीं बनेगा, बल्कि अपने स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण के साथ बुर्जुआ क्रान्ति को भी पूर्णता तक पहुँचायेगा और फिर वहाँ रुकने की बजाय अपने राजनीतिक प्रयासों के ज़रिये 'क्रान्ति को जारी रखेगा' और समाजवाद तक लेकर जायेगा, यानी स्थायी क्रान्ति को अंजाम देगा। मार्क्स का 'स्थायी क्रान्ति' से सिर्फ़ इतना मतलब था; उनका मतलब कतई जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघना नहीं था। सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति में भी अपने आपको एक स्वतन्त्र राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में संगठित करना चाहिए; ऐसा किये बिना सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति की भावी लड़ाई को बेहतर तरीके से नहीं लड़ सकता और जनवादी क्रान्ति के बाद एक स्वतन्त्र समाजवादी मजदूर आन्दोलन को संगठित नहीं कर सकता।

लेनिन ने दिखलाया कि कुछ निश्चित अनुकूल परिस्थितियों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश कर सकती है। लेकिन उस सूरत में भी वे दो अलग चरण ही रहेंगे क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय बदल जायेगा। कुछ बेहद अपवादस्वरूप परिस्थितियों में, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति अपनी पूर्णता पर पहुँचे बगैर समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो सकती है (जैसा कि रूस में हुआ) और फिर समाजवादी क्रान्ति को ही बुर्जुआ क्रान्ति को भी पूर्णता तक पहुँचाने का कार्यभार पूरा करना पड़ता है। चार्ल्स बेतेलहाइम, कोस्तास मावराकिस व कुछ अन्य बुद्धिजीवियों ने इसे 'क्रान्तियों

का अन्तर्गुथन' कहा है, लेकिन यह सूत्रीकरण सटीक नहीं है और यह कहीं न कहीं त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के निकट चला जाता है या त्रात्स्कीपंथ को साँस लेने की जगह देता है। निश्चित तौर पर, ऊपर से देखने में यह बुर्जुआ जनवादी और समाजवादी क्रान्ति/प्रक्रियाओं का अन्तर्गुथन दिख सकता है, लेकिन वास्तव में बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों के एक हद तक सम्पन्न होने के बाद ही समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रवेश हो सकता है। यदि फरवरी क्रान्ति में मजदूरों और किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व आंशिक रूप से सोवियतों के रूप में चरितार्थ नहीं होता, तो अक्टूबर क्रान्ति की स्थितियाँ उस रूप में पैदा नहीं हो सकती थीं, जिस रूप में वे पैदा हुईं। इसीलिए लेनिन अक्टूबर क्रान्ति के बाद बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करने और समाजवादी रूपान्तरण के कार्य के साथ में शुरू होने के बावजूद इसे 'क्रान्तियों के अन्तर्गुथन' के रूप में नहीं देखते। जो भी हो एक बात क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त में बिल्कुल स्पष्ट है: **बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघकर सीधे 'एक ही चोट में' समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करना सम्भव नहीं है; अगर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बिना रुके समाजवादी क्रान्ति के मंजिल में प्रवेश करने के लिए अनुकूल स्थितियाँ मौजूद हैं और ऐसा होता है, तो भी दोनों चरणों के बीच वर्ग संश्रय और कार्यक्रम के स्तर पर स्पष्ट अन्तर मौजूद रहता है।**

त्रात्स्की ने क्रान्ति के इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को ठुकराया। उन्होंने कहा कि एक विश्व बाज़ार और इजारेदारी के पैदा होने के बाद पूरे विश्व में श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध ही प्रमुख है और पूरी दुनिया में, हर देश में आज समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती है और सर्वहारा वर्ग की दिलचस्पी सिर्फ़ सीधे समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने में ही होनी चाहिए। 1905 से पहले लेनिन और त्रात्स्की के बीच इस मुद्दे को लेकर जो अन्तर था वह प्रकट नहीं हुआ था। वास्तव में, लेनिन ने स्वयं 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था, हालाँकि उनके निहितार्थ बिल्कुल भिन्न थे। लेकिन जब 1905 में त्रात्स्की ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त को अपने तरीके से विनियोजित किया, तो फिर लेनिन त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को हमेशा उद्धरण चिन्हों के बीच रखने लगे और स्वयं वे इस शब्द के एक दूसरे अनुवाद 'सतत् क्रान्ति' (uninterrupted revolution) का इस्तेमाल करने लगे। त्रात्स्की वास्तव में क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त का एक **लासालवादी हस्तगतीकरण** करते हैं। लासाल ने कहा था कि मजदूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है और यूरोप में कोई भी क्रान्तिकारी संघर्ष सफल नहीं हो सकता अगर वह पहले दिन से ही समाजवादी संघर्ष नहीं है। कोस्तास मावराकिस ने ठीक ही कहा है कि **अगर पार्वस त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का पिता था, तो लासाल इसके पितामह थे!** त्रात्स्की और पार्वस ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त का एक लासालपंथी हस्तगतीकरण किया और बाद में त्रात्स्की ने इसे पूरी तरह मार्क्स पर ही थोप दिया। एक ही चोट में समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने का सिद्धान्त पेश करके त्रात्स्की एक "वामपंथी" दुस्साहसवादी प्रवृत्ति की बुनियाद तैयार करते हैं, जो कि अपनी अन्तर्वस्तु में दक्षिणपंथी अवसरवादी भी है। वास्तव में, "वामपंथी" और दक्षिणपंथी भटकाव हमेशा ही एक सिक्के के दो पहलुओं के रूप में प्रकट होते हैं और त्रात्स्कीपंथ के बारे में यह बात खास तौर पर लागू होती है।

जैसा कि हम पहले जिक्र कर चुके हैं, क्रान्ति की मंजिल, उसके सिद्धान्त और क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय को लेकर बोलशेविकों, मेशेविकों और त्रात्स्की के बीच में विवाद 1905

की क्रान्ति और उसके द्वारा खड़े किये गये प्रश्नों के बाद शुरू हुआ। लेनिन ने अपनी पूरी अवस्थिति 'जनवादी क्रान्ति के चरण में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक पुस्तिका में स्पष्ट की। लेनिन का मानना था कि 1905 में रूसी क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में थी। मेशेविकों का भी यही मानना था। लेकिन लेनिन ने मेशेविकों के इस विचार का खण्डन किया कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने का काम रूस में पूँजीपति वर्ग करेगा और सर्वहारा वर्ग को महज़ इसमें उसका सहयोग करना चाहिए। लेनिन का मानना था कि रूस में पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के रैडिकल उभार से भयाक्रान्त होकर प्रतिक्रियावाद के पक्ष में जा खड़ा हुआ है और वह किसी ज़ारशाही और सामन्तवाद के खिलाफ कोई खुली लड़ाई नहीं छेड़ेगा, बल्कि क्रमिक प्रक्रिया से पूँजीवादी रूपान्तरण का रास्ता चुनेगा। साथ ही, लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में किसी वर्ग का पिछलग्गू नहीं बनेगा, बल्कि क्रान्ति की अगुवाई के कार्य को स्वयं अपने हाथों में लेगा। जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए सर्वहारा वर्ग समूचे किसान वर्ग को अपने साथ लेगा और पहले सामन्तवाद और निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध एक अधिकतम सम्भव आमूलगामी जनवादी क्रान्ति को अंजाम देगा; यह क्रान्ति मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को स्थापित करेगी। इसके बाद, सर्वहारा वर्ग इसी मंज़िल पर रुकेगा नहीं और सतत् क्रान्ति करते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा; समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग गरीब किसानों और ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लेगा, मँझोले और उच्च मँझोले किसानों के दुलमुलपन को निष्प्रभावी/तटस्थ करेगा और समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर अमल करेगा। मेशेविकों का मानना था कि रूसी पूँजीपति वर्ग जब तक जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण नहीं करता, तब तक सर्वहारा वर्ग को उसका सहयोग व समर्थन करना चाहिए और तब तक अपने आर्थिक संघर्षों को ही लड़ना चाहिए। साथ ही, मेशेविकों का मानना था कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूर्ण हो जाने के बाद सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना होगा, अपने आर्थिक संघर्षों को लड़ना होगा, ट्रेड यूनियन संघर्ष करने होंगे और इस प्रक्रिया में समाजवादी क्रान्ति करने के लिए तैयार होना होगा; यानी, मेशेविक लेनिन से अलग यह मान रहे थे कि जनवादी क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवाद के लिए संघर्ष नहीं शुरू किया जायेगा और पहले मज़दूर वर्ग "पूँजीवाद की पाठशाला" में दीक्षित होगा। हम देख सकते हैं कि मेशेविज़्म में अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद की धाराएँ मिल गयी थीं। मेशेविक कुछ परिवर्तनों के साथ लगभग वही बात कह रहे थे जो पहले अर्थवादी और "कानूनी" मार्क्सवादी कहते रहे थे। इसलिए क्रान्ति की मंज़िल पर एक राय रखने के बावजूद बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच वर्ग संश्रय और क्रान्ति की रणनीति और आम कार्यनीति को लेकर गम्भीर अन्तर थे।

त्रात्स्की ने लेनिन के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि रूस में जो क्रान्ति होगी वह मज़दूर सरकार को स्थापित करेगी, जो कि त्रात्स्की के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का ही दूसरा नाम था। त्रात्स्की ने पूछा कि मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही में क्या सरकार में कई पार्टियों के बीच गठजोड़ होगा? क्या मज़दूर वर्ग की पार्टी अकेले सरकार में होगी? यदि वह अकेले सरकार में होगी, तो वह मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को कैसे स्थापित करेगी? त्रात्स्की ने इस बात का मज़ाक उड़ाया कि क्रान्ति की अगुवाई करते हुए उसे सम्पन्न करने के बाद मज़दूर वर्ग उस

सत्ता को छोड़ देगा या उसे अन्य ताकतों के साथ साझा कर लेगा। त्रात्स्की ने कहा कि लेनिन का सिद्धान्त एक 'पहेली' को अनसुलझा छोड़ देता है। त्रात्स्की के अनुसार किसान आबादी एक 'अज्ञात चर राशि' थी; और लेनिन की क्रान्ति की परियोजना में इस 'अज्ञात चर राशि' पर काफी-कुछ निर्भर करता है। **त्रात्स्की का अर्थ यह था कि किसान आबादी अपने आप में किसी सचेतन राजनीतिक अभिकरण को संगठित करने में असमर्थ है।** किसान जिस अनभिज्ञता या अचेतनता के साथ ज़ार के साथ जा सकते हैं, उसी अचेतना और अनभिज्ञता के साथ मज़दूरों द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा कर लिये जाने के बाद, वे मज़दूर सत्ता के पक्ष में चले जायेंगे। लेकिन क्रान्ति सम्पन्न करने में किसान आबादी पर निर्भर करना, त्रात्स्की के अनुसार, एक ऐसी शक्ति पर निर्भर करना था, जो अन्तिम समय में किसी भी ओर जा सकती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए त्रात्स्की ने आत्मगत रूप से तथ्यों का चयन किया और 1905 में पूरे रूस में उठ रही किसान विद्रोहों की लहर की उपेक्षा करते हुए कहा कि 1905 की मज़दूर क्रान्ति को किसानों की संगीनों द्वारा कुचला गया था। त्रात्स्की बाद में अक्टूबर 1917 और 1905 में सोवियतों की भूमिका के बीच एक अवैज्ञानिक तुलना करते हैं और कहते हैं कि अक्टूबर 1917 में रूस में जो कुछ हुआ उसने त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त को सही सिद्ध किया, क्योंकि अक्टूबर क्रान्ति ने किसी मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को स्थापित करने की बजाय सीधे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थापित किया। इसमें त्रात्स्की कई तथ्यों और ऐतिहासिक परिवर्तनों को लाँघ गये हैं, मिसाल के तौर पर **फरवरी 1917 में क्या हुआ था? 1905 की सोवियतों और 1917 की सोवियतों में क्या कोई फर्क नहीं था?** इससे पहले कि त्रात्स्की के सिद्धान्त पर चर्चा को आगे बढ़ायें, यह समझ लेना ज़रूरी है कि 1905 और 1917 में जो कुछ रूस में हुआ उसके बीच कोई सादृश्य निरूपण किया ही नहीं जा सकता है।

फरवरी 1917 में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति रैडिकल तरीके से अपनी पूर्णता तक नहीं पहुँच पायी। इसका कारण यह था कि सोवियतों में बोल्शेविकों से अधिक संख्या में मौजूद मेशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने स्वेच्छा से पहल बुर्जुआ ताकतों, विशेष तौर पर कैडेट पार्टी के हाथों में सौंप दी। जनता ने ज़ार को उखाड़ फेंका लेकिन उसके बाद मेशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के राजनीतिक प्रभाव के कारण आरज़ी सरकार को बनाने और संविधान सभा बुलाकर संविधान तैयार करने के कार्य को बुर्जुआ ताकतों के हाथों में सौंप दिया। नतीजतन, आरज़ी सरकार प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार के रूप में अस्तित्व में आयी। लेकिन इसके बावजूद सोवियतें निष्क्रिय नहीं हुईं और जनता की पहलकदमी सोवियतों के रूप में ज़िन्दा रही। सोवियतें मज़दूरों और किसानों की सत्ता की नुमाइन्दगी कर रही थीं। **लेनिन ने उस समय कहा कि मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही आंशिक रूप से अस्तित्व में आ चुकी है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति भी आंशिक रूप से सम्पन्न हुई है।** अब बुर्जुआ वर्ग इस जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जाने का तैयार नहीं था और न ही वह ले जा सकता था। साथ ही, युद्ध और भुखमरी ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जिसने समाजवादी क्रान्ति को एजेण्डे पर ला दिया है और अब समाजवादी क्रान्ति ही बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जा सकती है। लेनिन ने आर्थिक विश्लेषण के ज़रिये भी दिखलाया कि अगर अब रूस में समाजवादी क्रान्ति को एजेण्डे पर नहीं रखा गया तो रूस पूर्ण विनाश की ओर

बढ़ रहा है और अब समाजवादी क्रान्ति के अलावा कोई अन्य विकल्प बचा ही नहीं है। वास्तव में, जनवादी क्रान्ति के सबसे प्रमुख कार्यभार भूमि क्रान्ति को भी अब समाजवादी क्रान्ति के बिना नहीं पूरा किया जा सकता था। लेनिन ने दिखलाया कि अधिकांश भूस्वामियों की बड़ी जागीरें बैंकों को गिरवी रख दी गयी हैं; अगर भूमि पुनर्वितरण के कार्यक्रम को लागू करने के लिए कदम उठाये जाते हैं तो सीधा सामना बैंकों यानी कि वित्त पूँजी की ताकत से होगा। बैंकों का राष्ट्रीयकरण किये बिना अब भूमि सुधार सम्भव ही नहीं रह गया था। इसलिए युद्ध और आर्थिक आपदा ने एक ऐसा सन्धि-बिन्दु पैदा कर दिया था, जिसमें अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने का काम समाजवादी क्रान्ति द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता था। अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए यह अनिवार्य हो चुका था कि पूर्ण अर्थव्यवस्था को राज्य नियन्त्रण के तहत लाया जाय। मजदूरों की कारखाना समितियाँ पहले से ही कारखानों पर कब्जा कर रही थीं, साथ ही किसानों की भूमि समितियाँ जबरन ज़मीन दखल और पुनर्वितरण कर रही थीं। ये भूमि समितियाँ आरज़ी सरकार और समाजवादी-क्रान्तिकारियों की (जो कि इन भूमि-समितियों के नेतृत्व में थे!) की इन अपीलों को नज़रन्दाज़ कर रही थीं कि किसान पहले संविधान सभा के बैठने और फिर कानूनी तौर पर भूमि सुधार का इन्तज़ार करें। मजदूरों द्वारा कारखानों पर कब्जे पर भी आरज़ी सरकार कोई रोक नहीं लगा पा रही थी। यह स्थिति 1905 में नहीं थी। इसका कारण यह था कि उस समय न तो सैनिकों की सोवियतें मौजूद थीं और न ही जनता हथियार-बन्द थी। जबकि फरवरी 1917 के बाद आरज़ी सरकार जनता को निःशस्त्र भी नहीं कर सकी और न ही सैनिकों की सोवियतों पर नियन्त्रण स्थापित कर पायी। फरवरी 1917 के बाद 'द्वैध सत्ता' की जो स्थिति पैदा हुई थी उसका एक कारण सैनिकों की सोवियतों की मौजूदगी और मेहनतकश आबादी के विचारणीय हिस्से का सशस्त्र होना भी था। इसके बिना, 'द्वैध सत्ता' जैसी स्थिति पैदा हो ही नहीं सकती थी। स्थितियाँ जिस दिशा में विकसित हो रही थीं, लेनिन ने उनका एक यथार्थवादी विश्लेषण किया और बताया कि फरवरी 1917 की क्रान्ति ने बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों को आंशिक तौर पर पूरा किया और इसी समय युद्ध, अकाल और आर्थिक आपदा ने और साथ ही सोवियतों के रूप में एक दोहरी सत्ता की मौजूदगी ने एक विशिष्ट स्थिति में समाजवादी क्रान्ति की स्थिति पैदा कर दी। निश्चित तौर पर, इस रूप में बुर्जुआ क्रान्ति के पूर्ण हुए बगैर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश एक सामान्य व सार्वभौमिक नियम नहीं बनाया जा सकता, और न ही लेनिन ने ऐसा किया। उन्होंने स्पष्ट किया था कि युद्ध और दोहरी सत्ता वे दो मूल कारण थे, जिनके कारण रूस ने अपने आपको एक अपवादस्वरूप सम्भावना-सम्पन्न स्थिति में पाया। पहला कारण था युद्ध और सोवियतों के रूप में दोहरी सत्ता का उदय और साथ ही दूसरा ऐतिहासिक कारण था रूस में पहले से खेती में पूँजीवादी विकास का मौजूद होना। जब लेनिन कहते हैं कि जनता की जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के बाद सर्वहारा शक्तियों को बिना रुके समाजवादी क्रान्ति के कार्यभारों को हाथों में लेना चाहिए, तो यहाँ पर लेनिन दोनों क्रान्तियों के बीच के अन्तराल के बारे में कुछ भी नहीं बोल रहे थे। वह सिर्फ़ उस पुराने अर्थवादी तर्क का खण्डन कर रहे थे जो कि मेशेविक, अर्थवादी और "कानूनी" मार्क्सवादी पेश करते रहे थे, जिसके अनुसार, जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना चाहिए और आर्थिक संघर्षों की प्रक्रिया में मजदूर वर्ग एक दिन स्वतः समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार होगा। हम इस बात को इसलिए स्पष्ट कर रहे हैं कि क्रान्ति के सतत् होने

के लेनिन के तर्क को कई लोगों ने एक कालिकता (temporality) का तर्क बना दिया है, और इसमें बेतेलहाइम, मावराकिस जैसे तमाम “अति-माओवादी” सिद्धान्तकार भी शामिल हैं। लेनिन का तर्क स्पष्ट था: सर्वहारा शक्तियों को जनवादी क्रान्ति के दौरान अपने आपको स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करके उसे मुकम्मिल मुकाम तक पहुँचाना चाहिए और जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के तत्काल बाद ही समाजवादी क्रान्ति की राजनीतिक-सांगठनिक तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिए। अनुकूल स्थितियों में दोनों चरणों के बीच का अन्तराल बेहद कम हो सकता है; अपवादस्वरूप स्थितियों में दोनों चरणों के बीच एक निरन्तरता दिखलायी दे सकती है और ऐसा दृष्टि-भ्रम पैदा हो सकता है कि दोनों चरण “अन्तर्गुथित” हैं, जैसा कि बेतेलहाइम जैसे लोगों के साथ हुआ है। लेकिन किसी भी हालत में दोनों चरणों में वर्गों का संश्रय भिन्न होगा और क्रान्ति का सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम भिन्न होगा।

1905 में जब लेनिन ने मजदूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही का नारा दिया था, तो वह उस समय की परिस्थितियों के अनुसार बिल्कुल सटीक था और तत्कालीन वर्ग शक्ति सन्तुलन को सही रूप में प्रकट करता था। जब लेनिन अक्टूबर 1917 में मजदूर वर्ग की तानाशाही का नारा दिया तो वह उस समय की परिस्थितियों को सटीकता से प्रतिबिम्बित करता था। 1905 में सोवियतों का बनना और फिर 1917 से पहले उनका पुनर्जीवित होना दो अलग-अलग परिघटनाएँ थीं और लेनिन ने इस फर्क को समझा। दूसरी बात यह कि फरवरी क्रान्ति ने मजदूरों व किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को आंशिक तौर पर एक असलियत में तब्दील कर दिया था। इसलिए ‘अप्रैल थीसीज़’ में लेनिन सारी सत्ता सोवियतों को सौंपने की बात करते हैं, लेकिन अब वे यह बात बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में नहीं कर रहे थे, बल्कि समाजवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में बात कर रहे थे। अक्टूबर 1917 में जो समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई उसके सामने एक ओर समाजवाद की दिशा में कुछ शुरुआती कदम उठाने का कार्यभार था, तो वहीं बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों विशेष तौर पर भूमि सुधार को अंजाम देने का काम भी था। रूसी समाजवादी क्रान्ति के समक्ष जो जटिल प्रश्न इतिहास ने उपस्थित किये थे, उसका मूल कारण वे अपवादस्वरूप पैदा हुई परिस्थितियाँ थीं, जिनमें यह क्रान्ति सम्पन्न हुई थी। 1917 से लेकर 1920 और फिर 1921 से लेकर 1929 तक रूस में समाजवाद के निर्माण में मौजूद जटिलताएँ और विरोधाभास भी इसी कारण से थे। लेकिन समाजवाद के निर्माण के इस बेहद जटिल रास्ते के बावजूद रूस में लेनिन के क्रान्तिकारी यथार्थवाद और और फिर स्तालिन की दृढ़ता के बूते पर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में रूसी मजदूर वर्ग ने इस रास्ते को तय किया और स्तालिन की मृत्यु तक तमाम विच्युतियों के बावजूद मूल व मुख्य रूप में रूस में समाजवाद के निर्माण के काम को जारी रखा।

बहरहाल, त्रात्स्की 1905 और 1917 को अलग करते हैं और फिर उनके बीच एक मज़किया सादृश्य निरूपण कर देते हैं। वह 1905 और 1917 के बीच हुए परिवर्तनों और विशेष तौर पर फरवरी 1917 में हुए परिवर्तन को नज़रअन्दाज कर देते हैं। त्रात्स्की कहते हैं कि अक्टूबर क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और समाजवादी सरकार के स्थापित होने के साथ ही उनका ‘स्थायी क्रान्ति’ का सिद्धान्त सही साबित हो गया क्योंकि वह तो 1905 से ही कह रहे थे कि क्रान्ति के बाद मजदूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही नहीं

बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व अस्तित्व में आयेगा! लेकिन वह भूल गये कि 1905 में पहले से कोई मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही मौजूद नहीं थी, जबकि अक्टूबर 1917 में मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही आंशिक तौर पर स्थापित हो चुकी थी। त्रात्स्की अपनी बात को सही साबित करने के लिए लेनिन के मुँह में यह बात ठुँसने की कोशिश करते हैं कि लेनिन ने फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद स्थापित हुई बुर्जुआज़ी और भूस्वामियों की आरज़ी सरकार को मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का नाम दिया था, जबकि लेनिन ने सोवियत सत्ता को मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही का नाम दिया था! त्रात्स्की इस बात के लिए लेनिन पर हमला करते हैं और पूछते हैं कि प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामियों की आरज़ी सरकार में क्या जनवादी और क्रान्तिकारी है? स्पष्ट है कि त्रात्स्की अपनी बात को सही साबित करने के उन्माद में बहस की बुनियादी नैतिकता और आचार को भी भूल गये थे। इसका कारण त्रात्स्की के अपने अहंकार और व्यक्तिवाद में था, जिस पर हम बाद में आयेंगे। लेकिन इस बहस में त्रात्स्की की अवस्थिति की दरिद्रता को पहले ठीक से समझ लेना ज़रूरी है।

त्रात्स्की ने लेनिन से पूछा था कि मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही स्थापित होने पर सरकार में कौन-सी पार्टी/पार्टियाँ रहेंगी? अगर सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी सरकार में होगी तो फिर यह राज्य मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही क्यों होगा? यह सर्वहारा अधिनायकत्व क्यों नहीं होगा? स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है त्रात्स्की यहाँ कई धरातलों पर ग़लत हैं और यहाँ उनकी निगमनवादी पद्धति एकदम खुलकर सामने आ गयी है। इन प्रश्नों में कुछ ग़लत मान्यताएँ निहित हैं। पहली ग़लत मान्यता यह है कि सरकार का रूप और राज्य का चरित्र एक ही चीज़ होती हैं। दूसरी मान्यता यह है कि क्रान्ति का चरित्र सिर्फ़ इस बात से तय हो जाता है कि क्रान्ति का नेतृत्व कौन-सी पार्टी कर रही है और राज्य का चरित्र इस बात से तय हो जाता है कि कौन सी पार्टी के हाथ में सरकार है। यानी कि पार्टी सरकार का चरित्र तय करती है, सरकार राज्यसत्ता का चरित्र तय करती है, और राज्यसत्ता क्रान्ति का चरित्र तय करती है। यानी कि नेतृत्व के चरित्र से सबकुछ निगमित (deduce) कर दिया जाता है। लेनिन का जवाब था कि यह प्रश्न ही ग़लत है कि सरकार में कौन-सी पार्टी होंगी क्योंकि क्रान्ति के पहले इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता है। लेनिन मानते थे कि जनता की जनवादी क्रान्ति के बाद केवल कम्युनिस्ट पार्टी भी सत्ता में हो सकती है, या फिर कम्युनिस्ट पार्टी व अन्य जनवादी पार्टियों का गठबन्धन सरकार में हो सकता है, जिसमें कि नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में हो। लेकिन सिर्फ़ इसी बात से पूरी क्रान्ति का चरित्र नहीं तय हो जाता। क्रान्ति का चरित्र इस बात से तय होता है कि क्रान्ति किन वर्गों की सत्ता के खिलाफ़ है और कौन-से वर्ग क्रान्ति के मित्र वर्ग हैं; क्रान्ति का कार्यक्रम इसी से निर्धारित होता है, और इसलिए क्रान्ति का चरित्र निर्धारण महज़ क्रान्तिकारी आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति और सरकार में मौजूद पार्टी से नहीं किया जा सकता है, बल्कि यह क्रान्ति के वर्ग संश्रय और कार्यक्रम से तय किया जा सकता है। इसलिए निगमनवादी पद्धति पर अमल करने वाले त्रात्स्की के लिए यह समझना मुश्किल था कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति भी हो सकती है, क्योंकि उनके लिए क्रान्ति का चरित्र समाज में वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के स्तर से नहीं तय होता, न ही यह क्रान्ति के शत्रु व मित्र वर्गों से तय होता है

और न ही क्रान्ति के कार्यक्रम से! त्रात्स्की के लिए बस यह पूछना पर्याप्त है कि कौन-सी पार्टी क्रान्ति के नेतृत्व में थी।

लेनिन इस सवाल पर बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका मानना था कि मजदूरों और किसानों की संयुक्त तानाशाही में नेतृत्व मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी के हाथों में ही होगा। लेकिन अगर सरकार में कम्युनिस्ट पार्टी अकेले भी होती है, तो वह तत्काल समाजवादी कार्यक्रम लागू नहीं कर सकती है। वह औद्योगिक क्षेत्र और कृषि क्षेत्र दोनों में ही पहले पार्टी का 'न्यूनतम कार्यक्रम' (जनवादी कार्यक्रम) ही लागू कर सकती है। वह सबसे पहले बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को सर्वाधिक आमूलगामी और क्रान्तिकारी ढंग से लागू करेगी। लेनिन ने इस पूरे कार्य में किसानों व टुटपुँजिया वर्गों की रैडिकल निम्न पूँजीवादी पार्टियों के साथ सहकार की सम्भावना को भी इस मंज़िल में खारिज नहीं किया है। यही कारण था कि लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भूमि कार्यक्रम का जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में समर्थन किया और कहा कि इस कार्यक्रम के साथ एकमात्र समस्या यह है कि इसे समाजवादी-क्रान्तिकारी समाजवादी भूमि कार्यक्रम मानते हैं जबकि भूमि के राष्ट्रीयकरण व समान पुनर्वितरण का यह कार्यक्रम एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम के दायरे से आगे नहीं जाता है। लेकिन जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में यह कार्यक्रम सही था और बोलशेविकों ने इसका समर्थन किया। यह बात दीगर है कि बोलशेविक क्रान्ति की विशिष्टता के कारण समाजवादी क्रान्ति के बाद भी सर्वहारा सत्ता को पहले यही कार्यक्रम लागू करना पड़ा, क्योंकि बुर्जुआ वर्ग भूमि क्रान्ति के कार्यभार को अंजाम देने में अक्षम सिद्ध हुआ और इसी बीच युद्ध और अकाल की अपवादस्वरूप स्थितियों ने समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तैयार कर दी। लेनिन मानते थे कि यह जनवादी क्रान्ति के बाद की वास्तविक परिस्थितियाँ तय करेंगी कि सरकार में केवल कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद होगी या फिर कम्युनिस्ट पार्टी उसमें कुछ रैडिकल निम्न बुर्जुआ व किसान पार्टियों को भी आमन्त्रित करेगी। अगर फरवरी 1917 में सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश वर्ग पहल को अपने हाथों से बुर्जुआ वर्ग के हाथों में नहीं सौंपते, अगर बोलशेविक पार्टी उस क्रान्ति को नेतृत्व देने और फिर आरज़ी सरकार बनाने की स्थिति में होती और फिर बोलशेविक पार्टी अकेले या फिर कुछ अन्य पार्टियों के साथ मिलकर आरज़ी सरकार बनाती, तो राज्य सत्ता वास्तव में मजदूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही होती और तत्काल समाजवादी कार्यक्रम नहीं लागू किया जाता, बल्कि एक क्रान्तिकारी आमूलगामी जनवादी कार्यक्रम ही लागू किया जाता। लेकिन ऐसा हो नहीं सका, और रूस में फरवरी की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति पूर्णता तक पहुँच ही नहीं पायी। फरवरी के बाद जो विशिष्ट स्थिति रूस में पैदा हुई, उसमें बुर्जुआ क्रान्ति के पूर्णता तक पहुँचने के लिए समाजवादी क्रान्ति का होना अनिवार्य हो गया। इसलिए अक्टूबर क्रान्ति को बुर्जुआ क्रान्ति के कई केन्द्रीय और अहम कार्यभारों को भी पूरा करना पड़ा। इसी वजह से काऊत्स्की ने रूसी क्रान्ति और बोलशेविक पार्टी की आलोचना करते हुए यह आरोप लगाया कि वास्तव में बोलशेविक क्रान्ति एक जनवादी क्रान्ति ही है। लेकिन लेनिन इस विषय में स्पष्ट थे। उनका मानना था कि निश्चित तौर पर बोलशेविक क्रान्ति ने एक रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम लागू किया। लेकिन साथ ही यह भी सच था कि समाजवादी मजदूर सत्ता पहले दिन से ही समाजवादी रूपान्तरण की मंशा के साथ काम कर रही थी, जिसके तहत क्रान्ति के तुरन्त बाद ही कुछ मॉडल राज्य फार्म और सामूहिक व सहकारी फार्म भी स्थापित किये गये। यह बात

सच है कि उनका हिस्सा कुल खेती में मात्र 5 प्रतिशत के करीब था। लेकिन यहाँ समाजवादी खेती के रूपों की मात्रा या परिमाण प्रमुख नहीं है। मात्रा कुछ भी हो यह राज्यसत्ता की मंशा और चरित्र को ज़ाहिर करता था और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के निषेध की शुरुआत को दिखलाता था। वास्तव में, भारत व कई अन्य देशों में दास प्रथा के उत्पादन की कार्रवाइयों में प्राचीन यूनान या रोम के पैमाने पर इस्तेमाल न होने के कारण कई अध्येताओं ने यह दावा किया था कि भारत में दास प्रथा कभी थी ही नहीं; इस तर्क पर डी.डी. कोसाम्बी द्वारा दिया गया उत्तर गौरतलब है। कोसाम्बी ने कहा कि दास श्रम का किसी भी पैमाने पर उपयोग वास्तव में सामुदायिक उत्पादन पद्धति के विघटित होने का लक्षण था और इस रूप में दास श्रम का परिमाण उतना महत्व नहीं रखता जितना कि यह तथ्य की दास श्रम का इस्तेमाल उत्पादक व अनुत्पादक, दोनों ही कार्रवाइयों में शुरू किया जा चुका था। यह तर्क इतिहास की तथ्यवादी, परिमाणात्मक और नियतत्ववादी व्याख्या का खण्डन है और इस तर्क को हम आम तौर पर सामाजिक संरचनाओं और राजनीतिक सत्ताओं के विश्लेषण में लागू कर सकते हैं। क्रान्ति के बाद के रूस में स्थापित सामाजिक संरचना और राजनीतिक सत्ता के विषय में दूसरी बात यह भी थी कि किसान आबादी आर्थिक तौर पर समाजवादी रूपान्तरण के लिए तैयार थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर नहीं। किसान आबादी के बीच बोल्शेविक पार्टी की पहुँच समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की तुलना में बेहद कम थी और किसानों की राजनीतिक चेतना काफ़ी हद तक समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम तक ही पहुँची थी। खेती के सामूहिकीकरण तक पहुँचने की रूस की प्रक्रिया बेहद उतार-चढ़ाव और जटिलता से भरी रही, जिस पर हम आगे के अध्यायों में चर्चा करेंगे। लेकिन यहाँ यह समझ लेना महत्वपूर्ण है कि रूस में यदि फरवरी 1917 में ही बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होती तो फिर समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस को जितनी समस्याओं का सामना खेती के समाजवादी रूपान्तरण में करना पड़ा, शायद उतनी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता।

1904 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने स्पष्ट किया था कि जनवादी क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में सामाजिक-जनवादियों को शामिल होना चाहिए। लेनिन इस बात को समझ रहे थे कि जनवादी क्रान्ति रूस में कई रूपों में सम्पन्न हो सकती है और पहले से इस बात के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है कि आरज़ी सरकार किस प्रकार की होगी। लेकिन लेनिन यह भी समझते थे कि अगर सर्वहारा नेतृत्व जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होती है तो फिर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में सतत् प्रक्रिया में प्रवेश ज़्यादा सहज होगा। साथ ही, इस सतत् प्रक्रिया के बारे में लेनिन इसलिए भी आशान्वित थे क्योंकि रूस में खेती में पूँजीवादी विकास पहले ही प्रशियाई पथ से काफ़ी आगे बढ़ चुका था और किसानों का विभेदीकरण भी काफ़ी उन्नत स्तर पर पहुँच चुका था। त्रात्स्की ने लेनिन के क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में शामिल होने के प्रस्ताव का विरोध किया था और कहा था कि सामाजिक-जनवादी किसी भी ऐसी सरकार का अंग नहीं बनेंगे जो कि शुरू से ही समाजवादी कार्यक्रम पर अमल न करे। त्रात्स्की ने साथ ही यह भी कहा कि ऐसी किसी भी सरकार में शामिल होना मज़दूर वर्ग के साथ और समाजवाद के लक्ष्य के साथ ग़द्दारी होगी। त्रात्स्की का मानना था कि कोई भी मज़दूर सरकार अगर आज के दौर में अपना न्यूनतम कार्यक्रम भी लागू करना चाहेगी तो उसे अन्ततः समाजवादी कार्यक्रम ही लागू करना पड़ेगा। इसके लिए उन्होंने आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग का उदाहरण दिया और कहा कि अगर मज़दूरों व किसानों की

जनवादी तानाशाही न्यूनतम कार्यक्रम के तहत आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग को लागू करने की कोशिश करेगी तो उसे पूँजीपतियों के कठोर विरोध का सामना करना पड़ेगा और अन्ततः इसका समाधान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से होगा, जो कि वास्तव में समाजवादी कार्यक्रम होगा। लेकिन यहाँ पर त्रात्स्की समाजवाद के पैमाने को ही ग़लत तौर पर पेश कर रहे हैं। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अपने आप में समाजवादी अर्थव्यवस्था का लक्षण नहीं है। वास्तव में, कई कल्याणकारी और युद्ध-निर्देशित अर्थव्यवस्थाओं ने उस समय भी उद्योगों का बड़े पैमाने का राष्ट्रीयकरण किया था। और आज तक का इतिहास तो साफ़ तौर पर इस बात को दिखलाता है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अपने आप में पूँजीवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता है। इस तरह त्रात्स्की का आरज़ी सरकार में शामिल न होने के बारे में यह तर्क था कि कम्युनिस्ट केवल सर्वहारा अधिनायकत्व वाली सरकार में ही प्रवेश करेंगे। त्रात्स्की का कहना था कि क्रान्ति के बाद जो आरज़ी क्रान्तिकारी सरकार बनती है, अगर उसमें कम्युनिस्ट बहुमत में नहीं हैं तो वे समाजवादी कार्यक्रम लागू नहीं कर पायेंगे और फिर अन्ततः मज़दूर वर्ग के हितों के साथ धोखा करेंगे; इसलिए जनता की जनवादी तानाशाही जैसी कोई चीज़ हर सूरत में प्रतिक्रियावादी होगी! और अगर कम्युनिस्ट ऐसी आरज़ी सरकार में बहुमत में होंगे तो फिर वह सरकार सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही होगी और वह जनवादी कार्यभारों को पूरा करने पर रुक ही नहीं पायेगी क्योंकि ज्यों ही ऐसी सरकार जनवादी कार्यभारों को लागू करने का प्रयास करेगी, वैसे ही पूँजीपतियों के विरोध के कारण उसे राष्ट्रीयकरण की समाजवादी नीति लागू करनी पड़ेगी, क्योंकि त्रात्स्की के लिए राष्ट्रीयकरण अपने आपमें समाजवादी व्यवस्था का प्रतीक था।

अब किसानों के बारे में त्रात्स्की के दृष्कोण पर भी थोड़ी चर्चा ज़रूरी है। **त्रात्स्की का किसानों के बारे में नज़रिया भी एकदम अयथार्थवादी था।** त्रात्स्की का मानना था कि किसान मज़दूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्ज़े के बाद स्वयं ही सर्वहारा सत्ता के पक्ष में आ जायेंगे। लेकिन क्रान्ति की प्रक्रिया में किसानों की कोई सचेतन भागीदारी नहीं हो सकती। उनके विद्रोह वस्तुगत तौर पर सर्वहारा क्रान्ति को मदद पहुँचा सकते हैं क्योंकि वे सत्ता को कमज़ोर करेंगे, लेकिन किसान सचेतन तौर पर किसी राजनीतिक लक्ष्य के लिए संगठित नहीं हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में किसानों के पास कोई स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण (एजेंसी) नहीं होती है। इसीलिए, त्रात्स्की के अनुसार, किसानों का कारक एक 'अज्ञात चर राशि' है, जिस पर क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए निर्भर नहीं रहा जा सकता है। मज़दूर वर्ग अपनी पार्टी के बूते सत्ता स्थापित करेगा और सीधे समाजवाद का निर्माण शुरू करेगा, और किसान बाद में उसी अचेतनता के साथ सर्वहारा सत्ता के पक्ष में आ जायेंगे जिस अचेतनता के साथ वे ज़ारशाही के पक्ष में चले जाते थे! लेनिन इस प्रश्न पर त्रात्स्की से बिल्कुल अलग राय रखते थे। लेनिन का मानना था कि रूस में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए समूची किसान आबादी और फिर समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए ग़रीब व निम्न मध्यम किसान व ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा आबादी को पहले से ही सर्वहारा नेतृत्व के तहत संगठित करना अनिवार्य है और इसके बिना रूस में न तो जनवादी क्रान्ति सम्भव है और न ही समाजवादी क्रान्ति। यह सच है कि किसान वर्ग प्रकृति से पश्चद्रष्टा (millenarian) वर्ग होता है और यह भी सच है कि किसान आबादी यदि किसी पार्टी के तहत सचेतन तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित हो भी जाये, तो उसके पास चुनने के लिए या तो पूँजीवाद होता है या फिर समाजवाद और वे

अपना कोई 'किसान विकल्प' नहीं पेश कर सकती। लेकिन ठीक इसीलिए किसान आबादी को संगठित करना सर्वहारा क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए अनिवार्य है, क्योंकि यदि वे उन्हें अपने राजनीतिक वर्चस्व के तहत नहीं लेंगी तो फिर अन्ततः बुर्जुआ राजनीतिक वर्चस्व के तहत जायेंगी और फिर उनकी भूमिका प्रतिक्रान्तिकारी ही बनेगी। त्रात्स्की किसानों के प्रति अपने दृष्टिकोण को सही साबित करने के लिए भी मार्क्स से वैधता प्राप्त करने की कोशिश करते थे, लेकिन सही बात यह थी कि मार्क्स व एंगेल्स दोनों ही इस बात को समझते थे कि जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता था कि सर्वहारा क्रान्ति को किसान युद्धों के दूसरे संस्करण से मदद मिलेगी या नहीं। मार्क्स ने जर्मनी और फ्रांस में फरवरी क्रान्ति की असफलता के बाद एंगेल्स को एक पत्र में लिखा, "जर्मनी में पूरी बात अब इस पर निर्भर करेगी कि सर्वहारा क्रान्ति को किसान युद्धों के किसी दूसरे संस्करण से समर्थन पहुँचाना सम्भव है या नहीं।" (मार्क्स-एंगेल्स, "मैनचेस्टर में एंगेल्स को मार्क्स का पत्र", संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-40, 1983, मॉस्को, पृ. 37, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा) लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन के इसी सिरे को आगे बढ़ाया और कहा कि जनवादी क्रान्ति के लिए समूची किसान आबादी की सर्वहारा नेतृत्व के तहत क्रान्तिकारी आन्दोलन में भागीदारी और समाजवादी क्रान्ति के लिए गरीब किसानों और अर्द्धसर्वहारा वर्ग की सर्वहारा नेतृत्व के तहत क्रान्तिकारी आन्दोलन में भागीदारी अनिवार्य है। यह इन क्रान्तियों की पूर्वशर्त है। त्रात्स्की यहाँ पर एक हिरावलपंथी अवस्थिति अपनाते हैं। 'स्थायी क्रान्ति' के त्रात्स्की के सिद्धान्त के अनुसार मजदूर वर्ग अपनी पार्टी के नेतृत्व में पहले सत्ता पर कब्जा कर लेगा और तत्काल समाजवादी कार्यक्रम को लागू करना शुरू कर देगा और उसके बाद किसान आबादी समाजवादी सत्ता के पक्ष में आ जायेगी। स्पष्ट तौर पर, त्रात्स्की बदलते ऐतिहासिक युगों में कुल मिलाकर किसानों की भूमिका और अलग-अलग वर्गों के किसानों की भूमिका के विषय में कोई समझ नहीं रखते हैं। उनके लिए किसान आबादी एक एकाशमी आबादी है जो किसी भी राजनीतिक अभिकरण से वंचित है। यहाँ पर त्रात्स्की अपने श्रेष्ठ लासालवादी रूप में हैं; उनके अनुसार मजदूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है और किसी भी आन्दोलन को आज के समय में यदि क्रान्तिकारी होना है तो उसे शुरू से ही समाजवादी होना होगा। त्रात्स्की कहते हैं कि 'जो अधिकतम प्राप्त कर सकता है, वह न्यूनतम भी प्राप्त कर सकता है।' यानी, जो समाजवादी क्रान्ति कर सकता है, वह जनवादी क्रान्ति को स्वतः ही सम्पन्न कर देगा! दूसरे शब्दों में, जनवादी और समाजवादी क्रान्ति एक ही चोट में सम्पन्न की जायेगी और यह कार्य मजदूर वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में करेगा; किसान विद्रोहों की एक वस्तुगत सहायक कारक की भूमिका बन सकती है, लेकिन किसानों की कोई सचेतन राजनीतिक हिस्सेदारी नहीं होगी। इस एक चोट में सम्पन्न क्रान्ति के बाद सीधे मजदूर सरकार (जो कि त्रात्स्की के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व का पर्यायवाची है) अस्तित्व में आयेगी और सीधे समाजवादी रूपान्तरण के कार्यों को हाथों में लेगी। त्रात्स्की ने किसानों के साथ संश्रय और फिर मजदूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को सर्वहारा वर्ग द्वारा "आत्म-सीमाबद्धीकरण" (self-limitation) करार दिया। मजदूर सरकार स्थापित होने के बाद त्रात्स्की के अनुसार किसानों को कोई भी रियायत या छूट नहीं दी जानी चाहिए और समाजवादी कार्यक्रम पर तत्काल अमल किया जाना चाहिए।

ऐसा नहीं कि त्रात्स्की जनवादी कार्यभारों या माँगों की चर्चा नहीं करते। वे

कहीं-कहीं जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों की बात करते हैं, लेकिन उनके लिए जनवादी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति के शुरुआती दिनों से ज़्यादा कुछ भी नहीं है; त्रात्स्की के अनुसार जनवादी माँगों का महज़ एक “उद्वेलनात्मक चरित्र” (agitational character) होता है जिनका सामाजिक-जनवादियों को व्यापक जनसमुदायों का समर्थन जीतने के लिए इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन त्रात्स्की के लिए इस “जनवादी दौर” का ज़्यादा कोई अर्थ नहीं है कि क्योंकि इससे क्रान्ति के वर्ग चरित्र और सामाजिक अन्तर्वस्तु पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा, जो कि राज्यसत्ता पर काबिज़ और आन्दोलन की अगुवाई करने वाली पार्टी के चरित्र से निर्धारित हो जाता है। त्रात्स्की के लिए इतना ही जानना पर्याप्त था कि मज़दूर वर्ग की पार्टी आन्दोलन की अगुवाई में है या नहीं और क्रान्ति के बाद मज़दूर सरकार बनायी जाती है या नहीं। अगर ऐसा होता है तो वह समाजवादी क्रान्ति है और अगर ऐसा नहीं है तो त्रात्स्की के मुताबिक मज़दूर वर्ग के साथ गद्दारी की जा रही है! त्रात्स्की के दिमाग में कभी यह बात नहीं आयी कि यदि किसी देश में व्यापक जनसमुदाय जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए ही तैयार है और बुर्जुआ वर्ग समझौतापरस्त हो चुका है या प्रतिक्रियावादी हो चुका है और वह जनवादी कार्यभारों को पूरा करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखता तो सर्वहारा वर्ग को ही जनता की जनवादी क्रान्ति में भी जनता की अगुवाई करनी पड़ेगी, और इस चरण के कार्यभारों को पूरा करने के बाद समाजवादी क्रान्ति की तैयारियाँ करनी होंगी। त्रात्स्की इस बात को मान्यता नहीं देते थे कि किसी भी क्रान्ति का चरित्र उस क्रान्ति के कार्यक्रम से तय होगा, जो कि स्वयं वर्ग संघर्ष के स्तर से निर्धारित होता है। उनके लिए आन्दोलन के नेतृत्व और फिर सरकार का रूप राज्यसत्ता और क्रान्ति के चरित्र को निर्णायक रूप से निर्धारित कर देता है।

त्रात्स्की ने लेनिन के संयुक्त जनवादी तानाशाही के सिद्धान्त के बारे में कहा कि यह नाम सिर्फ़ व्यापक किसान आबादी के समर्थन के साथ खड़े सर्वहारा अधिनायकत्व को ही दिया जा सकता है। लेकिन ऐसा सूत्रीकरण दो चरणों के बीच की विभाजक रेखा और उन दो चरणों के वर्ग संश्रयों के बीच के फर्क को मिटा देता है। साथ ही, इस किस्म का सूत्रीकरण वास्तव में हर शब्द को अर्थ से रिक्त बना देता है; मिसाल के तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व के विशिष्ट अर्थ हैं, और त्रात्स्की की समझदारी से चलें तो ये विशिष्ट अर्थ समाप्त हो जाते हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व एक सामान्य अवधारणा बन जाती है, जिसका अर्थ महज़ मज़दूर सरकार है! अक्टूबर क्रान्ति के बाद एक बार लेनिन ने ग़लती से सोवियत सत्ता को मज़दूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही का नाम दे दिया था। लेकिन बुखारिन द्वारा इस सूत्रीकरण पर आपत्ति के बाद अपने एक लेख ‘पार्टी का संकट’ में लेनिन ने इस ग़लती को दुरुस्त कर लिया था और स्पष्ट किया था कि उनका मक़सद यह स्पष्ट करना था कि सोवियत सत्ता स्थापित होने के बाद इसका टिके रहना इस बात पर निर्भर करता है कि अभी लम्बे समय तक इसे व्यापक किसान आबादी (ग़रीब व मँझोले किसान) का समर्थन प्राप्त होता है या नहीं। सोवियत सत्ता एक ऐसा सर्वहारा अधिनायकत्व है जो कि मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित है। यह सारी बातें ‘नयी आर्थिक नीतियाँ’ लागू होने के पहले लेनिन ने कही थीं, जब ‘युद्ध कम्युनिज़्म’ का दौर समाप्त हुआ था, मज़दूर-किसान संश्रय टूटने की कगार पर था, और पार्टी के सामने यह चुनौती थी कि सर्वहारा सत्ता की हिफ़ाज़त करने के लिए मज़दूर-किसान संश्रय को सुदृढ़ कैसे किया जाय। इसी के लिए लेनिन ने कुछ समय के लिए ‘रणनीतिक तौर पर

कदम पीछे हटाने' की बात की थी और कहा था कि कुछ समय के लिए नियन्त्रित तौर पर मँझोले और ऊपरी मँझोले किसानों तथा व्यापारियों को कुछ खुला हाथ देना होगा, और इस बीच पार्टी को विशेष तौर पर गरीब और उन मँझोले किसानों के बीच अपने आधार को मजबूत करना होगा जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते, ताकि आगे सामूहिकीकरण की ज़मीन तैयार की जा सके। इसके लिए मँझोले किसानों को साथ लेने और उनके बड़े हिस्से को समाजवाद पर राज़ी करने पर लेनिन ने काफ़ी जोर दिया। अगर उस दौर के कुछ लेखों को अलग से उद्धृत किया जाय तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लेनिन समूची मँझोली किसानी को समाजवाद पर राज़ी करने की बात कर रहे हैं। लेकिन लेनिन के उतने ही लेख और अन्य सन्दर्भ मिल जायेंगे, जिसमें लेनिन ने मँझोली किसानी के दोहरे चरित्र की चर्चा की है और स्पष्ट किया है कि मँझोले किसानों में उजरती श्रम का शोषण करके मुनाफ़ा कमाने वाला और जमाखोरी करने वाला सर्वहारा सत्ता का दुश्मन है। दरअसल, लेनिन उस समय पार्टी के भीतर 'नई आर्थिक नीतियों' के प्रश्न पर लड़ रहे थे। "वामपंथी" कम्युनिस्ट विरोध पक्ष इन नीतियों को पूँजीवाद की ओर वापसी करार दे रहा था और यह प्रचार कर रहा था कि 'युद्ध कम्युनिज़्म' अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों की नीतियाँ नहीं थीं, बल्कि वे ही सही कम्युनिस्ट नीतियाँ थीं! कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि अगर कुछ और वर्षों तक 'युद्ध कम्युनिज़्म' की नीतियाँ लागू की जायें तो कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल में प्रवेश किया जा सकता है! उस समय शुरुआत में त्रात्स्की भी इस "वामपंथी" भटकाव के साथ खड़े थे, जिसका नेतृत्व बुखारिन, ओसिंस्की आदि जैसे लोग कर रहे थे। इसलिए एक दूसरे सन्दर्भ में अर्थवादियों व गैर-पार्टी क्रान्तिवादियों के विरुद्ध लेनिन द्वारा ही दिये गये रूपक को उधार लेकर कहा जा सकता है कि "वामपंथी" कम्युनिस्टों ने छड़ी को एक ओर मोड़ दिया था, और उसे सीधा करने के लिए लेनिन को उसे दूसरी ओर मोड़ना पड़ा। लेकिन बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे लोग इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ की चर्चा किये बगैर लेनिन का "अति-माओवादी" हस्तगतीकरण करते हैं और दावा करते हैं कि लेनिन ने भी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में समूची मँझोली किसानी को साथ लेने का नारा दिया था और फिर इसकी तुलना माओ के लेख 'जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से लागू करने के बारे में' के उस तर्क से करते हैं जिसके अनुसार समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी मित्र वर्ग होगा, जिसे समझा-बुझाकर या "बदलने पर बाध्य करके" समाजवाद के पक्ष में खड़ा किया जा सकता है। वास्तव में, यह माओ की एक चूक थी, जिसे व्यवहारतः माओ ने दुरुस्त भी कर लिया था। लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को "बदलने पर बाध्य" करने की ही बात की गयी थी। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि किसी शत्रु वर्ग के कुछ निश्चित व्यक्तियों को बदला जा सकता है या "बदलने पर बाध्य" किया जा सकता है; लेकिन समूचे वर्ग को हम "बदलने पर बाध्य" नहीं कर सकते। यह बात वर्ग संघर्ष के नियम का निषेध करती है। माओ और चीनी पार्टी की इस चूक के कारण बेतेलहाइम व मावराकिस जैसे लोगों को समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को विकृत करने और उसका हेगेलीय भाववादी हस्तगतीकरण करने का मौका मिला। लेकिन माओ ने तमाम जगहों पर ऐसी बात भी कही है कि मँझोले किसान वर्ग का एक छोटा हिस्सा ही समाजवादी क्रान्ति के पक्ष में खड़ा होगा; 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में तो माओ यहाँ तक कहते हैं कि

जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी निम्न मँझोली किसानों पर ही कम्युनिस्ट पार्टी को निर्भर करना चाहिए और वे स्तालिन की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उनके दौर के सोवियत लेखन में मँझोले किसानों को एक एकाग्र वर्ग के तौर पर पेश किया गया है। लेकिन टुकड़ों-टुकड़ों में पेश किये गये सही सूत्रीकरण के बावजूद अधिकांश पार्टी दस्तावेजों और महत्वपूर्ण लेखन में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के प्रति समाजवाद के दौर में पार्टी के रवैये को लेकर ज़्यादातर एक ग़लत और ग़ैर-लेनिनवादी अवस्थिति प्रकट हुई है। फिलहाल, हम चीनी समाजवाद के प्रयोग के सकारात्मकों व नकारात्मकों के विषय में विस्तृत चर्चा नहीं कर सकते हैं इसलिए त्रात्स्की के सिद्धान्त की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

त्रात्स्की ने 1905 में लेनिन के चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त का खुले तौर पर विरोध किया और इसे सर्वहारा वर्ग के साथ ग़द्दारी तक करार दिया। एक जगह त्रात्स्की लेनिन को रूसी बुर्जुआ वर्ग के “वामपंथी” धड़े का नेता बनने का प्रयास करने वाला जैकोबिन कहते हैं; एक अन्य जगह त्रात्स्की लेनिन को रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के प्रतिक्रियावादी धड़े का नेता बताते हैं; लेकिन क्रान्ति के ठीक पहले बोल्शेविकों के साथ आने के बाद त्रात्स्की चोर-दरवाज़े से अपने ‘स्थायी क्रान्ति’ के सिद्धान्त और लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त की अपनी आलोचना में कुछ परिवर्तन करते हैं। 1917 में त्रात्स्की लिखते हैं कि लेनिन का संयुक्त जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त एक आरज़ी परिकल्पना (provisional hypothesis) थी, जो कुछ समय के लिए सही थी, जिसका महान ऐतिहासिक मूल्य था। लेकिन त्रात्स्की के अनुसार 1905 और फिर 1917 के अनुभवों ने इस परिकल्पना का अनुमोदन नहीं किया। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि त्रात्स्की किस प्रकार 1905 और अक्टूबर 1917 के बीच एक बेतुके किस्म का सादृश्य निरूपण करते हैं, ताकि वे अपने ‘स्थायी क्रान्ति’ के सिद्धान्त को सही सिद्ध कर सकें। फिर त्रात्स्की ने कहा कि लेनिन के मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को ही दूसरे अर्थों में पेश करता है। लेकिन यहाँ त्रात्स्की लेनिन के साथ सीधा संघर्ष करने का साहस खो चुके हैं और अब अपने आप को सही सिद्ध करने और क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त को ग़लत सिद्ध करने के लिए लेनिन के साथ ‘शैडो-बॉक्सिंग’ कर रहे हैं। यहाँ उनका मक़सद दोस्ताना शब्दों में अपने क्रान्ति के सिद्धान्त को सही बताना और लेनिनवादी सिद्धान्त को ग़लत बताना है और यह सिद्ध करना है कि ‘अप्रैल थीसीज़’ में लेनिन चुपके से त्रात्स्कीपंथी बन गये थे! वास्तव में, कई त्रात्स्कीपंथी जैसे कि अर्नेस्ट मैण्डेल व इज़ाक डॉइशर यह मानते हैं कि अक्टूबर में लेनिन से बेहतर कोई त्रात्स्कीपंथी नहीं था! लेकिन इन कपोल-कल्पनाओं और खुद को खुश करने के ख़्यालों के बरक्स सच्चाई कुछ और ही थी।

त्रात्स्की यहाँ मज़दूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही और सर्वहारा अधिनायकत्व के बीच के अन्तर को धुंधला कर रहे हैं ताकि वे जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के चरणों के बीच की विभाजक रेखा को मिटा सकें और यह सिद्ध कर सकें कि आज के युग में समाजवादी क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्रान्ति की बात करना सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाना है। लेकिन वास्तव में लेनिन का सिद्धान्त ठीक यही था कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू नहीं बनना चाहिए और ठीक इसीलिए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग को अपने आपको एक स्वतन्त्र राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में संगठित करना चाहिए। लेनिन का सिद्धान्त वास्तव

में जनवादी क्रान्ति को सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक नेतृत्व में सबसे क्रान्तिकारी और आमूलगामी सीमाओं तक ले जाने और फिर वहाँ से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश करने का सिद्धान्त था। उल्टे त्रात्स्की के सिद्धान्त के बारे में यह ज़रूर कहा जा सकता है कि वह सर्वहारा वर्ग के हिरावलपंथी नेतृत्व का दावा करते हुए वास्तव में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाता है। इसका कारण यह है कि त्रात्स्की या तो हर क्रान्तिकारी आन्दोलन को समाजवादी मानते थे या फिर उस क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रतिक्रियावादी करार देकर सर्वहारा वर्ग को उससे अलग रहने की नसीहत देते थे; यानी अगर कोई आन्दोलन बुर्जुआ जनवादी दायरों की माँग उठाता था तो त्रात्स्की उसे भी समाजवादी ही करार देते थे, और इस प्रकार बुर्जुआ लक्ष्यों को ही समाजवादी लक्ष्यों की संज्ञा देते हुए वही काम करते थे, जो कि संशोधनवादी और दक्षिणपंथी अवसरवादी करते हैं; या फिर वह उसे प्रतिक्रियावादी करार देकर सर्वहारा वर्ग को उससे अलग रहने की सलाह देते, जिस सूरत में, बुर्जुआ वर्ग को अपने आपको जनवादी अधिकारों का सबसे बड़ा हिमायती और नायक के रूप में पेश करने का मौका मिलता और सर्वहारा वर्ग राजनीति के मंच पर दरकिनार कर दिया जाता।

चूँकि संशोधनवादी भी कोई समाजवादी संघर्ष खड़ा नहीं करते और जनवादी दायरे से आगे नहीं जाना चाहते इसलिए जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए होने वाले आन्दोलनों व संघर्षों को ही समाजवादी करार देते हैं और मजदूर वर्ग में बुर्जुआ विभ्रम का प्रसार करते हैं और वास्तव में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू और समूचे मजदूर आन्दोलन को वस्तुतः बुर्जुआ वर्ग का “वामपंथी” धड़ा बना देते हैं; जाने-अनजाने और “वामपंथी” अवस्थिति की आड़ में त्रात्स्की यही करते हैं। वहीं दूसरी ओर, अगर त्रात्स्की बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों या अधिकारों को पूरा करने वाले किसी आन्दोलन को समाजवादी करार नहीं दे पाते, तो वे उसे प्रतिक्रियावादी और पश्चगामी करार देते हैं और कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग को इसमें शिरकत ही नहीं करनी चाहिए। यह जनवादी आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग को पूर्णतः निष्क्रिय बना देता है क्योंकि वह जनवादी आन्दोलन के भीतर एक अलग क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के रूप में अपने आपको संगठित नहीं कर पाता (और वास्तव में इसी कारण से वह जनवादी क्रान्ति के बाद समाजवादी क्रान्ति की तैयारियों के लिए भी संगठित नहीं हो पाता) और बुर्जुआ वर्ग को इस आन्दोलन पर बिना किसी चुनौती वर्चस्व स्थापित करने और अन्त में अपने आपको जनवाद और जनता के जनवादी अधिकारों का हिमायती बताकर जनता के सामने राजनीतिक नुमाइश करने का मौका देता है।

इसी प्रकार त्रात्स्की यह मानते हैं कि ‘स्थायी क्रान्ति’ के बाद समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को ऊपर से राज्यसत्ता द्वारा कार्यकारी निर्णयों के ज़रिये लागू कर दिया जाना चाहिए। त्रात्स्की कहते हैं कि समाजवादी रूपान्तरण के लिए जनता तैयार हो या न हो (यानी कि क्रान्ति की मंज़िल जनवादी हो या समाजवादी हो), यदि मजदूरों की सरकार बनती है तो पार्टी वह सरकार चलायेगी और किसी भी सूरत में समाजवादी रूपान्तरण को तब तक लागू करेगी जब तक कि उसे सशस्त्र शक्ति से कुचल न दिया जाय! समाजवादी सत्ता स्थापित होने के बाद त्रात्स्की के अनुसार किसानों के साथ कोई रियायत नहीं बरती जानी चाहिए। लेनिन का इस बारे में मानना था कि मजदूर वर्ग को जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी नेतृत्व अपने हाथों में लेने का प्रयास करना चाहिए और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीके से पूरा करना चाहिए; साथ ही लेनिन का यह भी मानना था कि समाजवादी

क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापित होने के बाद भी क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय में अपने राजनीतिक वर्चस्व और नेतृत्व को कायम रखने के लिए कई बार सर्वहारा वर्ग को अपने तात्कालिक वर्ग हितों को त्यागना पड़ता है। अगर सर्वहारा वर्ग ऐसा न करे तो फिर क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय टूटता है, सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक नेतृत्व खण्डित होता है और किसानों के बीच बुर्जुआ वर्चस्व और नेतृत्व स्थापित होते देर नहीं लगती। लेकिन त्रात्स्की के लिए यह सर्वहारा सत्ता का “आत्म-सीमाबद्धीकरण” होगा! वास्तव में त्रात्स्की की नीति लागू होती तो 1920 के दशक में ही सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग पहल, नेतृत्व और वर्चस्व खो बैठता और समाजवादी सत्ता का पतन हो जाता। इसलिए वास्तव में ‘स्थायी क्रान्ति’ के सिद्धान्त के तहत तमाम आमूलगामी और “वामपंथी” जुमलेबाजी करने के बावजूद वास्तव में व्यवहारतः त्रात्स्की मज़दूर वर्ग से क्रान्ति के दोनों ही चरणों में हर प्रकार का अधिकरण छीन लेते हैं और उसे बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बना देते हैं। लेनिन की कार्यदिशा इस मामले में बिल्कुल स्पष्ट थी: लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग न तो जनवादी आन्दोलनों का बहिष्कार करेगा और न ही उन्हें समाजवादी करार देकर अपने आपको जनवादी आन्दोलनों के अधीनस्थ में तब्दील करेगा। सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति या आन्दोलन में भी एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के रूप में अपने आपको संगठित करेगा और जनवादी कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीके से पूर्ण करने के लिए और साथ ही विशिष्ट मज़दूर अधिकारों के लिए लड़ेगा। जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूरा होने के बाद ऐसा सर्वहारा वर्ग ही सही मायनों में समाजवादी क्रान्ति के कार्यभारों की ओर बढ़ने के लिए अपने आपको संगठित और गोलबन्द कर सकता है।

त्रात्स्की क्रान्ति को वर्गों के बीच के संघर्षों के किसी निश्चित मंजिल पर पहुँचने की परिणति की बजाय मज़दूर वर्ग के हिरावल की एक आत्मगत गतिविधि बना देते हैं, जो वस्तुगत परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए अपने “दिव्य रूप से प्रदत्त या निर्धारित कार्यभार” को पूरा करता है! और क्रान्ति के बाद भी हिरावल पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग अपने आपको किसी अवैयक्तिक, आदर्शाकृत, परकीकृत “इतिहास द्वारा सौंपे गये कार्यभार” पूरे करने होते हैं, और इसमें उस समय के वर्ग संघर्ष और विभिन्न मित्र वर्गों की इच्छा की कोई भूमिका नहीं होती है। जनता की इच्छा की अवहेलना को त्रात्स्की वैध ठहराते हुए लिखते हैं कि वर्ग संघर्ष के “वास्तविक पथ” को जनता के बदलते मिजाज़ पर निर्भर नहीं बनाया जा सकता है। त्रात्स्की के अनुसार, “सर्वहारा वर्ग क्रान्ति की नियति को सबसे अचेतन और अभी तक और सोये हुए जनसमुदायों के बदलते मिजाज़ पर कभी भी निर्भर नहीं होने देगा।” (लियोन त्रात्स्की, ‘रिज़ल्ट्स एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स’, 1919 की प्रस्तावना, पृ. 33-4) यानी कि त्रात्स्की के अनुसार समाजवादी सत्ता को व्यापक मेहनतकश जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं होना चाहिए, बल्कि हिरावलों की इच्छा की अभिव्यक्ति होनी चाहिए! यही कारण है कि त्रात्स्की सोवियत रूस में समाजवाद की विजय के लिए व्यापक मेहनतकश जनता के समर्थन पर निर्भर नहीं थे, बल्कि उन्नत पूँजीवादी देशों में क्रान्ति पर निर्भर थे!

त्रात्स्की का स्पष्ट मानना था कि सर्वहारा क्रान्ति वैश्विक तौर पर सम्पन्न होगी। 1906 में त्रात्स्की ने लिखा था कि अगर रूस में क्रान्ति होती है तो जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी रूस में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप करेंगे, जो कि क्रान्ति की ज्वाला को इन देशों में ले जायेगा और फिर एक ‘चेन रिऐक्शन’ शुरू होगा जो कि वैश्विक सर्वहारा क्रान्ति में परिणत होगा। त्रात्स्की का

मानना था कि अगर ऐसा नहीं हुआ तो एक देश में समाजवाद का निर्माण हो पाना सम्भव नहीं है, और खास तौर पर रूस जैसे पिछड़े देश में तो बिल्कुल ही असम्भव है, क्योंकि रूसी क्रान्ति को साम्राज्यवादी शक्तियों के समक्ष राजनीतिक चेतना से वंचित बल्कि राजनीतिक चेतना प्राप्त करने में अक्षम किसान आबादी के क्षणभंगुर समर्थन पर निर्भर करना पड़ेगा। **बाद में, त्रात्स्की को अपनी इस बात को बदलना पड़ा।** 1936 में रूस में सामूहिकीकरण सम्पन्न होने के बाद त्रात्स्की ने 1939 में माना कि रूस में उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण/सामूहिकीकरण ने समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण किया है। हालाँकि, यह सच है कि स्तालिन के समय तक रूस में समाजवादी सत्ता मौजूद थी, लेकिन त्रात्स्की द्वारा इसे समाजवादी मानने का आधार राज्यसत्ता में सर्वहारा वर्ग का अपनी पार्टी के नेतृत्व में कब्जा नहीं था, बल्कि उत्पादन का राष्ट्रीयकरण था, जो कि अपने आप में पूँजीवाद के दायरों का अतिक्रमण नहीं करता। इसीलिए बाद में त्रात्स्की ने कहा था रूस में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है और अब रूसी मजदूर वर्ग को नौकरशाही के विरुद्ध तख्तापलट कर सोवियत रूस में राजनीतिक क्रान्ति सम्पन्न करनी चाहिए। सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक क्रान्ति में विभेद का विचार त्रात्स्की ने कारुत्स्की से उधार लिया था। एक देश में समाजवादी निर्माण को लेकर बहस पर हम आगे के अध्यायों में चर्चा करेंगे। अभी हमने इसकी चर्चा सिर्फ त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के एक परिशिष्ट के रूप में की थी क्योंकि उनके इस 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का मूल तर्क यही था कि अगर उत्पादन सम्बन्ध और राज्य की संरचना सामन्ती हो तो भी सीधे मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति होगी और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना होगी क्योंकि विश्व के पैमाने पर एक कमोबेश एकीकृत बाजार के पैदा होने और इज़ारेदारियों के पैदा होने के साथ पूरी दुनिया में श्रम और पूँजी का ही अन्तरविरोध एकमात्र मुख्य अन्तरविरोध बन गया है; इसलिए सीधे समाजवादी क्रान्ति ही होगी और यह किसान वर्ग के किसी भी हिस्से से सचेतन और संगठित समर्थन के बिना होगी क्योंकि किसान वर्ग का कोई स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण नहीं होता है और वह नियति से ही एक राजनीतिक तौर पर अचेत वर्ग है जो उसी अचेतना के साथ क्रान्ति के बाद मजदूर सत्ता के पक्ष में आ जायेगा, जिस अचेतनता के साथ वह जार या किसी बुर्जुआ सत्ता के पक्ष में जाता; तीसरी बात यह कि ऐसी कोई भी 'स्थायी क्रान्ति' जो कि एक ही झटके में जनवादी और समाजवादी क्रान्ति होगी (क्योंकि 'जो अधिकतम कर सकता है, वह न्यूनतम भी कर सकता है!') वह हर-हमेशा एक विश्व क्रान्ति होगी क्योंकि एक देश में राजनीतिक रूप से अचेत किसान आबादी के क्षणभंगुर समर्थन के बूते पर साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के समक्ष समाजवाद का निर्माण हो ही नहीं सकता। इसलिए जब तक विशेष तौर पर पिछड़े देशों में समाजवाद व सर्वहारा अधिनायकत्व की सहायता के लिए उन्नत देशों का सर्वहारा वर्ग नहीं आता तब तक एक देश में समाजवाद के निर्माण की उम्मीद करना व्यर्थ है। त्रात्स्की के एक देश में समाजवाद के निर्माण के असम्भाव्यता के प्रश्न पर और भी कई आर्थिक कारकों की बात त्रात्स्की करते हैं, जिन पर हम यहाँ केवल संक्षेप में बात करेंगे और आगे के अध्यायों में विस्तार से चर्चा करेंगे।

त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को बाद में त्रात्स्कीपंथियों ने ज़बरन चीनी इतिहास पर थोपने का भी प्रयास किया। त्रात्स्की ने कहा था कि आने वाली चीनी क्रान्ति में कोई भी "जनवादी दौर" नहीं होगा, और न ही उसमें कोई मजदूरों व किसानों की संयुक्त

तानाशाही स्थापित होगी। आने वाली चीनी क्रान्ति सीधे सर्वहारा अधिनायकत्व को स्थापित करके समाजवाद का निर्माण करेगी। चीनी क्रान्ति के 1949 में सम्पन्न होने के बाद से ही विश्व भर में त्रात्स्कीपंथी त्रात्स्की की भविष्यवाणी को सही सिद्ध करने की कवायद में लग गये। कइयों ने तो यहाँ तक कहा कि सतत् क्रान्ति (perpetual revolution) का माओ का सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त वास्तव में त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त है! ज़ाहिर है कि माओ के अधिरचना में सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त को त्रात्स्कीपंथियों ने समझा ही नहीं था और 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही सिद्ध करने के उन्माद में वे कुछ भी बक गये हैं! जहाँ तक 1949 में नवजनवादी क्रान्ति के 'स्थायी क्रान्ति' होने या न होने का प्रश्न है तो माओ और चीनी पार्टी ने बार-बार स्पष्ट किया था कि 1949 में चीन में जो क्रान्ति हुई वह एक क्रान्तिकारी जनता के जनवाद के दायरे से आगे नहीं जाती थी; चाहे वह भूमि सुधार का प्रश्न हो (क्रान्ति के तुरन्त बाद चीन के 30 करोड़ किसानों में भूमि का पुनर्वितरण किया गया था) या फिर एक जनवादी गणराज्य की स्थापना का प्रश्न हो, चीनी क्रान्ति 1950 के दशक के मध्य से पहले किसी भी रूप में समाजवादी चरण में नहीं मानी जा सकती है। स्वयं माओ ने 1952 में घोषणा की कि अब चीनी क्रान्ति को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश करना होगा। लेकिन व्यावहारिक तौर पर 1950 के दशक के अन्त में खेती के व्यापक सहकारीकरण और सामूहिकीकरण का कार्य शुरू हुआ जो आने वाले दशक में जारी रहा। चीनी पार्टी और माओ ने अपने तमाम लेखन में कहीं भी 'परमिनेण्ट रिवोल्यूशन' (स्थायी क्रान्ति) शब्द का इस्तेमाल नहीं किया, बल्कि 'अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन' का इस्तेमाल किया। दरअसल, जर्मन भाषा में मार्क्स ने जिस शब्द का प्रयोग किया था उसका अनुवाद दोनों ही रूपों में सम्भव है, 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति'। 1905 के पहले अधिकांश मार्क्सवादी 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति' दोनों का ही प्रयोग करते थे। मार्क्स ने पहली बार इस शब्द का प्रयोग 1844 में नेपोलियन के सन्दर्भ में किया था जब उन्होंने कहा था कि नेपोलियन ने 'स्थायी क्रान्ति की जगह स्थायी युद्ध को दे दी थी'। (मार्क्स-एंगेल्स, अध्याय 6, भाग 3, होली फैमिली, ऑर दि क्रिटिक ऑफ क्रिटिकल क्रिटिसिज़्म. अगोस्ट ब्रूनो बावर एण्ड कम्पनी, अनुवाद हमारा) यहाँ पर स्थायी क्रान्ति से मार्क्स व एंगेल्स का अभिप्राय किसी भी क्रान्ति के अपने लक्ष्यों तक पहुँचने से था। इसके बाद मार्क्स ने 1850 में इसका प्रयोग कम्युनिस्ट लीग की केन्द्रीय कमेटी को अपने भाषण में भी किया और साथ ही 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष 1848-50' में भी इसका प्रयोग किया। लेकिन उनके प्रयोग से ही साफ़ था कि उनका अर्थ सिर्फ़ इतना था कि (1) जनवादी क्रान्ति के दौर में भी सर्वहारा वर्ग को अपने आपको स्वायत्त रूप से संगठित करना चाहिए और (2) कि सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति के पूर्ण हो जाने पर रुकना नहीं चाहिए बल्कि उसके बाद इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए उसे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और समाजवाद तक जाना चाहिए। मार्क्स का तर्क कतई जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने का नहीं था, बल्कि यह था कि यदि सर्वहारा वर्ग अपने आपको स्वतन्त्र रूप से संगठित नहीं करता तो फिर वह जनवादी क्रान्ति पर ही रुक जायेगा जबकि सर्वहारा वर्ग की ज़िम्मेदारी है जनवादी क्रान्ति पर रुके बगैर समाजवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व तक जाना। मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किये गये शब्द का रूसी में दो सम्भव अनुवाद है: पहला, 'परमिनेण्टनाया' और दूसरा 'नेप्रेरिन्वाया'। पहले शब्द का अनुवाद 'स्थायी' होगा जबकि दूसरे का 'सतत्'। जब तक त्रात्स्की ने मार्क्स

का लासालवादी नियोजन करने का प्रयास करते हुए अपना 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त नहीं पेश किया था तब तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन जब उन्होंने ऐसा कर दिया तो लेनिन ने भी हर जगह 'सतत् क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया और माओ और चीनी पार्टी ने भी इस परम्परा को जारी रखा ताकि त्रात्स्कीपंथी हिरावलपंथ के साथ कोई भ्रम न पैदा हो। माओ और चीनी पार्टी ने चीनी क्रान्ति के दोनों चरणों की हमेशा स्पष्ट पहचान की और उनके तहत बनने वाले दोनों प्रकार के वर्ग संश्रयों में भी फर्क किया, हालाँकि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और धनी किसानों को लेकर सैद्धान्तिक तौर पर चीनी पार्टी और माओ के लेखन में एक विचलन भी देखने को मिलता है। बहरहाल, किसी भी अर्थ में माओ व चीनी पार्टी ने चीनी क्रान्ति को 'स्थायी क्रान्ति' के रूप में नहीं बल्कि चरणों में सम्पन्न हुई क्रान्ति के रूप में ही देखा। त्रात्स्कीपंथियों का 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को चीनी इतिहास और माओ के लेखन पर थोपने का प्रयास हास्यास्पद है। माओ ने स्पष्ट किया कि पहला चरण सर्वहारा वर्ग शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग के साथ मोर्चा बनाकर सम्पन्न करेगा जबकि दूसरे चरण में चीनी समाजवादी क्रान्ति मुख्य रूप से सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग और गरीब व निम्न मँझोले किसानों पर निर्भर करेगी।

यहाँ आगे बढ़ने से पहले हम एक नुक्ते पर कुछ स्पष्टीकरण देना चाहेंगे। निश्चित रूप से, जिन भी देशों में सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को पूरा करती वहाँ पर जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण बेहद जटिल होता, जैसा कि चीन में हुआ। इसका कारण स्पष्ट है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होती है जिसमें कि मजदूर वर्ग, ग्रामीण व शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग और मध्यवर्ग कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में क्रान्ति में हिस्सेदारी करते हैं। इसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में आती है और सभी जनवादी कार्यभारों को सर्वाधिक आमूलगामी ढंग से सम्पन्न करती है और इसके बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की शुरुआत होती है। अभी भी कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और सरकार कायम रहते हैं लेकिन वर्ग संश्रय में से ग्रामीण व शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग यानी कि छोटा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और धनी किसान अलग हो जाते हैं क्योंकि पूरे के पूरे वर्ग को सामूहिकीकरण और राष्ट्रीयकरण पर सहमत नहीं किया जा सकता है, उसके कुछ सदस्यों को ही समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किया जा सकता है। ऐसे में, जनवादी क्रान्ति में मित्र वर्गों की भूमिका में रहने वाले ये वर्ग समाजवादी क्रान्ति के विरुद्ध अवस्थिति अपनायेंगे और वहाँ से सत्ता का चरित्र मजदूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही नहीं हो सकता, बल्कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है। दूसरी बात, यह पूरी संक्रमण की प्रक्रिया सहज-सरल नहीं हो सकती; यह निश्चित तौर पर बेहद उथल-पुथल भरी होगी जिसमें कि समाज में जारी वर्ग संघर्ष बेहद तीखा हो जायेगा और यह हिंस्र रूप भी अख़्तियार कर सकता है। चीन में 1956-57 से लेकर माओ की मृत्यु तक पार्टी के भीतर और बाहर जो भयंकर वर्ग संघर्ष चला वह वास्तव में नवजनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण की जटिलताओं और बाधाओं का ही परिणाम था। भले ही स्वयं माओ और चीनी पार्टी के दस्तावेजों में समूचे राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को "बदलने के लिए बाध्य" करने की बात की गयी हो, लेकिन वास्तव में यह वर्ग का बदलना नहीं बल्कि वर्गों का संघर्ष था जो अपने आपको पार्टी के भीतर भी भयंकर संघर्ष के रूप में पेश कर रहा था और

समाज में भी भयंकर राजनीतिक संघर्ष के रूप में पेश कर रहा था।

इसी से जुड़ी हुई यह बात भी है कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति (यानी कि नवजनवादी क्रान्ति या जनता की जनवादी क्रान्ति) की स्थिति इतिहास में कोई स्थायी स्थिति नहीं हो सकती थी; दूसरे शब्दों में, नवजनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त एक बेहद विशिष्ट स्थिति में पैदा हुआ सिद्धान्त था और उस स्थिति के लिए वह बिल्कुल सटीक था, लेकिन यह कोई सामान्य मॉडल नहीं हो सकता। श्रम और पूँजी के बीच अन्तरविरोध के पूरे इतिहास में नवजनवादी/जनता की जनवादी क्रान्ति की मंज़िल एक छोटा दौर या क्षण ही हो सकती थी और वह क्षण अब बीत चुका है। क्रान्तिकारी अथवा गैर-क्रान्तिकारी रास्ते से लगभग समूचे विश्व में साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी दौर के बीतने के साथ और पिछड़े पूँजीवादी देशों में क्रमिक प्रक्रिया अथवा द्रुत गति से/झटके से सामन्ती सम्बन्धों के खात्मे और पूँजीवादी रूपान्तरण के साथ कई ऐसे जटिल प्रश्न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक गति से हल हो चुके हैं, जो कि बीसवीं सदी के एक खास दौर में इतिहास ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष पेश किये थे। आज दुनिया भर के तमाम उत्तर-औपनिवेशिक समाज किसी न किसी हद तक पूँजीवादी विकास कर चुके हैं और वहाँ सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध या तो समाप्त हो चुके हैं या फिर उनके अवशेष मात्र बाकी हैं। आज दुनिया के इन तमाम देशों में नये प्रकार की समाजवादी क्रान्तियों की मंज़िल है। इस विषय पर विस्तृत चर्चा करने के लिए यह जगह उपयुक्त नहीं है और आगे हम नयी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल पर अपनी अवस्थिति को स्पष्ट करेंगे। लेकिन फिलहाल हम त्रात्स्कीपंथ की आलोचना के मुद्दे पर लौटते हैं।

त्रात्स्की के लिए नवजनवादी क्रान्ति की कोई मंज़िल नहीं होगी और मज़दूर वर्ग अपनी हिरावल पार्टी के नेतृत्व सत्ता पर कब्ज़ा कर सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवाद की स्थापना करेगा। त्रात्स्की के लिए किसी भी सामाजिक संरचना में प्रधान अन्तरविरोध श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध ही होगा क्योंकि विश्व पैमाने पर यह अन्तरविरोध प्रमुख बन चुका है। सामन्तवाद और जनसमुदायों के बीच और साम्राज्यवाद और जनसमुदायों की बीच के अन्तरविरोधों को या तो नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है या फिर उन्हें भी श्रम और पूँजी के अन्तरविरोध में ही अपचयित कर दिया जाता है। इस प्रकार त्रात्स्की दिक् और काल से स्वतन्त्र एक कठमुल्लावाद का अनुसरण करते हैं। त्रात्स्की मानते हैं कि किसी एक देश में समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता है और अगर किसी पिछड़े देश में समाजवादी क्रान्ति होती है तो फिर उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर करता है कि उन्नत देशों में क्रान्ति होती है या नहीं। इस प्रकार त्रात्स्की प्रमुख अभिकरण 'कमज़ोर कड़ियों' को नहीं बल्कि 'मज़बूत कड़ियों' को देते हैं, यानी कि उन्नत देशों के सर्वहारा वर्ग को। यह सिद्धान्त स्पष्टतः लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त के विरोध में खड़ा है, जिसके अनुसार पहले विश्व पूँजीवाद की 'कमज़ोर कड़ियाँ' टूटेंगी; लेनिन के काल में ये कमज़ोर कड़ियाँ औपनिवेशीकृत देश थे जहाँ के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध लगातार साम्राज्यवाद पर चोट कर रहे थे, और आज के युग में उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज वे कमज़ोर कड़ियाँ हैं, जहाँ देशी और विदेशी पूँजी का गठजोड़ सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को लूट रहा है। लेनिन ने उस दौर में कहा था कि सर्वहारा वर्ग को इन राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों में अपने आपको एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति के रूप में संगठित करना चाहिए और इस पहले चरण को पूरा करके दूसरे चरण यानी कि समाजवाद के

लिए संघर्ष की ओर बढ़ना चाहिए।

अन्त में कह सकते हैं कि त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के विरोध में खड़ा एक सिद्धान्त है जो कि किसी भी समाज के विशिष्ट अन्तरविरोधों को नज़रअन्दाज़ करते हुए विश्व पैमाने पर प्रमुख बन चुके अन्तरविरोध से उस समाज के क्रान्ति की मंज़िल को निगमित करता है। यह सिद्धान्त जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने की वकालत करता है और कहता है कि वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिक प्रक्रिया आम तौर पर कई चरणों को लाँघकर आगे बढ़ती है। त्रात्स्की इस बात को समझने में असफल रहे कि अगर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति के बीच की प्रक्रिया सतत् या निरन्तर बन जाये तो भी दोनों चरणों के बीच फर्क होगा क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्ति के मित्र व शत्रु वर्गों में फर्क आ जायेगा और इस प्रकार वर्ग संघर्ष बदल जायेगा। त्रात्स्की किसी भी समाज में विशिष्ट अन्तरविरोधों को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि उनके लिए विशिष्ट अन्तरविरोध सामान्य व सार्वभौमिक अन्तरविरोध से निर्धारित हो जाते हैं। यानी कि अगर विश्व के पैमाने पर पूँजी और श्रम का अन्तरविरोध प्रमुख बन चुका है तो हर देश में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल है! इस समझदारी का नतीजा यह होता है कि त्रात्स्कीपंथी किसी भी देश में क्रान्ति के ठोस प्रश्नों पर कभी कोई ठोस चिन्तन नहीं कर पाते और इसीलिए वे अपने सिद्धान्त को परखने के लिए भी अपने प्रयोगों पर निर्भर नहीं कर सकते। क्योंकि वे अपने कोई प्रयोग कर ही नहीं पाते हैं! और दूसरों के प्रयोगों को वे किसी भी तरह ज़बरन 'स्थायी क्रान्ति' के ढाँचे में बिठाने की कोशिश करते हैं जैसा कि उन्होंने चीनी क्रान्ति के मामले में किया। त्रात्स्कीपंथी किसी भी देश की विशिष्ट परिस्थितियों को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है और विश्व बाज़ार और इज़ारेदारियों के अस्तित्व में आने के बाद भी पूँजीवादी दुनिया में राज्यसत्ता राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित है, और साम्राज्यवाद के उन्नत से उन्नत दौर में यही हो सकता है; किसी एकध्रुवीय साम्राज्यवादी विश्व या अति-साम्राज्यवाद की बात करना काऊत्स्की की साम्राज्यवाद की थीसिस की ओर जाना है; लेनिन के साम्राज्यवाद का सिद्धान्त इज़ारेदारियों के उदय को प्रतिस्पर्द्धा के खात्मे के तौर पर नहीं देखता, बल्कि इसे प्रतिस्पर्द्धा के और ज़्यादा गलाकाटू और सघन होते जाने की अभिव्यक्ति मानता है; यह "मुक्त व्यापार" और "मुक्त प्रतियोगिता" के आदर्शीकृत बुर्जुआ सिद्धान्त का निषेध भी है और विस्तार भी; या कह सकते हैं कि इज़ारेदार पूँजीवाद "मुक्त व्यापार" पूँजीवाद का विस्तार है और ठीक इसीलिए उसका निषेध भी है। लेनिन साम्राज्यवाद के उदय में पूँजीवाद के असमाधेय होने की हद तक तीखे होते अन्तरविरोधों को देखते हैं और मानते हैं कि ऐसी कोई मंज़िल नहीं आयेगी जब किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति के मातहत किसी एकध्रुवीय विश्व का उदय होगा। साम्राज्यवाद के दौर में राष्ट्र-राज्यों की भूमिका बदल जाती है, समाप्त नहीं होती और शायद इसीलिए त्रात्स्की के समय से लेकर आज तक कई सिद्धान्तकारों के लिए इस बदलती भूमिका ने समाप्त होने का दृष्टिभ्रम पैदा किया है। वास्तव में, आज भी यदि किसी भी देश में क्रान्ति करनी है तो उस देश की राज्यसत्ता के विशिष्ट चरित्र, वहाँ के उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर और उनके संघर्ष के फलस्वरूप होने वाले वर्ग संघर्ष के चरित्र को समझना होगा और उसके अनुसार ही क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करना होगा। यानी, सम्बन्धित देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करना

होगा; अन्तरविरोधों की सार्वभौमिकता और विशिष्टता दोनों को ही समझना होगा। लेकिन त्रात्स्की इस द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में यकीन ही नहीं रखते। उनकी पद्धति कठमुल्लावादी आधिभौतिकवाद और निगमनवाद की पद्धति है। त्रात्स्की सिद्धान्त और व्यवहार के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को समझने में नाकाम रहे। उनके लिए एक बार प्रतिपादित कर दिये गये सिद्धान्त हमेशा के लिए व्यवहार का निर्देशन करने का काम करते हैं। यह सच है क्रान्तिकारी सिद्धान्त क्रान्तिकारी व्यवहार का मार्गदर्शन करते हैं, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि यह क्रान्तिकारी सिद्धान्त स्वयं सामाजिक व्यवहार के लम्बे अनुभवों का ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सामान्यीकरण होते हैं और यह कि इन क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी व्यवहार द्वारा बार-बार उन्नत और विकसित होना होता है। त्रात्स्की के लिए सिद्धान्त हमेशा के लिए एक बार समाधान उपस्थित कर देता है जिसे कि व्यवहार में लागू किया जाना होता है।

त्रात्स्की कभी अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दु (conjuncture) को नहीं समझ पाते थे। उनके लिए बुनियादी अन्तरविरोध हर सूरत में प्रधान अन्तरविरोध होता था। इसका कारण यह था कि वह हमेशा एक सिद्धान्तवादी अवस्थिति से प्रस्थान करते थे। जैसा कि लेनिन ने कहा था, त्रात्स्की हमेशा सामान्य सिद्धान्तों से चिपके रहते थे। वह कभी नहीं समझ पाते थे कि किसी भी स्थिति में कई अन्तरविरोध होते हैं, उनमें से कुछ मुख्य होते हैं, जबकि एक अन्तरविरोध प्रधान होता है और प्रधान अन्तरविरोध का एक प्रधान पहलू होता है। उनके लिए प्रधान अन्तरविरोध हमेशा एक कठमुल्लावादी, किताबी तरीके से निर्धारित हो जाता है। वह यह भी नहीं समझ पाते थे कि प्रधान और गौण पहलू कई बार बदल जाया करते हैं। इसलिए वह हमेशा 'सामान्य'/'सार्वभौमिक' को समझते थे लेकिन हमेशा 'विशिष्ट' को देखने से चूक जाते थे। इसलिए त्रात्स्की के प्रेक्षण वहाँ-वहाँ सही प्रतीत होते हैं जहाँ 'सामान्य' और 'विशिष्ट' एक दूसरे को अतिच्छादित करते हैं। चूँकि त्रात्स्की अपने समाधानों/विकल्पों का निर्माण वास्तविक अन्तरविरोधों के आधार पर नहीं करते बल्कि एक कठमुल्लावादी सिद्धान्तवादी ढंग से करते हैं, इसलिए वे इन समाधानों को लागू करने के लिए राजनीति और जनदिशा पर भरोसा नहीं करते, बल्कि ऊपर से किसी प्रशासनिक समाधान का रास्ता तलाशते हैं। इसका कारण यह है कि त्रात्स्की क्रान्ति का सिद्धान्त वास्तविक अन्तरविरोधों के आधार पर नहीं निर्मित करते; इसके विपरीत वह वास्तविक जगत में सिद्धान्त की एक दर्पण छवि का निर्माण करने के मंसूबे बनाते हैं, हालाँकि सिद्धान्त भी उन्होंने विकृत रूप में समझे होते हैं या फिर समझे ही नहीं होते।

क्रान्ति के सिद्धान्त को लेकर त्रात्स्की और लेनिन के बीच जो विवाद हुआ वह फरवरी क्रान्ति से पूर्व त्रात्स्कीपंथ से बोल्शेविज़्म के संघर्ष का सबसे प्रमुख मुद्दा बना। लेनिन का क्रान्ति का सिद्धान्त 1905 से लेकर 1917 तक के ऐतिहासिक अनुभवों से सही सिद्ध हुआ और बाद में त्रात्स्की ने तरह-तरह की बौद्धिक कलाबाजियाँ करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अक्टूबर 1917 की घटनाओं ने उनके 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही सिद्ध किया और साथ ही यह भी साबित करने का प्रयास किया कि लेनिन ने बाद में त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त को अपना लिया। लेकिन यह प्रयास त्रात्स्की ने खुलकर लेनिन की मृत्यु के बाद किये। 1924 में त्रात्स्की ने 'लेसंस ऑफ अक्टूबर' नामक रचना में बोल्शेविक क्रान्ति को 'स्थायी क्रान्ति' सिद्ध करने का प्रयास किया। लेकिन उनकी इस रचना की आलोचना करने हुए स्तालिन, क्रुप्सकाया, बुखारिन, जि़नोवियेव, आदि ने कई लेख लिखे

और त्रात्स्की के इन प्रयासों को अनावृत्त किया। 'स्थायी क्रान्ति' के पूरे सिद्धान्त पर विस्तार से चर्चा की इसलिए ज़रूरत थी क्योंकि यह त्रात्स्की का सबसे अहम सिद्धान्त है जिसमें कि उनकी पूरी पहुँच और पद्धति साफ़ तौर पर दिखलायी देती है। त्रात्स्की की अन्य प्रश्नों पर अवस्थिति को भी समझना हमारे लिए आसान हो जायेगा, अगर हम 'स्थायी क्रान्ति' के त्रात्स्कीपंथी सिद्धान्त और उसके पूरे सन्दर्भ को अच्छे तरीके से समझ लें। फरवरी 1917 से पहले जो दूसरा अहम विवाद (वास्तव में यह विवाद क्रान्ति की मंज़िल और चरित्र के प्रश्न पर हुए मतभेद से पहले ही हो गया था) त्रात्स्की और लेनिन के बीच हुआ, वह था पार्टी सिद्धान्त को लेकर।

ii) सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर त्रात्स्की से लेनिन का संघर्ष

त्रात्स्की के साथ जिस मुद्दे पर संघर्ष की शुरुआत हुई वह वास्तव में त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का गैर-मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं था, बल्कि सांगठनिक कार्यदिशा का प्रश्न था। सांगठनिक दिशा के प्रश्न पर अक्सर त्रात्स्की को आम तौर पर बस एक मंशेविक ठहरा दिया जाता है क्योंकि 1903 से लेकर 1917 के बीच त्रात्स्की की अवस्थिति व्यवहारतः अक्सर मंशेविकों की अवस्थिति से मेल खाती थी। लेकिन त्रात्स्की को महज मंशेविक बता देना पूरे मसले का अतिसरलीकरण होगा और विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार के मसले में कार्यकर्ताओं का उद्वेगन करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए, जैसा कि मार्क्सवाद-विरोधियों के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए कई बार क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी कर बैठती हैं।

त्रात्स्की का वास्तव में कोई सांगठनिक सिद्धान्त था ही नहीं, या यूँ कहें कि कोई सांगठनिक सिद्धान्त न होना ही त्रात्स्की का सांगठनिक सिद्धान्त था। अपने पूरे राजनीतिक जीवन में त्रात्स्की अपनी ज़रूरत के मुताबिक गैर-पार्टीवाद और अतिकेन्द्रीयता के बीच; नौकरशाहाना केन्द्रीयता और गुटवाद (factionalism); हिरावलपंथ और स्वतःस्फूर्ततावाद के बीच झूलते रहे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि त्रात्स्की का सांगठनिक सिद्धान्त व्यवहारवाद और अवसरवाद था। त्रात्स्की ने जब खुले तौर पर जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों का विरोध किया तब भी वह सांगठनिक सिद्धान्त की किसी समझदारी के बिना ऐसा कर रहे थे, और जब 1917 में त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का फैसला किया और उसके पार्टी सिद्धान्त को "अपनाया" तब भी त्रात्स्की ने न तो कोई विचारधारात्मक रूप से सुसूचित अवस्थिति अपनायी थी, और न ही पहले के दौर में बोल्शेविक पार्टी सिद्धान्त का विरोध करने पर अपनी कोई अर्थपूर्ण आत्मालोचना रखी थी।

जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन के लिए केन्द्रीय महत्व का प्रश्न है। एक ऐसी पार्टी जिसने जनता के साथ जीवन्त रिश्ता बरकरार रखते हुए यानी कि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू करते हुए अपनी कार्यदिशा निर्धारित की हो, और जिसके पास कार्यदिशा निर्धारित हो जाने का बाद उस पर निर्णायक अमल के लिए एक अनुशासित और केन्द्रीकृत सांगठनिक ढाँचा और नेतृत्व है, वही पार्टी जनता के बिखरे हुए जनसंघर्षों को एक सूत्र में पिरोकर उसे पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति का रूप दे सकती है। कम्युनिस्ट पार्टी में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच एक द्वन्द्ववात्मक रिश्ता होता है। जहाँ एक ओर पार्टी की कार्यदिशा और नेतृत्व को निर्धारित करने की प्रक्रिया में जनता से पार्टी का

जीवन्त सम्बन्ध और कार्यकर्ताओं की भूमिका अहम होती है, वहीं एक बार कार्यदिशा और नेतृत्व के निर्धारित होने के बाद पार्टी पूर्ण केन्द्रीयता और अनुशासन के साथ उसे लागू करती है। इस पार्टी सिद्धान्त का विकास यूरोपीय सामाजिक जनवादी आन्दोलन के शुरुआती दौर में ही भ्रूण रूप में होने लगा था, लेकिन इस सिद्धान्त को मुकम्मिल तौर पर विकसित करने का कार्य लेनिन ने किया। त्रात्स्की लेनिन के इस सांगठनिक सिद्धान्त को समझने में असफल रहे।

सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर त्रात्स्की की अवस्थिति लगातार बदलती रही। त्रात्स्की इस मामले में हमेशा “वाम” और दक्षिण के बीच में एक पक्के व्यवहारवादी, अवसरवादी और व्यक्तिवादी के रूप में दोलन करते रहे। **इसका मूल कारण यह था कि त्रात्स्की पार्टी और वर्ग के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को कभी समझ ही नहीं सके।** कभी तो वे इन दोनों, यानी पार्टी और वर्ग, में फर्क ही नहीं कर पाते थे और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी व गैर-पार्टी क्रान्तिवाद की अवस्थिति अपना लेते थे, तो कभी वे नौकरशाहाना केन्द्रीयता व हिरावलपंथी अवस्थिति अपना लेते थे। साथ ही, त्रात्स्की पार्टी के भीतर भी नेतृत्व और काडर के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को कभी नहीं समझ पाये। कभी वह केन्द्रीयता के नाम पर नेतृत्व की नौकरशाहाना तानाशाही का समर्थन करते थे तो कभी पार्टी में जनवाद के रूप में गुटवाद का समर्थन करते थे। इसका मूल कारण त्रात्स्की के गैर-द्वन्द्वात्मक निगमनवादी पद्धति में निहित था, जो उन्हें कभी किसी नतीजे पर पहुँचाती थी तो कभी किसी और नतीजे पर। साथ ही, त्रात्स्की का व्यक्तिवादी और अहंवादी व्यक्तित्व भी उनकी समूची समझदारी को निर्धारित करने में एक सहायक कारक की भूमिका निभाता था। पार्टी सिद्धान्त पर त्रात्स्की के नज़रिये को ऐतिहासिक तौर पर देखने से उसे ज़्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है।

1901 में त्रात्स्की ने पहली बार पार्टी सिद्धान्त पर अपने कुछ बिखरे हुए विचार पेश किये। इसमें त्रात्स्की ने एकदम स्पष्ट शब्दों में एक प्रकार की नौकरशाहाना केन्द्रीयता की वकालत की। 1901 में लिखे गये इस लेख से लिए गये इस उद्धरण पर गौर करें: **“अगर कोई स्थानीय संगठन...केन्द्रीय कमेटी की पूर्ण शक्तियों को मान्यता देने से इंकार करता है, तो केन्द्रीय कमेटी इससे अपने सम्बन्ध ख़त्म कर लेगी और इस प्रकार उस संगठन को क्रान्ति के समूचे विश्व से काट देगी।”** (लियोन त्रात्स्की, *इन डिफेंस ऑफ़ मार्क्सिज़्म*, मेरिट पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, पृ. 49, *अनुवाद हमारा*)। त्रात्स्की यहाँ महज़ एक क्रान्तिकारी संगठन के अनुशासन की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक नौकरशाहाना केन्द्रीयता और निरंकुशता की बात कर रहे हैं। निश्चित तौर पर, दो लाइनों के संघर्ष के बाद भी यदि कोई स्थानीय इकाई या कमेटी केन्द्रीय कमेटी के प्राधिकार को स्वीकार नहीं करती है, तो केन्द्रीय कमेटी उससे अपने सम्बन्ध तोड़ लेगी। लेकिन “क्रान्ति के पूरे विश्व” से उस संगठन को काट देने का क्या अर्थ हो सकता है?

1903 में त्रात्स्की रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की दूसरी कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस में शुरुआती दौर में त्रात्स्की ने लेनिन के पक्ष में खड़े होकर अर्थवादियों की आलोचना की और एक बार फिर से कठोर शब्दों में नौकरशाहाना केन्द्रीयता का समर्थन किया। उन्होंने अर्थवादियों पर लेनिन से भी ज़्यादा कठोरता के साथ हमला किया और इसके कारण कांग्रेस में वह लेनिन की कार्यदिशा के सेनापति प्रतीत हो रहे थे। त्रात्स्की के हमलों के कारण अर्थवादियों ने बोलशेविक नेतृत्व और इस्क्रावादियों पर गैर-जनवादी और तानाशाहाना रवैये का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने यहाँ तक कहा कि **पार्टी संहिताओं को “पार्टी सदस्यों पर नेतृत्व**

के संगठित अविश्वास को अभिव्यक्त करना चाहिए, एक ऐसा अविश्वास जो कि अपने आपको पार्टी में ऊपर से निगरानी और नियन्त्रण के रूप में अभिव्यक्त करेगा।” लेकिन जल्द ही त्रात्स्की ने अचानक एक पलटी खायी और लेनिन के पार्टी सिद्धान्त और हिरावल पार्टी की अवधारणा पर पुरजोर शब्दों में हमला शुरू कर दिया। त्रात्स्की ने दलील दी कि पार्टी और वर्ग के बीच सम्बन्ध के बारे में लेनिन द्वारा ‘क्या करें?’ में प्रस्तुत किया गया विचार ग़लत है। ‘रिपोर्ट ऑफ़ दि साईबेरियन डेलीगेशन’ (1903) में त्रात्स्की ने लेनिन के सांगठनिक सिद्धान्त पर हमला बोलते हुए कहा कि लेनिन एक जैकोबिनवादी और प्रतिस्थापनवादी हैं; अगर लेनिन का सांगठनिक सिद्धान्त लागू हुआ तो पार्टी वर्ग को प्रतिस्थापित कर देगी, केन्द्रीय कमेटी पार्टी को प्रतिस्थापित कर देगी और अन्ततः एक तानाशाह केन्द्रीय कमेटी को विस्थापित कर देगा। त्रात्स्की ने लेनिन के इस विचार का भी विरोध किया कि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना बाहर से प्रवेश करती है और मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त तौर पर ट्रेडयूनियनवादी चेतना से आगे नहीं जा सकता है और इस तरह त्रात्स्की उन्हीं स्वतःस्फूर्ततावादी अर्थवादियों के पक्ष में जा खड़े हुए जिन पर अभी कुछ ही समय पहले त्रात्स्की इतने हमले कर रहे थे! त्रात्स्की ने लेनिन पर मार्क्सवाद और जैकोबिनवाद का मिश्रण करने का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने लेनिन पर गालियों की बौछार करते हुए उन्हें ‘रॉब्सपियेर का कैरीकेचर’, ‘हमारी पार्टी के प्रतिक्रियावादी धड़े का नेता’, ‘केन्द्रीयता का संरक्षक’ कहा। अपनी रचना ‘हमारे राजनीतिक कार्यभार’ (1904) में त्रात्स्की ने लेनिन पर आक्षेप लगाते हुए कहा कि लेनिन मार्क्सवाद को छोड़ रहे हैं और रूसी बुर्जुआ जनवाद के “वामपंथी” धड़े का नेता बनने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, शुरुआत में लेनिन पर यह आरोप एक्सेलरोद ने लगाया था और त्रात्स्की ने यह बात ज्यों की त्यों एक्सेलरोद से उधार ले ली थी। त्रात्स्की के विचार हिरावल पार्टी की अवधारणा के प्रश्न पर मेशेविकों की सोच, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग की सोच और जर्मन कम्युनिस्ट आन्दोलन के “वामपंथी” धड़े का एक विकृत मिश्रण थे जिनका यह मानना था कि पूरे के पूरे वर्ग बिना किसी अधिकता की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्रवाई में सक्षम होते हैं। ‘हमारे राजनीतिक कार्यभार’ में त्रात्स्की ने दलील दी कि लेनिन का यह सिद्धान्त कि मज़दूर आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा बाहर से आती है, एक प्रकार का “रूढ़िवादी धर्मतन्त्र” (*orthodox theocracy*) है और यह पार्टी द्वारा मज़दूर वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना करने का दूसरा नाम है। आप देख सकते हैं कि यहाँ त्रात्स्की की अवस्थिति अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के बिल्कुल निकट पड़ती है, जिनकी आलोचना हम पिछले अध्याय में पेश कर चुके हैं। यह ताज़्जुब की बात नहीं है कि ‘मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन’ के सुजीत दास जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को अपने ज़्यादातर तर्क और तथ्य ‘वर्कर्स अपोज़ीशन’ जैसे खुले अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के अलावा टोनी क्लिफ़ जैसे त्रात्स्कीपंथियों से भी मिलते हैं!

‘रिज़ल्ट्स एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स’ (1906) नामक अपनी रचना में त्रात्स्की ने लिखा, “सामाजिक जनवाद क्रान्तिकारी वर्ग के सचेतन कार्रवाई के तौर पर सत्ता पर विजय की कल्पना करता है।” (इज़ाक डॉइशर दि प्रॉफ़ेट आर्म्ड में पृ. 375 पर उद्धृत, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970, अनुवाद हमारा) दूसरी पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की ने दावा किया कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व उस दिन सम्भव होगा जब मज़दूर वर्ग और पार्टी लगभग समान

वस्तुएँ बन जायेंगे। त्रात्स्की की पूरी सोच यहाँ पर बोल्शेविक क्रान्ति के बाद पार्टी के भीतर अस्तित्व में आये कुछ “वामपंथी”, अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी धड़ों, जैसे कि ‘डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म’ ग्रुप, बुखारिन का “वामपंथी” विपक्ष धड़ा और ‘वर्कर्स अपोजीशन’ धड़े की सोच के करीब पड़ती है। यह ताज्जुब की बात है क्योंकि क्रान्ति के बाद और खास तौर पर ‘युद्ध कम्युनिज़्म’ के दौर में त्रात्स्की इन धाराओं पर जमकर हमला करते हैं और मज़दूर वर्ग के ‘सैन्यकरण’ और ट्रेड यूनियनों के ‘राजकीयकरण’ की थीसीज़ पेश करते हैं। **लेकिन क्रान्ति से पहले के दौर में और विशेष तौर पर 1903 से 1917 के बीच त्रात्स्की की पूरी अवस्थिति सारतः एक ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी अवस्थिति थी।** वास्तव में, त्रात्स्की का अपना कोई पार्टी सिद्धान्त था ही नहीं। त्रात्स्की के लिए इस दौर में पार्टी एक उपकरण के समान थी जो कतिपय लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होती है। लेकिन पार्टी का निर्माण किस प्रकार हो, पार्टी का ढाँचा कैसा हो, और पार्टी का वर्ग से किस प्रकार का रिश्ता हो, इसके बारे में त्रात्स्की के पास कभी कोई सुसंगत सिद्धान्त नहीं था। पार्टी किस प्रकार की हो, यह त्रात्स्की के लिए कभी अहम सवाल था ही नहीं। इसीलिए त्रात्स्की अपने पूरे राजनीतिक कैरियर के दौरान विभिन्न प्रकार की सामाजिक-जनवादी पार्टियों के नेतृत्व के लिए संघर्ष करते रहे। उनके लिए इस दौर में जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों पर काम करने वाली लेनिनवादी पार्टी वर्ग की पहलकदमी को रोकने वाली पार्टी थी, वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना करने वाली पार्टी थी और इस प्रकार लेनिनवादी पार्टी की नियति ही यह थी कि वह प्रतिस्थापनवाद के गड्ढे में जा गिरे। 1903 से 1917 के बीच त्रात्स्की लेनिन के हिरावल पार्टी की अवधारणा और वर्ग से ऐसी पार्टी के सम्बन्धों की सोच पर हमला करते रहे। उनके अनुसार, ‘क्या करें?’ और ‘एक कदम आगे और दो कदम पीछे’ में लेनिन द्वारा रखी गयी सोच ग़लत थी। **यहाँ यह समझना आवश्यक है कि लेनिन का यह मानना कतई नहीं था कि मज़दूर वर्ग स्वयं राजनीतिक नहीं बन सकता।** मज़दूर वर्ग का अपने वर्ग संघर्ष के अनुभवों के ज़रिये सचेत बनना और फिर ट्रेड यूनियनों में संगठित होने की चेतना तक जाना भी उसकी राजनीतिक चेतना के विकास के ही अलग-अलग चरण हैं। **लेनिन का सिर्फ़ यह कहना था मज़दूर वर्ग के स्वतःस्फूर्त आन्दोलन चाहे कितने भी जुझारू क्यों न हों, वे क्रान्तिकारी सिद्धान्त यानी कि सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना को जन्म नहीं दे सकते। सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना से लेनिन का क्या अर्थ था? सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना का अर्थ था वह राजनीतिक चेतना जो पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प की परिकल्पना पेश करे।** निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग अपने वर्ग संघर्षों से इतना राजनीतिक हो जाता है कि वह पूँजीवाद-विरोध तक पहुँच जाये, लेकिन उन्नत से उन्नत स्वतःस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन अपने भीतर से वह सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना नहीं पैदा कर सकता है जो कि पूँजीवाद के व्यावहारिक व वैज्ञानिक विकल्प के प्रश्न को उठा दे और उसे हल भी कर दे। यहाँ लेनिन का यह अर्थ भी नहीं था कि कोई मज़दूर समाजवाद विचारक या चिन्तक नहीं बन सकता। लेनिन ने ‘क्या करें?’ में काऊत्स्की को इस ग़लती को दुरुस्त करते हुए लिखा था कि कोई मज़दूर भी समाजवाद के सिद्धान्त पर पहुँच सकता है, लेकिन उस समय वह एक सामान्य मज़दूर नहीं बल्कि समाजवादी चिन्तक की भूमिका में होता है। पूरा का पूरा वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकता। इसके लिए एक सचेतन तौर पर संगठित एक सामाजिक-जनवादी पार्टी

की ज़रूरत होती है। लेनिन का तर्क महज़ इतना था कि एक हिरावल पार्टी के बगैर मज़दूर आन्दोलन स्वयं क्रान्तिकारी सिद्धान्त तक नहीं पहुँच सकता है। और इसके कारण अलगाव के पूरे मार्क्सवादी सिद्धान्त में हैं। लेनिन के इस सिद्धान्त के कारणों की व्याख्या में दोबारा नहीं जायेंगे क्योंकि हम पिछले अध्याय में इन तर्कों पर चर्चा कर चुके हैं। **लेकिन यहाँ यह स्पष्टीकरण देना ज़रूरी था क्योंकि सोवियत संघ के इतिहास के कई अध्येताओं ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'क्या करें?' में लेनिन की अवस्थिति सन्तुलित नहीं थी और बाद में लेनिन स्वयं इसे मानने लगे थे।** मिसाल के तौर पर, कोस्तास मावराकिस स्वयं ऐसा प्रयास करते हैं। मावराकिस यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बाद में लेनिन मानने लगे थे कि वर्ग स्वयं राजनीतिक बन सकते हैं! निश्चित तौर पर, वर्ग राजनीतिक बन सकते हैं! लेकिन सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना कोई भी राजनीतिक चेतना नहीं है। मावराकिस लेनिन के इस उद्धरण को कि 'क्या करें?' में उन्होंने छड़ी को दूसरे छोर तक मोड़ा है क्योंकि अर्थवादियों ने उसे ग़लत छोर तक मोड़ दिया था, इस बात के सबूत के तौर पर लेते हैं कि लेनिन बाद में 'क्या करें?' में अपनी अवस्थिति को असन्तुलित मानने लगे थे। स्तालिन और माओ को ग़लत ढंग से उद्धृत करते हुए मावराकिस अपने गुरु बेतेलहाइम के पदचिन्हों पर चलते हैं और लेनिन, स्तालिन व स्वयं माओ का "अति-माओवादी" नियोजन करने का प्रयास करते हैं। मावराकिस बताते हैं कि 1921 में लेनिन ने 'क्या करें?' के अनुवाद के साथ एक अच्छी टिप्पणी जोड़ने की वकालत की थी ताकि इसकी अवस्थिति का ग़लत इस्तेमाल न हो। मावराकिस के अनुसार यह इस बात का प्रमाण है कि लेनिन 'क्या करें?' की अपनी थीसिस को ग़लत या असन्तुलित मानते थे! **यह कमाल का तर्क है क्योंकि 1921 में लेनिन, बोल्शेविक पार्टी, सोवियत समाजवाद और रूसी मज़दूर आन्दोलन जिस मंज़िल में खड़े थे, वहाँ सत्तासीन पार्टी को जनता से सीखने और सिखाने दोनों की ही बेतरह ज़रूरत थी; निश्चित तौर पर, 'क्या करें?' का बुनियादी सिद्धान्त अभी भी पूर्णतः वैध और सार्वभौमिक तौर पर लागू करने योग्य था, लेकिन समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा अधिनायकत्व के जिस नाजुक मुकाम पर पार्टी उस समय खड़ी थी, उसमें नौकरशाही और हिरावलपंथ की प्रवृत्तियों के हावी होने का पूरा खतरा था। हम यह भी नहीं भूल सकते कि 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर को बीते हुए अभी साल भी पूरा नहीं हुआ था, जब त्रात्स्की और बुखारिन पार्टी और वर्ग के सम्बन्धों और समाजवादी निर्माण को लेकर अपनी दक्षिणपंथी-वामपंथी थीसीज़ पेश कर रहे थे। बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे तथाकथित "माओवादी" माओ के विचारों का किस प्रकार हेगेलीय भाववादी नियोजन करते हैं, इसके बारे में हम इस अध्याय के परिशिष्ट में विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी फिलहाल हम सांगठनिक कार्यदिशा पर त्रात्स्की के चिन्तन के दीवालियापन पर वापस लौटते हैं।**

जैसा कि हमने बताया एक संगठित और केन्द्रीयतावादी पार्टी के बारे में त्रात्स्की की कोई समझदारी नहीं थी। वास्तव में इस केन्द्रीय महत्व रखने वाले मुद्दे पर त्रात्स्की के पास कहने के लिए कुछ था ही नहीं। त्रात्स्की बस जर्मन "वामपंथी" कम्युनिस्टों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का अनुसरण करते हुए इतना मानते थे कि किसी भी केन्द्रीकृत और अनुशासित पार्टी की ज़रूरत नहीं है क्योंकि ऐसी पार्टी वर्ग के ऊपर तानाशाही के समान होगी और यह कि एक पूँजीवादी समाज में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियाँ सर्वहारा वर्ग को स्वतःस्फूर्त क्रान्तिकारी संगठन की ओर ले जाती हैं और इसके लिए किसी सचेतन प्रयास की

आवश्यकता नहीं है। त्रात्स्की के अनुसार एक लेनिनवादी क्रान्तिकारी पार्टी अन्त में अनिवार्यतः एक प्रतिस्थापनवादी पार्टी बन जायेगी।

त्रात्स्की ने 1905 में सोवियतों को मजदूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता की मिसाल माना। इसका कारण यह था कि सोवियतों में किसी भी एक पार्टी का पूर्ण वर्चस्व उस समय स्थापित नहीं हो सका था। मेशेविक, बोल्शेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी व कुछ अन्य छोटे दल सोवियतों में सक्रिय थे। बोल्शेविकों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम था, लेकिन फिर भी विचारणीय था। त्रात्स्की को पीटर्सबर्ग सोवियत (जिसने एक प्रकार से 1905 में भी और 1917 में भी सोवियतों के आन्दोलन का प्रवर्तन और अगुवाई की थी) को सभी राजनीतिक समूहों ने पीटर्सबर्ग सोवियत के अध्यक्ष के रूप में स्वीकार किया क्योंकि उस समय त्रात्स्की अपने आपको किसी राजनीतिक धड़े से नहीं जोड़ते थे और उन्होंने अपने आपको “राजनीतिक गुटों के ऊपर” एक मध्यस्थ की भूमिका सौंप रखी थी, हालाँकि अधिकांश मसलों पर उनकी अवस्थिति व्यवहारतः मेशेविकों से मेल खाती थी, विशेष तौर पर पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर। उस समय त्रात्स्की मेशेविक अवसरवाद से लेनिन के संघर्ष में लेनिन के खिलाफ खड़े थे। त्रात्स्की उस समय यह हवाई विचार प्रतिपादित कर रहे थे कि मजदूर आन्दोलन की लहर बोल्शेविकों और मेशेविकों को अन्ततः साथ आने के लिए मजबूर कर देगी! यह भी एक प्रकार की स्वतःस्फूर्ततावादी सोच थी। आगे हम इस सोच की रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग की सोच से करीबी पर भी चर्चा करेंगे। त्रात्स्की का यह मानना था कि सोवियतों का आन्दोलन 1905 में रूसी क्रान्ति का प्रमुख प्रेरक तत्व और नेतृत्वकारी कारक था; चूँकि त्रात्स्की नेतृत्वकारी सोवियत यानी कि पीटर्सबर्ग सोवियत के अध्यक्ष चुने गये थे इसलिए त्रात्स्की 1905 की रूसी क्रान्ति के नैसर्गिक नेता थे! यहाँ पर त्रात्स्की अपने अहंकार और अत्यधिक अति-आत्मविश्वास के कारण यह नहीं समझ पाये कि उस समय मौजूद राजनीतिक दलों, और विशेष तौर पर बोल्शेविकों और मेशेविकों के राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन के बिना पीटर्सबर्ग सोवियतें इस भूमिका में कभी नहीं आ सकती थीं। वास्तव में, अगर पीटर्सबर्ग सोवियत कुछ समय और जीवित रही होती तो उसमें भी राजनीतिक गैल्वनीकरण प्रारम्भ हो गया होता और जनता की स्वतःस्फूर्तता की त्रात्स्की की अन्धभक्ति सम्भवतः खण्डित हो गयी होती।

रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग का त्रात्स्की के सांगठनिक उसूलों पर चिन्तन पर ज़बर्दस्त प्रभाव था। लक्ज़ेम्बर्ग ने भी हिरावल पार्टी की भूमिका की उपेक्षा करते हुए व्यापक जन हड़तालें और जनान्दोलनों पर बल दिया था। यह बात दीगर है कि रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग ने यह अवस्थिति जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन में मौजूद दक्षिणपंथी नेतृत्व के प्रति एक “वामपंथी” प्रतिक्रिया देते हुए अपनायी थी। जर्मन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व की रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग द्वारा प्रस्तुत आलोचना के कई नुक्ते बिल्कुल सही थे, जिन पर हम पिछले अध्याय में एक संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। लेकिन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व के दक्षिणपंथी अवसरवाद की आलोचना करते हुए वे पार्टी सिद्धान्त की ही उपेक्षा करने के “वामपंथी” और अराजकतावादी छोर पर चली गयी थीं। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग को यह उम्मीद थी कि दक्षिणपंथी अवसरवादी नेतृत्व जनता के आन्दोलनों के दबाव में अन्ततः क्रान्ति के पक्ष में जाने का तैयार हो जायेगा, ठीक वैसे ही जैसे कि त्रात्स्की को यह उम्मीद थी कि रूसी सामाजिक-जनवाद के अलग-अलग धड़े अन्ततः मजदूर आन्दोलन की लहर के दबाव में एक हो जायेंगे। लेकिन न तो रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग

की उम्मीदें पूरी हो सकीं और न ही त्रात्स्की की! जर्मन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व ने मौका आने पर एक सामाजिक कट्टरवादी और साम्राज्यवाद की सेवा करने वाली अवस्थिति अपना ली, जबकि रूसी क्रान्ति में मेशेविक धड़ा अक्टूबर क्रान्ति को सम्पन्न करने की पूरी प्रक्रिया से न सिर्फ अलग रहा, बल्कि उसने काऊत्स्कीपंथी अवस्थिति से बोल्शेविक क्रान्ति की आलोचना भी की।

अक्टूबर क्रान्ति से ठीक पहले त्रात्स्की ने सांगठनिक उसूलों पर एकदम से 'यू-टर्न' लिया और एक गैर-पार्टी क्रान्तिवादी, "वामपंथी", स्वतःस्फूर्ततावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति से उन्होंने एक अतिकेन्द्रीयतावादी, बल्कि नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी अवस्थिति अपना ली, जो उतनी ही लेनिनवाद-विरोधी है जितनी कि उनकी पुरानी अवस्थिति। लेकिन त्रात्स्की का नौकरशाहाना केन्द्रीयतावाद तत्काल उजागर नहीं हुआ और वह धीरे-धीरे सामने आया। 'युद्ध कम्युनिज़्म' की मंज़िल आते-आते त्रात्स्की एक नये स्तर पर अपनी पुरानी नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी अवस्थिति पर लौट चुके थे; ज़ाहिरा तौर पर यह इतिहास का दुहराव नहीं था। जो पहले त्रासदी के रूप में घटित हुआ था, वह अब एक विडम्बनापूर्ण प्रहसन के रूप में घटित हो रहा था! गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' का दौर आते-आते त्रात्स्की पार्टी के भीतर सबसे सर्वसत्तावादी और नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी के रूप में कुख्यात हो चुके थे। स्वयं त्रात्स्कीपंथी डॉइशर ने स्वीकार किया है कि 'सत्ता में त्रात्स्की नौकरशाहों के कुलपिता' के समान थे। गृहयुद्ध व 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में त्रात्स्की ने श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण का कुख्यात सिद्धान्त दिया जिसका लेनिन ने पुरजोर शब्दों में खण्डन किया और उसे एक दक्षिणपंथी भटकाव बताया। बाद में जब स्वयं त्रात्स्की की अपनी स्थिति एक शीर्ष नौकरशाह की नहीं रह गयी और पार्टी के भीतर दो लाइनों के निर्णायक संघर्ष में स्तालिन के हाथों उन्हें करारी शिकस्त का सामना करना पड़ा तो वह अचानक पार्टी के आन्तरिक जनवाद के प्रति चिन्तित हो गये! अगर इतिहास के तथ्यों पर निगाह दौड़ाये तो हम पाते हैं कि 1917 के बाद त्रात्स्की को पहली बार पार्टी के भीतर जनवाद और नौकरशाही के विरोध की याद तभी आयी थी जब वह स्वयं शीर्ष नौकरशाह नहीं रह गये थे और ज्यादातर प्रश्नों पर पार्टी दो लाइनों के संघर्ष में वह अल्पसंख्यक की स्थिति में पहुँच गये थे। और इस समय भी त्रात्स्की ने पार्टी के भीतर जनवाद के लिए संघर्ष की खातिर सबसे अहम उपकरण किसे माना? गुटवाद (फैक्शनलिज़्म) को! पहले भी त्रात्स्की का मानना रहा था कि पार्टी के भीतर ग़लत विचारों के प्रतिरोध के लिए सबसे उपयुक्त उपकरण गुटबाज़ी है। 1917 के बाद त्रात्स्की पार्टी के भीतर सांगठनिक उसूलों के मसले पर इन्हीं दो छोरों के बीच दोलन करते रहे: नौकरशाहाना-तानाशाहाना केन्द्रीयता और गुटवाद। इस पर थोड़े विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है, ताकि त्रात्स्की के चिन्तन के पूरे चरित्र को व्यवस्थित तौर पर समझा जा सके।

1917 के ठीक पहले तक त्रात्स्की लेनिन के जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त और सम्पूर्ण पार्टी सिद्धान्त के खिलाफ कटुता के साथ लड़ते रहे। 1917 के बाद यानी बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने के बाद पार्टी सिद्धान्त पर दक्षिण और "वाम" अराजकतावादी छोरों के बीच अपने व्यक्तिवादी आग्रहों के मुताबिक दोलन करते रहे। जब त्रात्स्की अपने नौकरशाहाना केन्द्रीयतावाद के छोर पर थे, तब भी लेनिन ने त्रात्स्की की कठोर आलोचना की थी और कहा था कि त्रात्स्की के भीतर चीजों के प्रशासनिक पहलू के प्रति एक अन्धभक्ति का भाव है।

‘युद्ध कम्युनिज़्म’ के दौर में त्रात्स्की के श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के सिद्धान्त को लेनिन ने एक दक्षिणपंथी भटकाव बताया। त्रात्स्की के ये सिद्धान्त एक प्रकार के **कठमुल्लावादी रूपवाद** को दर्शाते थे, जिसके अनुसार समस्याओं का समाधान वर्ग संघर्ष और राजनीति के ज़रिये नहीं बल्कि ऊपर से कार्यकारी निर्देशों और नौकरशाहाना फ़रमानों के ज़रिये, यानी रूपवादी उपायों के ज़रिये किया जाता है। जैसा कि हमने पहले बताया कि त्रात्स्की ने पार्टी के भीतर उस समय से पहली बार कथित तौर पर नौकरशाही और वास्तव में केन्द्रीयता और अनुशासन का विरोध करना शुरू किया जब त्रात्स्की की स्थिति स्वयं पार्टी में अलग-थलग पड़ गयी। लेनिन की मृत्यु से ठीक पहले लेनिन ने जॉर्जियाई मसले पर स्तालिन और ओर्जोनिकिद्ज़े के नौकरशाहाना रवैये पर त्रात्स्की से हस्तक्षेप करने को कहा था, लेकिन त्रात्स्की ने अवसरवाद दिखलाते हुए इस मसले पर हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि त्रात्स्की यदि स्तालिन की जगह रहे होते तो वे जॉर्जियाई मसले में और भी ज़्यादा नौकरशाहाना रुख़ अख़्तियार करते क्योंकि उनकी अवस्थिति इस प्रश्न पर निरंकुशतापूर्ण होती।

जब त्रात्स्की अचानक पार्टी के भीतर “जनवाद” के प्रश्न को लेकर चिन्तित हो गये, उसके बाद से उन्होंने पार्टी के भीतर गुट/धड़े बनाने की राजनीति का सहारा लिया। हालाँकि पार्टी की दसवीं कांग्रेस में गुटवाद पर स्पष्ट रूप में प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, लेकिन इसके बावजूद त्रात्स्की ने विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके आधार पर समूहों की मौजूदगी को आज़ादी देने की बात की थी। हालाँकि बाद में तेरहवीं पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की ने खुद स्वीकार किया कि “प्रवृत्तियों” और “समूहों” तथा गुटों के बीच वास्तव में व्यवहारतः कोई फर्क नहीं होता। इस प्रकार त्रात्स्की अपनी सुविधानुसार कभी “जनवाद” (गुटवाद) और “केन्द्रीयता” (नौकरशाही) का पक्ष लेते रहे। त्रात्स्की कभी नहीं समझ पाये कि पार्टी सिद्धान्त यानी कि जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। यदि पार्टी स्वतःस्फूर्ततावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, गैर-पार्टी क्रान्तिवाद और उदारवाद का विरोध करती है तो साथ ही पार्टी नौकरशाहाना केन्द्रीयता, फ़रमानशाही और जनता से सीखे बगैर जनता को सिखाने और उस पर ऊपर से अपनी इच्छा को थोपने का भी विरोध करती है। जैसा कि हमने शुरू में कहा, जो पार्टी जनता से जीवन्त सम्पर्क बनाते हुए, सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों के साथ एकरूप होते हुए और उन्हें अपने आप में सम्मिलित करते हुए, जनता से सीखते और फिर उसे सिखाते हुए निर्मित होती है, वही सही मायने में सच्ची केन्द्रीयता को भी लागू कर सकती है; जिस पार्टी में नेतृत्व कार्यकर्ताओं से जीवन्त सम्पर्क बनाये रखता है, जहाँ नेतृत्व पर कार्यकर्ता उचित पार्टी संस्थाओं के ज़रिये निगरानी रखते हैं केवल वही नेतृत्व संगठन में पूर्ण अनुशासन और केन्द्रीयता को लागू कर सकता है। यानी, एक जनदिशा लागू करने वाली पार्टी ही सच्चे मायने में जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों पर अमल कर सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता एक ही चीज़ हैं, जैसा कि कोस्तास मावराकिस जैसे “अति-माओवादी” सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस अध्याय के परिशिष्ट में हम मावराकिस और बेतेलहाइम जैसे लोगों द्वारा पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्त के विकृतिकरण पर विस्तार से चर्चा करेंगे। लेकिन यहाँ इतना स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि **आम तौर पर पार्टी सिद्धान्त की बात करते हुए अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और विभिन्न प्रकार के**

गैर-पार्टी क्रान्तिवादियों द्वारा जनवाद और केन्द्रीयता और साथ चेतना/संगठन व स्वतःस्फूर्तता के बीच जिस प्रकार का विरोध खड़ा किया जाता है, वह बिल्कुल कृत्रिम और अवास्तविक होता है। वास्तव में, किसी भी पार्टी में सही मायने में जनवाद तभी हो सकता है, जबकि उसमें केन्द्रीयता हो। जनवाद का आधार पार्टी में जितना व्यापक होगा, केन्द्रीयता का शीर्ष उतना ही मजबूत होगा। पार्टी के भीतर जनवाद के व्यापक आधार के बगैर केन्द्रीयता नौकरशाही में तब्दील हो जायेगी; और केन्द्रीयता के सही तरीके से कार्यान्वयन के बिना मुक्त जनवाद पार्टी को क्लब या सोसायटी जैसे निकाय में तब्दील कर देगा। ठीक उसी प्रकार यदि पार्टी में राजनीतिक चेतना का स्तर ऊपर होगा तो ही जनवाद का स्तर भी ऊँचा हो सकता है, और तभी पार्टी अपनी रोजमर्रा की कार्रवाई में ज़्यादा स्वतःस्फूर्तता और स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकती है। पार्टी में राजनीतिक चेतना के स्तर के उन्नयन के लिए पार्टी को अपने समाज के वर्ग संघर्ष में सतत हिस्सेदारी करनी होगी और सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों को अपने अन्दर सम्मिलित करना होगा और उनके साथ एकरूप होना होगा। इन सभी पहलुओं को अलग-अलग करके आधिभौतिक तरीके से नहीं देखा जा सकता है, अन्यथा, चाहे जनवाद हो या केन्द्रीयता हो, वह एक कार्यभार बन जायेगा जिन्हें कार्यकारी निर्णयों से पूरा करने का प्रयास किया जायेगा और जनवाद अन्ततः गुटवाद, क्लब-सोसायटी की संकीर्ण मानसिकता और निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद में परिणत हो जायेगा, जबकि केन्द्रीयता अन्ततः फरमानशाही और नौकरशाहाना केन्द्रीयता में परिणत हो जायेगी। त्रात्स्की पार्टी सिद्धान्त की इस द्वन्द्वात्मकता को कभी नहीं समझ पाये और इसका कारण त्रात्स्की की पूरी पहुँच और पद्धति में था जो कि वास्तव में गैर-द्वन्द्वात्मक, आधिभौतिकवादी, निगमनवादी, सारसंग्रहवादी और यान्त्रिक है।

त्रात्स्की की इस पूरी समझदारी को बोल्शेविक पार्टी के निर्माण और बोल्शेविकों द्वारा मेशेविकों के खिलाफ चलाये गये संघर्ष के बारे में उनकी राय में भी देखा जा सकता है। 1903 में त्रात्स्की ने कई ऐसे सिद्धान्त पेश किये जो कि लेनिन के पार्टी निर्माण के सिद्धान्त को खारिज तो करते ही थे, साथ ही वे किसी भी प्रकार के पार्टी निर्माण के सिद्धान्त की अनुपस्थिति को वांछित मानते थे। त्रात्स्की ने लेनिन के अनुशासित, ठोस और केन्द्रीयतावादी पार्टी संगठन के सिद्धान्त का विरोध किया और मेशेविकों के ढीले-ढाले और आकारहीन-आकृतिहीन किस्म के ढाँचे का समर्थन किया। वास्तव में, त्रात्स्की हमेशा से ही सांगठनिक पद्धति के तौर पर गुटबाज़ी (factionalism) पर अमल करते रहे थे। जब त्रात्स्की ने मेशेविकों, विसर्जनवादियों और हर प्रकार बोल्शेविक-विरोधियों को मिलाकर 'अगस्त ब्लॉक' बनाया, तो भी त्रात्स्की यही कर रहे थे। इस गुटबाज़ी के सिद्धान्त की नज़र से ही वह बोल्शेविक पार्टी के निर्माण को भी देखते थे। 1903 से लेकर 1917 तक बोल्शेविक पार्टी का निर्माण उनके लिए एक गुट का निर्माण था। 1903 से लेकर 1912 तक बोल्शेविकों ने औपचारिक तौर पर मेशेविकों से अलग पार्टी नहीं बनायी थी, और एक ही पार्टी में बोल्शेविक व मेशेविक दो गुटों के रूप में काम कर रहे थे। लेकिन बोल्शेविकों का एक असंगठित ढाँचे वाली पार्टी में गुट के रूप में सक्रिय होना गुटबाज़ी नहीं थी; इसका कारण यह है कि इस दौर में इस गुट के ज़रिये एक सही किस्म की पार्टी बनाने के लिए ही मेशेविक अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष चल रहा था। यह दिखलाता है कि एक सर्वहारा हिरावल पार्टी के बनने के पहले अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष में कई बार गुट बनाने पड़ते हैं।

लेकिन बोल्शेविकों का गुट पार्टी निर्माण को समर्पित था, न कि पार्टी के विसर्जन को या उसके संशोधनवादी बना दिये जाने को। लेकिन 1903 से 1912 तक त्रात्स्की बोल्शेविकों पर गुटबाजी का आरोप लगाते हैं, जिसे कि तब त्रात्स्की गुलत मानते थे। वैसे इस पूरे दौर में अगर संकीर्णतावादी गुटबाजी पर अमल करने का कोई सभी कीर्तिमान ध्वस्त कर रहा था, तो वह त्रात्स्की थे, हालाँकि उनका दावा था कि वह गुटों के ऊपर विभिन्न गुटों के बीच एक मध्यस्थ के समान हैं! लेकिन इतिहास दिखलाता है कि गुटों से “ऊपर या परे” होने वाले लोग लगभग हमेशा सबसे बड़े गुटबाज होते हैं। कम-से-कम त्रात्स्की के विषय में यह बात एकदम सही साबित होती है। खैर, त्रात्स्की के लिए 1903 से 1912 तक बोल्शेविक गुटबाजी के अपराध के दोषी थे। जब 1912 में बोल्शेविकों ने अलग पार्टी बना ली तो त्रात्स्की ने उन्हें फूट डालने वाला घोषित कर दिया। बाद में, 1917 में जब त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का निर्णय लिया तो उन्होंने अवसरवाद के विरुद्ध बोल्शेविकों के संघर्ष को सही माना, लेकिन तब भी त्रात्स्की का यही मानना था कि बोल्शेविक इस पूरे दौर में एक गुट का निर्माण करते रहे थे। पहले की तरह वह अवसरवाद और गुटबाजी के बीच के संघर्ष को ही देख रहे थे, लेकिन बस अब फर्क यह था कि वह अवसरवाद की बजाय गुटबाजी का पक्ष ले रहे थे! वास्तव में, त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी के निर्माण की प्रक्रिया को कभी समझा ही नहीं क्योंकि उनके लिए पार्टी निर्माण का कोई सिद्धान्त होना ही अवांछित था। इसलिए वह “जनवाद” (अवसरवाद और गुटबाजी) तथा “केन्द्रीयता” (नौकरशाही और फरमानशाही) के छोरों के बीच झूलते रहे। सच्चाई यह है कि अगर बोल्शेविक केवल गुटबाजी कर रहे होते तो वे ऐसी पार्टी खड़ी कर ही नहीं पाते जो कि अक्टूबर क्रान्ति को अंजाम दे सके और जो 1905 से लेकर 1914 और फिर 1914 से लेकर 1917 तक के दौरों के भीषण कठिनाइयों और जटिलताओं को झेल पाते। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 1903 से ही बोल्शेविकों के गुट के रूप में हम भ्रूण रूप में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी को देखते हैं। यह महज गुट नहीं था, बल्कि भविष्य की सर्वहारा हिरावल पार्टी का भ्रूण था, जो विकसित होते-होते अन्ततः 1912 में जन्म लेता है। अन्य गुट जो रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के भीतर सक्रिय थे, उनके लक्ष्य या उद्देश्यों में एक अलग किस्म की पार्टी का निर्माण कभी नहीं था। इसलिए बोल्शेविकों का गुट बनाना वास्तव में गुटबाजी था ही नहीं। और इस रूप में यह कहा जाना चाहिए कि 1921 में दसवीं कांग्रेस में बोल्शेविक पार्टी ने औपचारिक तौर पर गुटबाजी पर प्रतिबन्ध लगा दिया, लेकिन वास्तव में बोल्शेविक कभी भी गुटबाजी का समर्थन नहीं करते थे। बहुत से मार्क्सवादी प्रेक्षक भी 1921 में और उसके पहले के बोल्शेविक स्टैण्ड में फर्क देखते हैं, क्योंकि वे भी बोल्शेविक पार्टी के निर्माण की पूरी प्रक्रिया को सही ढंग से नहीं समझ पाते हैं। नतीजतन, उनमें से कुछ 1921 के निर्णय पर उंगलियाँ उठाते हैं (जैसे कि चार्ल्स बेतेलहाइम जैसे “अति-माओवादी”) तो दूसरे 1921 के पहले की बोल्शेविक अवस्थिति को अपेक्षा से कम कठोर मानते हैं! वे बोल्शेविकों की राजनीतिक प्रैक्टिस में निहित एकता को नहीं देख पाते, इसलिए उन्हें बोल्शेविकों की अवस्थितियों में अनिरन्तरता नज़र आती है। नतीजतन, ई.एच. कार जैसे लोग लेनिन को एक “कठोर यथार्थवादी” करार देते हैं, जिसने हर प्रकार की भाववादी नैतिकता को अपने ठोस लक्ष्य के अधीन कर दिया और समय के साथ अपनी अवस्थितियों को 180 डिग्री तक बदल डालने में कोई हिचक नहीं दिखायी। ई.एच.कार और

इज़ाक डॉइशर जैसे लोगों को पढ़कर समझ नहीं आता कि वे इस बात के लिए लेनिन की निन्दा कर रहे हैं या प्रशंसा! इन प्रेक्षकों के ग़लत प्रेक्षणों का मूल कारण यही है कि वे भी पार्टी निर्माण के लेनिनवादी सिद्धान्त और सांगठनिक प्रश्न पर बोल्शेविकों के व्यवहार की निरन्तरता को नहीं समझ पाते। 1903 से 1917 तक बोल्शेविकों ने पार्टी निर्माण की नयी शैली और पद्धति ईजाद की जो कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक ईजाफ़ा था। 1912 में उन्होंने पार्टी के विसर्जनवादी हिस्से को बाहर कर अपनी अलग पार्टी बना ली और इसने बोल्शेविकों को अपने पार्टी ढाँचे को और अधिक सुदृढ़, तपा-तपाया और ठोस बनाने में मदद की। 1903 से ही बोल्शेविकों का लक्ष्य गुट बनाना नहीं बल्कि एक नये किस्म की सर्वहारा हिरावल पार्टी बनाना था, जो कि दूसरे इण्टरनेशनल की पार्टियों के तर्ज पर न होकर एक अलग केन्द्रीयतावादी और अनुशासित ढाँचे पर आधारित हो। लेकिन त्रात्स्की इस बात को न तो 1917 के पहले समझ पाये और न ही 1917 के बाद। त्रात्स्की का ही अनुसरण करते हुए टोनी क्लिफ़ जैसे त्रात्स्कीपंथी दुख प्रकट करते हैं कि त्रात्स्की 1903 से लेकर 1917 तक गुट बनाने के बहुमूल्य अनुभव और व्यवहार से वंचित रह गये (!) जबकि इसी दौर में बोल्शेविकों ने इस गुटबाज़ी में महारत हासिल कर ली थी। यही कारण था कि संगठन के मामले में बोल्शेविक सफल रहे और त्रात्स्की की अवस्थिति इसमें ग़लत रही! यह पूरा तर्क बहुत से स्तरों पर मज़ाकिया है। एक तो बोल्शेविक गुटबाज़ी नहीं बल्कि पार्टी निर्माण कर रहे थे। दूसरी बात यह कि 1903 से लेकर 1917 तक त्रात्स्की ने गुटबाज़ी में जितना अनुभव और महारत हासिल की, उतनी तो किसी खुले मंशेविक ने भी नहीं की थी।

त्रात्स्की ने औपचारिक तौर पर गुटबाज़ी का विरोध किया और बार-बार घोषणा की कि उनका अख़बार गुटों से अलग और गुटों ऊपर है। लेकिन त्रात्स्की लगातार अपना अलग गुट बनाने का प्रयास करते रहे और उसके “गुटबाज़ी-विरोधी गुट” (anti-factionalist faction) करार देते रहे। उनकी पूरे राजनीतिक जीवन पर निगाह डालें तो वह एक गुट से दूसरे गुट के नेतृत्व में शामिल होने के लिए संघर्ष करते रहे क्योंकि पार्टी निर्माण की पूरी प्रक्रिया को चलाना उनके अनुसार गैर-ज़रूरी था और साथ ही वह एक संगठित अनुशासित पार्टी की ज़रूरत पर भी सवाल खड़ा करते थे। इसका कारण यह भी था कि त्रात्स्की को जिस प्रकार के सांगठनिक जोड़-तोड़ और दाँव-पेच करने की आदत थी, उसकी ऐसी किसी भी संगठित हिरावल पार्टी में कोई गुंजाइश नहीं थी। इसीलिए त्रात्स्की को मंशेविकों का ढीला-ढाला पार्टी ढाँचा बहुत सुहाता था जिसमें कि तमाम गुट और समूह आराम से मौजूद रह सकते थे। यही कारण था कि त्रात्स्की ने एक बार एक्सेलरोद के समान यह प्रस्ताव रखा था कि पार्टी की जगह एक कानूनी मज़दूर कांग्रेस को दे दी जाय। यह प्रस्ताव काफ़ी-कुछ वैसा ही था जैसा कि ‘मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन’ के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रखते हैं, जो कि एक प्रकार की ‘मज़दूर परिषद्’ बनाने की बात करते हैं जो कि समाज में मार्क्सवाद के प्राधिकार को स्थापित करेगी (यानी कि पार्टी का कार्य करेगी), चुनाव लड़ेगी (यानी कि पार्टी के दूमा धड़े का काम करेगी), मज़दूर वर्ग की आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ेगी (यानी कि ट्रेड यूनियन का काम करेगी), और आम जनता इन परिषदों में फ़ैसला लेना सीखेगी (यानी कि सोवियत का काम करेगी)! यह ‘मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन’ के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का कमाल का नुस्खा है! लेकिन इसमें एक ही समस्या है: अगर मज़दूर परिषद् यह सारे काम करेगी, तो पार्टी क्या करेगी? यह ठीक उसी प्रकार का

विसर्जनवाद है जिस विसर्जनवाद की बात एक समय में एक्सेलरोद और फिर त्रात्स्की ने की थी। हम देख सकते हैं कि सुजीत दास जैसे लोगों के विचारधारात्मक पूर्वजों में वर्कर्स अपोजीशन, काउंसिल कम्युनिस्ट, अराजकतावादियों, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों के साथ-साथ त्रात्स्की भी शामिल हैं!

1912 में त्रात्स्की ने सभी बोल्शेविक-विरोधी अवसरवादियों, विसर्जनवादियों आदि को एकत्र करके “अगस्त ब्लॉक” बनाया और दम भरा कि अब वे सब मिलकर एक नयी पार्टी एकता की मिसाल स्थापित करेंगे और फूट डालने वाले बोल्शेविकों को गुलत सिद्ध करेंगे! लेकिन यह “अगस्त ब्लॉक” जिस गति से बना उससे भी तेज़ गति से बिखर गया! त्रात्स्की के गुटबाज़ी-विरोध के दावे और व्यापक पार्टी एकता की भाववादी अपीलों के पीछे सबसे संकीर्णतावादी किस्म की गुटबाज़ी छिपी हुई थी। आम तौर पर, सभी अवसरवादियों पर यह बात लागू होती है जो गौरवपूर्ण शब्दों में फूटवादियों और गुटवादियों की आलोचना करते रहते हैं, और अन्दरखाने गुटबाज़ी के निकृष्टतम उदाहरण पेश करते रहते हैं।

जब त्रात्स्की ने 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का निर्णय लिया तो वह अचानक मंशेविकों और विसर्जनवादियों के विरुद्ध कठोरतम संघर्ष चलाने की बात करने लगे। लेकिन इसके साथ उन्होंने अपनी कोई आलोचना पेश नहीं की, सिवाय इसके कि वह पहले “अपेक्षा से कम केन्द्रीयतावादी” थे और उनका विभिन्न नेताओं के बारे में मूल्यांकन गुलत था! त्रात्स्की की केन्द्रीयता की सोच क्या थी? पहले त्रात्स्की ने लेनिन पर जैकोबिन होने का आरोप लगाया था और लेनिन के इस कथन की आलोचना की थी कि सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के हिरावल से एकरूप हो चुका जैकोबिन है। उस समय त्रात्स्की ने लेनिन को “नया रॉब्सपियेर” और “रॉब्सपियेर का कैरीकेचर” घोषित किया था। लेकिन अब अचानक त्रात्स्की इसी बात के लिए लेनिन की प्रशंसा करने लगे! त्रात्स्की ने फिर से लेनिन को सर्वहारा वर्ग का रॉब्सपियेर कहा; उससे भी आगे बढ़ते हुए त्रात्स्की ने लेनिन को बीसवीं सदी का सर्वहारा क्रॉमवेल कहा! यानी रूपक वही थे लेकिन पहले त्रात्स्की ने उनका प्रयोग निन्दा के लिए किया था और अब प्रशंसा के लिए कर रहे थे! अब त्रात्स्की ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए लेनिन की तारीफ़ कर रहे थे, जिनके लिए कुछ वर्षों पहले वह लेनिन पर गालियों की बौछार कर रहे थे। इस विरोधाभास को कैसे समझा जाय? दरअसल, त्रात्स्की जब केन्द्रीयतावाद पर आये भी तो केन्द्रीयता पर उनकी सोच जनवादी केन्द्रीयतावादी नहीं बल्कि तानाशाहाना और नौकरशाहाना सोच थी। उनके अनुसार सर्वहारा संगठन में एक सक्षम नेता को एक ऐसा प्राधिकार सौंपा जाना चाहिए जो कि प्रश्नों से परे हो। उन्होंने ऐसे नेताओं को विशिष्ट शक्तियाँ और प्राधिकार देने की वकालत की और इस सोच को गम्भीर सिद्धान्त का जामा पहनाया। वह वास्तव में वर्ग अधिनायकत्व का नहीं बल्कि व्यक्तिगत अधिनायकत्व का समर्थन कर रहे थे। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि रॉब्सपियेर और क्रॉमवेल की भूमिका भी इतिहास में दोहरी थी, जिन्होंने एक ओर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने में कोई समझौतापरस्ती नहीं बरती लेकिन साथ ही उन्होंने उस समय क्रान्ति के संगठित व सामूहिक अभिकर्ताओं का नाश भी किया। लेकिन यहाँ हम इनकी चर्चा में नहीं जा सकते। यहाँ दूसरी बात जो गौरतलब है वह यह कि त्रात्स्की इतिहास की महान क्रान्तियों की उपलब्धियों के पीछे महान नेताओं की भूमिका को प्रमुख मानते हैं, न कि क्रान्तिकारी वर्गों की संगठित राजनीतिक कार्रवाई को, जिसमें कि महान

नेताओं की एक अहम भूमिका होती है। एक ऐतिहासिक द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण छोड़कर त्रात्स्की व्यक्ति-केन्द्रित विश्लेषण की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। यही कारण है कि त्रात्स्की के लिए पार्टी के भीतर भी अनुशासन और केन्द्रीयता का अर्थ एक महान नेता का ऐसा नेतृत्व और प्राधिकार होता है, जो प्रश्नों से परे होता है क्योंकि त्रात्स्की के अनुसार ऐसे महान नेता अपने युग के क्रान्तिकारी हितों का सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। त्रात्स्की का पूरा विश्लेषण किस कदर गैर-मार्क्सवादी है यह 1917 के बाद के उनके लेखन में भी साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। (क्रॉमवेल व रॉब्सपियेर की लेनिन से तुलना और वर्ग अधिनायकत्व की बजाय व्यक्तिगत अधिनायकत्व की त्रात्स्की द्वारा वकालत के लिए देखें, *लियाँन ट्रात्स्की ऑन ब्रिटेन*, 1973, पाथफाइण्डर प्रेस, न्यूयॉर्क)।

लेनिन का दृष्टिकोण इस प्रश्न पर बिल्कुल भिन्न था। उनके अनुसार एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कोई भी आम केन्द्रीयता-समर्थक क्रान्तिकारी नहीं होता, बल्कि वह सर्वहारा वर्ग के संगठन से संलयित केन्द्रीयतावादी होता है, वह एक जनवादी-केन्द्रीयतावादी होता है। लेनिन के लिए एक सर्वहारा क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों के साथ एकरूप हो चुका जैकोबिन होता है। गौर करें, कि यहाँ लेनिन रॉब्सपियेर के नाम का उल्लेख नहीं करते क्योंकि जैकोबिन दल के भी तीन धड़े थे। रॉब्सपियेर के धड़े ने अन्य दो धड़ों को पराजित कर दिया था जिनमें से एक एबर्ट का वामपंथी धड़ा था तो दूसरा दाँते का दक्षिणपंथी धड़ा। रॉब्सपियेर ने बुर्जुआ क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के आगे क्रान्तिकारी आतंक के दौर में जो कुछ किया उसे एंगेल्स ने “पागलपन का दौरा” कहा था, जिसमें कि रॉब्सपियेर ने ‘कमेटी ऑफ पब्लिक सेफ्टी’ पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित कर अन्य जैकोबिन नेताओं को ही मृत्यु-दण्ड दे दिया था। रॉब्सपियेर की प्रगतिशील और बाद में नकारात्मक भूमिका को समझे बगैर रॉब्सपियेर का सन्तुलित मूल्यांकन नहीं हो सकता और इसीलिए रॉब्सपियेर के ऐतिहासिक रूपक का इस्तेमाल दुधारी तलवार के रूप में हो सकता है। जब लेनिन ने ‘जैकोबिन’ के रूपक का प्रयोग किया तो वह किसी व्यक्तिगत अधिनायकत्व का समर्थन नहीं कर रहे थे, बल्कि वे जैकोबिन दल की सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारी परम्पराओं के विस्तार की बात कर रहे थे। लेकिन त्रात्स्की के निहितार्थ बिल्कुल भिन्न थे।

यहाँ कुछ शब्द त्रात्स्की के व्यक्तिगत अवसरवाद, अहंकार और संकीर्णतावाद पर भी कहे जाने चाहिए। त्रात्स्की ने 1903 से 1917 के बीच की अपनी अवस्थिति को 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होते समय बिल्कुल बदल दिया। लेकिन अपनी पुरानी स्वतःस्फूर्ततावाद, केन्द्रीयता-विरोधी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति के बारे में त्रात्स्की ने कभी कोई सुसंगत आत्मालोचना नहीं पेश की। अपनी आत्मकथा में त्रात्स्की इस पूरे प्रकरण को ऐसे पेश करते हैं, जिससे कि वह अपनी इज्जत बचा सकें! त्रात्स्की कहते हैं कि वह हमेशा से ही केन्द्रीयता के समर्थक रहे थे लेकिन बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने से पहले बस वह यह नहीं समझ पाये थे कि एक पार्टी के भीतर जितनी केन्द्रीयता की वह अपेक्षा करते थे उससे कहीं ज़्यादा केन्द्रीयता की ज़रूरत होती है! साथ ही, त्रात्स्की ने कतिपय नेताओं के विषय में अपने मूल्यांकन को ग़लत माना और कहा कि वह उन नेताओं के बारे में ग़लत राय रखने के कारण कई बार सही पक्ष नहीं चुन पाये और मेशेविक अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष में भी उनका रवैया ढीला रहा। त्रात्स्की के अनुसार कुछ निश्चित मेशेविकों के प्रति उनका व्यक्तिगत अनुराग-भाव भी

संघर्ष के आड़े आ गया! आप देख सकते हैं कि त्रात्स्की कहीं भी अपने सांगठनिक सिद्धान्त की आलोचना नहीं पेश करते हैं। यह एक 'आकस्मिकतावादी' किस्म की आत्मालोचना है, जिसमें कहीं भी व्यक्ति की कार्रवाइयों का कार्य-कारण सम्बन्ध का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है।

लेकिन दूसरे लोगों के विश्लेषण में त्रात्स्की एक दूसरा ही रवैया अपनाते थे। जो उनसे सहमत होता था और जो उनसे असहमत होता था, उसके आधार पर उनकी आलोचना या विश्लेषण का रवैया निर्धारित हो जाता था। जो उनसे सहमत होता था त्रात्स्की उनके व्यक्तित्वों की अत्युक्ति अलंकार के साथ बढ़ाई करते थे; उन्हें शानदार क्रान्तिकारी चरित्र और असाधारण प्रतिभा का धनी बताया जाता था। लेकिन अगर वे ही लोग उनसे असहमत हो जाते थे, तो उन पर निहायत व्यक्तिगत किस्म के और अनैतिक किस्म के हमले किये जाते थे; मिसाल के तौर पर, उनके ऊपर सर्वहारा वर्ग के साथ अपराधपूर्ण गद्दारी करने, लक्ष्य से च्युत हो जाने, बेईमान हो जाने, बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बन जाने के आरोप लगाये जाते थे! जिन लोगों ने त्रात्स्की का साथ दिया था, मिसाल के तौर पर **विक्टर सर्ज** जैसे लोग, उन्होंने भी जब त्रात्स्की से अपना मतान्तर पेश करने का प्रयास किया तो अचानक त्रात्स्की ने उन्हें असाधारण चरित्र के क्रान्तिकारी से भ्रमित भाववादी, पार्टी को पतन की ओर ले जाने वाले बातूनी मूर्ख की संज्ञा दे डाली। सर्ज के अलावा त्रात्स्की ने दुनिया के अन्य त्रात्स्कीपंथी संगठनों के हरेक ऐसे सदस्य के साथ यही बर्ताव किया जिसने त्रात्स्की से मतान्तर रखने का साहस किया। विश्व त्रात्स्कीपंथी आन्दोलन में त्रात्स्की के बेटे **लियोन सेदोव** भी थे, जिन्होंने अपनी माँ को लिखे पत्र में कहा था, “मुझे लगता है कि बूढ़े होने के साथ पिता जी की कमजोरियाँ कम नहीं हुई हैं, बल्कि अलगाव में रहने के कारण वे और भी ज़्यादा मुश्किल, अभूतपूर्व रूप से मुश्किल और खराब हो गयी हैं। उनमें सहिष्णुता का अभाव, बदमिजाज़ी, अनिरन्तरतापूर्ण व्यवहार, रुक्षता, अपमानित करने, चोट पहुँचाने और यहाँ तक कि बरबाद कर देने की उनकी इच्छा बढ़ गयी है। यह कोई 'व्यक्तिगत' गुण नहीं है, बल्कि उनकी पद्धति है और यह सांगठनिक काम के लिए कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है।” (सं-डेविड कॉटरिल, *दि सर्ज-ट्रॉट्स्की पेपर्स*, 1994, प्लूटो प्रेस, पृ. 155, अनुवाद हमारा)

यह व्यक्तिवादी संकीर्णतावादी तरीका त्रात्स्की का कोई लघुकालिक विचलन नहीं था, बल्कि उनकी पद्धति थी। 1902 में दूसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन से मतभेद के बाद और उसके पहले त्रात्स्की ने जिन शब्दों में लेनिन के बारे में अपनी राय रखी उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर था। 1902 में मतभेदों के उजागर होने के बाद अगले तीन वर्षों तक मंशेविकों ने नये इस्क्रा के ज़रिये लेनिन के ख़िलाफ़ जो कृत्साप्रचार और गाली-गलौच की मुहिम चलायी, उसमें त्रात्स्की ने पुराने मंशेविकों को भी काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। त्रात्स्की ने इन वर्षों के अपने लेखन में लेनिन को “रॉब्सपियरे का कैरीकेचर”, “वीभत्स”, “लम्पट”, “दलपति”, “दुर्भावनापूर्ण व नैतिक रूप से विकर्षक” व्यक्ति और “अंह-केन्द्रीयतावादी” करार दिया! निश्चित तौर पर, राजनीतिक संघर्ष में कभी-कभी असन्तुलित भाषा और व्यक्तिगत आक्षेपों का प्रयोग हो जाता है; लेकिन औरों के लिए अगर यह चूक के रूप में होता था, तो त्रात्स्की के लिए यह एक नियम, एक पद्धति थी। यहाँ तक कि त्रात्स्कीपंथी **टोनी क्लिफ़** ने भी माना है कि मंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच फूट के बाद त्रात्स्की कीचड़ उछालने के मामले में

सबसे आगे थे और उन्होंने मार्तोव, प्लेखानोव और ज़ासुलिच जैसे पुराने मंशेविकों को भी काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। त्रात्स्की ने 1917 के ठीक पहले तक लेनिन पर लगातार हमले करना जारी रखा। 1913 में एक मंशेविक नेता **चखीदज़े** को लिखे गये एक पत्र में त्रात्स्की ने लिखा था कि **“लेनिनवाद का पूरा ढाँचा इस समय झूठों और फरेबों पर आधारित है और स्वयं इसके भीतर ही इसके पतन के तत्व मौजूद हैं।”** त्रात्स्की ने इस दौर में लेनिन को **“रूसी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में मौजूद हर पिछड़ेपन का चतुराई से इस्तेमाल करने वाला”** व्यक्ति बताया! अगर कोई त्रात्स्की के ऐसे शब्दों को पढ़ता है जिसमें उन्होंने लेनिन पर व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप लगाये हैं, तो उसे लग सकता है कि त्रात्स्की हमेशा से ही लेनिन के संगठन-सम्बन्धी विचारों और व्यक्तित्व को लेकर सशक्त रहे होंगे और उनकी यह शंका 1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस के बाद पुष्ट हो गयी होगी; लेकिन ऐसा नहीं है। 1903 के पहले त्रात्स्की लगभग इन्हीं मुद्दों पर लेनिन की अवस्थिति के प्रशंसक थे! लेकिन 1903 के बाद अचानक त्रात्स्की के रवैये में परिवर्तन आया जो कि 1917 तक कायम रहा। लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि 1917 में त्रात्स्की ने अपनी इन आलोचनाओं को वापस तो लिया लेकिन उस पूरे दौर में अपने इस रवैये की कोई सुसंगत आलोचना नहीं रखी। इससे साफ़ दिखता है कि त्रात्स्की के पास लेनिन पर कीचड़ उछालने के लिए इसके सिवाय कोई और कारण नहीं था, कि अब त्रात्स्की और लेनिन के बीच राजनीतिक मतभेद था। ऐसा लगता है कि त्रात्स्की का यह मानना था कि केवल गुलत राजनीतिक चरित्र, व्यक्तित्व और समझदारी वाले लोग ही उनसे असहमत हो सकते हैं क्योंकि बाद में भी त्रात्स्की ने उनसे असहमत लोगों के प्रति यही रवैया अपनाया था।

त्रात्स्की ने 1903 की पार्टी कांग्रेस में शुरुआत में लेनिन से भी ज़्यादा कठोर शब्दों में अर्थवादियों की आलोचना की थी और इस्क्रा द्वारा अर्थवादियों के खिलाफ़ चलाये जा रहे संघर्ष का पक्ष लिया था। लेकिन जैसे ही लेनिन के साथ उनका मतभेद हुआ वैसे ही उन्होंने न सिर्फ़ लेनिन पर आरोपों की बौछार शुरू की, बल्कि अर्थवादियों के खिलाफ़ इस्क्रा द्वारा चलाये गये संघर्ष को भी क्रान्तिकारियों, बुद्धिजीवियों पर प्रभाव के लिए चलाया जाने वाला संघर्ष करार दे दिया जिसके लिए सर्वहारा वर्ग का संघर्ष पृष्ठभूमि में था। 1905 की क्रान्ति के बाद जब पार्टी में ही कुछ विसर्जनवादी पैदा हुए और ज़ारशाही के दमन के समक्ष पूरी तरह कानूनी बन जाने की वकालत करने लगे, तो लेनिन ने इनके खिलाफ़ कठोर संघर्ष चलाया। लेकिन विसर्जनवादी अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष को भी त्रात्स्की ने **“मार्क्सवादी बौद्धिकतावादियों”** का **“एक अपरिवपक्व सर्वहारा वर्ग पर प्रभाव”** के लिए संघर्ष बताया! निश्चित तौर पर, इन अवस्थितियों के पीछे पार्टी निर्माण के प्रश्न पर त्रात्स्की का राजनीतिक दीवालियापन भी था, जिस पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। लेकिन यहाँ पर त्रात्स्की का व्यक्तिगत संकीर्णतावाद भी था, जो कि उनके हमलों के स्वर को निर्धारित कर रहा था।



फरवरी क्रान्ति तक त्रात्स्की से जिन दो प्रश्नों पर लेनिन का संघर्ष हुआ वे प्रश्न थे ‘स्थायी क्रान्ति’ की त्रात्स्की की गैर-मार्क्सवादी अवधारणा और सांगठनिक उसूलों या पार्टी सिद्धान्त

का प्रश्न। हमने देखा कि ऊपर से औपचारिक तौर पर त्रात्स्की ने 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने के बाद चाहे अपनी पुरानी अवधारणाओं को त्याग देने का दावा किया हो और लेनिन की अवस्थिति को अपना लेने का दावा किया हो, लेकिन वास्तव में त्रात्स्की अन्दर से न तो लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त को कभी समझ पाये और न ही लेनिन के पार्टी सिद्धान्त को। यही कारण था कि लेनिन की मृत्यु के तुरन्त बाद ही त्रात्स्की ने एक रचना लिखकर प्रच्छन्न तौर पर यह दावा किया कि अक्टूबर क्रान्ति के अनुभवों ने त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही साबित किया है, और वास्तव में लेनिन ने बाद में यह सिद्धान्त अपना लिया था। इसके खिलाफ पार्टी के भीतर ही त्रात्स्की की बुखारिन, स्तालिन, क्रुप्सकाया, जि़नोवियेव जैसे वरिष्ठ नेताओं ने कड़ी आलोचना की। साथ ही, त्रात्स्की ने राजनीतिक अल्पसंख्या में आते ही नौकरशाहाना केन्द्रीयता छोड़ गुटबाज़ी की हरकतें शुरू कर दी थीं। न तो क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रश्न पर त्रात्स्की कभी सही अवस्थिति अपना पाये और न ही सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर। क्रान्ति के बाद 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' को लेकर त्रात्स्की ने स्तालिन से बहस चलायी और उस बहस में भी त्रात्स्की के इस सिद्धान्त का मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी चरित्र खुलकर सामने आ गया कि 'एक देश में समाजवाद का निर्माण' हो ही नहीं सकता। वास्तव में, त्रात्स्की ने बाद में 1936 में सामूहिकीकरण के आन्दोलन के सफल होने का बाद स्वयं ही मान लिया था कि सोवियत संघ में समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं! लेकिन 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' की असम्भाव्यता के त्रात्स्की के सिद्धान्त की जड़ भी त्रात्स्की की दो ग़लत अवधारणाओं में थी: पहला, त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त और दूसरा त्रात्स्की का अर्थवाद। जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है, 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के अनुसार त्रात्स्की का मानना था कि किसान आबादी मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी पार्टी के नेतृत्व में सत्ता पर कब्जे में कोई सचेतन राजनीतिक भूमिका नहीं निभा सकती है और मज़दूर सत्ता स्थापित हो जाने के बाद वह उसी अज्ञान और मूढ़ता के साथ समाजवादी सत्ता के पक्ष में आ जायेगी, जिस अज्ञान और मूढ़ता के साथ वह ज़ार के पक्ष में खड़ी हो जाती है; यानी कि किसान आबादी का कोई सचेत राजनीतिक अभिकरण नहीं होता और सर्वहारा वर्ग द्वारा सही राजनीतिक नेतृत्व दिये जाने पर भी वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में सचेतन हिस्सेदारी नहीं कर सकती। नतीजतन, क्रान्ति के बाद भी किसानों का समाजवादी सत्ता को जो समर्थन मिलता है वह टिकाऊ नहीं होता बल्कि क्षणभंगुर होता है; ऐसे में, त्रात्स्की के अनुसार, यदि उन्नत पूँजीवादी देशों का सर्वहारा वर्ग क्रान्ति करके रूसी सर्वहारा सत्ता की मदद के लिए नहीं आता, तो फिर रूस जैसे पिछड़े देश में किसानों के अनिश्चिततापूर्ण समर्थन पर सोवियत सत्ता लम्बे समय तक नहीं टिक सकती और जैसे ही समाजवाद के निर्माण का कार्यक्रम आगे बढ़ेगा, वैसे ही किसान आबादी ही सोवियत सत्ता के खिलाफ़ जा खड़ी होगी, जो कि पहले से साम्राज्यवादी घेराबन्दी झेल रही सोवियत सत्ता के लिए प्राणान्तक सिद्ध होगा! दूसरा कारण जिसके चलते त्रात्स्की एक पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में समाजवाद के निर्माण को असम्भव मानते थे वह यह था कि पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में उत्पादन आवश्यकता से कम होगा जिसके कारण अभाव की समस्या होगी; इस अभाव की समस्या के कारण वितरण के कार्य को नियन्त्रित करने के लिए एक संस्था की ज़रूरत पड़ेगी, जिसकी भूमिका पुलिस जैसी हो जायेगी। यह संस्था राज्य होगी। ऐसे में राज्य में नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी जो कि अन्त में

मजदूर राज्य को 'विकृत मजदूर राज्य' में तब्दील कर देंगी। इसके लिए त्रात्स्की ने वस्तुओं के लिए दुकान में लगने वाली लोगों की लाइन का उदाहरण दिया और कहा कि अगर वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में पैदा नहीं हो रही हैं तो उसके लिए लाइन लगानी पड़ेगी और ऐसी लाइन को नियंत्रित करने के लिए एक कांस्टेबल की आवश्यकता होगी और यही सर्वहारा राज्यसत्ता के नौकरशाहाना पतन का कारण बनेगा। त्रात्स्की ने लिखा, “नौकरशाहाना शासन का आधार समाज में उपभोग की वस्तुओं का अभाव होता है, जिसका नतीजा होता है आपस में संघर्ष। जब किसी दुकान में खरीदने के लिए पर्याप्त सामान हों तो खरीदार जब चाहें आ सकते हैं। जब सामान कम हों तो खरीदारों को पंक्ति में खड़ा होने का बाध्य होना पड़ता है। जब पंक्तियाँ बहुत लम्बी हों तो व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक पुलिस वाले को रखना पड़ता है। सोवियत नौकरशाही का आरम्भ-बिन्दु यही है। इसे 'पता है' कि किसे कुछ मिलना है, और किसे अभी इन्तज़ार करता है!...ऐसा कोई भी जिसे समृद्धि का वितरण करना हो, वह अपने आपको उस वितरण से कभी बाहर नहीं करता। इस प्रकार सामाजिक आवश्यकता से एक ऐसा अंग पैदा होता है जो अपने सामाजिक रूप से आवश्यक प्रकार्य से आगे निकल जाता है और एक स्वतन्त्र कारक बन जाता है और इस प्रकार पूरे शरीर के लिए एक विशाल खतरा बन जाता है।” (लियोन त्रात्स्की, *दि रिवोल्यूशन बिट्रेड. व्हाट इज़ दि सोवियत यूनियन एण्ड व्हेयर इज़ इट गोइंग.* 1937, लन्दन, फेब्र एण्ड फेब्र, पृ. 110-11, अनुवाद हमारा)

इतिहास ने दिखला दिया है कि त्रात्स्की के दोनों तर्क ही ग़लत थे। पहला तर्क वर्ग विश्लेषण से रिक्त लासालवाद, “वामपंथी” दुस्साहसवाद और ग़ैर-द्वन्द्ववादी नज़रिये की पैदावार है, जबकि दूसरा तर्क भोंड़े किस्म का अर्थवाद है, जिसके अनुसार सोवियत संघ में मजदूर राज्य में विकृति इसलिए आ गयी क्योंकि उत्पादन कम था! लेकिन तथ्यतः जिस दौर की बात त्रात्स्की कर रहे हैं उस दौर में सोवियत संघ दुनिया की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्तियों में से एक बन चुका था। हम त्रात्स्की के 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' के तर्कों का आगे के अध्यायों में और विस्तार से विश्लेषण करेंगे। लेकिन यहाँ इतना समझना जरूरी है कि त्रात्स्की का 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' की असम्भाव्यता का तर्क उनके 'स्थायी क्रान्ति' के ग़ैर-द्वन्द्वात्मक लासालवादी और “वामपंथी” दुस्साहसवादी सिद्धान्त से ही निकलने वाला एक दक्षिणपंथी तर्क है।

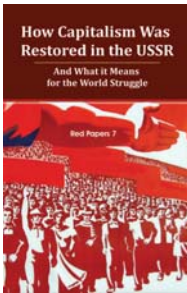


पार्टी निर्माण और गठन के पहले नरोदवाद, “कानूनी” मार्क्सवाद और अर्थवाद से चले संघर्ष और पार्टी गठन के बाद मेशेविकों और त्रात्स्कीपंथियों से चले संघर्ष वे प्रमुख राजनीतिक संघर्ष थे, जिन्होंने एक ओर शुरुआती दौर में रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के आकार और आकृति को निर्धारित किया, वहीं पार्टी गठन के बाद पार्टी के निर्माण की पूरी प्रक्रिया को निर्धारित किया। इस पूरे संघर्ष में लेनिन की भूमिका कम-से-कम 1898-99 से निर्धारक की बन चुकी थी। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि करीब दो से ढाई दशक तक चले इस राजनीतिक संघर्ष को महज लेनिन के योगदानों की श्रृंखला के तौर देखा जा सकता है। लेनिन के नेतृत्व में समूचे

बोल्शेविक नेतृत्व ने यह संघर्ष चलाया। निश्चित तौर पर, कई मौकों पर इस नेतृत्व में लेनिन स्वयं अकेले पड़ जाते थे, लेकिन अन्ततः यह बोल्शेविक नेताओं की कोर कुल मिलाकर लेनिन की अवस्थिति को अपनाती थी और अन्य विजातीय विचारधारात्मक प्रवृत्तियों से संघर्ष में लेनिन के साथ खड़ी होती थी। कोई भी कम्युनिस्ट एकता इसी प्रकार कार्य करती है। वह किसी भी सूरत में एकाशमी नहीं हो सकती और द्वन्द्वत्मक गति से आगे बढ़ती है। लेनिन की महानता इस पूरे राजनीतिक संघर्ष को अपनी विचारधारात्मक व राजनीतिक समझदारी और नेतृत्व में सही दिशा में आगे ले जाने में निहित थी।

इस अध्याय के परिशिष्ट के तौर पर हम चार्ल्स बेतेलहाइम और कोस्तास मावराकिस जैसे “अतिमाओवादियों” का आलोचनात्मक विश्लेषण पेश करेंगे, जिन्होंने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का एक हेगेलीय भाववादी नियोजन किया है और सोवियत संघ के पूरे इतिहास का एक निहायत भाववादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और कहीं-कहीं पर त्रात्स्कीपंथी संस्करण और विश्लेषण पेश किया है। और यह सारा कार्य माओवाद के नाम पर किया गया है। यही कारण है कि हम इनकी एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी आलोचना के साथ आगे बढ़ेंगे और 1917 तक के दौर के बारे में विशेष तौर पर बेतेलहाइम ने जो कुछ लिखा है, उस पर अपना दृष्टिकोण रखेंगे।

An Important Book from Rahul Foundation



How Capitalism was Restored in the USSR

And What It Means for the World Struggle

The ideological significance of this book is indisputable from the perspective of building a thorough and well-defined Marxist-Leninist understanding on the problems of socialism and capitalist restoration. It holds immense significance even today for ideological preparation of all those who are committed to the reconstruction of the socialist project.

Price: Rs. 175

ISBN 978-93-80303-55-0

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782

Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण

शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान

यह लेख 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' विषय पर चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12-16 मार्च, चण्डीगढ़) में आधार आलेख के तौर पर प्रस्तुत किया गया था।

भारतीय समाज को शोषणमुक्त बनाने की कोई भी क्रान्तिकारी परियोजना जाति प्रश्न को छोड़कर नहीं बनायी जा सकती। इस धारणा को सिरे से खारिज करने के पर्याप्त आधार हैं कि पहले सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर कुछ सुनिश्चित सचेतन प्रयासों से जाति-व्यवस्था को समाप्त किया जाना चाहिए, इसके बाद ही जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी सम्भव हो सकती है। इसके विपरीत, यह धारणा भी उतनी ही ग़लत है कि वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और सर्वहारा क्रान्ति की प्रक्रिया जाति-व्यवस्था को स्वतः समाप्त कर देगी, अतः यह प्रश्न अलग से कोई अहम मुद्दा बनता ही नहीं है। हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया जाति-आधारित उत्पीड़न के विविध रूपों और उनकी कारक-वाहक संस्थाओं को स्पष्ट निशाना बनाये बिना आगे बढ़ ही नहीं सकती, इसके बिना जातियों में बँटी हुई और सामाजिक पार्थक्य की शिकार व्यापक मेहनतकश जनता के विभिन्न वर्गों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण और लामबन्दी सम्भव नहीं। साथ ही, क्रान्ति के हरावलों को जाति-उन्मूलन की एक ऐतिहासिक-वैज्ञानिक, तर्कसंगत परियोजना प्रस्तुत करनी होगी, जो भले ही दीर्घकालिक (स्वाभाविक है कि ऐसी ही होगी) हो, पर जिसके कुछ ठोस तात्कालिक कार्यभार भी हों। हाँ, इतना तय है कि जाति-व्यवस्था के अन्तिम तौर पर, समूल नाश के लिए, सर्वहारा राज्य की स्थापना के बाद भी, उत्पादन-सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और समाजवादी

सामाजिक-राजनीतिक-शैक्षिक-सांस्कृतिक ढाँचे के क्रमशः उन्नततर होते जाने की सुदीर्घ प्रक्रिया के साथ-साथ विचार और संस्कृति के धरातल पर भी सतत क्रान्ति की प्रक्रिया चलानी होगी। इस आलेख में हम आगे अपनी इस प्रस्थापना की विस्तार से चर्चा करेंगे और इस सन्दर्भ में, हमारे हिसाब से, जो ग़लत, अधूरी, अस्पष्ट और भ्रामक प्रस्थापनाएँ प्रचलित हैं, उनका खण्डन भी करेंगे।

यदि ठोस अमल की दिशा में आगे बढ़ना हो तो हमारे सामने सवाल कई हैं। पूँजीपति, बड़े-मँझोले व्यापारी, कुलक, फार्मर, नौकरशाहों से लेकर विभिन्न उच्च मध्य वर्ग के लोग और अन्य परजीवी जमातें – जो शासक वर्ग और उनके पक्षधर वर्ग हैं, उनके हितों में आपसी टकराव भी हैं, लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के विरुद्ध राजनीतिक नीतिगत निर्णय और कार्रवाई में वे एकजुट हैं। दूसरी ओर, जो गाँव और शहर के सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा हैं, निम्न मध्य वर्ग और निम्न मध्यम किसान हैं – जो क्रान्ति की मुख्य ताकत हैं, उनकी एकजुटता की राह में अन्य समस्याओं के अतिरिक्त एक अहम समस्या यह है कि वे जातियों में बँटे हुए हैं, उनके बीच कई स्तरों पर सामाजिक पार्थक्य {segregation} की छोटी-बड़ी दीवारें हैं। सवाल है कि जो जातिगत पूर्वाग्रह और अन्तरविरोध भारतीय समाज में, किसी न किसी रूप में लगभग सर्वव्याप्त हैं, उनके पीछे केवल अधिरचनात्मक कारण (पुराने संस्कार या कुछ लोगों के शब्दों में, ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रभाव) ही मुख्य कारण है, या कुछ आर्थिक कारण हैं जो अधिरचनात्मक कारणों को सम्बल और बल देने का काम करते रहते हैं? अक्सर देखने में आता है कि किसी जातिगत टकराव या दलित उत्पीड़न की घटना के पीछे, कम या ज़्यादा गहराई में वर्गों के आर्थिक हितों का टकराव मुख्य कारण होता है, लेकिन उस मामले पर समाज में जो ध्रुवीकरण होता है, वह जातिगत आधार पर ही होता है! भारत में वोट बैंक की बुर्जुआ संसदीय राजनीति जाति-ध्रुवीकरण को अपना एक मुख्य साधन बनाती है, लेकिन क्या वही तीखे जाति-अन्तरविरोधों का मुख्य कारण है? जाति यदि केवल अतीत का बोझ है, सामन्ती अवशेष है या “ब्राह्मणवादी” संस्कृति का प्रभाव है तो कुछ आमूलगामी सामाजिक आन्दोलन ही इसे कुछ समय में उखाड़ फेंकते। लेकिन ऐसा लगता नहीं है। जाति-व्यवस्था अपनेआप में उतनी जड़ नहीं है, जितनी लगती है। इसमें एक खास किस्म की आन्तरिक गतिशीलता है, जिसके चलते प्राचीन भारत में पैदा होकर मध्य काल और औपनिवेशिक दौर के ऐतिहासिक कालखण्डों को पार करती हुई यह आज भी अपनी प्रभावी उपस्थिति बनाये हुए है। हर सामाजिक- आर्थिक संरचना के अनुरूप ढल पाने में यह सक्षम थी और अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों के शासक वर्गों ने हितपूर्ति के लिए इसे अनुकूलित कर लिया है।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर कुछ विभ्रम तो किताबी पण्डितों की अपनी समस्या के नाते हैं, कुछ मार्क्सवाद के प्रति अज्ञानतापूर्ण पूर्वाग्रह से भरे उत्पीड़ित जातियों के अतीत के मान्य नेताओं के विचारों के प्रभाव के चलते हैं, कुछ विभ्रम अमेरिकी समाजशास्त्रीय विचारों और ‘अस्मिता की राजनीति’ जैसी उत्तर-आधुनिकतावादी बुर्जुआ विचारधाराओं के चलते हैं, कुछ दलित जातियों से उभरे निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के अपने वर्ग हितों से प्रेरित होकर गढ़े गये सिद्धान्तों के चलते हैं, कुछ अधकचरे और संशोधनवादी मार्क्सवादियों के यान्त्रिक भौतिकवादी विश्लेषणों और कुकृत्यों के चलते हैं और कुछ इसलिए भी हैं कि अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन ने, जैसे भारतीय क्रान्ति के अन्य बुनियादी प्रश्नों पर,

वैसे ही जाति प्रश्न पर भी, सांगोपांग विश्लेषण करके ठोस कार्यक्रम नहीं रखा। लेकिन, इन विभ्रमों के कई ठोस वस्तुगत आधार भी हैं। जैसे, एक प्रमुख वस्तुगत आधार यह है कि दलित जातियों का बहुतायत सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा (ज्यादातर ग्रामीण और लगातार बढ़ती तादाद में शहरी) है, पर सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा वर्गों का बहुतायत दलित जातियों से नहीं आता। आज गाँवों में जो कुलक हैं, वे ज्यादातर मध्य जातियों के हैं और दलितों का उत्पीड़न करने में वे सवर्ण जातियों के भूतपूर्व सामन्ती भू-स्वामियों से कहीं आगे हैं, लेकिन उन्हीं मध्य जातियों की बहुसंख्यक आबादी गरीब या निम्न मध्य किसान है और मजदूर वर्गों में भी आ चुकी है। पूँजीपतियों में सभी जातियों के लोग हैं (दलित नाममात्र के ही हैं), पर नौकरशाही और बौद्धिक पेशों पर, विशेषकर उच्च स्तरों पर आज भी मुख्यतः सवर्णों का वर्चस्व है। आरक्षण के चलते इस दायरे में दलितों और कुछ मध्य जातियों की भी पहुँच बनी है, पर आबादी के अनुपात में उनका प्रतिशत बहुत कम है और निम्न से उच्च पदों की ओर वह प्रतिशत तेज़ी से घटता गया है। ऐसे में, यह व्यावहारिक सवाल बनता है कि जाति-व्यवस्था विरोधी कोई संयुक्त मोर्चा कैसे बने? सवर्ण और अन्य जातियों के गरीब मेहनतकशों को क्रान्तिकारी प्रचार के द्वारा जनवादी चेतना दिये बिना और साझा आर्थिक-राजनीतिक हितों के मुद्दों पर उन्हें लामबन्द किये बिना क्या यह सम्भव है? और जब तक इस प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, तब तक जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और रणनीतिक संयुक्त मोर्चा बना पाना भी क्या सम्भव हो सकेगा? क्या जातिगत आधार पर सिर्फ दलितों की लामबन्दी उनकी वास्तविक मुक्ति या जाति उन्मूलन की मंजिल तक हमें पहुँचा सकती है?

सवाल यह भी है कि दलित जातियों को कुछ रियायतें, सहूलियतें और सुरक्षा के लिए संवैधानिक-वैधिक प्रावधान एक बात है और दलित-उत्पीड़न, उनके सामाजिक पार्थक्य, अपमान और दोगम दर्जे की सामाजिक स्थिति का पूर्णतः खात्मा तथा जाति प्रथा का नाश सर्वथा अलग बात है। क्या आरक्षण जैसी रियायतों का रास्ता अन्ततः दलित-मुक्ति और जाति-उन्मूलन तक जाता है? क्या भारतीय संविधान के दायरे (62 वर्षों का अमल हमारे सामने है) या उपनिवेशवाद के गर्भ से पैदा हुए और साम्राज्यवाद के युग में पले-बढ़े, अतिसीमित, विकृत, विरूपित भारतीय पूँजीवादी जनवाद के दायरे में, दूर-दूर तक हमें ऐसी कोई सम्भावना नज़र आती है? छह दशकों में दलितों को आरक्षण से कितना लाभ मिला है और इस रफ़्तार से वे अपनी स्थिति से कब तक उबर पायेंगे? आरक्षण जब दिया गया तब एक बुर्जुआ जनवादी अधिकार के रूप में वह सर्वथा उचित था, पर अब कहीं वह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम पैदा करने का साधन बनकर तो नहीं रह गया है? क्या यह भी सवाल नहीं है कि आरक्षण के ज़रिए ऊपर उठकर शहरी मध्यवर्ग में शामिल दलित बुद्धिजीवियों का गाँव और शहर के दलित सर्वहाराओं के साथ साझा हित नहीं बनता है और शासन-प्रदत्त रियायतों का लाभ ज्यादातर उन्हें ही मिलता है, इसीलिए जाति-प्रथा के विरुद्ध तमाम आग उगलने के बावजूद, वे आरक्षण और संविधान के दायरे से बाहर जाति-नाश और दलित मुक्ति की किसी परियोजना पर सोचने को प्रायः तैयार नहीं होते, अतीत के दलित आन्दोलनों और उनके सैद्धान्तिक आधारों और उनके सिद्धान्तकारों की भूमिका पर सोचने-विचारने के लिए तैयार नहीं होते और वर्तमान में भी कभी, दलितों में से पूँजीपति पैदा करने की थीसिस देते हैं, कभी “बहुजन समाज” के संयुक्त मोर्चा या हर पार्टी में दलित नेताओं की संख्या बढ़ाने का विचार देते हैं, तो कभी अधिक सैद्धान्तिक स्तर पर जातिगत

अस्मिताओं का जश्न मनाने लगते हैं। अस्मिताओं के उभार का नतीजा यह देखने में आ रहा है कि पहले से ही जातियों-उपजातियों में बँटे दलितों के बीच विग्रह और पार्थक्य बढ़ गये हैं। आरक्षण में भागीदारी और आरक्षण के भीतर आरक्षण को लेकर उनमें आपस में तीखे संघर्ष हो रहे हैं। यह एक कड़वा सच है, जिसकी अनदेखी करके हम किसी सही नतीजे तक नहीं पहुँच सकते।

पूर्वाग्रह मुक्त होकर वैज्ञानिक वस्तुपरकता के साथ हमें डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा, इतिहास दृष्टि, आर्थिक विचारों, राजनीतिक विचारों और उनके द्वारा प्रस्तुत दलित मुक्ति की परियोजना का विश्लेषण-समाहार करना होगा। मूर्ति पूजा या नेताओं को अवतार बनाना ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी नायकवादी वृत्ति है, इससे बचा जाना चाहिए। यह भी विचार का विषय है कि रिपब्लिकन पार्टी, दलित पैन्थर्स, बसपा, पुथिया तमिझगम और दलित राजनीति की ऐसी उन तमाम छोटी-बड़ी पुरोधा पार्टियों की राजनीति के पतन या विघटन के कारण क्या थे, जो दलित राजनीति के उत्तर-अम्बेडकर दौर में समय-समय पर रैडिकल तेवर लेकर उभरती रही हैं और फिर इस या उस मुख्य बुर्जुआ पार्टी (उनकी विश्लेषण-दृष्टि से, स्वर्ण या मध्यजातीय वर्चस्व वाली पार्टियों) के साथ गाँठ जोड़ लेती रही हैं। जो बहुतेरे रैडिकल दलित सिद्धान्तकार हैं, व्यापक सामाजिक आधार वाला कोई जाति-विरोधी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने की उन्होंने क्यों कोई कोशिश तक नहीं की? हमें इस सवाल का उत्तर ढूँढ़ना ही होगा कि रैडिकल दलित राजनीति और नयी-पुरानी दलितवादी सैद्धान्तिकियों के पास दलित मुक्ति और जाति-व्यवस्था के आमूल नाश की परियोजना क्या है और उसके अमली रूप क्या हैं?

ज्यादातर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट भी आजकल अपराधबोध और आत्मभर्त्सना की मुद्रा में यह स्वीकार करते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में जाति प्रश्न की घोर उपेक्षा की और इसके प्रति यान्त्रिक अर्थवादी या वर्ग-अपचयनवादी रवैया अपनाया। यह बात प्रायः बहुत सामान्यीकृत ढंग से कही जाती है या फिर इतिहास के ठोस तथ्यों का ठोस विश्लेषण करने के बजाय सार-संग्रहवादी ढंग से कुछ घटनाएँ गिना दी जाती हैं। अतीत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह कमजोरी पूरी लाइन और व्यवहार में किस रूप में थी और यह एक स्वतन्त्र चीज थी या भारत की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के ठोस विश्लेषण से क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल (strategy and general tactics) विकसित न कर पाने की आम कमजोरी का ही एक अंग थी? फिर भी क्या दलित-मुक्ति आन्दोलन में कम्युनिस्ट आन्दोलन का कुछ योगदान रहा है? यह भी इन दिनों एक चालू चलन वाला बयान है कि दलित नेताओं और आन्दोलनों के प्रति कम्युनिस्टों ने ग़लत रुख अपनाया। इस निष्कर्ष पर तफ़्सील से विचार की ज़रूरत है, तभी ठोस ग़लतियाँ-कमियाँ पता चलेंगी। देखना होगा कि तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्नों पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान कम्युनिस्ट नेतृत्व और दलित नेतृत्व की अवस्थितियों में क्या अन्तर थे और कौन-सी अवस्थिति सही थी? देखना यह भी होगा कि दलित आन्दोलन के नेतृत्व का कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति, कम्युनिज्म की विचारधारा के प्रति क्या रुख था।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में इन दिनों कई प्रवृत्तियाँ चलन में हैं। अतीत के वर्ग-अपचयनवादी दृष्टिकोण को कोसते हुए जाति को अधिरचना की श्रेणी में डालने की भीषण ग़लती (यह नहीं पता चलता कि किसने डाला और कब डाला!) को मानते हुए कोई “मूलाधार-अधिरचना रूपक” विषयक मान्य मार्क्सवादी धारणा को ही यान्त्रिक मानता है, कोई

इसकी यान्त्रिक समझ को जिम्मेदार मानता है, कोई उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग की जगह उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताता है, कोई जाति प्रथा से उत्पादन-सम्बन्ध को निर्धारित बताता है, कोई जाति प्रथा में उत्पादन-सम्बन्ध के परावर्तन की बात करता है, कोई इतिहास में जाति प्रथा को ही उत्पादन-सम्बन्ध बताता है, कोई चीजों के परिघटनात्मक धरातल और संरचनात्मक धरातल की बात करते हुए यह थीसिस दे देता है कि आज के जटिल पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष सामाजिक आन्दोलनों (जैसे जाति, जेण्डर, पर्यावरण आदि के आन्दोलन) के रूप में ही होगा। यानी भीषण सैद्धान्तिक गड़बड़झाला है। इसकी सफाई की कोशिश के बिना और कोई उपाय नहीं है। एक प्रवृत्ति आम चलन में और है, हालाँकि उसके कई रूप हैं। वह है मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय की प्रवृत्ति। ऐसा करते हुए दलितों के हित में अम्बेडकर के अवदानों की चर्चा तो की जाती है, पर अम्बेडकर की दार्शनिक अवस्थिति, जाति-उन्मूलन की उनकी ठोस परियोजनाओं, उनकी अर्थनीति, उनकी समस्यामूलक राजनीतिक अवस्थितियों, संविधान निर्माता और विधि मन्त्री के रूप में उनकी भूमिका और मार्क्सवाद के बारे में उनके विचार की विस्तृत चर्चा नहीं की जाती, कुशलतापूर्वक उनके कुछ उद्धरण चुनकर कम्युनिस्ट धारा से उनकी नज़दीकी बनने की सम्भावना सिद्ध कर दी जाती है। दरअसल, अलग-अलग तरीके से यह उपक्रम दलित आबादी का दिल जीतने के लिए, उन्हें साथ लेने के लिए किया जाता है कि हमने तुम्हारे नायक को अपना लिया, अब तो साथ आ जाओ! इस प्रकार के भावनात्मक रणकौशलात्मक जोड़-तोड़ (tactical manoeuvre) से जन मुक्ति संघर्ष में आबादी का कोई हिस्सा साथ नहीं आ जायेगा। यदि आप उसे सिद्धान्त और व्यवहार में कायल कर सकें कि आपके पास ही उसकी मुक्ति का सही और तर्कसंगत मार्ग है, तभी वह साथ आयेगा। हाँ, यह प्रक्रिया थोड़ी कठिन और लम्बी हो सकती है। अम्बेडकरवाद से समन्वय में कोई एतराज नहीं है, न ही अम्बेडकर की भूमिका को सिरे से खारिज किया जा सकता है, लेकिन यह तो देखना ही होगा कि अम्बेडकर के विचारों में वे कौन-कौन-सी चीजें हैं, जिन्हें लेकर मार्क्सवाद अपनी कमियाँ दूर कर सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से लैस लोग कभी भावनाओं की राजनीति नहीं खेलते, विज्ञान ठोस तथ्यपरकता और वस्तुपरकता की माँग करता है। उत्पादन-सम्बन्धों के समुच्चय के व्यापक और सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि भारत एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश है और यहाँ साम्राज्यवाद-सामन्तवाद और तमाम प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का खात्मा करने वाली समाजवादी क्रान्ति को तैयारी के दौर से ही जाति-व्यवस्था के नाश की परियोजना प्रस्तुत करते हुए उसके तात्कालिक और दूरगामी कार्यभार तय करने होंगे। जाति सामन्ती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूँजीवाद ने अपने ढाँचे के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) में सावयवी (organic) ढंग से गुँथी-बुनी है तथा वैचारिक-राजनीतिक- सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।

इस आलेख की यह सीमा है कि इसमें हम अपनी अवस्थितियाँ संक्षेप में ही प्रस्तुत कर सकते हैं। फिर भी, नये सिरे से, एक लम्बी, सार्थक बहस शुरू करने के लिए इतना शायद काफी होगा। इस निबन्ध में हम मुख्यतः अपनी अवस्थिति सकारात्मक तौर पर रखेंगे। स्थान की सीमा के चलते इसकी प्रकृति पोलेमिकल नहीं होगी फिर भी कुछ प्रमुख ग़लत अवस्थितियों और आम भ्रान्त धारणाओं की यथास्थान समालोचना प्रस्तुत की जायेगी। इसके

पीछे हमारा उद्देश्य एक स्वस्थ बहस की शुरुआत करना है। बेशक यह बहस लम्बी हो, पर अन्ततः कुछ सुनिश्चित नतीजों तक तो पहुँचना ही होगा।

जाति के उद्भव और विकास पर एक ऐतिहासिक- भौतिकवादी दृष्टिकोण

यहाँ जाति-व्यवस्था का पूरा इतिहास प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट नहीं है। उत्पादन-सम्बन्ध से जाति के सम्बन्ध को, जाति और वर्ग के सम्बन्ध को, तथा 'मूलाधार-अधिरचना' के मार्क्सवादी रूपक में जाति-व्यवस्था कैसे और कहाँ अवस्थित होती है, इस बात को समझने के लिए इतिहास की थोड़ी चर्चा की जायेगी।

पहली बात, जाति-व्यवस्था अपने इस विशिष्ट रूप में भारत में ही क्यों पैदा हुई और विकसित हुई, इसके ठोस वस्तुगत कारणों के बारे में कुछ सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अब तक हुए शोध इस दिशा में कुछ स्पष्ट संकेत नहीं देते। प्रारम्भिक या आदिम किस्म का सामाजिक श्रम-विभाजन उन्हीं वस्तुगत सामाजिक आधारों से उपजे धार्मिक-रीति-विधान आधारित सामाजिक आचारों के माध्यम से भारत में जाति-व्यवस्था के रूप में अश्मीभूत (fossilize) हुआ। इसी तरह से मिस्र में भी सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और वंशानुगत पेशों के आधार पर जाति-व्यवस्था से मिलती-जुलती व्यवस्था गिल्ड-व्यवस्था के रूप में अस्थिभूत (ossify) हुई थी, लेकिन शायद उसके पीछे धर्म-आधारित सामाजिक आचार-व्यवहार का उतना व्यवस्थित संहिताबद्ध आधार नहीं था और सामाजिक-आर्थिक संरचना में होने वाले बदलावों के अनुरूप खुद को ढालते जाने का लचीलापन नहीं था, इसलिए वह जाति-व्यवस्था जैसी दीर्घजीवी नहीं सिद्ध हुई। जाति-व्यवस्था के भारत में ही उद्भव और विकास के मूल कारणों की तलाश करते हुए हम यहाँ मौसम, जलवायु, जीवन और कृषि-उत्पादन की अधिक अनुकूल परिस्थितियों, उससे पैदा होने वाली इतिहास की और श्रम प्रक्रिया की मन्थर गति, श्रम विभाजन के दायरे में शुरुआत से ही बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के अधिक कुशल विभाजन (और फिर शारीरिक श्रम के दायरे के भीतर के उप-विभाजन) और अत्यधिक खाली समय के उपभोगी परजीवी बौद्धिकों (ब्राह्मण पुरोहितों) द्वारा सामाजिक आचार-शास्त्र के निर्माण में बरती गयी पटुता एवं दूरदर्शिता जैसे कारकों के बारे में सोच सकते हैं। लेकिन यह इतिहास का नहीं, बल्कि अनुमान से लेकर अटकलबाजी तक का दायरा होगा। जाति-व्यवस्था कैसे पैदा हुई और इतिहास के बदलते युगों के साथ अपना समायोजन-अनुकूलन करते हुए क्यों और किस प्रकार बनी रही, ऐतिहासिक शोधों के आधार पर इस पर ज़रूर चर्चा की जा सकती है। और संक्षेप में हम यही करेंगे, क्योंकि वर्तमान स्थिति और जाति उन्मूलन की किसी परियोजना पर बहस के लिए इतना तो ज़रूरी है।

दूसरी बात, अक्सर बहुत चलताऊ ढंग से मार्क्सवादियों पर यह आरोप चस्पों कर दिया जाता है कि वे ऐतिहासिक समाज-विकास की मार्क्स-एंगेल्स द्वारा चिन्हित अवस्थाओं (दास प्रथा-सामन्तवाद- पूँजीवाद) और उनकी 'एशियाई उत्पादन-प्रणाली' और 'आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की गतिहीनता' की धारणा को यान्त्रिक ढंग से भारत पर लागू करते हैं। यह क्रोरा अज्ञान है। आज से आधी सदी पहले ही (सबसे पहले कोसम्बी द्वारा) एशियाई

उत्पादन-प्रणाली और भारत में यूनान और रोम जैसी दास प्रथा की मौजूदगी की धारणा खारिज की जा चुकी थी और आज, तफ़्सीलों के मतभेदों को छोड़ दें तो इस पर प्रायः सभी मार्क्सवादी इतिहासकारों की आम सहमति है। यही बात, कमोबेश, भारतीय ग्राम समुदायों की गतिहीनता पर भी लागू होती है। हालाँकि यह तथ्य आज भी स्थापित है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, पहले से मौजूद भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ ऐसे बदलाव आये जो मार्क्स की 'प्राच्य स्वेच्छाचारिता' (oriental despotism) के लक्षणों से मेल खाते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि एशियाई ग्राम समुदायों की समरसता और गतिहीनता के बारे में 1850 के दशक में मार्क्स के जो विचार थे उनमें 1870 के दशक में महत्वपूर्ण बदलाव आये थे। इस विषय पर **इरफ़ान हबीब**, **सुनीति कुमार घोष** सहित कई विद्वानों के निबन्ध 1980 के दशक में ही प्रकाशित हो चुके हैं। एक और बात की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है। प्रायः ऐसी बातों की जाती हैं कि मार्क्सवाद का अध्ययन मॉडल यूरोप था, अतः मार्क्सवाद भारतीय समाज और उसकी जाति-व्यवस्था जैसी विशिष्टताओं के अध्ययन में असमर्थ सिद्ध हुआ है। यह एक सतही नज़रिया है। मार्क्सवाद का जन्म मुख्यतः यूरोपीय इतिहास की गतिकी के अध्ययन से हुआ (जो पूँजीवादी विकास का क्लासिकी मॉडल था) और जर्मन दर्शन, ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ्रांसीसी समाजवाद उसके मुख्य स्रोत थे। पर पूरे विश्व इतिहास के विकास की सामान्य दिशा भी मार्क्स-एंगेल्स की दृष्टि में थी। ऐतिहासिक घटनाक्रम-विकास के सामान्यीकरण से निःसृत द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद एक विश्वदृष्टि (worldview) और एक प्रणाली-विज्ञान (methodology) है, जो जीवन और प्रकृति के अध्ययन और उनमें सचेतन हस्तक्षेप का मार्ग बताता है। यही कारण है कि रूस, चीन से लेकर एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के कई देशों में सामाजिक-आर्थिक संरचना के विविध पक्षों के अध्ययन और वर्ग संघर्ष की रणनीति विकसित करने में इसका प्रयोग हुआ है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। प्रसंगवश, यहाँ यह भी बताते चलें कि **मार्क्स और एंगेल्स ने जर्मन विचारधारा** (The German Ideology, 1845.46) से लेकर, **पूँजी**, **खण्ड 1** तक छह या सात स्थानों पर जाति-व्यवस्था पर कुछ टिप्पणियाँ की हैं और कुछ व्याख्याएँ दी हैं, जो जाति प्रश्न की समझ बनाने के लिए महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि देती हैं (इन टिप्पणियों-व्याख्याओं के लिए **बी.आर. बापूजी** का शोध निबन्ध **Conception of Caste in Marx** और **रंगनायकम्मा** का लेख **Marx on Caste** द्रष्टव्य हैं)।

अभी तक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ज़्यादा स्वीकार्य स्थापना यही है कि हड़प्पा-मुअनजोदड़ो की सैन्धव/सारस्वत नागर सभ्यता आर्यों के आक्रमण से नष्ट नहीं हुई, बल्कि उसके कारण कुछ और थे (नदियों की धारा बदलना, आन्तरिक गतिहीनता या आन्तरिक वर्ग संघर्ष-कुछ भी हो सकता है)। उत्तर-पूर्व से घुमन्तू पशुचारी आर्य जनजातियों के भारत में प्रवेश का सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पराभव के कुछ शताब्दियों बाद शुरू हुआ। घुमन्तू जनजातियों के लिए रक्त की शुद्धता का कोई मतलब नहीं था और आनुवंशिक तौर पर आर्य कोई एक नस्ल नहीं थे लेकिन नृजातीय (Ethnic) अर्थों में वे अपनी पृथक अस्मिता के प्रति सचेत अवश्य थे। आर्यों के उपमहाद्वीप में प्रवेश के समय सिन्धु घाटी की नागर सभ्यता भले ही विघटित हो चुकी हो, लेकिन उसकी प्राक-आर्य आबादी अपने पुरोहितों और आम जनों सहित सम्भवतः जंगलों और छोटी बस्तियों में बिखर गयी थी। आर्यों के साथ उनके संघर्ष और उनकी पराजय के बाद उन्हें *दास* बनाये जाने के प्रचुर प्रमाण ऋग्वेद में

मौजूद हैं। यही नहीं, आगे बढ़ते हुए अन्य अनार्य कबीलों से भी आर्यों के टकराव और उन्हें पराभूत करके अपनी सामाजिक व्यवस्था में घुला-मिला लेने की ओर मिथकीय और भाषा-शास्त्रीय साक्ष्य इंगित करते हैं। मुअनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों तथा 2,300-2,000 ईस्वी पूर्व के दौरान मेलुहा (सिन्धु घाटी) से मेसोपोटामिया को हुए दासों के निर्यात से साबित हो चुका है कि सिन्धु घाटी के शहरों में एक वर्ग समाज मौजूद था जिसमें दासता की संस्था मौजूद थी। दासों को बल-प्रयोग और धर्म-आधारित सामाजिक रीति-विधानों द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, अतः उस सभ्यता की बिखरी हुई आबादी के पुरोहित, घुमन्तू पशुचारक आर्यों के कबीलाई पुरोहितों से टोटम और वर्जनाओं (totems and taboos) और धार्मिक अनुष्ठानों के मामले में उन्नत थे। नतीजतन, पशुपालन से कृषि और बस्तियाँ बनाने की ओर उन्मुख आर्य जनजातियों के पुरोहित समुदाय के साथ प्राक्-आर्य और अन्य अनार्य जनजातियों के पुरोहितों के घुल-मिल जाने की प्रक्रिया अकाट्य तथ्य प्रतीत होती है और ब्राह्मण वर्ण के उद्गम को इसी प्रक्रिया में देखा जा सकता है। आगे चलकर कई विदेशी, विशेषकर सीथियन पुरोहिती समुदायों के भी ब्राह्मण वर्ण में घुल-मिल जाने (कढ़दा या मग ब्राह्मण) के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। उपनिषदीय विमर्श के केन्द्र, वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश तक आते-आते रंग और नाक-नक्श के हिसाब से ब्राह्मणों की आबादी एकदम मिलीजुली होने के साक्ष्य हमें वृहदारण्यक उपनिषद और पातंजलि से मिलते हैं।

सबसे प्रारम्भिक वैदिक साक्ष्यों से हमें *आर्य* और *दास* या *दस्यु* दो वर्णों का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर विवाह नहीं होते थे। दास प्राक्-आर्य और अनार्य समाज के वे सामान्य जन थे जिनकी स्थिति रोम की चैटेल दासता (chattel slavery) जैसी नहीं थी जिसमें दास व्यक्तिगत दास स्वामियों की निजी सम्पत्ति होते थे, बल्कि स्पार्टा के हेलॉट जैसी मातहतती (helot like servitude) थी क्योंकि आर्यों का पशुधन कबीले की सामुदायिक सम्पत्ति हुआ करती थी और निजी सम्पत्ति की परिघटना अभी विकसित नहीं हुई थी। जो ज़मीन भी वे जोतने-बोने लगे थे, वह तब तक कबीले की साझा सम्पत्ति ही थी। पशुपालन से कृषि की ओर बढ़ते हुए अधिशेष (surplus) के उत्पादन और श्रम विभाजन के आदि-प्ररूप (prototype) का धीरे-धीरे विकास हुआ और इसी के साथ समाज में सामाजिक-आर्थिक विभेदीकरण और वर्गों के बनने की प्रक्रिया शुरू हुई और आगे बढ़ी। दान-स्तुतियों में जनजातीय मुखियों के कुछ विशिष्ट समूहों को भेंटस्वरूप दास देने के हवाले मिलते हैं। अधीनस्थ श्रम और खाद्य उत्पादन की परिष्कृत तकनीकों के साथ आर्य जनजातियाँ पूरब की ओर दोआब क्षेत्र में आगे बढ़ीं और नयी स्थायी बस्तियाँ बसाने लगीं। इस दौरान जनजातीय कबीलाई संगठन के भीतर उत्पादन-सम्बन्ध चार वर्ण-जातियों – ब्राह्मण (पुरोहितगण), राजन्य या क्षत्रिय (योद्धा और शासक), विश (सामान्य जन, मुख्यतः किसान) और शूद्र (अनार्य मूल के हेलॉट टाइप सेवकगण) के रूप में थे। चातुर्वर्ण्य का सबसे शुरुआती उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में मिलता है हालाँकि यह हिस्सा ऋग्वेद में बाद में प्रक्षिप्त लगता है। ज़्यादा सम्भावना यह है कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था अपने सुस्पष्ट रूप में परवर्ती वैदिक काल – यजुर्वेद, अथर्ववेद और प्रारम्भिक ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में उभरकर सामने आयी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच विभाजन का एक भौतिक आधार पशुपालन के ही दौर से मौजूद था। पशुपालक कबीलों में प्रायः दो अभिजात श्रेणियाँ उभरती देखी गयी हैं – एक जो पशुओं के रेवड़ लूटने और अपने रेवड़ों की सुरक्षा का दायित्व सँभालते थे और दूसरे वे जो पशुधन की

समृद्धि के लिए दैवी कृपा हेतु पशुबलि और अपने समाज की कीमती चीजें देवताओं को भेंट करने के अनुष्ठानों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। कृषि की अवस्था में भी धार्मिक अनुष्ठानों की महत्ता मौजूद थी, देवता बढ़ गये थे और पूजा के रीति-विधान जटिल हो गये थे। साथ ही समाज व्यवस्था संचालन के लिए धार्मिक आचार संहिता बनाने का महत्व बढ़ गया था। पुरोहिती और वर्ण व्यवस्था को संरक्षण देने के अतिरिक्त कृषि कार्य के नियमन के लिए पंचांग के महत्व और इस विद्या पर ब्राह्मणों के एकाधिकार ने भी ब्राह्मणों की स्थिति को मजबूत बनाया।

उल्लेखनीय है कि चातुर्वर्ण्य में घुलने-मिलने की क्रिया केवल ब्राह्मणों के स्तर पर ही नहीं हुई। राजन्य या क्षत्रिय भी इससे उतने ही प्रभावित थे क्योंकि आक्रमणों और विद्रोहों के कारण सशस्त्र शक्ति पर वंशगत एकाधिकार बनाये रख पाना कठिन था। विजित जनजातियों के मुखियाओं को भी कई बार राजन्य वर्ण में शामिल कर लिया जाता था। आगे चलकर नये भूभाग पर (अथवा विद्रोह करके) अपनी सत्ता स्थापित करने वाले कई शूद्र राजा भी क्षत्रिय मान लिये गये। उसके बाद तक बाहर से आक्रमण करके राज्य स्थापित करने वाले शासकों के कालान्तर में क्षत्रिय मान लिये जाने के साक्ष्य मिलते हैं। पुरोहितों और शासकों को कुछ सुनिश्चित भेंट देकर शूद्रों के स्वतन्त्र कृषक बन जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। अब शूद्रों और वैश्यों के बारे में कुछ बातें। वैश्य वर्ण के लोग पहले ग्राम समुदायों में कृषि-कार्य करते थे और शूद्र हेलाँट टाइप सेवकों के रूप में खेतों में काम करते थे। कृषि के क्षेत्र-विस्तार और उत्पादन प्रक्रिया में प्रगति के साथ श्रम-विभाजन संश्लिष्ट हुआ और विनिमय का महत्व बढ़ता चला गया। वैश्यों का एक हिस्सा व्यापार में जा लगा। यह प्रक्रिया बढ़ती गयी। बौद्ध मत के उदय की पूर्वबेला में अनेक उत्पादन कौशलों और उपकरणों के विकास के परिणामस्वरूप जो द्वितीय नगरीय क्रान्ति हुई उसमें व्यापार के विस्तार और विविधीकरण के चलते व्यापार क्षेत्र ने वैश्यों के अधिकांश भाग को अवशोषित कर लिया और कई नयी वर्णिक जातियाँ भी इस वर्ण में शामिल हो गयीं। खेती का काम अब ज़्यादातर शूद्र वर्ण का काम हो गया। और धीरे-धीरे हेलाँट जैसी उनकी स्थिति में भी थोड़ा बदलाव आया।

अब उन अन्त्यज जातियों के उद्भव की प्रक्रिया देखें जो चातुर्वर्ण्य के भी बाहर, सबसे नीचे थीं, जिन्हें समाज में व्यवस्थित होने के बाद, अशुद्ध काम करने वाले अस्पृश्यों और अन्य 'नीची' श्रेणी का काम करने वाली दास जातियों का दर्जा मिला। आर्यों द्वारा पराभूत होने वाले कई भोजन-संग्राही गण ही 'निम्नतम' जातियों में रूपान्तरित हुए। वे इतना नीचे थे कि चातुर्वर्ण्य के बाहर थे। मनुस्मृति में पशु फँसाने वाले सैरन्ध्र, नाविक कैवर्त, मछली पालने-पकड़ने वाले निषाद, जंगली जानवरों का शिकार करने वाले मेद, आन्ध्र, चुंचु और माद्गू, बिलों में रहने वाले जानवरों का शिकार करने वाले क्षत्री, पुक्कस और उग्र, बेंत का काम करने वाले पाण्डु, सोपाक और चमड़े का काम करने वाले कारावर और घिग्वण को 'संकर' जाति की श्रेणी में रखा गया है। मनु ने इन्हें चातुर्वर्ण्य के बाहर पन्द्रह हीन वर्णों की भी संज्ञा दी है। बौद्ध ग्रन्थों में चाण्डालों और निषादों का शिकारियों के रूप में वर्णन मिलता है। ये मूल अस्पृश्य जातियाँ थीं, जो शुरू से ही ग्राम समुदायों में आवासीय पृथग्वासन (aparthied) का शिकार थीं। जातक कथाओं में भी हमें शिल्पियों (धातुकर्मियों, काष्ठकारों) के भी अलग गाँव के उल्लेख मिलते हैं और मनुस्मृति में काष्ठकारों, रथकारों, चिकित्सकों को भी 'संकर' जातियों में रखा गया है। मुमकिन है कि द्वितीय नगरीय क्रान्ति के समय, उदीयमान

श्रम विभाजन के दबाव में, व्यापकतर समाज में अवशोषित हो रहे कबीलों के कुछ भाग अलग होकर हस्तशिल्पियों की अलग जातियाँ बन गये हों और उन्हें अन्त्यज या संकर की कोटि में रख दिया गया हो।

उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में चार वर्णों के भीतर, विशेषकर ऊपर के तीन वर्णों के भीतर, अन्तःविवाह या सगोत्रीय विवाह (Endogamy) के नियम नहीं थे। पर बाद में ये अन्तःविवाह के नियम से बँध गये। सम्भावना यह भी है कि जब कबीलों का व्यापकतर समाज में अवशोषण हुआ हो तो वे अपनी अन्तःविवाह-सम्बन्धी परम्पराओं को भी साथ लाये हों। वर्णों के भीतर अलग उपसमूहों के रूप में जातियों का उद्भव विभिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का परिणाम था। इसका मुख्य भौतिक आधार था, उत्पादक शक्तियों के साथ क्रमशः जटिल होता श्रम-विभाजन, जिसे सुव्यवस्थित करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त धार्मिक आवरण में सुनिश्चित सामाजिक आचार, पदानुक्रम और श्रेणी-विभाजन ज़रूरी था। अन्य जनजातीय समुदायों का वर्ण-व्यवस्था में समायोजन तभी सम्भव था जबकि उसके मूल्यतन्त्र को बनाये रखते हुए उन समुदायों की सीमारेखाएँ सुनिश्चित कर दी जायें। मनुस्मृति में जोर देकर कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य *द्विजाति* (द्विज) हैं, शूद्र *एकजाति* हैं। पन्द्रह हीन वर्णों की चर्चा बाद में इनके भी बाहर की गयी है। इस प्रकार ऊपर के तीन वर्णों और शूद्रों के बीच और सवर्णों (शूद्र सहित) और अवर्णों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी गयी। ब्राह्मण विधि-निर्माताओं द्वारा 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' कार्यों के नज़रिये से जो सामाजिक पद-सोपानक्रम निर्धारित किया गया, अस्पृश्यता उसकी तार्किक परिणति थी। 'नीची' जातियाँ वंशानुगत आधार पर अशुद्ध और दासोचित काम करने के लिए बाध्य थीं। लेकिन मुख्य बात यह थी कि वे अस्पृश्य जातियाँ किसानों या श्रेष्ठतर भू-स्वामियों के लिए कम से कम लागत पर कठिन श्रम करने के लिए उपलब्ध थीं और उन्हें स्वामित्व के अधिकार या नियमित किसान होने की मान्यता मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। इन जातियों के प्रति शेष समाज में जो गहरी शत्रुता का भाव था उसका मूल स्रोत हितों का यही मूल टकराव था और 'शुद्धता'-'अशुद्धता' की धारणाएँ इसी तथ्य के औचित्य-प्रतिपादन का साधन थीं।

वैदिक कालों में दासों की संख्या बहुत कम थी। कृषि अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक दौर में ज्यादातर दास उत्पादक श्रम के बजाय घरेलू कामों में लगे थे। चार सौ ईस्वी पूर्व से 100 ईस्वी पूर्व तक के पालि ग्रन्थों और *कौटिल्य* के *अर्थशास्त्र* के अनुसार, उत्तर-वैदिक और मौर्य काल में उत्तर-पूर्वी भारत में बड़े पैमाने पर दासों और कर्मकारों (भाड़े के मजदूरों) का खेती के काम में इस्तेमाल किया जाता था। मौर्य काल में *राष्ट्रभूमि* (किसानों की ज़मीन) पर किसान भी दासों और भाड़े के मजदूरों का इस्तेमाल करते थे और *सीताभूमि* (राजकीय फार्मों) का तो सारा काम ही इन्हीं के द्वारा होता था।

यह सही है कि जाति-सिद्धान्त को धर्म का अंग बनाकर और जातियों के सामाजिक आचार एवं पार्थक्य के धार्मिक नियम-विधान बनाकर ब्राह्मणों ने जाति-व्यवस्था को सार्वभौम बनाने और उसके रूप में सामाजिक श्रम-विभाजन को अशमीभूत बनाने में सबसे मुख्य भूमिका निभायी। लेकिन इस प्रक्रिया में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की सहायक भूमिका की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। आत्मा के गमनागमन का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का एक बुनियादी आधार था। यह जाति प्रथा का प्रकारान्तर से औचित्य-प्रतिपादन करता था और जाति प्रथा से

सर्वाधिक पीड़ित लोगों को विश्वास दिलाता था कि उनकी दुरवस्था उन्हीं के पूर्वजन्म के कर्मों का फल है और अपना कर्म करते हुए ही वे अगले जन्म में इससे मुक्त हो सकते हैं। मनुस्मृति में यह सिद्धान्त जाति प्रथा की विचारधारा का अभिन्न अंग है। पशुपालन की जगह कृषि के स्थापित हो जाने के बाद, और ब्राह्मणों द्वारा बड़े पैमाने पर पशुबलि का चलन नुकसानदेह हो जाने के बाद, बौद्ध धर्म द्वारा अहिंसा के सिद्धान्त-प्रतिपादन का एक भौतिक आधार था और पशुपालक वैश्यों में इसकी लोकप्रियता स्वाभाविक थी, लेकिन इसी के चलते भोजन-संग्राही गणों को दासता और निकृष्टता की दशा में धकेलने का नया औचित्य भी मिल गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की ही तरह बौद्ध ग्रन्थ में भी पशु हत्या करने वाली जातियों को हीन बताया गया है। अहिंसा के इसी सिद्धान्त के चलते शूद्रों के अतिरिक्त जो वैश्य खेती में लगे थे, वे भी शूद्र माने जाने लगे। जिस प्रकार मनुस्मृति ने हल की लोहे की नोक से जीव-हत्या की निन्दा की और बौधायन ने वेद पढ़ने वालों को खेती से दूर रहने को कहा, उसी प्रकार बुद्ध ने भी हल चलाने और खेत की सिंचाई से जीवन की क्षति होने के कारण भिक्षुओं को खेती से दूर रहने का आदेश दिया। अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म का भी था और उसका भी तात्कालिक सामाजिक जीवन पर यही प्रभाव पड़ा। इससे भी आगे बढ़कर, जैन धर्म ने ब्राह्मणवाद जैसी ही कठोर जाति-व्यवस्था विकसित की। **जिनसेन के आदिपुराण और हेमचन्द्र के आदिश्वरचरित** के अनुसार आदिनाथ ऋषभ ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः अपनी बाँहों, जाँघों और पैरों से पैदा किया और जैन नीति-वचनों के अनुसार, उनके पुत्र और उत्तराधिकारी भरत ने धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए ब्राह्मणों का निर्माण किया। जैन धर्म भी ब्राह्मण विधि-निर्माताओं की ही तरह जातिगत पेशों के वंशानुगत निर्धारण की बात करता है, शूद्रों और दस्तकारों के प्रति समान धार्मिक पूर्वाग्रह दिखाता है और चाण्डालों को 'अशुद्ध' बताता है।

भारत के प्राक-सामन्ती समाज में ही बौद्ध मत के उदय (500 ईस्वी पूर्व के आसपास) से लेकर गुप्त साम्राज्य (चौथी-पाँचवीं सदी ईस्वी) तक के दौरान बढ़ते और जटिल होते श्रम विभाजन और अनार्य गणसमूहों के व्यापकतर आर्यगण समाज में अवशोषण की लम्बी प्रक्रिया के स्वरूप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से कई जातियों वाली जाति-व्यवस्था अपने सुव्यवस्थित नियम-विधानों सहित अस्तित्व में आ चुकी थी। इनमें से कुछ जातियाँ चार वर्णों के सोपानक्रम के भीतर थीं, पर यह पहले जैसा चातुर्वर्ण्य नहीं था और कुछ अवर्ण जातियाँ (उनमें भी ऊँच-नीच और छूत-अछूत का पदानुक्रम था) इससे बाहर रखी गयी थीं। 'शुद्ध'- 'अशुद्ध' की स्पष्ट विभाजक रेखा बनायी जा चुकी थी। अन्तःजातीय विवाह (Intracaste marriage) के नियम रूढ़ हो चुके थे। यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रम विभाजन की जिस प्रगति के साथ जाति-व्यवस्था संघटित हुई थी, उसी प्रक्रिया की एक परिणति के तौर पर समाज में स्त्रियों की मातहती पैदा हुई थी और सजातीय-सगोत्रीय अन्तःविवाह की प्रथा स्थापित हुई थी, जिसने, आर्थिक स्तर पर, मुख्य लक्ष्य "विशेष कौशल" को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित करने में अहम भूमिका निभायी, लेकिन दूसरी ओर समाज में क्षैतिज गतिशीलता की सम्भावनाएँ भी कम हो गयीं। कबीलाई व्यवस्था के भीतर से जनपदों के छोटे राज्य और फिर साम्राज्य विकसित हुए। इस तरह राज्यसत्ता का विकास हुआ। नगरों में तो निजी सम्पत्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट था, पर ग्राम समुदायों में भी जातिगत विशेषाधिकारों और पेशों के आधार पर काम के, उत्पादों और सुविधाओं के बँटवारे के आधार पर निजी स्वामित्व का पहलू मौजूद

था। इस तरह यहाँ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और स्त्रियों की पराधीनता आधारित परिवारों, निजी स्वामित्व और राज्यसत्ता के आविर्भाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया घटित हुई। सापेक्षतः कठोर श्रम-विभाजन, स्वामित्व के रूपों का निर्धारण और वितरण के नियमों का निर्धारण – इन तीन पहलुओं को देखें, तो जाति-व्यवस्था अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध बनती थी। इस उत्पादन-सम्बन्ध से उत्पन्न और फिर इसे प्रभावित करने वाली तथा संचालित करने वाली धार्मिक विचारों-संस्थाओं की धर्म आधारित राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं एवं आचारों की एक अधिरचनात्मक अट्टालिका थी। अलग-अलग जातियों के समूहों से ही वर्ग संघटित हुए थे। शासक वर्ग (मुख्यतः क्षत्रिय), सत्ता के नीति नियामक सिद्धान्तकार (ब्राह्मण), व्यापारी (वैश्य), किसान जातियाँ (शूद्र) और फिर कृषि कार्य व अन्य विविध शिल्पों से जुड़ी अवर्ण/अन्त्यज/अस्पृश्य जातियों की दास (निश्चय ही अपने होमेरिक समकक्षों जैसे नहीं) या बँधे हुए, पराधीन मजदूरों की आबादी जिसे केवल श्रम करके जीवन-यापन का अधिकार था, अन्य कोई आर्थिक या सामाजिक अधिकार नहीं था। इस तरह, प्राचीन भारत में वर्ग और जाति एक-दूसरे को अतिच्छादित (overlap) करते थे, फर्क यह था कि जातियाँ ऐसे वर्ग थीं, जो वंशानुगतता/अन्तःविवाह के कारण अचल थीं, रूढ़ थीं। जाति-व्यवस्था का तन्त्र ऐसा था कि कम से कम बलप्रयोग करके उत्पादकों से अधिकतम अधिशेष निचोड़ा जा सकता था, पर किसान और उनसे भी अधिक, अस्पृश्य कामगार जातियों के प्रति रोजमर्रा के जीवन में बर्बर हिंसा और अपमान का व्यवहार निहित था। धार्मिक अधिरचना का वर्चस्व विद्रोहों की सम्भावना को क्षीण बनाना था (फिर भी हमें कुछ विद्रोहों के संकेत मिलते हैं)।

सामन्तवाद के विभिन्न दौरों में जाति-व्यवस्था

उत्पादक शक्तियों के मन्थर गति से विकसित होने के बावजूद, एक दौर आया जब उनके दबाव से प्राक्-सामन्ती भारत के उत्पादन-सम्बन्ध चरमराने और फिर टूटने लगे, जिसकी परिणति भारतीय सामन्तवाद के उद्भव के रूप में सामने आये। यहाँ प्रारम्भिक मध्यकाल में सामन्तवाद के उद्भव और विकास की प्रक्रिया के बारे में इतिहासकारों के बीच मौजूद मतभेदों की चर्चा सम्भव नहीं, न ही जाति-विषयक हमारे विमर्श में उसकी कोई विशेष आवश्यकता है। विस्तृत होते भूभागों पर कृषि उत्पादन पर नियन्त्रण बनाये रख पाना कालान्तर में साम्राज्यों की राज्यसत्ता के लिए असम्भव होता चला गया, अतः विकेन्द्रीकरण के लिए दबाव बढ़ा और बड़े पैमाने पर मन्दिरों और बौद्ध मठों को ज़मीनें दानस्वरूप दी गयीं। मठ और मन्दिर इन ज़मीनों पर निचली जातियों के भाड़े के मजदूरों, सेवकों और गरीब किसान जातियों से काम कराते थे, या ग्राम समुदायों को पट्टे पर दे देते थे। राजकीय स्वामित्व और ग्राम समुदायों के स्वामित्व की ज़मीनें भी थीं। सम्राट या बड़े राजे अपने मातहत शासकों से कर वसूलते थे और वे शासक अपने क्षेत्र के ग्राम समुदायों पर शासन करते थे। मुमकिन है कि कालान्तर में गाँवों के भीतर से भी भू-स्वामियों का एक वर्ग उभरा हो जो सशस्त्र शक्ति रखता हो तथा राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी मध्यवर्ती की भूमिका निभाता हो। स्थिति चाहे जो भी हो, इन परिवर्तनों से ग्राम समुदायों की आन्तरिक संरचना पर, विशेषकर किसान जातियों और 'निम्नतम' श्रेणी के दस्तकारों, अस्पृश्य जातियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

दक्षिण भारतीय समाज पर भी यदि दृष्टि डालें (जो सातवाहनों के समय ही ब्राह्मणवाद

के प्रभाव में आ चुका था), तो वहाँ भी, ईसा पश्चात पहली सहस्राब्दी के मध्य तक ग्राम समुदायों की किसान आबादी शक्तिशाली सामन्तों के कमरतोड़ लगान के नीचे पिस रही थी, पहले समुदायों में उपभोग किये जाने वाले अधिकारों से भी वे वंचित हो चुके थे और समुदायों के मुखिया धीरे-धीरे सामन्ती ज़मींदारों जैसी हैसियत पा चुके थे। जाति संरचना यहाँ थोड़ी भिन्न थी। क्षत्रिय श्रेणी की कोई जाति यहाँ नहीं थी। ऊपर ब्राह्मणों के नीचे किसान (शूद्र) जातियाँ थीं और निचली जातियों की नारकीय स्थिति उत्तर जैसी ही थी। यहाँ के सामन्त किसान जातियों से ही उभरे थे। दक्षिण की अर्थव्यवस्था में तटवर्ती नगरों की विशेष भूमिका थी। यहाँ पल्लवों, चालुक्यों, चोलों के विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत ज़मीन पर राजकीय स्वामित्व मौजूद रहा और ज़्यादातर सामन्तों की स्थिति गैर-मौरूसी ज़मींदारों की थी।

पूर्वी भारत (बंगाल से त्रिपुरा तक का क्षेत्र, जो प्राक्-सामन्ती काल में – गुप्त वंश के शासनकाल तक ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आ चुका था) में भी सामन्ती भूमि सम्बन्धों का विकास हुआ। यहाँ भी क्षत्रिय और वैश्य जातियाँ नहीं थीं और सत्ता के लिए टकराव और समझौते ब्राह्मणों और शूद्रों के बीच हुए। यहाँ ज़्यादातर शूद्र राजा थे जिन्होंने क्षत्रिय बनने की नाकामयाब कोशिश भी की। संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया का बस इतना परिणाम हुआ कि कुछ शूद्र जातियों की स्थिति अन्यों से बेहतर हो गयी। जहाँ तक “निम्न” जातियों की बात है, तो उनकी सामाजिक स्थिति शेष भारत से एकदम भिन्न नहीं थी।

छठी शताब्दी के बाद, कई कारणों से, जिनकी चर्चा यहाँ अवांतर प्रसंग होगा, सामन्ती भारत में, कुछ आगे-पीछे, व्यापार और नगरों के शिल्प में गिरावट की प्रक्रिया शुरू हुई और विनगरीकरण या ग्रामीणीकरण की प्रक्रिया तेज़ होती चली गयी। (हालाँकि दक्षिण-भारत में तटवर्ती नगरों से व्यापार जारी रहने के चलते वहाँ स्थिति थोड़ी भिन्न थी।) काफ़ी कारीगर आजीविका के लिए गाँवों में वापस जाकर कुछ खेती और कुछ दस्तकारी में लग गये। जातियों का और अधिक विभेदीकरण और उपविभेदीकरण हुआ और यह नयी आबादी ‘निम्न’ शूद्र और उसके नीचे की जातियों के रूप में व्यवस्थित हो गयीं। ग्यारहवीं सदी में **अलबरूनी** ने बुनकरों-मोचियों सहित आठ जातियों को समाज बहिष्कृत अन्त्यज जातियों की श्रेणी में रखा था। कारीगरों के शहरी गिल्ड समाप्त हो गये। जाति-व्यवस्था में पेशों की वंशानुगतता के चलते अतीत में उत्पादक शक्तियों के विकास में जो भी मदद मिली थी, वह स्थिति भी अब नहीं रही। ग्राम समुदाय अलग-थलग और आत्मनिर्भर हो गये। विनिमय काफ़ी हद तक गाँव की सीमाओं में सिमट गया और ग्राम समुदायों को अपने आयातों के बदले अधिक फालतू उपज देने की ज़रूरत नहीं रही। केवल नमक और धातु जैसी कुछ चीज़ें ही बाहर से मँगानी पड़ती थीं। इन बदलावों से ग्राम समुदाय शासक वर्ग को अधिक अधिशेष दे पाने में सक्षम हो गये। पहले से भी अधिक रूढ़ हो चली जाति-व्यवस्था का स्वरूप पूरे ग्राम समुदाय के सेवक ‘निम्न’ जातियों और उन्हीं में शामिल दस्तकारों के लिए और अधिक उत्पीड़क हो गया जो वस्तु रूप या भूमिदान के रूप में अपने श्रम का भुगतान पाते थे। इसे मैक्सवेबर ने “दैवी श्रम” का नाम दिया है। इसी समय जजमानी और बलूतदारी प्रथा का भी विकास हुआ जिसे मा-ले धारा के कई लेखकों और अन्य शोधकर्ताओं ने अपने लेखों में मध्ययुगीन सामन्ती शोषण का मुख्य रूप माना है। लेकिन दस्तावेज़ी साक्ष्य बताते हैं कि जजमानी केवल परिवार के पुरोहितों पर लागू होती थी। बढई, लोहार, नाई, मोची आदि बारह पारम्परिक “बलूत” पूरे ग्राम समुदाय के लिए काम करते थे और अपना पारिश्रमिक भूमिदान या फसल के भाग के

रूप में पाते थे। मध्य युग के दौरान भी बहुत सारी जनजातियों के जाति-व्यवस्था में निचले पायदान पर अस्पृश्य या अतिशूद्र के रूप में शामिल होने की प्रक्रिया मध्य भारत से लेकर गुजरात-महाराष्ट्र तक जारी रही। भोजन-संग्राही, पशुपालक और प्रारम्भिक खेती करने वाली जो जनजातियाँ इस व्यवस्था से अलग रहीं उन्हें भी ब्राह्मण नीच और अछूत मानते रहे और उन्हें 'स्लेच्छ' कहा जाता रहा। इनका एक छोटा हिस्सा ही ब्रिटिश काल में ईसाइयत के प्रभाव में आया। आज भी आदिवासी समुदाय का अलग अस्तित्व कायम है और हिन्दुत्ववादी फासिस्ट उनके "हिन्दूकरण" के लिए काफ़ी प्रयासरत हैं और कहीं-कहीं उन्हें सीमित सफलता भी मिली है। ब्राह्मण धर्म के लिए हिन्दू धर्म संज्ञा का इस्तेमाल भी मध्ययुग में ही चलन में आया।

तेरहवीं सदी के आरम्भ से भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आने शुरू हुए, जिनका एक कारण इस्लाम का आगमन भी था, लेकिन इससे जाति-व्यवस्था में पद-सोपानक्रम में कुछ जातियों के ऊपर-नीचे होने और कुछ नयी जातियों-उपजातियों के अस्तित्व में आने के अतिरिक्त कोई मूलभूत अन्तर नहीं आया। इस्लाम द्वारा बहुदेववाद और मूर्तिपूजा की वर्जना तथा मुक्त व्यक्ति और दास तथा स्त्री-पुरुष के अन्तर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अन्तर की अस्वीकृति के बावजूद, जाति-व्यवस्था इस्लामी शासकों को ग्राम समुदायों से राजस्व वसूलने और नगरों से उजरत रूपी लागत को कम रखने में विशेष सहायक प्रतीत हुई। इसलिए युद्धों और विद्रोहों के दमन में मन्दिरों के ध्वंस या हिन्दू आबादी के दमन के अतिरिक्त उन्होंने आबादी के धर्मान्तरण की कोई कोशिश नहीं की, जाति-व्यवस्था में निहित दमन के प्रति उदासीन रहे, 'उच्च' जाति के हिन्दुओं को प्रशासन में अहम स्थान दिये और मातहत स्वीकारने वाले हिन्दू राजाओं के प्रति मैत्री भाव रखा। नये शासकों के साथ दस्तकारी की व्यापक नयी तकनोलॉजी आयी, नये व्यवसायों के चलते दस्तकार आबादी का काफ़ी विस्तार हुआ और भारतीय इतिहास की तीसरी "नगरीय क्रान्ति" की शुरुआत हुई। शुरु में नये व्यवसायों व निर्माण कार्यों के लिए बड़े पैमाने पर दासों का व्यापार भी हुआ। 13वीं-14वीं शताब्दियों में दास श्रम नगरीय श्रम का महत्वपूर्ण घटक था। इस्लाम स्वीकार करने के बाद इन दासों को कोई भी हुनर सिखाकर किसी भी काम में लगाया जा सकता था। कालान्तर में दासता से मुक्त होकर ये लोग शहरी दस्तकार और अनेक मेहनतकश समुदायों के प्रमुख बन गये। कुछ स्वतन्त्र लोगों ने भी इस्लाम स्वीकार किया और हिन्दू धर्म की 'निम्न' जातियों के उन लोगों ने भी धर्मान्तरण किया जो अपनी हीन स्थिति से उबरकर ऐसे पेशे अपनाना चाहते थे जो पहले वे नहीं कर सकते थे। इस तरह मुस्लिम आबादी में भी काफ़ी बढ़ोत्तरी हुई। पर धर्मान्तरित आबादी अपने साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव लेकर आयी। बुनकरों, कसाइयों, हज्जामों आदि में अन्तःविवाह की प्रथा चलन में थी। मुसलमानों में भी 'नीची' हिन्दू जातियों के समकक्ष 'कमीन' समुदाय विकसित हुए। फिर भी मुस्लिम आबादी का कुछ भाग जातिगत संरचना से बाहर रहा और जो इससे प्रभावित थे, उनके लिए भी व्यवसाय परिवर्तन या अन्तःविवाह नियम का उल्लंघन सम्भव था। कालान्तर में यह आबादी जब पूरे देश के गाँवों-शहरों में फैली तो "कमीन" समुदाय के मुस्लिम दस्तकारों और मजदूरों को सर्वर्ण हिन्दू समाज अछूतों के ही समकक्ष देखता था और उनकी आर्थिक स्थिति भी वैसी ही हो गयी। आगे चलकर, ब्रिटिश शासन में भी ज़मींदारियाँ और ऊँची नौकरियाँ शेख-सैयद-पठानों को ही मिलीं। व्यापक मुस्लिम आबादी की स्थिति बद से बदतर होती गयी

और आज़ाद भारत में भी आजतक “कमीन” मुसलमानों की स्थिति कमोबेश दलितों के ही समकक्ष है।

पीछे, अपनी चर्चा के काल पर वापस लौटें। सापेक्षतः जातिविहीन मुस्लिम आबादी की उपस्थिति से हिन्दू जाति-व्यवस्था की ताकत पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा। फ़र्क बस इतना पड़ा कि व्यवसायों के विस्तार से कुछ जातियाँ नयी उपजातियों में विखण्डित हो गयीं और अन्तःविवाह को अपनाकर स्थायी बन गयीं। कुछ जातियों के ऊपर चढ़ने के साथ ‘संस्कृतीकरण’ की प्रक्रिया भी घटित हुई। जैसे, जाट 8वीं सदी में चाण्डालों के समकक्ष पशुपालक कबीला थे, 11वीं सदी तक उनकी स्थिति शूद्र की हो गयी और 17वीं सदी तक वे खुदकाशत खेती करने वाले वैश्य श्रेणी के श्रेष्ठ किसान बन चुके थे। सत्रहवीं सदी के जाट विद्रोहों के बाद कुछ जाट, ज़मींदारों और राजपूतों की सामाजिक स्थिति हासिल करने की कोशिश करने लगे। लोक एकेश्वरवादी आन्दोलनों (निर्गुण भक्ति आन्दोलन, जिसकी चर्चा आगे ‘निम्न’ जातियों के आन्दोलनों के सन्दर्भ में आयेगी) का भी एक प्रभाव यह हुआ कि कुछ जातियाँ जाति-व्यवस्था के दायरे से बाहर जाकर जब वापस लौटीं तो उच्चतर श्रेणी में लौटीं। कुल मिलाकर, पूरे मध्यकाल के दौरान, गतिशीलता और प्रतिस्पर्धा के कुछ तत्वों की मौजूदगी के बावजूद, जाति-व्यवस्था का ढाँचा लगभग अक्षुण्ण बना रहा, श्रम-प्रक्रिया के स्वरूप को वही निर्धारित करती रही।

लेकिन यहीं पर हम परवर्ती मध्यकाल में आये कुछ ऐसे बदलावों की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे जो उपनिवेशीकरण न हो पाने की स्थिति में पूँजीवादी विकास की ऐसी सम्भावनाओं के द्वार खोल सकते थे, जो जाति-व्यवस्था को भी विघटन की दिशा में धकेल सकती थीं। इस मुद्दे की प्रायः या तो अनदेखी की गयी है या फिर अधूरी-असन्तुलित व्याख्याएँ की गयी हैं। अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच आज इस स्थापना पर आम सहमति है कि एक सापेक्षतः अलग-थलग इकाई होने के बावजूद भारतीय गाँवों के जनसमुदाय में श्रेणी-विभाजन और स्तर-विन्यासीकरण मार्क्स की सोच से बहुत अधिक था और वर्ग-विभेद जनित टकरावों की आन्तरिक गति मौजूद थी। व्यक्तिगत अधीनस्थता सामूहिक अधीनस्थता के साथ विविध रूपों में जुड़ी हुई थी। यह सही है कि लगान और राजस्व के एकीभूत हो जाने के कारण राज्य ही भू-स्वामी था, लेकिन गाँवों का अतिरिक्त उत्पादन समग्रतः राज्य (या उसके सुपुर्ददारों) के हाथों में नहीं जाता था, बल्कि वंशानुगत रूप से उसमें हिस्सा बाँटने वाला एक समूचा वर्ग मौजूद था जिसे मुगलकाल में ज़मींदार कहते थे। राजस्व वसूलने वाले सुपुर्ददार बड़े लोगों ने भी खुदकाशत और मीरासदार के तौर पर अपनी ज़मीन पर भाड़े की खेती करानी शुरू कर दी थी। ऐसी व्यक्तिगत अधीनस्थता का मुख्य कारण जाति-व्यवस्था ही थी जिसने ग्रामीण मजदूरों का एक विशाल वर्ग संघटित किया था। किसान ज़मींदारों को खेतों का मालिक समझते थे और ज़मींदार उन्हें खेतों से बेदखल भी कर सकते थे। ज़मींदारों, मीरासदारों और खुदकाशतों के अधिकार में स्पष्टतः निजी भू-स्वामित्व के तत्व मौजूद थे। यह कुछ-कुछ उस सामन्ती भू-स्वामित्व जैसा ही था जो ‘फीफ़’ और ‘मेनर’ प्रणालियों के लोप के उपरान्त यूरोप में पैदा हुआ था। यह स्वाभाविक ही है कि मुगल साम्राज्य का पतन मूलतः कृषि संकट के कारण हुआ। सजातीय बड़े किसानों और मीरासदारों की सहायता से प्रायः ज़मींदारों ने साम्राज्य की केन्द्रीभूत निरंकुश सत्ता के विरुद्ध किसान विद्रोहों का नेतृत्व किया और उसके पतन के बाद किसानों पर अपने अधिकार को व्यापक

और सुदृढ़ बना लिया। एशियाई उत्पादन-प्रणाली और निश्चल ग्राम समुदायों के बारे में स्वयं मार्क्स की धारणाएँ भी परिवर्तनशील रहीं। उन्होंने बाद में माना था कि ग्राम समुदाय एक निश्चल और गतिहीन प्रणाली के रूप में शायद ही कभी अस्तित्व में रहे हों। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में भी सामुदायिक कृषि व्यवस्था का व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था में रूपान्तरण गति पकड़ चुका था।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में मुद्रा के रूप में लगान भुगतान, ज़मींदारी के अधिकार का विक्रेय हो जाना, वाणिज्य, बैंकिंग, बीमा (धन-निक्षेप, हुण्डियों और विनिमय पत्रों के व्यापक उपयोग) और सुदूर बाजारों के लिए उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने वाले शहरी केन्द्रों का पर्याप्त विकास हो चुका था। फिर भी मुख्यतः ग्राम समुदायों के अतिरिक्त उत्पादन का ही अधिकांश उत्पादन सामग्रियों में रूपान्तरित हो पाना तथा नगर और वाणिज्य का राज्य द्वारा लागू खेती के शोषण की प्रणाली पर निर्भर बने होना पूँजीवादी विकास की राह की एक बाधा थी। साथ ही, तीव्र और व्यापक वाणिज्यिक गतिविधियों को अपने आप में पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली नहीं माना जा सकता। भारत में विकसित व्यापारिक पूँजी दादनी प्रथा के ज़रिए कारीगरों पर अपना नियन्त्रण रखती थी। यानी व्यापारी ही कारीगरों को ज़रूरत लायक उत्पादन के लिए कर्ज़ और कच्चा माल देते थे। इस नियन्त्रण और बेहद कम मजदूरी के चलते ऐसी नयी तकनीक और औज़ार अपनाने की सम्भावना कम हो जाती थी जो कम श्रम से अधिक काम सम्भव बना सके। **इरफ़ान हबीब** इसे मध्यकालीन भारत में पूँजीवादी विकास की राह की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। लेकिन आश्चर्य है कि उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि भारत में दादनी प्रथा से अलग भी उत्पादन के संगठन मौजूद थे जहाँ स्वतन्त्र उस्ताद दस्तकारों की कार्यशालाओं में श्रम का बँटवारा मौजूद था (जो पूँजीवाद के अंकुरण की पूर्वशर्त है)। अकबर के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक बंगाल, बिहार, अवध, सूरत और कश्मीर में ऐसे समृद्ध उस्ताद बुनकरों, प्रिण्टरों, बढ़इयों की स्वतन्त्र कार्यशालाओं के प्रभूत प्रमाण मिले हैं जहाँ कई-कई सौ अप्रेण्टिस और भाड़े के मजदूर काम करते थे। **सतीशचन्द्र** के अनुसार, प्राक्-औपनिवेशिक भारत में गुजरात, कोरोमण्डल और मलाबार के समुद्रतटीय क्षेत्र पूँजीवादी विकास की प्रारम्भिक मंजिल में प्रविष्ट हो चुके थे। तटवर्ती क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों के अधिकार के बाद विदेश व्यापार और आन्तरिक व्यापार का ताना-बाना छिन्न-भिन्न होने से ये उद्यम नष्ट हो गये। इतिहासकार **पाव्लोव** ने इस बात पर भी उचित ही आश्चर्य व्यक्त किया है कि आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली देहाती दस्तकारियों के भीतर निहित पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं की ओर **इरफ़ान हबीब** ने ध्यान ही नहीं दिया है। यह प्रस्थापना समाज की आन्तरिक गतिकी का निषेध करने वाली प्रस्थापना है कि यदि उपनिवेशीकरण नहीं होता तो भारत में पूँजीवादी विकास होता ही नहीं। पूँजीवाद विश्व इतिहास की पहली सार्विक और सर्वसमावेशी प्रवृत्ति है, जो हर प्रकार की प्राक्-पूँजीवादी संरचना को येन-केन-प्रकारेण तोड़ डालने या अधीन कर लेने की क्षमता रखती है। राह चाहे जो हो, गति चाहे जितनी मन्थर हो, एक बार किसी समाज में जब माल-उत्पादन की और स्वयं श्रम शक्ति के माल बन जाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तथा मौद्रिक सम्बन्धों और बाज़ार का विकास तेज़ हो जाता है तो यह प्रवृत्ति प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के सारे बन्धनों को तोड़ते हुए पूरे समाज को अपने आगोश में ले ही लेती है। यदि भारत का उपनिवेशीकरण नहीं हुआ होता तो भारत में भी दस्तकारी से मैन्यूफैक्चरिंग की ओर जो यात्रा शुरू हो रही थी, वह

आगे बढ़ती, निरन्तर विकसित उत्पादक शक्तियाँ प्राक-पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़ देतीं, पूँजी समाज के पोर-पोर में घुस जाती, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के तथा मूलाधार और अधिरचना के टकराव वर्ग संघर्षों के रूप में फूट पड़ते, अन्ततः नया मूलाधार स्थापित होता और पुरानी बिखरती सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचना पर नयी अधिरचना हावी होती चली जाती। इस प्रक्रिया में जाति-व्यवस्था का भी नैसर्गिक ढंग से क्षरण-विघटन हो जाता। उपनिवेशवाद ने इस प्रक्रिया को नष्ट कर दिया और अर्द्धसामन्ती-औपनिवेशिक संरचना में जाति-व्यवस्था थोड़े बदलावों के साथ मूलाधार और अधिरचना में बनी रही।

लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन की अन्तर्वस्तु :

एक पुनर्मूल्यांकन

यहीं पर, आवश्यकता इस बात की है कि हम लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन (निर्गुण भक्ति आन्दोलन) का एक ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन करें। इस आन्दोलन के नेता सत्ताश्रित और जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विशेषाधिकार-प्राप्त बौद्धिक समुदाय के सदस्य नहीं थे। वे छीपी, जुलाहा, चमार, धुनिया, नाई जैसी किसी 'निम्न' जाति के या छोटे किसानों की किसी 'निम्न' जाति के सदस्य थे। वर्ग दृष्टि से उनका सामाजिक आधार भूमिहीन खेत मजदूरों, दस्तकारों और छोटे व्यापारियों में था। इरफ़ान हबीब की शिष्यायत है कि इस आन्दोलन के विविध धार्मिक पन्थों के अनुयायियों ने स्वयं को कभी किसान नहीं समझा और किसानों के किसी भी हिस्से की आर्थिक या सामाजिक माँगों को नहीं उठाया। एक जाति के किसान दूसरी जाति के किसानों से जुड़ नहीं सके और किसानों की वर्ग-चेतना के विकास में बाधा पहुँची। इस सन्दर्भ में, पहली बात तो यह गौरतलब है कि यह आन्दोलन केवल किसानों का आन्दोलन नहीं था, इसकी विविध उपधाराएँ थीं। इनमें तमाम दस्तकार और कामगार शामिल थे जो सबसे नीचे की जातियों से आते थे। इनका साझा मुद्दा बनता था उस जाति-व्यवस्था को आधार देने वाले धार्मिक विधि-विधानों पर चोट करना जो उत्पादन-सम्बन्धों को भी निर्धारित करती थी और सामाजिक उत्पीड़न का भी बर्बर रूप थी। यदि यूरोपीय धर्मसुधार आन्दोलन को भी देखें तो उसमें भी लूथर की धारा उदारवादी धारा थी, मुंजर की उग्र-परिवर्तनवादी धारा ने किसानों की माँगों को भी उठाया और काल्वे की धारा सर्वाधिक आमूल परिवर्तनवादी उदीयमान बुर्जुआ वर्ग की माँगों का प्रतिनिधित्व करती थी। लूथर ने आरम्भिक बुर्जुआ दृष्टिकोण प्रकट करने के बाद आरम्भिक बुर्जुआ मानवतावाद और मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की आलोचना की और 1525 के महान किसान युद्ध में सत्ताधारियों का पक्ष लिया। धार्मिक किसान नेता मुंजर आमूलगामी किसान-प्लेबियन पक्ष का प्रतिनिधि था और उसका राजनीतिक कार्यक्रम समतावादी यूटोपियाई कम्युनिज्म के काफी निकट था। यह सही है कि केन्द्रीभूत सत्ता के विरुद्ध मराठों के विद्रोह के परिणामस्वरूप स्थापित मराठा राज्य कोई 'किसान राज्य' नहीं था। उसने मराठा ज़मींदारों की सत्ता को जन्म दिया, मीरास पट्टेदारियों का विस्तार हुआ और कुनबियों और निचली जातियों की स्थिति प्रायः वही बनी रही। समता और जनवाद के मामले में, जाट किसानों के विद्रोह को स्वर देने वाले सिख धर्म का चरित्र सर्वाधिक रैडिकल था, पर उसके परिणामस्वरूप कायम सिख राज्य भी किसी किस्म का 'किसानी राज्य' नहीं था और आगे चलकर सिख धर्म भी ऊँच-नीच जातियों के भेद से अछूता नहीं रहा। लेकिन हमें याद रखना होगा कि यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन का इस्तेमाल भी आगे चलकर कई रियासतों के

राजकुमारों ने तथा इंग्लैण्ड, स्कैण्डेनेविया और (राजा की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध) फ्रांस के सामन्ती कुलीनों ने किया। जैसे मध्य सोलहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में 'काउण्टर रिफॉर्मेशन' ने प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रसार को रोक दिया, उसी तरह भारत में भी सुधरी हुई जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणों की सर्वोच्चता और मूर्ति पूजा के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए हमें तुलसीदास की सगुण भक्ति धारा दीखती है। हमारा उद्देश्य यहाँ यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन में लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन का प्रतिरूप ढूँढ़ना नहीं है। सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में भिन्नता के हिसाब से दोनों में भिन्नताएँ थीं। हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतन्त्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे पूँजीवादी विकास की सम्भावनाएँ मौजूद थीं जो जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे। सम्भव है कि उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में भारत में अठारहवीं शताब्दी के गतिरोध के भीतर से मानवतावाद के मूल्यों के वाहक किसी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का जन्म होता। या फिर रूस की तरह, मन्थर गति से बुर्जुआ विकास के साथ-साथ मानववाद, राष्ट्रवाद और क्रान्तिकारी जनवाद के मूल्य विकसित होते। स्थिति चाहे जो भी होती, जाति-व्यवस्था के क्षरण-विघटन की परिणति तो अवश्यम्भावी होती। यह सवाल केवल लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन के पुनर्मूल्यांकन का ही नहीं है, इसी आलोक में इस तथ्य को ठीक से समझा जा सकता है कि उपनिवेशीकरण ने किस तरह भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति की हत्या कर दी और जाति-व्यवस्था को दीर्घजीवी होने के लिए नयी ताकत दी।

औपनिवेशिक दौर में जाति-व्यवस्था

यूरोपीय कम्पनियाँ जब भारत में आयीं उस समय वे भारत में उत्पादित माल यूरोप के बाजारों में ले जाकर बेचती थीं। जल्दी ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने युद्धों में और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में अन्य यूरोपीय कम्पनियों को पीछे धकेल दिया और भारतीय सामन्तों की फूट-कलह और कमजोरी का लाभ उठाकर देश के अलग-अलग भूभागों को कब्जे में लेने की भी शुरुआत कर दी। प्लासी और फिर बक्सर की लड़ाइयों के बाद वह देश की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गयी। राजाओं-महाराजाओं, सेठों-व्यापारियों से अकूत सम्पदा लूटकर ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के लिए आद्य-पूँजी संचय का अम्बार जुटाया जाने लगा। कारीगरों और दस्तकारों के साथ स्वेच्छाचारिता लूट की हद तक पहुँच गयी। फिर वह दौर आया जब ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति आगे कदम बढ़ा चुकी थी। बड़े पैमाने का कारखाना-उत्पादन भारतीय दस्तकारी को अब प्रतियोगिता में पछाड़ सकता था। ब्रिटिश मालों के भारत में आयात के गति पकड़ते ही भारतीय दस्तकारी तबाह हो गयी। ढाका और सूरत जैसे शहर वीरान हो गये। बड़े पैमाने पर ग्रामीणीकरण का सिलसिला शुरू हुआ और कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता चला गया। कृषि पहले से ही बर्बाद हो रही थी क्योंकि कम्पनी की सारी लूट की भरपाई सामन्त बेहिसाब लगान वसूली से ही कर रहे थे। कम्पनी ने भी अपने शासित क्षेत्रों से भू-राजस्व की बेलगाम उगाही शुरू की। जल्दी ही उसे समझ में आ गया कि इस विशाल कृषि प्रधान समाज से भू-राजस्व की उगाही लूट का एक अकूत स्रोत है, अतः इसकी प्रणाली को व्यवस्थित करना ज़रूरी है। ज़मींदारी, रैयतवारी और महालवारी व्यवस्थाओं के द्वारा इस काम

को अंजाम दिया गया। इन व्यवस्थाओं ने ग्राम समुदायों के पूरे ढाँचे को तबाह करके एक नयी, अर्द्ध-सामन्ती वर्ग-संरचना की स्थापना की, लेकिन इस बदलाव ने जाति-व्यवस्था के बुनियादी ढाँचे पर नाममात्र का ही असर डाला। ज़मींदारी व्यवस्था ने ज़मीन को ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति बना दिया। ये नये सामन्त 'ऊँची' जातियों के ही लोग हुआ करते थे जिनका काम काश्तकार किसानों से वसूले गये लगान का 9/10 भाग सरकारी खज़ाने में जमा करना होता था। ज़मींदार काश्तकारों को निचोड़ने में किसी नियम-कानून का खयाल नहीं करते थे। काश्तकार किसान ज़्यादातर मध्य जातियों के लोग थे। सबसे नीचे भूमिहीन दलित जातियों के लोग थे जो ज़मींदार की खुदकाश्त ज़मीन पर बेगारी करते थे, उनकी चाकरी करते थे और बड़े काश्तकारों की ज़मीन पर मजदूरी भी करते थे। इस तरह जो जातिगत सामाजिक ढाँचा था, वह यथावत बना रहा। औपनिवेशिक अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था ने ग्राम समुदायों के आर्थिक ताने-बाने को तो नष्ट कर दिया लेकिन जाति-व्यवस्था बनी रही, नयी व्यवस्था के साथ उसका तन्तुबद्धीकरण (articulation) हो गया। ज़मींदार प्रायः भू-लगान वसूलने का अपना अधिकार पट्टेदारों को और फिर वे उप-पट्टेदारों को बेच देते थे। ये पट्टेदार अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए काश्तकारों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव बनाते थे और दलितों पर ज़्यादा से ज़्यादा अत्याचार करके बेगारी करवाते थे। यह पट्टेदारी भी वंशानुगत हुआ करती थी। कभी-कभी जब किसानों की कंगाली और अपनी ऐयाशी के कारण ज़मींदार भू-राजस्व की अदायगी नहीं कर पाते थे, तो उनकी ज़मींदारियाँ नीलाम होती थीं जिन्हें कम्पनी के भारतीय कारिन्दे, अदालतों के कर्मचारी और बड़े महाजन खरीद लेते थे और नये सामन्तों की क़तार में शामिल हो जाते थे। बंगाल-बिहार में तो भू-सम्पत्ति का अधिकांश तेज़ी से ऐसे शहरी धनिकों के हाथों में चला गया जिनके पास अतिरिक्त पूँजी थी और वे उसे तत्काल ज़मीन में लगा देते थे। बताने की आवश्यकता नहीं कि तबाह होते किसान अक्सर विद्रोह करते रहते थे जिन्हें बर्बरतापूर्वक कुचल दिया जाता था।

रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटिश शासकों ने ज़मींदारों को ही नहीं, बल्कि मीरासदारों (यानी ग्राम समुदायों के उन सदस्यों को, जो दाय योग्य हिस्सों के मालिक थे) और किसानों की उन सभी श्रेणियों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की जो राज्य को सीधे भू-राजस्व अदा करते थे। कभी-कभी तो पूरा ही गाँव एक मीरासदार के मातहत आ जाता था और उसकी स्थिति एक सामन्त की हो जाती थी। धीरे-धीरे सभी मीरासदार छोटे भू-स्वामी बन गये जिनकी ज़मीनों को उनकी सम्पत्ति माना जाने लगा। बाहर से आये किसान, दास और अछूत दस्तकार बहुत सारे मामले में अधिकार-रहित काश्तकार या बटाईदार बन गये जिनकी काश्तों पर लगान कभी भी बढ़ाया जा सकता था और जिन्हें कभी भी बेदखल किया जा सकता था। भूमि को राज्य की सम्पत्ति मानते हुए अंग्रेज़ अधिकारी रैयतों को अपना ऐसा स्थायी काश्तकार मानने लगे जिनसे लगान की मनमानी रक़म माँगी जा सकती थी और जिन पर मनमाना राजस्व थोपा जा सकता था। रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत पूर्ववर्ती ग्राम समुदायों के अधिकार वाले चरागाहों और परती ज़मीन को राज्य ने ज़ब्त कर लिया, जिसका सबसे अधिक प्रभाव दलित भूमिहीनों पर पड़ा जो अब न तो अपने पशु चरा सकते थे न जलावन की लकड़ी पा सकते थे। नतीजतन भू-स्वामियों पर उनकी निर्भरता और अधिक बढ़ गयी।

मौजावार या मालगुज़ारी प्रणाली के अन्तर्गत समग्र रूप से ग्राम समुदाय को एक वित्तीय इकाई या भू-स्वामी माना जाता था। लेकिन अलग-अलग खेत पर कर लगाया जाता था और

एक भी काश्तकार का राजस्व बकाया रह जाने पर पूरे गाँव की ज़मीन नीलाम कर दी जाती थी जिन्हें सामान्यतः अदालती और माल विभाग के अधिकारी ख़रीद लेते थे और इस तरह ज़मींदार की हैसियत प्राप्त कर लेते थे।

1843 में सिन्ध पर कब्जे के बाद ऊपरी सिन्ध में रैयतवारी प्रणाली लागू की गयी जबकि निचले सिन्ध में ज़मींदारों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। 1845-48 के दौरान पंजाब की विजय के बाद, अंग्रेज़ों ने शुरुआती दौर में ग्राम समुदायों की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया, हालाँकि सामुदायिक भूमि पर धनी काश्तकारों को तथाकथित मालिकाना हक (यानी अपनी काशतों पर खेती करने का स्थायी अधिकार, बशर्ते कि वे लगान देते रहें) दे दिया गया। पूरे पंजाब में जिन्स-रूप लगान को अनिवार्यतः नक़दी बना देने से किसान अपनी पैदावार बाज़ार में बेचने को मजबूर हो गये, जिससे खाद्यान्न क़ीमतों में गिरावट आयी, किसानों की दशा बिगड़ती गयी और महाजनों का प्रभाव बढ़ता गया। सिख सामन्त, जिनके मालिकाना हक़ मज़बूत हुए थे, वे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के लिए भरोसेमन्द सामाजिक आधार बन गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में नयी पैमाइश और लगान बन्दोबस्ती के द्वारा सामन्ती भू-स्वामियों के विभिन्न समूहों के मालिकाना अधिकारों को पूरी तरह निजी स्वामित्व बना दिया गया। भू-राजस्व प्रणालियों में सुधार किया गया। 1857 के विद्रोह प्रभावित क्षेत्रों में ज़्यादातर गाँव ताल्लुकदारों को लौटा दिये गये। साथ ही ग्राम समुदायों के उच्च संस्तरों के अन्य लोगों को मालगुज़ारों और भू-स्वामियों के बीच उपस्वामियों-बिचौलियों का दर्जा प्रदान किया गया। रैयतवारी बन्दोबस्त के क्षेत्रों में सामन्ती भू-स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे पैमाने के किसानी स्वामित्व को भी सुव्यवस्थित किया गया। पंजाब में भूतपूर्व ग्रामीण समुदायों के उच्च संस्तरों के हितों पर ध्यान दिया गया। जागीरदारों और इनामदारों की ज़मीनें भी कम की गयीं और ताल्लुकदारों को राज्य पोषित पेंशनर बना दिया गया। सिन्ध में सशर्त अनुदानों के मालिक जागीरदारों को बड़ी ज़मीनों पर साम्पत्तिक अधिकार तो दिये गये लेकिन लगान वसूली के काम से उन्हें अलग कर दिया गया। बम्बई प्रेसिडेंसी में इनमों और जागीरों की संख्या तथा इनामदारों और जागीरदारों की भू-सम्पत्ति में कटौती की गयी। मध्य प्रान्त में भू-स्वामित्व का अधिकार पुराने सामन्ती अभिजातों के अतिरिक्त, सीधे राज्य को भू-राजस्व देने के लिए जिम्मेदार मालगुज़ारों को भी दिया गया। इन सभी क़दमों के द्वारा, एक ओर ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने पुराने सामन्तों के अतिरिक्त नये सामन्तों की एक क़तार विकसित करके तथा मालिक किसानों की एक वफ़ादार आबादी पैदा करके अपने सामाजिक आधार को विस्तृत एवं सुदृढ़ बनाया, दूसरी ओर भूमि पर औपनिवेशिक सामन्ती एकाधिकार को एक सुनिश्चित रूप दिया। इसका ज़्यादातर लाभ 'ऊँची' जातियों के सामन्तों को ही मिला। एक हद तक कुछ इलाकों में मध्य जाति के किसान लाभान्वित हुए और उनमें 'संस्कृतीकरण' की प्रवृत्ति पैदा हुई। ज़्यादातर मध्य जाति के मध्यम और ग़रीब काश्तकारों और दलित जातियों के भूमिहीन मज़दूरों तथा बचे-खुचे दस्तकारों का अमानवीय शोषण-उत्पीड़न बदस्तूर जारी रहा। इस तरह नये परिवर्तनों ने जाति-व्यवस्था को लगभग अप्रभावित छोड़ दिया।

भारतीय समाज के लिए उपनिवेशीकरण का सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप यह था कि इसने जाति-व्यवस्था की प्राचीन बुराई को तो पुनःसंस्कारित करके अपने हित में बनाये रखा, लेकिन पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से औपनिवेशिक

सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। पुराने समाज के गर्भ में नैसर्गिक विकास के जो भ्रूण पल रहे थे – वे नष्ट हो गये। ‘कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग-मशीनोफैक्चरिंग’ की स्वाभाविक विकास-यात्रा की सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं। जाति-व्यवस्था औपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती शोषण प्रणाली के लिए भी अनुकूल थी और सामाजिक-राजनीतिक तौर पर भी जनता को बाँटने के लिए, उसकी वर्ग-चेतना को कुन्द करने के लिए कारगर हथियार थी (दूसरा कारगर हथियार साम्प्रदायिकता को उभाड़ना था)। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी चूँकि देशी पूँजीपति वर्ग मेहनतकश अवाम की पहलकदमी बढ़ने से लगातार डरता था और अपने वर्ग हितों को लेकर शुरू से ही सजग था, इसलिए आन्दोलनों में जनशक्ति का इस्तेमाल करने के बावजूद, जाति उन्मूलन के प्रश्न पर वह कोई रैडिकल अवस्थिति कदापि नहीं ले सकता था, उल्टे जातियों के बीच के दुरावों-तनावों का इस्तेमाल करना और फिर मेल-जोल, सुधार, ‘हरिजन-उत्थान’ आदि की नीति अपनाना उसकी आम प्रवृत्ति थी। सामन्तों के अतिरिक्त मध्य जातियों के जो धनी काश्तकार थे (जो अपने खेतों में दलितों से मजदूरी भी करवाते थे), वे भी दलितों से दुराव रखते थे और पिछड़ी चेतना वाले मध्य जाति के मध्यम और गरीब काश्तकार भी उनसे दूरी बरतते थे। छूत-अछूत, गन्दे काम-साफ़ काम की धारणाएँ यथावत मौजूद थीं। इसके प्रचुर दस्तावेज़ी साक्ष्य मौजूद हैं कि ब्रिटिश नीति निर्धारकों की यह सुविचारित नीति थी कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए, पुराने शासक वर्गों को सहयोगी बनाने और सामाजिक उथल-पुथल से बचने के लिए यह सबसे ज़रूरी है। दूसरी बात यह कि भू-राजस्व की मनमानी उगाही औपनिवेशिक लूट का एक प्रमुख माध्यम था जो भूमि बन्दोबस्त के अर्द्ध-सामन्ती उत्पीड़न को बनाये रखने से ही सम्भव था और यही जातिगत उत्पीड़न का मुख्य आधार था।

1857 : मूल्यांकन विषयक कुछ अहम सवाल

यहीं पर 1857 के बारे में भी कुछ बातें ज़रूरी हैं। यह महाविद्रोह इतिहास के एक ऐसे सन्धि-बिन्दु पर हुआ था जब औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से पैदा होने वाले वर्ग सुनिश्चित रूप-रंग ग्रहण नहीं कर पाये थे और प्राक्-औपनिवेशिक भारत की वर्गीय संरचना पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई थी। इस संघर्ष में राष्ट्रीय मुक्ति चेतना के कुछ बीज थे, लेकिन मुख्यतः यह पुराने भारत का प्रतिरोध संघर्ष था। कहीं-कहीं किसानों, दलितों और जनजातियों के क्षेत्रीय नायकों की भी अहम भूमिका थी, लेकिन मुख्य नेतृत्वकारी शक्ति सामन्त ही थे। संघर्ष की मुख्य ताक़त विद्रोही सैनिक (जो आम किसानों के बेटे थे), किसान और उजड़े दस्तकार थे। उपनिवेशवाद उनका मुश्तरका दुश्मन था। सुनिश्चित योजना के अभाव में, पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ी गयी यह लड़ाई जीती नहीं जा सकी और अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है। पुराने भारत के सामन्ती उत्पीड़न के निकट अतीत को देखते हुए ज्योतिबा फुले यदि सन्तुलित इतिहास दृष्टि से 1857 को नहीं देख सके तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। उनका मानना था कि विद्रोहियों की जीत पुराने पेशवाई राज्य और दलितों के बर्बर उत्पीड़न की वापसी होगी। लेकिन आज भी ज़्यादातर दलित और कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी सामन्ती नेतृत्व के मद्देनज़र

1857 के विद्रोह को प्रतिगामी चरित्र वाला मानते हैं। यह नितान्त आधिभौतिक इतिहास-दृष्टि है। यदि इस महासंग्राम में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की पराजय होती, तो भी यह सम्भव ही नहीं था कि भारत मध्यकालीन अतीत के अँधेरे में वापस लौट जाता। ब्रिटिश सत्ता की पराजय के बाद, बहुत कम सम्भव था कि भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय सामन्ती सत्ता बहाल हो पाती। और यदि ऐसा होता भी तो उसके अन्तर्गत (उन्नीसवीं सदी के ज़ारकालीन रूस की तरह) पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया चल पड़ती और जाति प्रथा की जड़ों पर कुठाराघात करने वाले क्रान्तिकारी जनवादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन फूट पड़ते। मुमकिन था कि किसी केन्द्रीय सत्ता की नामौजूदगी या नाममात्र मौजूदगी की स्थिति में भारतीय समाज अलग-अलग सामन्ती अधिपतियों के शासन के अन्तर्गत आ जाता, लेकिन उस स्थिति में भी सामाजिक अन्तरविरोधों का उग्र होते जाना और पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया का नैसर्गिक गति से आगे डग भरना लाज़िमी था (जैसा प्राक्-औपनिवेशिक भारत में हो रहा था)। यह भी एक सम्भावना है कि ब्रिटिश पराजय के बाद भी देश में औपनिवेशिक दखलन्दाज़ी समाप्त नहीं होती, पूरा देश अलग-अलग औपनिवेशिक ताकतों के प्रत्यक्ष-परोक्ष नियन्त्रण के क्षेत्रों में बँट जाता और चीन से मिलती-जुलती अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती। इनमें से जो भी स्थिति होती होती, वह केन्द्रीकृत औपनिवेशिक सत्ता से काफ़ी बेहतर होती। भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति नष्ट नहीं होती और देश का इतिहास कुछ और होता। 1857 ने आम जनता की जिस पहलकदमी एवं ऊर्जा को निर्बन्ध किया था, उसे किसी भी स्थिति में समाप्त नहीं किया जा सकता था और इतिहास निर्माण की सक्रिय शक्ति बनने से रोका नहीं जा सकता था।

औपनिवेशिक काल की वर्गीय संरचना, विविध राजनीतिक धाराएँ और जाति प्रश्न

ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर से शिक्षित मध्यवर्ग की जो पहली पीढ़ी पैदा हुई, उसने यूरोपीय समाज में जनवाद के आदर्शों से प्रेरित होकर हिन्दू धर्म की बुराइयों के विरुद्ध जो भी आवाज़ें उठायीं और आन्दोलन चलाये उनका दायरा शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था और शहरी ग़रीबों के प्रति उनका दृष्टिकोण दया-करुणा से आगे नहीं जाता था। वस्तुतः ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफ़ादार इन सुधारकों का बहुलांश स्वयं भू-स्वामी था और गाँवों के दलितों की स्थिति सुधारना तो दूर, ये अन्य भू-स्वामियों की तरह ही उनके उत्पीड़क थे। ज्योतिबा फुले की स्थिति उनसे भिन्न थी। न केवल प्रचार के स्तर पर जाति प्रथा के विरुद्ध उनका रैडिकल तेवर था, बल्कि पहली बार उन्होंने अछूतों और स्त्रियों की शिक्षा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का उद्यम किया। किसानों और अस्पृश्य भूमिहीनों पर 'ऊँची' जाति के लोगों और देशमुखों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों और उनके शोषण का उन्होंने लगातार विरोध किया। लेकिन इस रैडिकल समाज-सुधारक ने भी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की निर्मात्री और पोषक के रूप में औपनिवेशिक सत्ता को नहीं देखा, बल्कि उसे शूद्रों-अछूतों की हितैषी के रूप में देखा और कभी उसका विरोध नहीं किया। फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज बाद में एक सामन्त शाहूजी महाराज के नेतृत्व में आ गया जिनका मुख्य लक्ष्य क्षत्रिय के रूप में मान्यता पाना था। पर इसका एक छोटा-सा हिस्सा कुछ दिनों तक किसानों और मज़दूरों को संगठित करने में लगा रहा। 1890 में फुले के एक अनुयायी लोखण्डे ने 'बॉम्बे

मिल हैण्ड्स एसोसिएशन' नामक मजदूरों का एक संगठन बनाया था, हालाँकि यह मजदूरों की दशा में सुधार हेतु बनाया गया अनौपचारिक (विधान-विहीन) किस्म का संगठन था। लोखण्डे सरकार द्वारा बनाये गये 'फैक्ट्री लेबर कमीशन' के भी सदस्य थे।

शहरी दलित जाति के लोग ईसाई अंग्रेज साहबों के रोज़मर्रा के व्यवहार में छुआछूत न मानने से प्रभावित होते थे, हालाँकि नौकरी उन्हें चौकीदार, माली, खानसामा, नौकर की ही मिलती थी। मिशनरी स्कूलों में उनके बच्चों के साथ भेदभाव नहीं होता था। सरकारी स्कूलों में भी वे जाते थे, पर वहाँ उन्हें बहुत अपमान झेलना पड़ता था। इन स्कूलों से पढ़कर पढ़े-लिखे दलितों की भी (विशेषकर महाराष्ट्र में) एक आबादी तैयार हुई जिसे बाबूगिरी तक की नौकरियाँ मिल जाती थीं। फिर भी, शहरों में नीचे दर्जे की नौकरियाँ प्रायः उन्हें ही मिलती थीं। सफ़ाई का काम सिर्फ़ उनका था। फैक्ट्रियों में भी उन्हें सबसे नीचे दर्जे का काम मिलता था और गैर-दलित जातियों के भेदभाव का भी सामना करना पड़ता था। पूरे देश में सिर्फ़ एक महार रेजिमेण्ट बनायी गयी, शेष सारी रेजिमेण्टों में दलितों को साफ़-सफ़ाई आदि के असैनिक काम ही ज़्यादातर मिलते थे। ये जो अतिसीमित बदलाव थे, इनका प्रभाव भी बमुश्किल तमाम दो प्रतिशत दलित आबादी पर ही था। जो बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में रहती थी वह सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ववत् शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी। कुछ बड़े काश्तकारों को छोड़कर मध्य या पिछड़ी जातियों के काश्तकारों-भूमिहीनों के लिए भी सामन्ती शोषण के साथ जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न की स्थिति बरकरार थी, हालाँकि उनकी स्थिति दलितों से भिन्न थी और वे भी (कुछ अति पिछड़ी जातियों को छोड़कर) दलितों के प्रति दूरी और घृणा का भाव रखते थे। औपनिवेशिक भारत में एक छोटा-सा जो दलित मध्य वर्ग पैदा हुआ था, उसी की आकांक्षाओं को मुखर करने वाले दलित राजनीतिक नेतृत्व ने पूरे दलित समुदाय के नेतृत्व की दावेदारी प्रस्तुत की और जातिगत उत्पीड़न को मुद्दा बनाकर उसका समर्थन भी हासिल किया, लेकिन उसने जाति-व्यवस्था की बुनियाद भूमि-व्यवस्था के विरुद्ध न तो कोई आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम दिया, न ही उस भूमि-व्यवस्था के पोषक उपनिवेशवाद को अपना निशाना बनाया। इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर और पेरियार की चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने क़ानून-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था और प्रशासन का जो एकरूप देशव्यापी तन्त्र स्थापित किया, उसका दार्शनिक आधार बुर्जुआ तर्कसंगति थी, लेकिन संकीर्ण औपनिवेशिक हितों के चलते वह हज़ारों तरीके से बाधित, नियन्त्रित और विरूपित की जाती थी। प्रशासन और क़ानून का आधार अब जाति-व्यवस्था और ईश्वरीय स्वीकृति नहीं थी, पर सामाजिक जीवन में जाति-व्यवस्था को छोड़ा नहीं गया (भूमि व्यवस्था द्वारा उसे नया आर्थिक आधार देने की चर्चा तो ऊपर की ही जा चुकी है) क्योंकि इससे पैदा होने वाली सामाजिक उथल-पुथल औपनिवेशिक सत्ता की स्थिरता के लिए खतरा हो सकती थी। उपनिवेशवादियों ने पूर्ववर्ती शासकों के बीच से ही अपने सामाजिक अवलम्ब विकसित किये। नौकरशाही में पुराने भू-स्वामियों के वंशज सवर्ण जातियों के नये शहरी मध्यवर्ग को व्यवस्थित किया गया। स्वतन्त्र बौद्धिक पेशाओं में भी उन्हीं का वर्चस्व था। आगे चलकर इसी मध्य वर्ग के एक हिस्से के भीतर यदि राष्ट्रवादी भावनाओं-विचारों का अंकुरण हुआ तो वह शासक वर्ग की इच्छा के विपरीत समाज-विकास की वस्तुगत गति में निहित अन्तरविरोधों के चलते हुआ। हालाँकि ये राष्ट्रवादी विचार भी या तो मरियल सुधारवादी विचार थे या फिर उनमें पुनरुत्थानवाद और

परम्परावाद के तत्त्व थे। जुझारू जनवादी विचारों की जगह इनके विचार या तो सुधारवादी थे या फिर घोर रूढ़िवादी। समाज-विकास जब कुछ और आगे बढ़ा तो मध्यवर्ग की क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी धारा का भी विकास हुआ और एक हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाकर मजदूर वर्ग से भी जुड़ा। लेकिन इन धाराओं के शरीर पर भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना से पैदा होने के इतने जन्म-चिन्ह तो थे ही कि इनका सैद्धान्तिक आधार अत्यन्त कमजोर था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेलवे और कपड़ा एवं जूट मिलों के निर्माण में ब्रिटिश पूँजी निवेश शुरू हुआ। इसका मूल उद्देश्य भारत के कच्चे माल से भारत में ही कम लागत पर माल तैयार करके विश्व-बाजार की प्रतिस्पर्धा में अपनी बढ़त बनाये रखना था। दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र उन क्षेत्रों में सिंचाई नहरों का निर्माण करना था जहाँ निर्यात के लिए फसलें (जैसे सिन्ध और पंजाब में कपास और गेहूँ की खेती) उगायी जाती थीं। तीसरा निवेश का क्षेत्र खनन उद्योग और चौथा चाय, कॉफी और रबर के बागान बने। अगला दौर इस्पात के कारखानों, अन्य अवरचनागत उद्योगों और उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन करने वाले कारखानों का था। इन कारखानों के लिए सर्वहारा आबादी की आपूर्ति यूरोप की तरह गाँवों में पूँजीवादी विकास के चलते उजड़ने वाली आबादी से नहीं हुई। उजड़ी हुई दस्तकारियों के तबाह दस्तकारों, सामन्ती उत्पीड़न से त्रस्त गाँवों की दलित आबादी, दिवालिया छोटे किसानों तथा औपनिवेशिक लूट से लगातार जारी रहने वाले अकालों व भुखमरी के शिकार लोगों से ब्रिटिश उद्योगों को यूरोप के मुकाबले कई गुनी सस्ती श्रम-शक्ति मिलती रही। गाँवों की जातिगत सामाजिक व्यवस्था पर इससे कोई असर नहीं पड़ा। इन उद्योगों के साथ ही देशी बिचौलियों, व्यापारियों, महाजनों और कमीशन एजेण्टों ने भी काफ़ी धन संचय कर लिया। प्रायः ये मारवाड़ी, पारसी, गुजराती और जैन व्यापारी थे। फिर इन दलाल पूँजीपतियों ने ब्रिटिश उद्योगों के सहायक उद्यमों और वित्तीय क्षेत्र में पूँजी लगानी शुरू की। इनका चरित्र क्रमशः बदलने लगा। विश्व पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा और संकटों में उपनिवेशवादियों के उलझाव, पहले महायुद्ध, आर्थिक महामन्दी और फिर दूसरे महायुद्ध का लाभ उठाकर भारतीय औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने अपने उद्योगों का विस्तार किया और बाजार में प्रतिस्पर्धा की उसकी आकांक्षाएँ भी बढ़ीं। हर पूँजीपति वर्ग की तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद भी मण्डी में पैदा हुआ। यह पूँजीपति वर्ग 'कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग' की यात्रा से नहीं बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में दलाल और व्यापारी के रूप में विकसित होकर औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ था। पुनर्जागरण (Renaissance) का मानववाद और प्रबोधन (Enlightenment) की तर्कणा एवं जुझारू जनवाद इसकी विरासत नहीं थे। इसका रास्ता बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का, या यहाँ तक कि जुझारू राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का भी रास्ता नहीं था। इसने क्रमशः अपनी बढ़ती ताक़त के हिसाब से 'दबाव-समझौता-दबाव' की रणनीति अपनाते हुए और अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और उपनिवेशवादियों के संकट का लाभ उठाते हुए राजनीतिक आज़ादी हासिल करने का रास्ता चुना। इस प्रक्रिया में इसने क़दम-क़दम पर जनता की पहलक़दमी को दबाया, क़दम-क़दम पर बढ़ते जनसंघर्षों को समझौतों में धकेलकर धोखाधड़ी की। यह अनायास नहीं कि इसकी प्रमुख पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व में शहरी उच्च मध्य वर्ग के अतिरिक्त सवर्ण भू-स्वामियों और धनी काश्तकारों के प्रतिनिधि थे। यह अनायास नहीं कि इसके अग्रणी सिद्धान्तकार गाँधी के सामाजिक विचार नितान्त दकियानूसी थे, वे स्वयं को वर्णाश्रम धर्म के सुधरे हुए रूप के कट्टर समर्थक सनातन हिन्दू बताते थे,

दलितों के प्रति उनका कार्यक्रम “अछूतोद्धार” से आगे नहीं जाता था, उनका सेक्यूलरिज़्म हिन्दू-मुस्लिम भाईचारा से आगे नहीं जाता था। उनका मानववाद धार्मिक चाशनी में लिथड़ा हुआ और पुनरुत्थानवाद की गन्द में सना हुआ था। इस मायने में वे अपने गुरुओं – रस्किन, थोरो, तोल्स्तोय – से काफी पीछे थे, उनके एक “सनातन हिन्दू” अनुयायी थे। ग्राम स्वराज्य, मशीनी संस्कृति का विरोध, अछूतोद्धार, ट्रस्टीशिप का गाँधीवादी युटोपिया गरीबों को राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ लेने और अस्पृश्यों के ज़ख्मों पर मरहम लगाने के लिए था, वर्ग संघर्ष के दबाव को कम करके जनसमुदाय को बुर्जुआ नेतृत्व के पीछे खड़ा करने के लिए था। उसका अमली रूप पूँजीवाद ही हो सकता था और नेहरू के नेतृत्व में आगे चलकर वही हुआ। कांग्रेस एक ओर किसानों को भूमि सुधार का आश्वासन देती थी, दूसरी ओर भू-स्वामियों को भी उनके हितों का खयाल रखने की गारण्टी देती थी। मजदूर वर्ग के संघर्षों के प्रति तो उसका रुख सदा ही विरोध का, समझौते के लिए दबाव बनाने का और विश्वासघात करने का रहा। ऐसे बुर्जुआ वर्ग की ऐसी राजनीतिक पार्टी जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला (अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था विरोधी) कोई आमूलगामी आर्थिक कार्यक्रम ले ही नहीं सकती थी, न ही वह इसके विरुद्ध कोई जुझारू जनवादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा कर सकती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में कम्युनिस्ट धारा

राष्ट्रीय आन्दोलन की दूसरी मुख्य धारा कम्युनिस्ट पार्टी की थी, अतः यह देखना ज़रूरी है कि जाति प्रश्न को लेकर उसका दृष्टिकोण और व्यवहार क्या था। इसको भलीभाँति समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन अपनी किन कमजोरियों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा नहीं बन सका और लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न नहीं कर सका। कम्युनिस्ट आन्दोलन का विचारधारात्मक आधार भारत में शुरू से ही कमज़ोर था (इतिहास-विकास में निहित जिसके वस्तुगत कारण की हमने ऊपर चर्चा की है) और यह कमज़ोरी लगातार बनी रही। पार्टी की स्थापना की घोषणा 1920 में ताशकन्द में हुई और 1925 में कानपुर में एक बेहद ढीले-ढाले संघटन वाला अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन भी हुआ, पर इसके बाद भी देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट ग्रुप एक केन्द्रीकृत नेतृत्व के मातहत संगठित नहीं हो सके। जो भी ढीला-ढाला नेतृत्व था, वह ठोस परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करके भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी क्रान्ति का कार्यक्रम और मार्ग तय करने के बजाय ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के मुखपत्र ‘इम्प्रेकोर’ में और सोवियत पार्टी के पत्रों में छपे भारत विषयक लेखों को और ब्रिटिश पार्टी के रजनीपाम दत्त के लेखों को अपने फ़ैसलों और कार्रवाइयों का आधार बनाता था। पहली बार, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और चीन, ब्रिटेन तथा जर्मनी की पार्टियों के सुझाव पर 1933 में लेनिनवादी पार्टी ढाँचा तैयार करने के लिए एक आरज़ी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ। कहा जा सकता है कि पार्टी गठन की प्रारम्भिक प्रक्रिया ही 1933 में पूरी हुई। इसके बाद भी, पार्टी की पहली कांग्रेस 1943 में, दस वर्ष बाद हुई। विडम्बना यह कि तब भी पार्टी के पास क्रान्ति का न कोई कार्यक्रम था, न ही भूमि-कार्यक्रम (Agrarian Programme) था। पहली बार, मास्को में स्तालिन और सोवियत पार्टी के प्रतिनिधियों से बातचीत के बाद, भारतीय कम्युनिस्ट नेतृत्व ने 1951 में एक नीति-विषयक वक्तव्य और एक कार्यक्रम का दस्तावेज़ जारी किया जिसे 1951 के अखिल भारतीय पार्टी सम्मेलन और 1953 की तीसरी पार्टी कांग्रेस

में पारित किया गया। क्रान्ति की मंजिल और आम दिशा के बारे में मूलतः और मुख्यतः सही होने के बावजूद, भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण और समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। बहरहाल, यह कार्यक्रम भी अब केवल कोल्ड स्टोरेज में रखे रहने के लिए ही था क्योंकि तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी अब पूरी तरह से संशोधनवाद की राह पर चल चुकी थी और एक खुली संसदीय पार्टी बन चुकी थी। फिर 1956 में खुश्चेवी संशोधनवाद से इसे अन्तरराष्ट्रीय सर्टिफिकेट भी हासिल हो गया।

इसी विचारधारात्मक कमजोरी के चलते राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पार्टी बार-बार अनुकूल अवसर का लाभ उठाने से चूकती रही और राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा का नेतृत्व गाँधी-नेहरू की कांग्रेस से छीनने में विफल रही। 1920 के दशक के उतरार्द्ध में जब असहयोग आन्दोलन की वापसी से खोयी साख गाँधी अभी भी हासिल नहीं कर पाये थे और स्वराज पार्टी का असेम्बलीवादी समझौतापरस्त चरित्र नंगा हो चुका था, वह 'वर्कर्स एण्ड पीजेण्ट्स पार्टी' गठित करने और उसके तेज प्रभाव-विस्तार का दौर था, पर पार्टी संगठित और सुस्पष्ट समझ से युक्त थी ही नहीं कि उसका लाभ उठा सके। 'गाँधी-इरविन समझौते' और उसके बाद 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के विरुद्ध देशव्यापी भण्डाफोड़ और जनलामबन्दी संगठित न कर पाना भी पार्टी की सांगठनिक कमजोरी के नाते था। उसके बाद पी.सी. जोशी के दक्षिणपन्थी रुझान वाले दौर में पहलकदमी हाथ में लेने के अनेक अवसर पार्टी चूकी। संयुक्त मोर्चे की द्वन्द्वात्मक नीति के अभाव में बुर्जुआ राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रति समझौतापरस्ती का रुख पैदा होना लाजिमी था। जब कांग्रेस और लीग की प्रान्तीय सरकारें जनता में व्यापक मोहभंग पैदा कर रही थीं, उस समय पार्टी आगे बढ़कर व्यापक जनान्दोलन संगठित कर सकती थी और पहल अपने हाथ में ले सकती थी, पर ऐसा न हो सका। सबसे अफसोसनाक दौर था 1946 से लेकर 1950 तक का लम्बा संक्रमणकालीन दौर, जब एक ओर भारतीय बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस और लीग देश के विभाजन और सत्ता-हस्तान्तरण के लिए मोल-तोल की वार्ताओं में लगी थीं, मात्र 11 प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा भावी आज़ाद देश का संविधान बना रही थी और दूसरी ओर यही दौर देशव्यापी मजदूर हड़तालों, नौसेना विद्रोह, सेना और वायुसेना में भी विद्रोह की सुगबुगाहटों तथा सबसे बढ़कर, तेलंगाना, तेभागा और पुनप्रा-वायलार के महान किसान संघर्षों का दौर था। देश के अन्य हिस्सों में भी कई छोटे-छोटे किसान संघर्ष चल रहे थे। यदि सच्चे अर्थों में एक संगठित लेनिनवादी पार्टी होती तो आज देश का इतिहास कुछ और होता। लेकिन यही दौर था जब रणदिवे एक ओर "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लाइन चला रहे थे और दूसरी ओर यूगोस्लावियाई संशोधनवादी कार्देलज़ से आइडिया लेकर जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति की मंजिलों को एक में मिला देने की खिचड़ी पका रहे थे। उधर बम्बई में डांगे गुट पहले से ही अर्थवाद के पंककुण्ड में धँसा था। आन्ध्र की पार्टी कमेटी सापेक्षतः सही रास्ते पर थी और चीन की तरह लोकयुद्ध के देशव्यापी विस्तार पर बल दे रही थी पर केन्द्रीय नेतृत्व ने 'आन्ध्र थीसिस' को खारिज कर दिया। मजदूरों-किसानों के इन सभी संघर्षों में कम्युनिस्ट क़तारें बेमिसाल शौर्य और बलिदान के साथ अगली पाँतों में थीं पर ऐसा केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था जो इन संघर्षों को एक कड़ी में पिरोकर देशव्यापी बना सके। अन्ततः सभी अलग-अलग संघर्ष या

तो बिखर गये या कुचल दिये गये। नेहरू ने सेना भेजकर तेलंगाना किसान संघर्ष का बर्बर दमन कराया।

बहुत सारे दलित बुद्धिजीवी कम्युनिस्ट आन्दोलन पर जाति प्रश्न की अनदेखी करने का (और कभी-कभी तो जातिगत पूर्वाग्रह तक का) आरोप लगाते रहे हैं और इन दिनों कुछ नौदलितिये मार्क्सवादी बौद्धिकों में भी यह चलन आम हो चला है। कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी ऐसा कहते हुए मानो अतीत के पाप-प्रक्षालन के लिए बिना विस्तृत विश्लेषण में गये मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के समन्वय की अलग-अलग तजवीजें पेश कर रहे हैं, मानो ऐसा करके ही वे दलित आबादी का दिल जीत लेंगे। यह या तो पराजय बोध है या फिर सस्ता लोकरंजकतावाद (populism)। ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज के अन्य पक्षों और क्रान्ति की अन्य समस्याओं पर तो कम्युनिस्ट पार्टी ने यथोचित सैद्धान्तिक कार्य किया और व्यवस्थित ढंग से अपनी नीति-रणनीति तय की और सिर्फ जाति प्रश्न की ही उसने अनदेखी कर दी। जिस पार्टी के पास 1951 तक भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न हो, भूमि-कार्यक्रम (Agrarian programme) का कोई दस्तावेज़ तक न हो, उससे सिर्फ जाति प्रश्न पर सांगोपांग अवस्थिति दस्तावेज़ और सुस्पष्ट दिशा की अपेक्षा भला कैसे की जा सकती है? यानी जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो कमी थी, वह उसकी भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक आम कमजोरी का एक हिस्सा मात्र थी। फिर भी इस तथ्य का उल्लेख जरूरी है कि 1930 में 'कार्वाई के लिए संयुक्त मंच' के अपने दस्तावेज़ में पार्टी ने जाति प्रथा और अस्पृश्यता का तफ़्सील से चर्चा की है, जाति प्रथा विरोधी संघर्ष को सामन्तवाद और ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ा है और मेहनतकश "अछूत" जनता को जातिगत आधार पर बाँटने की चालों से बचते हुए देश भर के मजदूरों के साथ मिलकर सामन्तवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने का आह्वान किया है। साथ ही उसने जाति प्रथा और हर प्रकार की जातिगत असमानता के विरुद्ध लड़ने की घोषणा की है। पुनः 1948 में हुई पार्टी की दूसरी कांग्रेस की राजनीतिक थीसिस के दस्तावेज़ में भी इस प्रश्न को उठाया गया है और पाँच पैराग्राफ अस्पृश्यता की समस्या पर दिया गया है। इस दस्तावेज़ में अस्पृश्यता को 'ऊँची' जातियों के बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष चलाते हुए उन अवसरवादी और अलगाववादी नेताओं के विरुद्ध भी संघर्ष की बात कही गयी है जो शोषक वर्गों के साथ खड़े होकर अस्पृश्यता को इस संघर्ष से अलग करते हैं। जाहिर है कि यहाँ इशारा अन्य दलित कांग्रेसी नेताओं और पेरियार के साथ ही मुख्यतः अम्बेडकर की ओर है। **सुभाष गाताडे** (देखें, उनका लेख '**Cast Away Caste: Breaking New Grounds,**' countercurrent.org) और उन जैसे बहुतों को तकलीफ है कि जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम दिये बगैर कम्युनिस्ट पार्टी ने अस्पृश्यता से लड़ने की बात करते हुए अम्बेडकर को अलगाववादी, अवसरवादी और ब्रिटिश समर्थक करार दे दिया जिससे जातिगत पूर्वाग्रह पैदा हुए। यह अलग बात है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम नहीं निरूपित किया। वह तो अम्बेडकर ने भी नहीं किया, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। पर जो उस समय की सच्चाई थी, उससे मुँह भला कैसे चुराया जा सकता था। डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेसी 'उच्च' जातीय नेतृत्व का विरोध करते हुए दलितों को उनकी माँगों पर न सवर्ण जमींदारों के विरुद्ध संगठित किया, न ही उनके पालक-पोषक उपनिवेशवादियों के विरुद्ध। वे उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष से ही अलग रहे, स्वाधीनता-प्राप्ति का विरोध करते रहे, फिर पहले लीग और फिर कांग्रेस के समर्थन से 11

प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा में बैठकर उस समय संविधान बना रहे थे और सहयोग के लिए कांग्रेस का बार-बार आभार प्रकट कर रहे थे (देखिये, संविधान सभा में उनके भाषण), जब तेलंगाना में नेहरू की सरकार किसानों-भूमिहीनों का बर्बर दमन कर रही थी। समग्रता में उनकी भूमिका का मूल्यांकन अभी अलग बात है, 1948 में उन्हें अवसरवादी और अलगाववादी के अतिरिक्त और भला क्या कहा जा सकता था? दलित जातियों को साथ लेने के लिए सच्चाई पर लीपापोती करके अम्बेडकर को साथ लेने की नहीं, बल्कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभार में अस्पृश्यता और जाति प्रथा उन्मूलन के दीर्घकालिक संघर्ष के ठोस कार्यभारों को निरूपित करने की ज़रूरत थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह नहीं किया, वह उसकी कमी थी। यह उल्लेख भी यहाँ ज़रूरी है कि एटक ने भी अपने चौथे-पाँचवे-छठे अधिवेशन में अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाया था और बाद में भी इसे 'मजदूर वर्ग के चार्टर' में शामिल किया गया था। किसान सभा की केन्द्रीय परिषद ने भी सितम्बर 1945 में अपने माँगपत्रक में अस्पृश्यता विरोधी माँग शामिल की थी। इन तथ्यों की सिरों से अनदेखी नहीं की जानी चाहिए, पर इसका यह मतलब नहीं कि कमी या कमजोरी नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति प्रथा के उद्भव और औपनिवेशिक काल तक उसकी मौजूदगी के सामाजिक आधारों का तथा जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का मार्क्सवादी विश्लेषण करते हुए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में जाति के प्रश्न पर संघर्ष की ठोस रणनीति की कोई रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की, जातिगत सामाजिक बँटवारे और भेदभाव की संस्कृति के विरुद्ध सतत, व्यापक, सुव्यवस्थित आन्दोलन का कार्यक्रम नहीं दिया और यह भी नहीं बताया कि सर्वहारा राज्य की स्थापना होने के बाद जाति के पूर्णरूपेण उन्मूलन की प्रक्रिया क्या होगी या उसकी आम दिशा क्या होगी! यह कमजोरी अकेली या अलग-थलग नहीं थी, यह उस व्यापक विचारधारात्मक कमजोरी के ही चलते थी जिसके चलते पार्टी के पास 1947 के चार वर्षों बाद तक क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई दस्तावेज़ ही नहीं था।

लेकिन इतिहास के साथ न्याय तभी होगा जब तस्वीर के दूसरे पहलू की भी अनदेखी न की जाये। विचारधारा और लाइन की कमजोरी के बावजूद, बीसवीं शताब्दी में दलित और अन्य उत्पीड़ित जातियों के उत्पीड़न और भेदभाव के विरुद्ध कम्युनिस्ट हर उस क्षेत्र में बहादुरी से लड़े जहाँ उनका प्रभाव था। उनसे अधिक यह काम किसी ने नहीं किया। बिहार और उत्तर प्रदेश के सवर्ण भू-स्वामी तो हिकारत से कम्युनिस्ट पार्टी को 'चमारों-दुसाधों की पार्टी' कहा ही करते थे। कम्युनिस्टों का मुख्य सामाजिक आधार ही गाँव के भूमिहीनों में था, जो ज़्यादातर दलित थे। किसान सभाओं में काश्तकार कम्युनिस्टों के साथ आते थे, क्योंकि वे ही जुझारू ढंग से उनकी माँगें उठाते थे (हालाँकि किसानों में कांग्रेस का प्रभाव कहीं अधिक था), लेकिन वे (काश्तकार) भी उन्हें भूमिहीन दलितों का ही अधिक हितैषी मानते थे। देश के सैकड़ों स्थानों पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं ने दलितों के साथ भेदभाव या उनके उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चलाये। 1951-52 तक पेशेवर क्रान्तिकारियों की परम्परा वास्तविक अर्थों में मौजूद थी और सवर्ण जातियों से आने वाले ऐसे कार्यकर्ता भी दलित बस्तियों में ही रहते थे। यह परम्परा संशोधनवाद के दौर में भी कुछ समय तक बनी रही। यह याद रखना होगा कि तेलंगाना किसान संघर्ष की पूर्वपीठिका बनाते हुए आन्ध्र महासभा में काम करने के दौरान कम्युनिस्टों ने अन्य सामाजिक बुराइयों के अतिरिक्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक रूढ़ियों और स्त्रियों की गुलामी को भी मुद्दा बनाया था और शक्तिशाली सामाजिक आन्दोलन

के ज़रिए वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनाया था। इसलिए एकदम झाड़ू-बुहारू ढंग से कम्युनिस्ट आन्दोलन पर आरोप मढ़ने की जगह मुद्दे की गहराई में जाने की ज़रूरत है। मूल कारण कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी थी और उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए।

अम्बेडकर और पेरियार की धारा

इसके बाद हम राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में अम्बेडकर और पेरियार की भूमिका पर आते हैं। अम्बेडकर ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था के कारण दलितों की एक छोटी आबादी को मिले अवसर और उद्योगों के विकास के चलते जातिगत पेशों से दलितों के बँधे से होने से मुक्त होने की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते थे और उन्हें उम्मीद थी कि ब्रिटिश सत्ता के बने रहते दलितों की स्थिति बदलेगी और सवर्ण जातियों की ब्राह्मणवादी जकड़ टूटेगी। वे इस सच्चाई को समझने में विफल रहे कि इन क़दमों से मात्र इतना होगा कि दलितों के एक अत्यन्त छोटे हिस्से के भीतर से एक मध्य वर्ग पैदा होगा और शहरी दलितों के नग्न जातिगत उत्पीड़न में कुछ कमी आयेगी। बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में जिन सवर्ण भू-स्वामियों के शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी, वे उसी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की उपज थे जो अंग्रेज़ों ने लागू की थी। उस भूमि व्यवस्था की जड़ों पर क्रान्तिकारी चोट किये बिना व्यापक दलित समुदाय की मुक्ति असम्भव थी और भूमि क्रान्ति का ऐसा कोई कार्यक्रम अम्बेडकर के पास कभी नहीं था। उपनिवेशवाद के विरुद्ध कभी तो वे अतिशय कृतज्ञता प्रकट करते थे, कभी इस बात के लिए क्षोभ प्रकट करते थे कि अंग्रेज़ों ने अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए अपेक्षित प्रयास नहीं किये और कभी अकाल, ग़रीबी और देश की लूट की चर्चा करते हुए उद्योग-व्यापार के विकास में बाधक बनने के लिए ब्रिटिश नीतियों की भर्त्सना करते थे। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जब वे कटु होते थे, उस समय भी उनका स्टैण्ड यही होता था कि हम एकसाथ दो शत्रुओं से नहीं लड़ सकते, अतः ब्राह्मणवाद से लड़ना ही अभी हमारी प्राथमिकता है। कांग्रेसी नेतृत्व के बुर्जुआ वर्ग-चरित्र की उन्होंने कभी चर्चा नहीं की, उन्हें उसमें सवर्णों और विशेषकर ब्राह्मणों के वर्चस्व पर आपत्ति थी। पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना में निहित जाति-व्यवस्था की जड़ों को पहचानने की जगह अम्बेडकर की मुख्य समझ यह थी कि सत्ता में दलितों की हिस्सेदारी उनकी स्थिति में बदलाव ला सकती है। उनकी समझ थी कि उपनिवेशवाद के समाप्त होने से भारत में ब्राह्मणवादी निज़ाम कायम हो जायेगा, इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन से वे हमेशा अलग रहे। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन की कांग्रेसी धारा का नेतृत्व ब्राह्मणवादी था और औपनिवेशिक शासन भी दलितों के हक़ में नहीं था तो उपनिवेशवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध दलितों को एक अलग धारा के रूप में एक रैडिकल कार्यक्रम पर संगठित किया जा सकता था, पर ऐसा करने के बजाय अम्बेडकर ने राष्ट्रीय आन्दोलन से ही किनारा करके अंग्रेज़ों से वार्ता और मोल-तोल करते हुए मुख्यतः उनके साथ खड़ा रहने का विकल्प चुना। जहाँ तक सामाजिक आन्दोलन का प्रश्न है, अम्बेडकर की सारी परियोजना ब्राह्मणवाद-विरोधी छोटे-मोटे आन्दोलनों से लेकर धर्म-परिवर्तन में जाति समस्या का समाधान ढूँढ़ने तक सिमटी रही।

जिस समय पूरे देश की जनता साइमन कमीशन का बाँयकाट कर रही थी, अम्बेडकर उसके समक्ष ज्ञापन प्रस्तुत कर रहे थे। 1926 से 1934 तक वे बम्बई विधान परिषद के

मनोनीत सदस्य थे। गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने कहा कि दलितों ने रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने जुल्मों से मुक्ति दिलाने वाले लोगों के रूप में अंग्रेजों का स्वागत किया और हिन्दुओं-मुसलमानों-सिखों के विरुद्ध लड़कर यह साम्राज्य उन्हें दिया (हालाँकि यह तथ्यतः ग़लत है कि कम्पनी की सेना में ज्यादातर दलित सैनिक थे, वे बहुत ही कम थे), अतः दलित और अंग्रेज एक असाधारण बन्धन में बँधे हुए हैं और अंग्रेज दलितों के संरक्षक हैं (अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 5, पृष्ठ 16)। इसके बाद जब वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचना कर रहे थे, उस समय भी स्वतन्त्रता संघर्ष में दलितों की भागीदारी का इस तर्क से विरोध कर रहे थे कि यह संघर्ष सवर्ण हिन्दुओं की सत्ता स्थापना के लिए हो रहा है।

अक्सर कुछ दलित और नव-मार्क्सवादी अध्येता यह स्थापना देते हैं कि 1929 में बम्बई की प्रसिद्ध कपड़ा मिल हड़ताल इसलिए टूटी क्योंकि कम्युनिस्ट नेतृत्व वाली यूनियन ने दलित मजदूरों की माँगों की अनदेखी की थी और वे हड़ताल से अलग हो गये। तथ्यों के पुनरावलोकन की ज़रूरत है। हड़ताल इस बात पर हुई थी कि नयी मशीनें आने के बाद एक ही मजदूर से तीन लूम चलवाये जा रहे थे और मजदूरों की छँटनी हो रही थी। दलित मजदूर हड़ताल में साथ थे। यह सच है कि मिल में दलित मजदूरों के साथ भेदभाव था और छुआछूत के आधार पर कुछ काम उन्हें नहीं करने दिये जाते थे। यह एक अलग मुद्दा है कि कम्युनिस्ट पार्टी को ऐसे मुद्दों को लेकर भी मजदूरों के बीच सतत शिक्षा एवं प्रचार कार्य करना चाहिए था और प्रबन्धन के सामने भी माँगें रखनी चाहिए थीं। लेकिन उस समय एक आसन्न संकट को लेकर जब सभी मजदूर हड़ताल पर चले गये तब अम्बेडकर ने चार्टर में दलित मजदूरों की विशिष्ट माँगों को जोड़ने की जिद पकड़ी और दलित मजदूर काम पर लौट गये, जिससे हड़ताल टूट गयी। दरअसल, जीवनीकार धनंजय कीर के अनुसार, अम्बेडकर हड़तालों को आर्थिक लड़ाई से अधिक राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित मानते थे और मानते थे कि इससे दलितों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। 1926 से लेकर 1934 तक वे दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई असेम्बली के मनोनीत सदस्य थे। 1935 के कुख्यात 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के देशव्यापी विरोध में भी अम्बेडकर शामिल नहीं थे। इसके तहत होने वाले असेम्बली चुनावों में भागीदारी के लिए उन्होंने 'स्वतन्त्र मजदूर पार्टी' (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) बनायी, जिसका प्रभाव केवल बम्बई प्रान्त में था। असेम्बली में वे विपक्ष में बैठे। केवल यही वह दौर था जब कम्युनिस्टों से घोर घृणा करने वाले अम्बेडकर ने मजदूरों और किसानों के आन्दोलनों में उनके साथ शिरकत की। 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' विरोधी हड़ताल में उन्होंने दलित मजदूरों के शामिल होने की कोई शर्त नहीं रखी और व्यापक मजदूर एकजुटता के चलते इस हड़ताल की विजय भी हुई। इस समय उन्होंने हड़ताल के जनवादी अधिकार के पक्ष में बयान दिये और यहाँ तक कहा कि यदि कांग्रेस वास्तव में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करे तो वे उसमें शामिल हो जायेंगे। लेकिन उनका यह रैडिकल तेवर अल्पकालिक था। दूसरे विश्वयुद्ध के समय जैसे ही यह लगने लगा कि संकटग्रस्त अंग्रेज भारत छोड़कर जा सकते हैं और 'वैवल प्लान' सामने आया, वैसे ही स्वतन्त्र मजदूर पार्टी को अम्बेडकर ने भंग कर दिया और 'अनुसूचित जाति संघ' बनाकर 'राज्य और अल्पसंख्यक' नामक प्रस्ताव तैयार किया जिसे बाद में संविधान सभा के सामने प्रस्तुत किया गया। इस दौरान, 1942 से 1946 तक वे श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक रहे। साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की बातें काफ़ी पीछे छूट चुकी थीं। अम्बेडकर का नया स्टैण्ड यह था कि दलितों की हिफ़ाज़त की समुचित व्यवस्था से

पहले अंग्रेजों को भारत नहीं छोड़ना चाहिए। यही समय था जब वे एक हिन्दू और एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में भारत के विभाजन के पुरजोर समर्थक हो गये थे (बाद में संविधान सभा में शामिल होने पर उनका स्टैण्ड बदलकर कांग्रेस जैसा हो गया था), जिससे ब्रिटिश शासक और मुस्लिम लीग को ही नहीं, सावरकर को भी काफी प्रसन्नता हुई थी।

1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के तहत जब मात्र 11 प्रतिशत लोगों के निर्वाचक मण्डल द्वारा संविधान सभा का चुनाव हुआ, तो यूरोपीय-अमेरिकी जनवाद के कायल अम्बेडकर को सार्विक मताधिकार की कोई याद नहीं आयी और वे बंगाल से लीग के समर्थन से निर्वाचित होकर संविधान सभा के सदस्य बने। पाकिस्तान बनने के बाद जब संविधान सभा विभाजित हुई तो अम्बेडकर के लिए झटपट एक सीट खाली करवाकर कांग्रेस ने बम्बई से उन्हें चुनवा लिया। कांग्रेस ने उन्हें ड्राफ्टिंग कमेटी का अध्यक्ष बनाया। 1935 के क़ानून के आधार पर दो नौकरशाहों ने एक ड्राफ्ट तैयार करके अम्बेडकर को सौंपा, अम्बेडकर ने उसी को सजा-धजाकर संविधान का अन्तिम ड्राफ्ट तैयार किया। संविधान सभा में अम्बेडकर के भाषणों को पढ़ना अपनेआप में एक दिलचस्प अनुभव है। कांग्रेस के प्रति तो वे कृतज्ञता और एकजुटता से ओत-प्रोत दिखते हैं, सभा के अनुदारवादी सदस्यों (जिनमें सामन्ती कुलीनों के प्रतिनिधि भी शामिल थे) के प्रति भी वे कृतज्ञता ज्ञापित करते नहीं थकते। गौरतलब है कि अम्बेडकर जब संविधान का ड्राफ्ट तैयार करने में तल्लीन थे, यही वह समय था जब देशव्यापी जनउभार चल रहे थे, मजदूर हड़तालें हो रही थीं, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार के किसान संघर्ष चल रहे थे और नेहरू की भेजी सेना ने तेलंगाना के संघर्ष का बर्बर रक्तपातपूर्ण दमन भी इसी दौरान किया। तेलंगाना में ज़मींदारों के गुण्डा गिरोहों, निज़ाम के रज़ाकारों और फिर भारतीय सेना ने जिन रैयतों और भूमिहीनों पर वहशियाना जुल्म ढाये, वे ज़्यादातर शूद्र और दलित जातियों के ही लोग थे। पर अम्बेडकर न कुछ देख रहे थे, न सुन रहे थे, न बोल रहे थे, वे संविधान लिख रहे थे और नेहरू के मन्त्रिमण्डल में क़ानून मन्त्री के पद पर विराजमान थे। संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके ज़्यादातर प्रस्तावों को संविधान सभा ने खारिज कर दिया, इस पर अम्बेडकर को उस समय कोई शिकायत नहीं हुई। यह वही संविधान है जो सर्वोपरि तौर पर निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की गारण्टी देता है (सम्पत्तिहीन दलितों को इससे क्या लाभ था?)। जनता द्वारा किसी भी चुनौती से निपटने के लिए रहे-सहे जनवाद को भी ताक पर धरकर आपातकाल लागू कर देने का प्रावधान इसी संविधान में मौजूद है। हर पाँच वर्षों बाद पूँजी की ताकत से जन-प्रतिनिधि चुनने का जो नाटक आज वीभत्सतम रूप ले चुका है, वह इसी संविधान का प्रावधान है। अस्पृश्यता समाप्त करने का प्रावधान इस संविधान में ही मौजूद है (और 1955 में ऐसा क़ानून भी बना), पर यह महज एक कागज़ी बात थी। आज अस्पृश्यता में जो भी कमी आयी है, उसका कारण संवैधानिक या वैधिक प्रावधान नहीं, बल्कि पूँजीवादी विकास की अपनी स्वतन्त्र गति है। राजे-रजवाड़ों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के बदले उन्हें मुआवज़े देने और प्रिवी पर्स के प्रावधान से अम्बेडकर की पूर्ण सहमति थी। संविधान में चाहे जनवाद का जितना भी ढकोसला किया गया हो, आम जनता का रोज़मर्रा के जीवन में क़ानून-व्यवस्था से ही वास्ता होता है और भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सत्ता ने उस क़ानून व्यवस्था (आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल, सम्पत्ति विषयक क़ानून) आदि का औपनिवेशिक ढाँचा यथावत बरकरार रखा (बाद में उसमें एक के बाद एक नये-नये काले क़ानून जुड़ते चले गये)। कराराधान की प्रणाली शुरू से ही

ऐसी थी जिसका पूँजीपति मनमाना लाभ उठा सकें तथा राजकाज का सारा बोझ परोक्ष करों के ज़रिए आम जनता पर पड़े। अम्बेडकर स्वयं क़ानून मन्त्री थे, पर ऐसे किसी भी प्रश्न पर उनकी कोई आपत्ति नहीं थी। कांग्रेस से अम्बेडकर की दूरी बनने का कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं था, बल्कि यह था कि वे विधि के बजाय श्रम मन्त्रालय चाहते थे और काफी इन्तज़ार के बाद भी नेहरू ने उनकी इच्छा पूरी नहीं की। फिर 1955 में अम्बेडकर ने इस्तीफ़ा दे दिया। अब वे संविधान सभा के अपने भाषणों के एकदम विपरीत, संविधान निर्माण के दौरान की अपनी विवशताओं की चर्चा करने लगे और संविधान उन्हें इतना निरर्थक लगने लगा कि उन्होंने घोषणा कर दी कि 'इस संविधान को जलाने वाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा।' जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी बनाने की घोषणा की (जो उनके मरणोपरान्त अस्तित्व में आयी)। इस नयी पार्टी के पास भी दलित मुक्ति का कोई रैडिकल सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था और मात्र चुनाव के ज़रिए सत्ता में दलितों की दावेदारी बढ़ाकर उनकी स्थिति बदल देने का दिवास्वप्न ही इस पार्टी का कार्यक्रम था। आश्चर्य नहीं कि रिपब्लिकन पार्टी के विभिन्न धड़ों और बाद में पैदा हुई तमाम अम्बेडकरवादी पार्टियों ने सत्ता में भागीदारी के इसी तर्क के आधार पर कांग्रेस, हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट भा.ज.पा., शिवसेना, दलितों के उत्पीड़क मध्यजातीय कुलकों-फार्मरों की पार्टी स.पा. और कुलकों एवं क्षेत्रीय भू-स्वामियों की द्रमुक, अन्नाद्रमुक जैसी किसी भी जाति से समय-समय पर गाँठ जोड़ने में कोई हिचक नहीं दिखायी। दरअसल, ये पार्टियाँ दलितों के बीच से उभरे बुर्जुआ वर्ग और निम्न-बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें जाति और अम्बेडकर के नाम पर दलित वोट तो मिल जाते हैं लेकिन बहुसंख्यक दलित मेहनतकशों के हितों से जिनका कोई लेना-देना नहीं है। इन पार्टियों का आचरण अम्बेडकर के रास्ते से विचलन नहीं है बल्कि उसी की तार्किक परिणति और विस्तार है।

राजकीय समाजवाद के नाम पर अम्बेडकर की जो आर्थिक नीति थी (देखिये, संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके प्रस्ताव), वह फ़ेबियन समाजवादी भी नहीं थी। उसमें कुछ यूटोपियाई प्रस्ताव थे और शेष जो बचता था वह नेहरू के उस कथित समाजवाद से कतई भिन्न नहीं था जो राजकीय पूँजीवाद और निजी पूँजीवाद का मिला-जुला रूप – मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला पूँजीवाद था। अम्बेडकर का प्रस्ताव था कि सभी प्रमुख उद्योग और बीमा राज्य के स्वामित्व में होंगे, बुनियादी उद्योग राज्य के निगमों के स्वामित्व में होंगे। सारी खेती का राष्ट्रीकरण कर दिया जायेगा। पर वे इतना जोड़ना नहीं भूले कि पूँजीपतियों और भू-स्वामियों को उनके स्वामित्व वाले कारख़ानों-ज़मीनों का अधिग्रहण करते समय मुआवज़ा दिया जायेगा। छोटे उद्यम निजी स्वामित्व में होंगे। राजकीय खेती गाँवों के परिवारों को बिना किसी भेदभाव के पट्टे पर दी जायेगी। पहली बात यह कि इस व्यवस्था में ब्याज, किराया और व्यक्तिगत स्वामित्व पूर्ववत् बने रहने थे, बस सबसे बड़ा वैयक्तिक स्वामी राज्य को होना था। अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी बता सकता है कि यह राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद से भिन्न और कुछ भी नहीं होता। यह शोषण-सम्बन्धों को समाप्त करने की जगह और बड़े पैमाने पर जन्म देता, नौकरशाह पूँजीपतियों की एक शक्तिशाली जमात खड़ी करता, छोटे पैमाने के निजी उद्यमों को भी बड़ा बनने का अवसर देता और एक निरंकुश सर्वसत्तावादी राज्य का सामाजिक आधार तैयार करता। इन प्रस्तावित राजकीय उद्यमों और कृषि में भी दलित उजरती गुलाम ही होते। जहाँ तक खेती को राजकीय उद्यम बना देने का प्रश्न है, पूँजीपति वर्ग

भी यही चाहता है, पर उसकी राज्यसत्ता यह कर नहीं सकती क्योंकि पूँजीपति वर्ग के निकटतम वर्ग सहयोगी और सत्ता के छोटे पार्टनर कुलक-फार्मर-भूस्वामी ऐसा कभी नहीं चाहेंगे। अम्बेडकर घोर कम्युनिज़्म विरोधी अमेरिकी विचारक जॉन डेवी से (वे उसके छात्र भी रहे थे) तो शुरू से प्रभावित थे, पर 1952 में (शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के चुनाव घोषणापत्र में), उनका “राजकीय समाजवाद” अपना रूप बदलकर डेवियन प्रैग्मेटिज़्म के और अधिक निकट आ गया था। अब उनका कहना था कि तेज़ औद्योगिक विकास ज़रूरी है, जहाँ राजकीय नियन्त्रण बेहतर हो, वहाँ वह लागू किया जाये और जहाँ निजी स्वामित्व ज़्यादा कारगर हो, वहाँ उसे लागू किया जाये। कृषि के राष्ट्रीकरण के हवाई ख्यालात पीछे रह गये थे और अब अम्बेडकर शत-प्रतिशत नेहरू की आर्थिक नीतियों की अवस्थिति पर आ गये थे। अम्बेडकर नहीं भी कहते तो पूँजीपति वर्ग हर तरह से तेज़ औद्योगिक विकास को आतुर था। पूँजी की इस स्वाभाविक गति से जाति-व्यवस्था को जितना कमजोर होना था उतना वह हुई। पर मुख्य पहलू यह है कि पूँजीवाद ने अपने हित में जाति-व्यवस्था का अपनी संरचना के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया, इसे परिष्कृत करके अपना लिया, बहुसंख्यक दलित आबादी का उत्पीड़न, अलगाव और अपमान गाँवों में ही नहीं शहरों में भी जारी रहा और एक छोटी-सी बुर्जुआ और मध्यवर्गीय दलित आबादी शासक वर्ग के अंग और सामाजिक अवलम्ब के रूप में व्यवस्था में सहयोजित कर ली गयी। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था के प्रति अम्बेडकर की अटूट आस्था थी, उनकी सोच उसकी सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं कर सकी। उसमें भी उनके आदर्श दिदेरो, वॉल्लेयर या टॉम पेन नहीं थे, फेबियन सोशलिस्ट जॉर्ज बर्नार्ड शॉ भी नहीं थे। उनके प्रेरणा स्रोतों का वर्णक्रम एडमण्ड बर्क से लेकर प्रैग्मेटिस्ट अमेरिकी विचारक जॉन डेवी तक फैला हुआ था। वर्ग-निरपेक्ष जनवाद की उनकी समझ बुर्जुआ राजनीति-शास्त्र के तर्कों से अलग कुछ नहीं थी। वे इस बात को समझने में एकदम विफल रहे कि हर जनवाद का एक वर्ग-चरित्र होता है। वह या तो बुर्जुआ जनवाद होता है या समाजवादी जनवाद होता है। बुर्जुआ जनवाद बहुसंख्यक जनता पर बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा जनवाद अल्पसंख्यक शोषकों पर मजदूर वर्ग का (अन्य मेहनतकश वर्गों के सहयोग से) अधिनायकत्व होता है। सर्वहारा तानाशाही से वह यूँ बिदकते हैं मानो वह जनवाद का निषेध हो या पार्टी की निरंकुश सत्ता हो। मार्क्सवाद पर उनके लेखन को पढ़कर यह विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुर्जुआ समाजशास्त्रियों की सतही आलोचनाओं और उसमें दिये गये उद्धरणों के अतिरिक्त मार्क्सवाद की किसी भी क्लासिकी कृति का अध्ययन नहीं किया था। सर्वहारा अधिनायकत्व वह है ही नहीं, जैसा वह बयान करते हैं। समाजवाद और साम्यवाद के बीच का अन्तर भी उन्हें स्पष्ट नहीं था। राज्यसत्ता के वर्ग-चरित्र की समझदारी नहीं होने से ही वे इस बात को नहीं समझ सके कि राज्यसत्ता का बुर्जुआ चरित्र रहते यदि खेती और उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर भी दिया जाये तो वह समाजवाद नहीं बल्कि राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद ही होगा, न ही वह यह समझ सके कि एक वर्ग की राज्यसत्ता का बलात ध्वंस करके ही दूसरा वर्ग अपनी सत्ता कायम कर सकता है। इतिहास में किसी भी शासक वर्ग ने शान्तिपूर्वक सत्ता हस्तान्तरित नहीं की है। क्रान्तिकारी वर्ग युद्ध में हिंसा एक अनिवार्यता है, किसी की इच्छा नहीं। कम्युनिस्ट जब हिंसा की बात करते हैं तो उनका अर्थ व्यक्तिगत हिंसा नहीं वर्ग हिंसा है, बल द्वारा स्थापित, बल

द्वारा संचालित और बल-प्रयोग के माध्यम से कायम राज्यसत्ता को बल द्वारा चकनाचूर करना होता है (इस प्रक्रिया में रक्तपात न हो तो भी बल का प्रयोग होगा जो दार्शनिक अर्थ में हिंसा ही होगी)। इसी तरह, अम्बेडकर को माल-उत्पादन, अधिशेष के विनियोजन या पूँजी-संचय की प्रक्रिया की मार्क्सवादी व्याख्या के बारे में अर्थशास्त्री होते हुए भी कोई जानकारी नहीं थी। आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) और अधिरचना के द्वन्द्व के बारे में, उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के सतत द्वन्द्व में गुणात्मक उछाल और उत्पादक शक्तियों द्वारा उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़कर नये उत्पादन-सम्बन्धों की स्थापना के रूप में सामाजिक क्रान्ति की परिभाषा से वे अवगत ही नहीं थे। जो मार्क्सवाद यान्त्रिक भौतिकवाद की उत्पत्ति – आर्थिक नियतत्ववाद से संघर्ष करते हुए ही विकसित हुआ था उसी पर वे चलताऊ कलमघसीटों की तरह आर्थिक नियतत्ववादी होने का आरोप लगाते हुए कहते हैं कि मार्क्सवादी मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी मानते हैं। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि उत्पादक कार्रवाई मनुष्य की बुनियादी कार्रवाई है जिसके लिए मनुष्य सुनिश्चित उत्पादन-सम्बन्धों में बँधता है। इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों का समुच्चय समाज का मूलाधार है जिस पर राजनीतिक-वैचारिक-सांस्कृतिक- सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों की विराट अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी हो जाती है। एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद अधिरचना की अपनी स्वतन्त्र गति होती है, वह अपनी पारी में मूलाधार को भी प्रभावित करती है और एक सुनिश्चित मूलाधार के नष्ट होने के बाद भी पुरानी अधिरचना बनी रहती है, और नये मूलाधार से तथा नयी अधिरचना से उसका टकराव जारी रहता है। समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में पूँजीवादी मूलाधार के विविध रूप बचे रहते हैं, उनके सतत रूपान्तरण की लम्बी क्रिया के साथ पुरानी अधिरचनाओं के विरुद्ध भी सतत क्रान्ति जारी रहती है। इस प्रस्थापना को नहीं जानने के कारण अम्बेडकर 1938 में जनता में लिखे गये एक लेख में यह बचकानी टिप्पणी करते हैं कि यदि सांस्कृतिक और धार्मिक उपादानों की इमारत आर्थिक बुनियाद पर टिकी है तो उस बुनियाद को नष्ट करने के लिए भी पहले इमारत ही तोड़नी पड़ती। यह आलोचना भी बिना जाने की गयी आलोचना है। आर्थिक बुनियाद को नष्ट करने के लिए कम्युनिज़्म भी पहले केन्द्रीय राजनीतिक अधिरचनात्मक संस्था – राज्यसत्ता का ही ध्वंस करने की बात करता है और राज्यसत्ता के ध्वंस की मंज़िल तक जनता की चेतना को उन्नत और संगठित करने के लिए आर्थिक-राजनीतिक प्रचार और संघर्ष के साथ ही जनमानस में वर्चस्व जमाये सभी धार्मिक-वैधिक-नैतिक मूल्यों-मान्यताओं और संस्थाओं के विरुद्ध सतत संघर्ष करना होता है। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि किसी भी अधिरचनात्मक तन्त्र को पूर्णतः और अन्तिम तौर पर तभी ध्वस्त किया जा सकता है जब उसके आर्थिक मूलाधार को तोड़ा जा चुका हो। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि अन्ततोगत्वा निर्णायक उपादान मूलाधार ही होता है। इस चर्चा पर हम आगे भी आयेंगे। अम्बेडकर मनुष्य को सिर्फ “आर्थिक प्राणी” होने की अवधारणा को खारिज करते हुए किसी भी नागरिक समाज के लिए धर्म को अनिवार्य बताते हैं। अम्बेडकर का यह “नागरिक समाज” हेगेल ही नहीं, लॉक और रूसो के नागरिक समाज की अवधारणा से भी पीछे है जो तर्कणा के राज्य का आदर्शांकृत रूप था और सामाजिक-राजनीतिक स्पेस में धर्म की उपस्थिति को सिरे से खारिज करता था। दरअसल, मार्क्स के पहले के जुझारू भौतिकवादी बुर्जुआ विचारकों ने भी मानव द्वारा विशेष परिस्थितियों में धर्म के निर्माण के बारे में और धर्म के इतिहास के बारे में जो सोचा था, अम्बेडकर उससे

अनभिज्ञ थे। धर्म को वे एक मानवेतर, शाश्वत निदेशक सिद्धान्त मानते थे और उसके सामाजिक उद्गम से अनभिज्ञ थे। इस मामले में वे गाँधी जितने ही दकियानूस थे। उनकी तलाश केवल हिन्दू धर्म से बेहतर धर्म की थी जो 2000 साल पुराने आद्य-बौद्ध धर्म पर जाकर खत्म हुई। आजीवक, लोकायत या सांख्य जैसे ब्राह्मणवाद-विरोधी प्राचीन भौतिकवादी दर्शनों की ओर वे इसलिए नहीं गये क्योंकि वे संगठित धर्म नहीं थे। अम्बेडकर की आत्मिक (spiritual) वंचना यह थी कि वे सिर्फ धर्म को ही आत्मिक सम्पदा समझते थे। मार्क्सवाद मनुष्य को सिर्फ “आर्थिक प्राणी” मानना तो दूर, आत्मिक सम्पदा से रिक्त मनुष्य को मनुष्य होने की शर्तों से रिक्त मानता है और उसका लक्ष्य यह है कि वह सामाजिक ढाँचा नष्ट होना चाहिए, जिसमें सारा समय जीने मात्र के लिए खटने में लगाने के चलते बहुसंख्यक आबादी आत्मिक सम्पदा से वंचित है और दूसरी ओर श्रम के नैसर्गिक मानवीय गुण से रिक्त परजीवी वर्गों के पास भी आत्मिक सम्पदा के नाम पर केवल भोग-विलास और स्वार्थपरता की निकृष्ट संस्कृति है। मार्क्सवाद संस्कृति, कला-साहित्य, संगीत, दर्शन इन सभी को आत्मिक सम्पदा मानता है, मानवीय सारतत्व (Human Essence) मानता है। यदि उन्होंने **मार्क्स-एंगेल्स की 1844 की दार्शनिक-आर्थिक पाण्डुलिपियाँ, पवित्र परिवार, जर्मन विचारधारा, राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** जैसी (ग्रुण्डरिस्से तो उनके जीवनकाल में नहीं छपा था) रचनाएँ पढ़ी होतीं, यदि वे पूँजी में यहाँ-वहाँ आये सन्दर्भों से परिचित होते, यदि उन्हें लेनिन, स्तालिन, माओ से लेकर गोर्की, लुनाचास्की, ब्रेष्ट, लुकाच, वोरोव्स्की, वोरोव्स्की आदि दर्जनों लोगों द्वारा भाषा, साहित्य, कला, संगीत आदि की सैद्धान्तिकी पर 1950 तक हुए कामों की और समाजवादी कला-साहित्य-संगीत-सिनेमा के क्षेत्र में हुए प्रयोगों के सौवें हिस्से की भी जानकारी होती तो मार्क्सवाद की आत्मिक सम्पदा के बारे में उनके विचार इतने उथले नहीं होते।

आखिरकार अम्बेडकर का दलित मुक्ति का प्रोजेक्ट था क्या? तेज़ उद्योगीकरण। वह तो पूँजीवाद खुद चाहेगा, पर अपनी पूँजी की ताकत की औकात और इतिहास के रंगमंच की सीमा का अतिक्रमण करके वह इसे नहीं कर सकता था। जितना कर सकता था, उतना उसने साठ वर्षों में किया है। परिणाम क्या है? दस प्रतिशत दलित मध्यवर्गीय हो गये (सामाजिक पार्थक्य और अलगाव उन्हें भी झेलना पड़ता है), कुछ व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब बन गये और 90 प्रतिशत आबादी गाँवों और शहरों में उजरती गुलामी करती है और जातिगत भेदभाव, पार्थक्य, अपमान और उत्पीड़न झेलती है, फर्क इतना है कि स्थिति पहले से बेहतर है। हम एक परिष्कृत, पूँजीवादी चरित्र वाली जाति-व्यवस्था के रूबरू हैं। जो भी बेहतर स्थिति है, वह केवल उद्योगीकरण के चलते नहीं है, आरक्षण की भी इसमें एक भूमिका है। यह अम्बेडकर का एक योगदान जरूर था। जब आरक्षण की माँग की गयी और वह लागू हुआ तो दलितों की (और पिछड़ों की भी) स्थिति देखते हुए वह एक बुर्जुआ जनवादी माँग थी। आज तो आरक्षण एक भँवरजाल बन गया है। आरक्षण के बँटवारे को लेकर दलितों और पिछड़ों के बीच, दलित जातियों-उपजातियों के बीच आपस में और पिछड़ी मानी जाने वाली जातियों के बीच आपस में सबसे अधिक टकराव हो रहे हैं। वह भी तब जब नवउदारवाद के दौर में सरकारी नौकरियाँ लगातार घटती जा रही हैं। साठ वर्षों में आरक्षण ने दस प्रतिशत दलितों को मध्य वर्ग और उनमें से भी दो प्रतिशत को उच्च मध्य वर्ग और बुर्जुआ वर्ग बनाया है। अब आरक्षण की पहुँच इन्हीं तक है और यही मुखर तबका दलित उत्पीड़न पर आग तो

बहुत उगलता है लेकिन व्यवस्था में सहयोजित (co-opt) होकर या व्यवस्था का सामाजिक अवलम्ब बनकर शेष नब्बे फीसदी दलित आबादी से दूर हो चुका है। सहयोजन और सामाजिक अवलम्ब-विस्तार का यह काम हर पूँजीवादी व्यवस्था करती है। आरक्षण-विरोध प्रायः सवर्ण प्रतिक्रियावादी मानसिकता से किया जाता है, पर आरक्षण ही यदि दलित संघर्ष के एजेण्डे पर प्रधान हो जाता है और हवाई आशा के नाम पर उन्हें बाँटने लगता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि बुर्जुआ जनवादी माँग से अधिक यह बुर्जुआ जनवादी विधर्मों को बनाये रखने का उपकरण बन गया है। आरक्षण आज एक गैर-मुद्दा (non-issue) है, दलित मुक्ति के एजेण्डे पर इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोजगार' के मुद्दे को स्थान देना होगा। अभी तक हम नौकरियों में आरक्षण की बात कर रहे थे। जहाँ तक सत्ता-तन्त्र में (चुनावी सीटों पर) आरक्षण की बात है, यह एक प्रतिक्रियावादी दलित-विरोधी माँग है। कुछ दलितों के संसद और सरकार में पहुँच जाने से बस इतना होता है कि वे बुर्जुआ राज्यसत्ता के पुर्जे बन जाते हैं, पूरे फ्रेमवर्क का अतिक्रमण करके दलितों के लिए कुछ रैडिकल सुधार भी वे नहीं करवा सकते। छह दशकों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है।

जहाँ तक जाति-व्यवस्था के समूल नाश की किसी परियोजना की बात है, अम्बेडकर के पास कभी भी उसकी सांगोपांग सोच नहीं थी। 1936 का उनका प्रसिद्ध निबन्ध **जाति उन्मूलन** अन्तरविरोधी बातों का भँवरजाल है जिसका अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि जाति का उन्मूलन असम्भव है। उनका कहना है कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग ही सर्वाधिक प्रभावी वर्ग होता है और हिन्दुओं में बुद्धिजीवी सिर्फ ब्राह्मण हैं जो जाति प्रथा के खात्मे के लिए कतई तैयार नहीं होंगे। धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण भी आपसी रिश्तेदारी से जुड़े होने के चलते पुरोहित ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं खड़े होंगे। शेष हिन्दू समाज की जातियाँ भी जाति प्रथा की समाप्ति के लिए तैयार नहीं होंगी। फिर वे अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriage) को इसका उपचार बताते हैं, लेकिन चूँकि यह धार्मिक सिद्धान्तों व आस्थाओं के प्रतिकूल है अतः लोगों के मानस को धर्म और शास्त्रों की जकड़ से मुक्त किये बिना यह सम्भव नहीं है। इस काम के लिए अम्बेडकर सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं सुझाते, बल्कि यह कहते हैं कि जाति प्रथा समाप्त करना लगभग असम्भव है और इसमें कई युग लग जायेंगे। सही है कि इसके बाद तो युगों तक इन्तज़ार का रास्ता ही बचता है। तब तक इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-रियायतों के लिए दबाव बनाया जाये और पूँजीवादी विकास (उद्योगीकरण) के साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव कम होते जाने का इन्तज़ार किया जाये।

धर्मान्तरण को भी एक उपाय के रूप में उन्होंने देखा और अन्तिम दिनों में बौद्ध बन गये। हालाँकि बहुत कम दलितों ने उनकी बात मानी, पर जिन्होंने मानी, उनकी सामाजिक स्थिति पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा, बस 'नवबौद्ध' दलित जाति का एक प्रवर्ग बनकर रह गया। मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध के बारे में बौद्ध धर्म का जो भौतिकवादी नज़रिया था, उससे तो अम्बेडकर ने कुछ नहीं लिया, परन्तु व्यक्तिगत और सामाजिक आचार संहिता के सन्दर्भ में उसकी आधिभौतिक प्रत्ययवादी आख्यानों की एक भक्त की तरह विशद चर्चा की। यह किसी भी तरह से स्पष्ट नहीं होता कि बुद्ध के अष्टांग मार्ग पर आचरण करने से दलितों की सामाजिक स्थिति पर क्या फ़र्क पड़ेगा। उन्हें इतिहास के इस तथ्य की पता नहीं जानकारी थी या नहीं कि अस्पृश्यों की निम्न सामाजिक स्थिति बनाने में बौद्ध और जैन धर्मों की भी भूमिका थी और किसानों, दासों और स्त्रियों की दोगम सामाजिक स्थिति को वह भी मान्यता

देते थे। बाद में जिन शासकों ने इसे अपनाया वे कम उत्पीड़क नहीं थे। अम्बेडकर का ध्यान पता नहीं इस ओर गया था कि नहीं कि फ़ासिस्ट (और आज का साम्राज्यवादी) जापान, क्रान्ति-पूर्व चीन और अन्य बौद्ध मतावलम्बी देश पूँजीवादी लूट-मार, अन्याय-अनाचार में किसी अन्य पूँजीवादी देश से कभी कम नहीं रहे। यह अम्बेडकर का विचित्र अन्तरविरोध था कि एक ओर तो वे पश्चिमी देशों की जनवादी व्यवस्था और संविधानवाद के कट्टर समर्थक, एडमण्ड बर्क के प्रशंसक और जॉन डेवी के अनुयायी थे, दूसरी ओर अन्ततोगत्वा सबसे अहम सामाजिक समस्या का समाधान उन्हें 2,000 साल पुराने, प्राचीन जनपदीय गणराज्यों के काल के एक धर्म में दिखायी दिया। अम्बेडकर की पूरी इतिहास-दृष्टि पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है, पर इतना ज़रूर ही कहा जा सकता है कि अपने समय से 150 वर्ष पहले पैदा हुए पुनःस्थापन काल के इतिहासकारों – त्येरी, मिन्ये, गिज़ो और तियेर ही नहीं, बल्कि प्रबोधनकाल के दिदेरो, वॉल्टेयर, रूसो आदि से भी वे मीलों पीछे थे। यँ कहेँ कि उनकी इतिहास-दृष्टि भौँड़े भाववाद और अटकलबाज़ी से अधिक कुछ नहीं थी। समाज के उत्पादन-सम्बन्धों के भौतिक आधार की पड़ताल के बजाय, वे जाति-व्यवस्था की जड़ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) मानते हैं जिसे ब्राह्मणों ने शुरू किया (यानी वे जाति प्रथा के पहले से ही मौजूद थे)। इसी तरह, बौद्ध धर्म की उत्पत्ति का कारण वे आर्यों की सभ्यता की पतनशीलता बताते हैं। फिर बौद्ध धर्म के पराभव का भी कोई सामाजिक कारण नहीं बताते और बस यह नतीजा दे देते हैं कि बौद्ध धर्म पर विजय के बाद ब्राह्मणवाद की सत्ता और जाति-व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित हो गयी। ऊपर हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर इतिहास-चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य मात्र यह स्पष्ट करना है कि इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र – इन सभी क्षेत्रों में अम्बेडकर का चिन्तन अमौलिक था, अगम्भीर था, अन्तरविरोधों से भरा था और बहुधा ग़लत था। मूलतः और मुख्यतः वे एक बुर्जुआ सुधारवादी थे (यह कहना उनकी हेठी करना नहीं, बल्कि उनके विचारों का प्रवर्ग निर्धारित करना है), एक प्रतिबद्ध संविधानवादी थे, इतिहास के निर्माण की कारक शक्ति वे जनता को नहीं बल्कि महापुरुषों और बुद्धिजीवियों को मानते थे तथा इतिहास-विकास के सुनिश्चित विज्ञान की खोज में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि वे मानते ही नहीं थे कि समाज-परिवर्तन के कुछ सुनिश्चित वस्तुगत नियम होते हैं। निश्चय ही दलित आबादी में जागृति पैदा करने में, कांग्रेसी नेतृत्व का एक हद तक पर्दाफ़ाश करने में और तत्कालीन समय में आरक्षण जैसा बुर्जुआ जनवादी अधिकार हासिल करने में उनकी सकारात्मक भूमिका थी। पर उनकी नकारात्मक भूमिकाओं की भी अनदेखी से दलित जातियों का कुछ भला होने वाला नहीं। आज अम्बेडकर को अप्रश्नेय बना देने, उन पर तर्कसंगत ढंग से बहस करने पर दलित-विरोधी होने का ठप्पा लगा देने और “संविधान निर्माता” अम्बेडकर को मसीहा बना देने से शासक वर्गों का ख़ूब हित-पोषण हो रहा है, अपनी मुक्ति और जाति-उन्मूलन की किसी क्रान्तिकारी परियोजना पर कोई संवाद या दलित आबादी तक कोई बात तक पहुँचाना दुष्कर होता जा रहा है, दलित आबादी सुधारों के भँवरजाल और बुर्जुआ संसदीय राजनीति की भूल-भुलैया में ही घूमती रह जा रही है और इस काम में सत्ता द्वारा सहयोजित दलित बुद्धिजीवियों की एक छोटी-सी आबादी बहुत अहम भूमिका निभा रही है। विचारों के विश्लेषण के विस्तार और गहराई में गये बिना जो मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और ग्रुप सार-संग्रहवादी (eclectic) ढंग से यहाँ-वहाँ से कुछ उद्धरण चुनकर या कम्युनिस्ट आन्दोलन

को ही कोसकर ईसाई ढंग का कन्फेशन करते हुए अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद की अमूर्त खिचड़ी पकाने की भाँति-भाँति की तजवीजें पेश कर रहे हैं, वे जादुई बीन बजाकर सबको लुभा लेने का ख़ाब पाले गगनविहारी लोग हैं। फिर अस्मितावाद की नयी बिरयानी परोसने वाले कुछ शांति बुद्धिजीवी हैं। इनकी चर्चा आगे की जायेगी।

यहाँ अम्बेडकर पर चर्चा-समापन के बाद हम पेरियार की राजनीति पर आते हैं, जो उन्हीं के समकालीन थे। पेरियार का पूरा राजनीतिक जीवन नितान्त विसंगतिपूर्ण रहा। 1919 में शुरुआत उन्होंने कांग्रेस पार्टी की राजनीति से की फिर कांग्रेसी नेतृत्व पर सवर्ण मानसिकता हावी होने और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन न चलाने के विरोधस्वरूप वे अलग हो गये। 1926 में उन्होंने 'आत्मसम्मान लीग' की स्थापना की और ब्राह्मणवाद और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन चलाये। वे कट्टर निरीश्वरवादी थे। 1932 में उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा की और लौटकर कुछ दिनों तक सिंगरावेलु शेडिट्यार के साथ समाजवाद का प्रचार भी किया। पर कुछ ही दिनों बाद वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हो गये, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उपस्थिति को शूद्र और दलित जातियों के लिए अनुकूल मानने लगे और 1934 में ब्रिटिश समर्थक जस्टिस पार्टी में शामिल हो गये। इसके बाद उन्होंने 'द्रविड़ कषगम' की स्थापना की। इतिहास के तथ्यों से परे, पेरियार की धारणा थी कि ब्राह्मण बाहरी आक्रान्ता आर्यों के वंशज हैं जबकि गैर-ब्राह्मण द्रविड़ मूल के लोग हैं। 15 अगस्त, 1947 को उन्होंने 'ब्राह्मणराज की स्थापना' का दिन मानते हुए शोक दिवस मनाया और जाति-उन्मूलन के प्रश्न पर मौन रहने के कारण 1957 में संविधान भी जलाया। पेरियार तर्कबुद्धिवाद के पक्षधर थे और समतामूलक समाज की बात भी करते थे, लेकिन व्यवहारतः उनकी राजनीति उत्तर-विरोध, हिन्दी-विरोध, ब्राह्मण-विरोध और धर्म-विरोधी प्रचार तक ही सीमित थी। भारतीय संघ में अधिक स्वतन्त्रता वाले पृथक तमिलनाडु की माँग वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले से ही करते आ रहे थे। लेकिन पेरियार के तर्कबुद्धिवाद और निरीश्वरवाद के विचार जातिभेद की समस्या का हल निकालने और दलितों की मुक्ति की दिशा में कुछ भी कारगर नहीं सिद्ध हो सके क्योंकि सामाजिक अन्तरविरोधों की उनकी समझ ग़लत थी और उनके पास कोई भी ठोस सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था। उनका राजनीतिक व्यवहार भी इसीलिए अन्तरविरोधों से भरा था। उन्होंने नाडार जाति के कांग्रेसी मुख्यमंत्री कामराज का समर्थन किया। जब द्रविड़ कषगम से ही निकली हुई द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की अन्नादुरै सरकार शासन में आयी तो उन्होंने उसका समर्थन किया। पेरियार के राजनीतिक जीवनकाल के प्रथम चरण का समय वह था जब तमिल क्षेत्रों में ब्राह्मणों का सामाजिक वर्चस्व कायम था, लेकिन गैर-ब्राह्मण जातियों में भी आर्थिक समृद्धि आ रही थी। इन्हीं जातियों के बीच से स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद धनी मालिक किसानों-कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों के वर्ग विकसित हुए, द्रमुक और अन्नाद्रमुक जैसी पार्टियाँ इन्हीं वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थीं और उत्तर-विरोध की राजनीति केन्द्र में सत्तारूढ़ बड़े पूँजीपतियों पर दबाव बनाने और सौदा करने में इनके लिए सहायक थी। इन पार्टियों का जनाधार जिन कथित शूद्र जातियों में था, वे दलित-उत्पीड़न में ब्राह्मणों से पीछे नहीं थीं। आगे चलकर इनमें से कई पार्टियाँ फूटकर निकलीं जिनका अलग-अलग जातियों में आधार था। इन पार्टियों को आपस में तथा कांग्रेस और भाजपा जैसी पार्टियों से जोड़-तोड़ और गठबन्धन करने में कभी कोई परहेज़ नहीं रहा। इनसे मोहभंग के बाद दलित जातियों की कई छोटी-छोटी पार्टियाँ भी उभरीं,

पर वे भी कभी द्रमुक तो कभी अन्नाद्रमुक गठबन्धन में पुछल्ला बनने की ही भूमिका निभाती रहीं।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास और जाति-व्यवस्था

भारतीय पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से जन्मा और साम्राज्यवादी विश्व में पला-बढ़ा एक ऐसा पूँजीपति वर्ग था जो न तो साम्राज्यवादी हितों को अधिक क्षति पहुँचा सकता था (निर्णायक विच्छेद तो नव-स्वाधीन देशों का रैडिकल से रैडिकल पूँजीपति वर्ग भी नहीं कर सकता था), न ही रैडिकल ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधारों का कार्यभार ही पूरा कर सकता था। अंग्रेजों से इसे एक एकीकृत देश का प्रशासन-तन्त्र और कानून व्यवस्था विरासत में मिली थी। एक मरियल बुर्जुआ संविधान भी इसने तैयार कर लिया था।

शुरू में इस पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजी का प्रभाव अधिक था, पर धीरे-धीरे इसने अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का इस्तेमाल करते हुए अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार किया और बेहतर से बेहतर शर्तों पर पूँजी, तकनोलॉजी हासिल करने की कोशिश की। फिर उसी तकनोलॉजी का भारतीयकरण करके अपनी तकनोलॉजी भी विकसित की। यहाँ के पूँजीपति वर्ग के पास पूँजी की कमी होने के कारण और विदेशी पूँजी का दबाव कम करने के लिए इसने जनता के खून-पसीने की कमाई निचोड़कर राजकीय पूँजीवादी दायरे में बुनियादी और अवरचनागत उद्योगों का ढाँचा खड़ा किया ताकि निजी क्षेत्र में विकास तेज़ हो। यह 'इम्पोर्ट सब्स्टीट्यूशन इण्डस्ट्रियलाइज़ेशन' का रास्ता था। पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी मुहैया कराने के लिए बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया। समाज में खुशहाल मध्यवर्गीय संस्तरों के विकास के साथ ही शेयर बाज़ार से पूँजी का विपुल अम्बार जुटाने का मार्ग भी प्रशस्त होता चला गया। जब भारतीय पूँजीपति वर्ग की पूँजी की शक्ति काफ़ी बढ़ गयी तो राजकीय उद्यमों को उन्हें औने-पौने दामों पर सौंपने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। निजीकरण-उदारीकरण का यह दौर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत, विवशता और बढ़े हुए आत्मविश्वास – तीनों का ही परिचायक था। नव-उदारवाद के इस दौर में संकटग्रस्त अन्तरराष्ट्रीय पूँजी ने भी संरक्षणवादी नीतियाँ समाप्त करने का पूरा दबाव बनाया। भारतीय पूँजीवाद ने एक ओर विशाल और सतत फैलते भारतीय बाज़ार में हिस्सा बाँटने के लिए साम्राज्यवादियों को ज़्यादा खुले मौके दिये, दूसरी ओर वह न केवल उनके साथ सहकार और प्रतिस्पर्धा करता रहा बल्कि भूमण्डलीकृत विश्व-बाज़ार में उसने स्वयं भी देश के बाहर क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी निवेश करना शुरू किया। भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादियों के 'जूनियर पार्टनर' की है। विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष का यह बहुत छोटा हिस्सा पाता है, पर देश स्तर पर अधिशेष का बड़ा भागीदार आज भी यह खुद है। उत्तर-औपनिवेशिक और उत्तर-नवऔपनिवेशिक देशों में यह सापेक्षतः अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों वाले देशों की कतार में खड़ा है।

ऐतिहासिक परिस्थितियों में भारतीय पूँजीपति वर्ग का जैसा चरित्र विकसित हुआ था, यह रैडिकल भूमि-सुधार करके छोटे-बड़े भू-स्वामियों के हितों पर निर्णायक चोट कर ही नहीं सकता था। इसलिए इसने जर्मनी के जुंकर-टाइप रूपान्तरण और रूस के स्तालिनपिन-टाइप भूमि-सुधारों का एक मिला-जुला भारतीय संस्करण भारत में लागू किया। इसने पुराने शोषकों

को अवसर दिया कि वे अपने शोषण के तौर-तरीकों को बदल लें। जो पुराने राजे-रजवाड़े थे, उनकी रियासतें ले ली गयीं, पर अकूत सम्पत्ति, महल-बंगले, भू-सम्पत्ति छोड़ दी गयी। साथ ही दो दशकों तक उन्हें प्रिवी पर्स भी दिया गया। इस सम्पदा के बूते ज़्यादा राजे-रजवाड़े या तो होटल मालिक या उद्योगों के बड़े शेयर-होल्डर के रूप में देश के बड़े पूँजीपतियों की कतार में 'स्लीपिंग पार्टनर' के रूप में शामिल हो गये, या फिर बड़े पूँजीवादी भू-स्वामी बन गये। ज़मींदारी उन्मूलन को धीमी गति से लागू करते हुए गाँवों के सामन्ती भू-स्वामियों को पूरा अवसर दिया गया कि वे अपना लगानजीवी चरित्र बदलकर बाज़ार के लिए पैदा करने वाले बुर्जुआ भू-स्वामी बन जायें, तीन-तिकड़म से हदबन्दी से अपनी ज़्यादा से ज़्यादा भूमि बचा लें या फिर शहरी उच्च मध्य वर्ग की कतारों में शामिल हो जायें। जो पहले के धनी और मध्यम काश्तकार थे, उनका भी बड़ा हिस्सा खेतों का मालिक बनने के साथ ही पूँजीवादी किसान-कुलक बन गया। इनमें से ज़्यादातर मध्य जातियों के किसान थे – रेड्डी, कम्मा, थेवर, मराठा, जाट, कुर्मी, कुशवाहा, सैथवार आदि इनके मात्र कुछ उदाहरण हैं। आर्थिक स्थिति ठीक होते ही इनके 'संस्कृतीकरण' की क्रिया भी आगे बढ़ी। बुर्जुआ पार्टियों में कुलकों-फार्मरों के ब्लॉक बने और क्षेत्रीय स्तर पर उनकी पार्टियाँ अस्तित्व में आयीं, जिनका चुनावी जनाधार तैयार करने में जाति सबसे अहम भूमिका निभाती थी। ये मध्य जातियों (कथित शूद्र जातियों) के किसान दलितों का उत्पीड़न करने में सर्वर्ण पृष्ठभूमि के उन बुर्जुआ भू-स्वामियों से कहीं आगे थे जो पुराने सामन्ती भू-स्वामियों के वंशज थे।

तथाकथित हरी-सफेद क्रान्ति ने एक ओर गाँवों में पूँजी-प्रवेश और एग्री बिज़नेस के लिए उर्वर ज़मीन तैयार कर दी, दूसरी ओर पूँजीवादी भूस्वामियों-कुलकों को भी पूँजी की ताकत के हिसाब से अधिशेष निचोड़ने के प्रचुर अवसर दिये। 'एग्रो-बेस्ड और अलायड सेक्टर' का देशव्यापी विकास हुआ। शहर के धनिकों ने भी संचित पूँजी का खेती में निवेश किया। पूँजी-सघन आधुनिक खेती की प्रवृत्ति आगे बढ़ी। किसान आबादी का विभेदीकरण तेज़ हो गया। प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के रहे-सहे अवशेष और स्थानीय बाज़ार समाप्त हो गये और देश के सुदूरवर्ती कोने तक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़ गये। जहाँ पुरानी भूमि-काश्तकारी व्यवस्था थी, वह भी (जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने भी स्पष्ट कहा था) पूँजीवादी विकास की राह की बाधा नहीं बनी। लगान (rent) का चरित्र यदि देखें, तो वह पूरी तरह से पूँजीवादी हो चुका है। कृषि में पूँजीवाद ने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो तोड़ दिया है या सहयोजित कर लिया है। प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों की मौजूदगी का दायरा सिकुड़ता चला गया। इस प्रवृत्ति ने गाँवों से बड़े पैमाने पर (लगातार बढ़ती रफ़्तार के साथ) मज़दूर आप्रवासन (labour migration) को जन्म दिया। औद्योगिक पूँजीपतियों के लिए सस्ती से सस्ती दरों पर श्रम-शक्ति ख़रीदना सुगम हो गया। औद्योगिक महानगरों की नारकीय मज़दूर बस्तियाँ अस्थायी, दिहाड़ी, कैजुअल, ठेका और पीस-रेट मज़दूरों से और भारी अर्द्ध-सर्वहारा आबादी से पट गयीं।

इस तरह विकास के एक मध्यम, विकृत-विरूपित, दुस्सह पीड़ादायी मार्ग से भारत में एक ऐसा पूँजीवाद विकसित हुआ, जिसने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो क्रमिक-प्रक्रिया में तोड़ दिया या अपने अधीनस्थ कर लिया, सहयोजित कर लिया। ऐसा पूँजीवाद स्वस्थ जनवादी मूल्यों-मान्यताओं के सृजन में सर्वथा असमर्थ था। इसका जनवाद स्वयं अतिसीमित और विकृत-विरूपित था। इसीलिए इसने प्राक्-पूँजीवादी मूल्यों-संस्थाओं के

साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की। खाप पंचायतें और जाति पंचायतें बनी रहीं, जीवन पर रूढ़ियों की जकड़ बनी रही। यदि ये कुछ कमजोर हुईं। तो इनके पीछे राज्य के सचेतन प्रयास या संविधान के अनुच्छेदों की नहीं बल्कि पूँजीवादी विकास की स्वतन्त्र वस्तुगत गति की भूमिका थी। सामाजिक जीवन में धर्म की दखलन्दाजी कम नहीं हुई है बल्कि कुछ ढीली मात्र पड़ी है। दूसरी ओर कुछ नये-नये आधुनिक पन्थ पैदा हुए हैं जो अन्धविश्वास और यथास्थितिवाद के प्रचार के प्रभावी माध्यम तो हैं ही, पूँजी संचय और निवेश के भी साधन हैं। पूँजीवादी समाज में जनता में धर्म की सत्ता का वस्तुगत आधार माल-उत्पादन की अदृश्य शक्ति है और धर्म आज भी शासक वर्ग के राजनीतिक वर्चस्व में सहायक अतिप्रभावी अधिरचनात्मक उपकरण है। लेकिन जाति-व्यवस्था का सवाल केवल अधिरचनात्मक धरातल से जुड़ा हुआ नहीं है। पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के साथ यह गहराई से गुँथी-बँधी है, तन्तुबद्धीकृत हो गयी है। मामला केवल सामन्ती अवशेष या सामन्ती अधिरचना के प्रभावशाली बने रहने का ही नहीं है। जातिगत मूल्यों-मान्यताओं, पार्थक्यों-पूर्वाग्रहों का नया आर्थिक आधार तैयार हुआ है।

इसका कारण यह है कि आबादी के विभिन्न हिस्सों के जातिगत समीकरण को तोड़े बिना पूँजीवादी उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था ने अपना प्रभुत्व कायम किया है। जैसे, जो पुराने सवर्ण हैं, आज नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर उनका लगभग वर्चस्व है और अपने साझा हितों की रक्षा के लिए जाति उनकी एकता का एक सूत्र बनती है। प्रतिकार-स्वरूप जो दलित या पिछड़ी जातियों के अफसर-क्लर्क और स्वतन्त्र बौद्धिक हैं वे जातिगत आधारों पर ब्लॉक बनाकर संगठित होते हैं। गाँवों में जो सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी हैं और मध्य जाति के कुलक-फार्मर हैं, वे दलित मजदूरों और गरीब किसानों को दबाने के लिए जातिगत गोलबन्दी करते हैं। इस जातिगत गोलबन्दी का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सवर्ण गरीब और मध्य जातियों के गरीब भी अपने सजातीय शोषकों के साथ सक्रिय या निष्क्रिय पक्षधरता के स्तर पर जा खड़े होते हैं। दलित भी अपनी पहचान और स्वाभिमान के सवाल पर, या प्रतिरक्षात्मक एकजुटता के लिए अम्बेडकर की विरासतदार किसी पार्टी के नेता के पीछे जा खड़े होते हैं।

शहरों में स्थिति थोड़ी भिन्न है। पर जातिगत पार्थक्य यहाँ भी मौजूद है और उसका भौतिक आधार भी है। बेहतर जीवन-स्थिति वाले संगठित मजदूरों की आबादी में दलितों का अनुपात बहुत कम है। असंगठित मजदूरों में उनकी बड़ी संख्या है, पर वहाँ भी 'अस्वच्छ' माने जाने वाले सभी कामों पर उन्हीं का एकाधिकार है। इसके अतिरिक्त ज़्यादातर कठिन और कम दिहाड़ी वाले काम उन्हें करने होते हैं। सरकारी नौकरियों में भी सफ़ाईकर्मी दलित ही होते हैं। आरक्षण से दस प्रतिशत दलित आबादी लाभान्वित हुई है पर नौकरियों में ऊपर की ओर उनकी प्रतिशत भागीदारी घटकर एक और दो प्रतिशत तक पहुँच जाती है। प्रशासन, सेना, पुलिस, न्यायपालिका और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशे — सभी जगह यही स्थिति है। उनके समकक्ष यदि किसी समुदाय की स्थिति है तो वे मुसलमान हैं जिनका अधिसंख्य भाग बेहद गरीब है और ज़्यादातर स्वतन्त्र दस्तकारी पेशे में लगे हुए हैं।

कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में सवर्ण और मध्य जातियों के ऐसे मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या है जो गाँवों से पूरी तरह उजड़ी नहीं है। गाँवों में उनकी थोड़ी-बहुत खेती बची हुई है, उस घाटे की खेती को वे अपनी मजदूरी से जिलाये रखते हैं। ऐसे मजदूरों के सर्वहारा चरित्र में किसानी मिलावट साफ़ दिखती है, जो उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करती है और जातिगत पूर्वाग्रहों को बनाये रखती है। ज़्यादातर दलित मजदूर या तो गाँवों से पूरी तरह

उजड़े होते हैं या जुड़े भी होते हैं तो गाँव में उनके परिवार की स्थिति ग्रामीण सर्वहारा या अर्द्ध-सर्वहारा की ही होती है। लेकिन जातिगत पार्थक्य और अपमान उनके भीतर भी जातिगत आधार पर एकजुट होने की चेतना पैदा करता है। गाँवों जितना तो नहीं, लेकिन शहरों में भी दलित जातियों का आवासीय पृथग्वासन (apartheid) स्पष्ट दिखता है – मजदूर बस्तियों में ही नहीं, मध्य वर्ग में भी। आवासीय सहकारी सोसाइटियों में दलितों और मुसलमानों का सदस्य बन पाना असम्भवप्रायः होता है। किराये पर मकान मिलने में भी सबसे बड़ी बाधा महानगरों तक में जाति की (या धर्म की) आती है।

भारत की बुर्जुआ संसदीय राजनीति आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम से तो एकदम नहीं चलती है, पूँजी के खुले खेल और कुछ सस्ते लोकरंजक वायदों या सामयिक भावनाओं की लहर के सहारे चलती है, पर इसका सबसे प्रमुख स्तम्भ समाज में जातिगत ध्रुवीकरण है। बुर्जुआ पार्टियाँ नीतियों से किसी जाति की नहीं, बल्कि समूचे शासक वर्गों की सेवा करती हैं। उनमें बड़े-छोटे पूँजीपतियों, कुलको-भूस्वामियों के ब्लॉक होते हैं, कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों की क्षेत्रीय पार्टियाँ भी होती हैं, उनके वर्ग-हितों के आपसी टकराव होते हैं, पर आम बुर्जुआ आर्थिक नीतियों और संसदीय प्रणाली पर उनकी आम सहमति होती है। लेकिन जातिगत समीकरणों का लाभ उठाने के लिए हर बड़ी बुर्जुआ पार्टी में अलग-अलग जातियों के नेता होते हैं और चुनाव क्षेत्रों में जनसंख्या में जातियों का अनुपात देखकर उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं। जो क्षेत्रीय पूँजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियाँ हैं, उनका तो मुख्य वोट बैंक ही मध्य जातियों के बीच है। दलित प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली जितनी भी संसदीय पार्टियाँ हैं, वे नीतियों के स्तर पर धुर अवसरवादी पार्टियाँ हैं, उनकी नेताशाही में खुशहाल दलित मध्यवर्ग स्थान पाता है, दलित नौकरशाह और बुद्धिजीवी इनमें से इस या उस पार्टी को समर्थन और वैचारिक आधार देते हैं और सहस्राब्दियों से उत्पीड़ित दलित आबादी को जातिगत आधार पर ये अपना वोट बैंक बनाते हैं। ये पार्टियाँ रैडिकल तेवर लेकर नयी उम्मीदें जगाती हैं और मौका आने पर कांग्रेस, भाजपा या किसी भी दल से गठबन्धन करने को तैयार रहती हैं। गठबन्धनों की बुर्जुआ राजनीति में इनकी भूमिका तराजू के इस या उस पलड़े पर चढ़ने वाले बटखरे की होती है। “सत्ता में दावेदारी के बल पर” उत्पीड़न-अपमान की सामाजिक स्थिति से निजात पाने का राजनीतिक तर्क साठ वर्षों में यहीं तक पहुँचा है, जिस पर अस्मिता राजनीति (Identity politics) के वैचारिक खोमचे वाले दलित अस्मिता के उभार का सभागृहों में चाहे जितना जश्न मना लें, आम बहुसंख्यक मेहनतकश दलित आबादी को हासिल कुछ नहीं होने वाला है। न हुआ है, न होगा।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और ‘मूलाधार-अधिरचना’

रूपक : मार्क्सवादी सूत्रीकरण

स्वतन्त्र भारत में जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की सोच और भूमिका की चर्चा और दलित प्रश्न पर कुछ “दलितवादी/अम्बेडकरवादी-मार्क्सवादी” तथा कुछ नयी दलितवादी विचार-सरणियों की समालोचना प्रस्तुत करने से पहले ज़्यादा उचित यह होगा कि हम जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में सकारात्मक रूप से अपनी अवस्थिति प्रस्तुत करें।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की यह बुनियादी समझ है कि उत्पादन-सम्बन्धों के तीन पहलू होते हैं : (i) स्वामित्व का स्वरूप, (ii) उत्पादन में लोगों की भूमिका और उनके आपसी सम्बन्ध (श्रम-विभाजन), और (iii) उत्पाद के वितरण का स्वरूप। इन तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन भारत से लेकर परवर्ती मध्यकाल (उपनिवेशीकरण से पूर्व) तक जाति-व्यवस्था, उत्पादन-सम्बन्ध का ही एक रूप थी। यँ कहें कि सापेक्षिक आन्तरिक गतिशीलता और कुछ जातियों के 'संस्कृतीकरण' के बावजूद, इस लम्बी अवधि तक जाति-व्यवस्था ही उत्पादन-सम्बन्ध थी। मुसलमानों के आने के बाद स्थिति में थोड़ा बदलाव आया, जाति-व्यवस्था का ही एक प्रतिरूप उनमें भी विकसित हो गया। एक हद तक यही सिख धर्म के साथ भी हुआ। यानी जाति-व्यवस्था मध्यकाल तक समाज का आर्थिक मूलाधार थी और राजनीतिक-धार्मिक- सामाजिक अधिरचना उससे सापेक्षिक अनुरूपता रखती थी, यानी सामाजिक जीवन में जातिभेद के मूल्य निर्णायक भूमिका निभाते थे। कहा जा सकता है कि जाति-समूहों का जो वर्णक्रम (spectrum) था, वह वर्गों के वर्णक्रम को कमोबेश पूरी तरह अतिच्छादित (overlap) करता था। जाति-समूहों की स्थितियों, वंशानुगतता और अन्तःजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) के चलते अचल या अपरिवर्तनीय वर्गों की थी। यह स्थिति रूढ़ और कठोर श्रम-विभाजन से पैदा होती थी और इस मायने में दुनिया के किसी भी समाज के वर्ग-विभाजन से भिन्न थी। मुसलमानों और सिखों की स्थिति थोड़ी भिन्न थी, पर हिन्दू धर्म मानने वालों में तो जाति-समूह ही वर्ग थे जिनमें दलित जातियाँ भूमिहीन मेहनतकश थीं, मध्य जातियाँ किसान थीं, वणिक जातियाँ व्यापारी थीं और सवर्ण जातियाँ भू-स्वामी वर्ग और बौद्धिक वर्ग में बँटी थीं।

औपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचना में, विशेषकर उद्योग-धन्धों और प्रशासन-तन्त्र और विविध नागर पेशों के विकास के बाद, पहली बार थोड़ी हलचल हुई। जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्ग-समूहों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग पूरी तरह से अतिच्छादित करने के बजाय कुछ हद तक स्थानान्तरित हो गये। ज़्यादातर सवर्ण अब भी भू-स्वामी थे और बौद्धिक समुदाय सहित जो निम्न बुर्जुआ वर्ग विकसित हुआ वह उन्हीं के बीच से था। पर दलितों और मध्य जातियों के भीतर से भी पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के विभिन्न संस्तर पैदा हुए, हालाँकि इनका अनुपात बहुत ही कम था। ज़्यादातर मध्य जातियाँ रैयत-काश्तकार थीं और दलित जातियाँ खेत मजदूर और अन्य 'नीचा' और 'अस्वच्छ' काम करने वाली कामगार जमातों में आती थीं। दूसरी ओर, उद्योग-धन्धों में धीरे-धीरे उजड़े सवर्णों और मध्य जाति के तबाह काश्तकारों का भी प्रवेश हुआ और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती चली गयी। गाँवों में उस समय भी श्रम-विभाजन और सम्पत्ति-सम्बन्धों का जातिगत आधार अधिक मजबूत था। इस तरह जाति और वर्ग के अतिच्छादन की स्थिति विघटित होने लगी। यानी, जाति-व्यवस्था अब भी आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) का अंग थी, पर वही अकेले आर्थिक मूलाधार नहीं रह गयी थी। जहाँ तक अधिरचना का प्रश्न है, वह मुख्यतः और मूलतः सामन्ती अधिरचना बनी रही जिसका मुख्य आधार अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्ध थे। जो मरियल पूँजीवादी विचार और संस्थाएँ जन्मीं, उनमें जाति-व्यवस्था को प्रभावित करने की ताकत नहीं थी। पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के लोग जो सामाजिक आधार के कुछ क्षेत्रों में आधुनिक थे, वे भी धार्मिक आचारों का न केवल निष्ठापूर्वक पालन करते थे बल्कि सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और जातिगत भेदभाव की परम्पराओं में आस्था

रखते थे। यह चर्चा हम ऊपर कर आये हैं कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था से छेड़छाड़ न करना औपनिवेशिक सत्ता की सचेतन नीति थी।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सर्वतोमुखी पूँजीवादी विकास ने स्थिति में काफी बदलाव पैदा किये। उद्योग-धन्धों के व्यापक फैलाव के साथ ही एक विशाल सेवा-क्षेत्र भी विकसित हुआ और भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और ग्रामीण आबादी के आप्रवासन को लगातार तीव्र से तीव्रतर बनाने का काम किया। जाति और वर्ग के परस्पर अन्तर्भेदन और अन्तर्ग्रन्थन की स्थिति बनी। सवर्ण जातियाँ ही अभी भी नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर हावी हैं, लेकिन इन क्षेत्रों में दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों की भी दखल हुई है। भू-स्वामी, कुलक और फार्मर मुख्यतः सवर्ण और मध्य जातियों के लोग हैं, पर मध्य जातियों के निम्न मध्यम और छोटे किसान भी हैं और मजदूर भी हैं। मध्य जातियों की बड़ी आबादी मध्यम और छोटे किसानों की ही है। दलितों की 90 फीसदी आबादी गाँव और शहर की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी है, पर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी का बहुसंख्यक दलित नहीं है। हाँ, कथित 'अस्वच्छ' काम अभी भी दलितों के जिम्मे है। दस्तकारी का सेक्टर एकदम सिकुड़ गया है, पर उसमें अभी भी "कमीन" मुस्लिम जातियाँ और दलित-अतिपिछड़ी दस्तकार जातियाँ ही काम करती हैं, अन्य जातियों की दखल नगण्य है। इस स्थिति को किस रूप में सूत्रबद्ध किया जाये? 'उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग' (आर्थिक मूलाधार) में एक हिस्सा अभी भी जातिगत श्रम विभाजन का और जातिगत स्वामित्व के रूपों का है। यानी जाति-व्यवस्था अभी भी मूलाधार का एक हिस्सा है, पर एक छोटा हिस्सा है। हाँ, अधिरचनात्मक धरातल पर अभी भी उसकी प्रबल मौजूदगी है, प्रभावी मौजूदगी है। अभी भी आधुनिक मूल्यों और जनवादी मूल्यों के चलते बनी हुई स्त्रियों की बर्बर पराधीनता और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से नयी पौष्टिक खुराक पाये धार्मिक मूल्यों-मान्यताओं के चलते अन्तरजातीय (intercaste) शादियाँ विरल होती हैं, अन्तःजातीय (intracaste) शादियाँ ही प्रमुख प्रवृत्ति हैं। समान आर्थिक स्थिति वाली अलग-अलग जातियों में विवाह कठिन होते हैं। 'ऑनर किलिंग' और खाप पंचायतों-जाति पंचायतों की निरंकुश सत्ता ऐसी वस्तुगत सच्चाइयाँ हैं जो बुर्जुआ संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकार को भी कागज़ी बना देती हैं। यानी जाति-व्यवस्था आर्थिक मूलाधार का तो एक छोटा हिस्सा है, लेकिन अधिरचना के धरातल पर एक सामाजिक ढाँचे के रूप में रूढ़ और मजबूत रूप में बनी हुई है। यह केवल पुरानी जड़ता की शक्ति से ही नहीं बची हुई है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ने इसे नयी ऊर्जा दी है। अस्पृश्यता और रोज़मर्रा के दमन के रूप कम बचे हैं, लेकिन दलितों का सामाजिक पार्थक्य और अपमान अभी भी बरकरार है और उन पर अत्याचार की बर्बर घटनाएँ घटती रहती हैं। गाँवों में प्रायः सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी और उनसे भी अधिक मध्य जातियों के कुलक दलित मजदूरों पर अत्याचार करते हैं और फिर जातिगत गोलबन्दी करके अपनी स्थिति मजबूत बना लेते हैं। दलित मेहनतकशों के पक्ष में अन्य जातियों के मेहनतकश नहीं आते। इस तरह आर्थिक हितों के टकराव पर जातिगत रंग चढ़ जाता है। वर्ग संघर्ष की अन्तर्वस्तु होती है और उसकी विरूपित अभिव्यक्ति जाति संघर्ष के रूप में होती रहती है। चूँकि सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामी सत्ता के छोटे भागीदार हैं, अतः उन पर क़ानूनी कार्रवाई खानापूरति के नाम पर या चुनावी राजनीति की विवशता के चलते ही होती है। जो निरंकुश खाप पंचायतें हैं, उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है

(जैसा कि न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव के सिद्धान्तकारों जैसे कुछ नव-मार्क्सवादी समझते हैं), वे बुर्जुआ राष्ट्र-राज्य के मजबूत सामाजिक अवलम्ब हैं, बुर्जुआ राजनीति से नाभिनालबद्ध हैं। जैसा कि ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं, बुर्जुआ संसदीय राजनीति में वोट बैंक का सारा खेल जातिगत और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण पर खेला जाता है, फिर अपनी पारी में यह खेल जातियों के पारस्परिक वैमनस्य को और पार्थक्य को बढ़ाकर जाति के सामाजिक ढाँचे को मजबूती देता है, जिसका शिकार, जाहिर है कि, सबसे अधिक दलित जातियाँ होती हैं। गाँवों में जहाँ जाति-व्यवस्था वर्ग संघर्ष को विरूपित-विकृत बनाती है और व्यापक मेहनतकश एकता को तोड़ती है, वहीं शहर में भी मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता में यह एक बाधा बनती है। हालाँकि गाँवों की तरह यहाँ यह प्रमुख बाधा नहीं है। हाल के वर्षों में असंगठित मजदूरों के जितने भी स्वयंस्फूर्त या संगठित संघर्ष हुए, उनमें कहीं भी जातिगत भेदभाव एकता की समस्या बनकर नहीं आया। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जातिगत भेदभाव और पार्थक्य की दीवारें शहरी मजदूरों के बीच भी हैं और बुर्जुआ पार्टियों के ट्रेड-यूनियन नेता उनका इस्तेमाल करते हैं। दूसरी बात यह कि कथित 'अस्वच्छ' कामों में लगे दलित मजदूर एकदम अलग-थलग होते हैं – संघर्षों में भी और सामाजिक जीवन में भी।

सारे ब्योरे को समेटकर सूत्रवत यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था भारतीय पूँजीवाद के आर्थिक मूलाधार का आज भी एक हिस्सा है और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना के स्तर पर इसकी मौजूदगी प्रचण्ड रूप से प्रभावी है। यह प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना या उसका अवशेष नहीं है। यह एक पूँजीवादी अधिरचना है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पूँजीवाद द्वारा तन्तुबद्ध ढंग से सहयोजित कर ली गयी है। हेगेलीय शब्दावली का इस्तेमाल करें, तो कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का उत्सादन (sublation) हो गया है, यानी निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अन्तर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है। जाति-समूहों और वर्गों के वर्णक्रम के छोटे हिस्से अभी भी एक-दूसरे को अतिच्छादित करते हैं।

जाति के प्रश्न पर कुछ ग़लत और कुछ अधूरे-अधकचरे सूत्रीकरणों के बारे में

उत्पादन-सम्बन्ध और सामाजिक अधिरचना के सन्दर्भ में जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का सटीक मार्क्सवादी सूत्रीकरण कम्युनिस्ट आन्दोलन के आधिकारिक दस्तावेजों में और लेखों में शुरू से लेकर संशोधनवाद के पूरे दौर तक देखने को नहीं मिलता, बस कुछ सामान्य ब्योरे और कार्यभारों की चर्चा मिलती है। 1970 के दशक में कभी लिखे गये अपने लेख **जाति, वर्ग और सम्पत्ति सम्बन्ध** में **बी.टी. रणदिवे** भी शीर्षक में उल्लिखित बात को ही सैद्धान्तिक रूप से सूत्रीकृत करने से बच निकले हैं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जाति और उत्पादन-सम्बन्धों को लेकर कोसम्बी, आर.एस. शर्मा और इरफ़ान हबीब जैसे इतिहासकारों ने स्पष्ट और काफी हद तक सटीक सूत्रीकरण दिये हैं, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास के बाद इन्हें समझने की कोशिश काफी देर से शुरू हुई। गत शताब्दी से लेकर अब तक इस प्रश्न पर विभिन्न कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी गुप्तों ने काफी लिखा है, और नवमार्क्सवादी-उत्तरआधुनिक मार्क्सवादी "विचारकों" ने भी काफी विमर्श किया है।

कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी ग्रुपों के सूत्रीकरण में यान्त्रिकता और मार्क्सवाद-विरोधी अवस्थितियों की भरमार है तथा काफ़ी भ्रमोत्पादक बातें हैं। दूसरी ओर, नव-मार्क्सवादी गिरोह ने जो घोल-मट्टा किया है, वह तो एक “नया मार्क्सवाद” गढ़ने के द्रविड़ प्राणायाम से अधिक कुछ नहीं है। यहाँ कुछ प्रतिनिधि प्रवृत्तियों की ही चर्चा सम्भव है, अतः हम वही करेंगे।

सबसे पहले हम भाकपा (मा.ले.) (लिबरेशन) के दिवंगत महासचिव विनोद मिश्र के एक सूत्रीकरण को लेते हैं जो मूलाधार और अधिरचना की बुनियादी मार्क्सवादी समझ को ही उलट-पुलट देता है। ‘लिबरेशन’ के अप्रैल 1994 के अंक में थॉमस मैथ्यू की पुस्तक **Caste and Class Dynamics – Radical Ambedkarite Praxis** की समालोचना लिखते हुए वे अम्बेडकरवादी-मार्क्सवाद के एक संस्करण के बारे में, ‘दलित जनवादी क्रान्ति’ की अवधारणा के बारे में और अम्बेडकर के बारे में कई सही आलोचनाएँ रखते हैं, पर साथ ही कुछ आश्चर्यजनक प्रस्थापनाएँ भी देते हैं। इसमें एक जगह वे लिखते हैं : “अतः वर्ग बुनियादी प्रवर्ग है। कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में यह अपने को जाति के रूप में अभिव्यक्त करता है, कुछ दूसरी परिस्थितियों में दोनों परस्पर गुँथे होते हैं, परस्पर अतिच्छादित होते हैं और साथ ही एक-दूसरे को आड़े-तिरछे काटते होते हैं, और फिर एक दूसरी परिस्थिति में जातियाँ विघटित होकर वर्गों में क्रिस्टलीकृत (Crystallise) हो जाती हैं। इस तरह दोनों के बीच एण्टी-थीसिस तब तक चलता है जब तक कि वितरण की प्रणाली के विनियामक (regulator) के रूप में जाति का उन्मूलन नहीं हो जाता।”

यहाँ हमें पता चलता है कि जाति श्रम-विभाजन या सम्पत्ति-सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि वितरण की प्रणाली का विनियामक है। अब प्रश्न आता है कि इस “विनियामक” को कहाँ रखें, वितरण की प्रणाली के अंग के रूप में आर्थिक मूलाधार में या उसके बाहर। इसका उत्तर वे तब देते हैं जब अपनी समालोचना के मैथ्यू द्वारा दिये गये उत्तर पर पुनः ‘लिबरेशन’ के जनवरी 1995 अंक में टिप्पणी लिखते हैं। इसमें वे कहते हैं : “मेरे विचार से, जाति प्रथा अपने आप में एक सुनिश्चित उत्पादन-प्रणाली और तदनुरूप उत्पादन-सम्बन्धों के स्तर की उपज है। वर्ग-सम्बन्ध यहाँ जातियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिसे, अपनी पारी में, पुरोहितों द्वारा दैवी स्वीकृति दे दी जाती है। फिर भी, उनका ‘स्थायित्व’ मुख्यतः किसी दैवी स्वीकृति द्वारा नहीं, बल्कि ग्राम-समुदायों के गतिहीन सामाजिक संगठन द्वारा तय होता है जो कि उत्पादन-सम्बन्धों के एक सुनिश्चित स्तर की ही उपज होता है। जाति और वर्ग यहाँ एक स्पष्ट सामंजस्य में दिखते हैं। वर्ग और जाति के बीच का यह सामंजस्य, मूलाधार और अधिरचना की यह अनुरूपता स्पष्ट है क्योंकि दोनों सर्वथा पृथक प्रवर्ग हैं जिनकी जड़ें क्रमशः मूलाधार और अधिरचना में, उत्पादन की प्रणाली और वितरण के विनियमन में हैं।” (अनुवाद हमारा)

अब तक, विशेषकर मार्क्स की कृति राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान की प्रस्तावना के प्रसिद्ध उद्धरण से हम यही जानते थे कि मार्क्स आर्थिक मूलाधार उत्पादन-प्रणाली को नहीं, बल्कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को मानते थे। उत्पादन-प्रणाली उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों की एकता को कहते हैं जो काल-विशेष में उत्पादन के साधनों और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन के अर्जित स्तर को दर्शाता है। उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों का द्वन्द्व ही वर्ग समाज का बुनियादी अन्तरविरोध है। उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताने का घाल-मेल तो बहुतेरे मार्क्सवादी करते

हैं। लेकिन विनोद मिश्र सबसे “मौलिक” प्रस्थापना यह देते हैं कि उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार और वितरण के विनियमन को अधिरचना बताते हैं। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का ककहरा बताता है कि स्वामित्व के रूप, उत्पादन में लोगों की भूमिका एवं आपसी सम्बन्ध और उत्पाद के वितरण का स्वरूप – ये तीनों उत्पादन-सम्बन्धों के ही तीन पहलू हैं। विनोद मिश्र ने वितरण के विनियमन (यानी स्वरूप) को अधिरचना के खाने में डालकर नया मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र रचा है, जबकि मार्क्सवाद अब तक अधिरचना के दायरे में राजनीतिक-वैधिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सामाजिक चेतना (विचारधारा, मूल्य आदि) के निश्चित रूपों को ही रखता रहा है। मार्क्स ने भी ऐसा ही लिखा था, यानी, विनोद मिश्र की गलतियों की श्रृंखला इस प्रकार बनती है : उत्पादन-प्रणाली (उत्पादन-सम्बन्ध + उत्पादक शक्तियाँ) मूलाधार है (ग़लत), वितरण का विनियमन अधिरचना है (ग़लत), जाति का सम्बन्ध उत्पादन की प्रणाली से नहीं, बल्कि वितरण के विनियमन मात्र से है (यह भी ग़लत)। अब वे सुगमता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वर्ग और जाति का द्वन्द्व मूलाधार और अधिरचना का द्वन्द्व है। आगे वे लिखते हैं : “जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियों का विकास होता है, और उत्पादन-प्रणाली में धीमी गति से बदलाव आता है, सामंजस्य टूट जाता है, वर्ग और जाति, मूलाधार और अधिरचना परस्पर टकराव की स्थिति में आ जाते हैं, प्रत्येक दूसरे को परिभाषित करने की कोशिश करने लगता है।” (अनुवाद हमारा)

अब यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि वर्ग मूलाधार में अवस्थित है (और जाति अधिरचना में)। फिर एक भ्रान्ति कई और लोग भी यह ग़लती करते हैं कि वर्ग को आर्थिक प्रवर्ग मात्र बताते हैं या उसे ही मूलाधार बता देते हैं। वर्ग एक बुनियादी सामाजिक प्रवर्ग है। उत्पादन-सम्बन्ध उसके जन्म और निर्धारण के कारक हैं। लेनिन के शब्दों में “वर्ग लोगों के बड़े-बड़े गुणों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से (अधिकांश मामलों में कानूनों में निश्चित तथा प्रतिपादित), श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के अपने भाग की प्राप्ति तथा आकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्ग लोगों के वे गुण हैं जिनमें से एक गुण सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित पद्धति में अपने स्थान की बदौलत दूसरे गुण के श्रम को हथिया सकता है।” (लेनिन, कलेक्टेट वर्क्स, खण्ड 29, पृष्ठ 421)। उपरोल्लिखित पुस्तक की प्रसिद्ध प्रस्तावना में जैसा मार्क्स ने लिखा था, “अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं जो लाज़िमी होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं।” इन सम्बन्धों को कायम करने के बाद मनुष्य वर्गों में बँट जाते हैं। वर्ग अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध नहीं हैं कि उसे ही मूलाधार कह दिया जाये।

नव-मार्क्सवादियों की एक धारा तो मूलाधार-अधिरचना रूपक को ही यान्त्रिक बताकर खारिज कर देती है और जाति या जेण्डर जैसे प्रश्नों को समझने के लिए उसे नाकाफी बताती है।

इस धारा के दो प्रतिनिधियों, सुभाष गाताडे और उमाशंकर के एक लेख दलित मुक्ति का प्रश्न (‘सन्धान-1’ में प्रकाशित, चण्डीगढ़ में साझा सांस्कृतिक अभियान की संगोष्ठी में पठित पेपर) इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है। वर्ग और जाति के प्रश्न पर जब वे आते हैं तो पहले तो लगता है कि विचारक-द्वय को शिकायत आर्थिक मूलाधार और अधिरचना की यान्त्रिक

समझदारी से तथा वर्ग-संघर्ष की अर्थवादी समझ से है। पर बाद में स्पष्ट हो जाता है कि वे इन चीजों को ही खारिज करने के उद्देश्य से प्रेरित हैं। उनकी तर्कप्रणाली देखिये। वे बताते हैं कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक धरातल (phenomenal level) होता है और एक अन्तरभूत संरचनात्मक धरातल (structural level) होता है। ऐन्द्रिक गोचरता (sense perception) से हम संरचनात्मक धरातल तक सीधे नहीं पहुँच सकते। इसके लिए अमूर्तन (abstraction) की प्रक्रिया से गुज़रना होता है। आगे वे बताते हैं कि उत्पादन-प्रणाली एक अन्तरभूत सामाजिक संरचना है और उससे संरचनात्मक स्तर पर सम्बन्ध होने के चलते वर्ग एक संरचनात्मक अवधारणा है, महज़ एक आर्थिक अवधारणा नहीं। सामाजिक संरचना जितनी जटिल होती है, उसका संरचनात्मक स्तर उतने ही गहरे में छिपा होता है और परिघटनात्मक सतह तक पहुँचते-पहुँचते उसका प्रभाव उतने ही अधिक जटिल और वैविध्यपूर्ण गुणों को जन्म देता है। अन्तिम निष्कर्ष यह है कि आज के पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की जटिल बनावट में “संरचनात्मक स्तर का वर्ग संघर्ष प्रत्यक्ष और अलग से प्रगट नहीं होगा। वह प्रायः सामाजिक संघर्षों के उलझे और विविध रूप में ही सामने आयेगा।” यानी, वर्ग संघर्ष अब जाति, जेण्डर और पर्यावरण आदि पर केन्द्रित सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही होगा।

इस नतीजे तक पहुँचने के लिए पहले तो मार्क्सवादी ज्ञान-मीमांसा का ककहरा पढ़ाया गया है। हर मार्क्सवादी जानता है कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक स्तर होता है, प्रतीति (appearance) का स्तर होता है और ऐन्द्रिक गोचरता के द्वारा हम उस चीज़ के बोध या इन्द्रियग्राह्यता (perception) के धरातल तक पहुँचते हैं। दूसरा धरातल संरचनात्मक धरातल होता है, सारवस्तु का धरातल होता है, जहाँ तक हम अमूर्तन की क्रिया से गुज़रकर पहुँचते हैं, यह धारणा (conception) या बुद्धिसंगत ज्ञान (conceptual knowledge) की मंज़िल होती है। यहाँ तक तो ठीक है। घपला इसके आगे है। प्रकृति और समाज की हर चीज़ का एक संरचनात्मक और एक परिघटनात्मक धरातल होता है। ऐसा नहीं है कि वर्ग संघर्ष संरचनात्मक अवधारणा है जिसका परिघटनात्मक स्तर सामाजिक आन्दोलन हैं। वर्ग का एक परिघटनात्मक स्तर (बोध का स्तर) है, एक संरचनात्मक स्तर (धारणा का स्तर) है। उत्पादन-प्रणाली का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जाति का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जब एक आम आदमी कहता है कि हम मजदूर हैं और अपने हक़ के लिए लड़ रहे हैं, या कहता है कि पूँजीवाद लुटेरा है, या कहता है हम फ़लाँ जाति के हैं, या हम जाति को नहीं मानते, तो वह परिघटनात्मक स्तर पर, बोध के स्तर पर होता है। जब एक आदमी समाज-विश्लेषण करके मजदूर वर्ग की परिभाषा और भूमिका तक पहुँचता है, गहन अध्ययन-विश्लेषण करके उत्पादन-प्रणाली विशेष के गुणधर्मों और अन्तरविरोधों के बारे में बताता है, जाति के ऐतिहासिक सामाजिक-आर्थिक आधार को समझकर बात करता है, तो वह संरचनात्मक स्तर पर या धारणा के स्तर पर बात कर रहा होता है। घपला यहाँ किया गया है। यह नयी ज्ञान-मीमांसा है। यदि वर्ग संघर्ष अब केवल सामाजिक आन्दोलनों के ही रूप में सामने आयेगा तो पूछा जाना चाहिए कि अपनी वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक माँगों को लेकर जो तमाम स्वयंस्फूर्त और संगठित मजदूर आन्दोलन हो रहे हैं, या मालिक किसान लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य की अपनी वर्गीय माँगों को लेकर आन्दोलन करते हैं, क्या वे वर्गों के आन्दोलन नहीं हैं?

इसी तर्क के सिलसिले में विचारक-द्वय आवेश में कह उठते हैं : “कुछ लोग सोचने लगते हैं कि आर्थिक मूलाधार एक प्रकार की नींव है जिस पर अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी होती है। यह सब ग़लत समझदारी पर आधारित शब्दों का खेल है। समाज को खोदने से अन्दर उत्पादन-प्रणाली दिखायी नहीं पड़ने लगेगी या अधिरचना को भेदकर ठोस मूलाधार को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।” इनमें से पहला वाक्य यदि शब्दों का खेल है तो यह खेल मार्क्स से लेकर माओ तक सबने खेला। यही सच है। इस रूपक के ज़रिए **मार्क्स** ने जो कहना चाहा वह **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रस्तावना से स्पष्ट है। हर रूपक, तुलना या सादृश्य निरूपण अधूरा होता है, लंगड़ा होता है। लेनिन ने भी यही कहा था। रूपक को अभिधा में लेना किसी तर्क को मूर्खता की सीमा तक खींचना होता है। अभिधा में ही प्रतिर्तक किया जा सकता है कि समाज को खोदेंगे किस कुदाल से? अधिरचना को भेदेंगे किस तीर से? उत्पादन-प्रणाली का अध्ययन कोई मार्क्सवादी अधिरचना को भेदकर नहीं करता बल्कि आर्थिक तथ्यों का अध्ययन-विश्लेषण करके परिघटना से संरचना के स्तर पर पहुँचने की प्रणाली से करता है। उत्पादन-प्रणाली के अध्ययन का अर्थ होता है उत्पादन-सम्बन्धों (स्वामित्व के रूप + श्रम-विभाजन + वितरण के स्वरूप) और उत्पादक शक्तियों के विकास का अध्ययन और उन दोनों के मध्य जारी अन्तरविरोधों के विकास का अध्ययन। अधिरचना का अध्ययन भी वह इसी तरह करता है और मूलाधार विषयक अपने निष्कर्षों का सत्यापन करता है। तदनन्तर वह मूलाधार और अधिरचना के अन्तरविरोधों को समझने की कोशिश करता है। यहाँ एक घपला और है। मूलाधार उत्पादन-प्रणाली को बताया गया है, न कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को। उत्पादन-प्रणाली से उत्पादन-सम्बन्धों को विस्थापित करने का मतलब है, उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग और उत्पादक शक्तियों के बीच के उस अन्तरविरोध को गोल कर जाना, जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक वर्ग संघर्ष के रूप में होती है। यही गड़बड़ी विनोद मिश्र भी करते हैं। बहरहाल, विचारक-द्वय का मूल उद्देश्य तो यह है कि कथित सामाजिक आन्दोलनों को ही वर्ग संघर्ष का एकमात्र रूप बताया जाये।

विचारक-द्वय वस्तुतः कूपमण्डूक कम्युनिस्ट का एक काल्पनिक पात्र खड़ा करते हैं, उसके मुँह से कुछ मूर्खतापूर्ण बातें कहलवाते हैं, और फिर उन्हें काटते हुए कुछ सही बातें कहते हुए उन बातों को “नयी” ज्ञान-मीमांसा के द्वारा अपनी अभीष्ट निष्पत्तियों तक पहुँचा देते हैं। उनका अपना निष्कर्ष तो स्पष्ट है कि वर्ग संघर्ष की परिघटनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति अब सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही होगी। कम्युनिस्टों पर वे आरोप लगाते हैं कि वे हड़तालों और भूमि-संघर्ष को तो वर्ग संघर्ष मानते हैं, पर दलित-उत्पीड़न विरोधी संघर्ष या नारी-मुक्ति संघर्ष जैसे संघर्ष को वर्ग संघर्ष से इतर मान लेते हैं, फिर भी, वे इन सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत करते हैं क्योंकि क्रान्तिकारियों को सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत करनी होती है। कोई औसत समझदारी वाला कम्युनिस्ट भी ऐसा नहीं सोचता। मार्क्सवाद की एक आम समझ है कि हर सामाजिक आन्दोलन की एक वर्ग अन्तर्वस्तु होती है। वह वर्ग संघर्ष का परोक्ष या विरूपित रूप होता है जो समाज-विशेष के सामाजिक अन्तरविरोधों से ही पैदा होता है। कम्युनिस्ट नेतृत्व उस संघर्ष में भागीदारी के द्वारा उक्त अन्तरविरोध को मुख्य अन्तरविरोध की अधीनस्थ सहायक भूमिका में लाने का प्रयास करता है क्योंकि अन्तिम तौर पर, वह अन्तरविरोध मूल अन्तरविरोध के हल होने के साथ ही हल हो सकता है। हर

सामाजिक आन्दोलन पर बुर्जुआ और सर्वहारा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए संघर्ष करते हैं। उदाहरण लें। राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं का आन्दोलन राष्ट्रीय बुर्जुआ या निम्न-बुर्जुआ के नेतृत्व में, बहुराष्ट्रीय देश के शासक बड़े बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध उस राष्ट्र या राष्ट्रीयता की जनता का आन्दोलन होता है। कम्युनिस्ट उसका समर्थन करते हैं क्योंकि वह बुर्जुआ राज्यसत्ता के विरुद्ध है। साथ ही वे उस राष्ट्र की जनता को सतत प्रचार द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार देने के साथ यह भी बताते हैं कि मूल समस्या का हल राष्ट्रीय आजादी से आगे समाजवाद में निहित है। छात्र आन्दोलन की एक स्पष्ट वर्गीय अन्तर्वस्तु होती है, वह अन्तर्वस्तु की दृष्टि से मध्य वर्ग और जनता के अन्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा होता है। बुर्जुआ राजनीति बुर्जुआ छात्र संगठनों के द्वारा उस पर अपना वर्चस्व जमाने की कोशिश करती है और सर्वहारा राजनीति उस पर अपना वर्चस्व जमाकर व्यापक आम छात्रों के संघर्ष को सर्वहारा संघर्ष से जोड़ने की कोशिश करती है। स्त्री आन्दोलन भी सभी वर्गों की स्त्रियों का आन्दोलन होता है। बुर्जुआ स्त्री आन्दोलन के विविध रूप इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-सुधारों के लिए लड़ते हैं, जबकि सर्वहारा राजनीति से निर्देशित स्त्री आन्दोलन इन संघर्षों में भागीदारी करते हुए उन्हें समाजवाद के लिए संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ाता है, वह लगातार बताता है कि अन्तिम तौर पर सभी वर्गों की स्त्रियों की पराधीनता समाजवादी संक्रमण के दौरान ही समाप्त हो सकती है, वह बहुसंख्यक मेहनतकश स्त्रियों और निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों को संगठित करने पर अधिक बल देता है क्योंकि अपने वर्ग हित के चलते उच्चतर वर्ग की स्त्रियाँ समाजवाद के नारे और संघर्ष के रैडिकल रास्ते को स्वीकार नहीं करतीं और कानूनी सुधारों और अस्मिता का जश्न मनाने में ही डूबी रहती हैं। जातियों के जो आपसी टकराव होते हैं, वे वस्तुतः वर्ग संघर्ष के ही विकृत-विरूपित रूप होते हैं। दलित संगठनों पर यदि बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ नेतृत्व हावी होता है तो व्यापक दलित आबादी को इसी व्यवस्था में कुछ सुधारों तक केन्द्रित कर देता है, उनके नुस्खे अलबत्ता अलग-अलग होते हैं। सर्वहारा राजनीति का काम है बहुसंख्यक दलित-मेहनतकश आबादी के उत्पीड़न के विरुद्ध जनवादी अधिकारों के दायरे के भीतर संघर्ष करना, और साथ ही उसे अन्य जातियों की व्यापक मेहनतकश आबादी के साथ साझा माँगों पर जोड़ना, जाति-उन्मूलन की पूरी योजना प्रस्तुत करना और अधिरचनात्मक धरातल पर जातिगत पार्थक्य और पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए सतत प्रचार एवं आन्दोलन की कार्यवाही चलाना।

विचारक-द्वय की थीसिस थोड़े और परिष्कृत रूप में, ज़्यादा खुले मन्तव्यों के साथ 'न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव' के मसौदा घोषणापत्र (जनवरी, 2011) में हमें देखने को मिलती है। घोषणापत्र में एक बदलाव यह तो दीखता है कि इस अवस्थिति का परित्याग कर दिया गया है कि वर्ग संघर्ष केवल सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही प्रकट होंगे। घोषणापत्र मजदूरों और मेहनतकशों के आन्दोलनों को भी वर्ग संघर्ष के रूप में मान्यता देता है, पर साथ ही, बड़ी सफ़ाई से मार्क्सवादी तर्कों की सीढ़ी से अस्मिता राजनीति (Identity Politics) का एक नया संस्करण रचने की मंज़िल तक जा पहुँचता है। घोषणापत्र बताता है कि एक व्यक्ति की केवल वर्गीय पहचान नहीं, बल्कि कई पहचानें होती हैं। "एक सामाजिक इकाई के रूप में प्रत्येक व्यक्ति कई धुरियों पर खड़ा होता है" और "कई पहचानें लेकर चलता है।" यानी, धुरियाँ कई हैं जिनमें से वर्ग एक धुरी है। फिर आगे, "जेण्डर, जाति, नस्ल, नृजातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिक पहचान उन सामाजिक सम्बन्धों के अहम उदाहरण हैं जो वर्ग सम्बन्धों

की धुरी को विभिन्न प्रकार से काटते हैं और उसके साथ ही सामाजिक यथार्थ को गढ़ते हैं।” यानी, ये रेखाएँ स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं और वर्ग सम्बन्ध की धुरी को काटती हैं। पहले यह भी कहा गया है कि ये खुद धुरियाँ हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण से अलग विमर्श की यह वैकल्पिक भाषा अपने आप में काफी भ्रामक है। पर इसका मन्तव्य स्पष्ट है और वह है मुख्य सामाजिक अन्तरविरोध के इर्द-गिर्द जनसमुदाय के वर्ग संघर्ष संगठित करने और अन्य अन्तरविरोधों को इसके मातहत हल करने की बात करने की बजाय सभी अन्तरविरोधों को समकक्ष बना देना और सामाजिक संघर्षों को, अस्मिताओं के संघर्ष के रूप में विखण्डित कर देना। मार्क्सवाद बताता है कि इन तमाम कथित पहचानों में से कई अतीत का बोझ हैं, जिन्हें वर्ग-ध्रुवीकरण रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाये रखा गया है। कुछ अवशेष अधिरचना के धरातल पर हैं और कुछ की जड़ें नये उत्पादन-सम्बन्धों के मूलाधार में भी हैं। कुछ कल्पित पहचानें हैं, जो या तो अतीत के अवशेष हैं या गढ़ी गयी हैं। कुछ पूरे वर्ग समाज के दौरान बने रहने वाले अन्तरविरोध हैं, जैसे जेण्डर का सवाल। स्त्रियों की पराधीनता का पहले सामन्ती चरित्र था, आज पूँजीवादी चरित्र है। कुछ अन्तरविरोध सारतः पूँजीवादी समाज के बहुस्तरीय, विविधरूपा अन्तरविरोधों की श्रेणी में आते हैं। पूँजीवाद ने कई प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को पुनःसंसाधित करके अपना लिया है, इससे कुछ अन्तरविरोधों की प्रतीतिगत पुरानी निरन्तरता होती है, पर उनका वर्गीय संरचनात्मक सार बदल चुका होता है। चूँकि उत्पादक कार्रवाई ही बुनियादी मानवीय कार्रवाई है, अतः उत्पादन-सम्बन्ध ही समाज के मूलाधार हो सकते हैं और उनसे बनने वाले वर्ग ही बुनियादी प्रवर्ग हो सकते हैं और अन्य सामाजिक प्रवर्गों के मूल में यह वर्गीय अन्तर्य किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सभी अस्मिताओं में वर्ग अस्मिता ही ओवरराइडिंग अस्मिता है। इसी आधार पर व्यापक जन-गोलबन्दी हो सकती है। वर्ग अस्मिता को मज़बूत बनाने का अर्थ अन्य अस्मिताओं को छोड़ देना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीयता, जाति, जेण्डर आदि से जुड़े न्यायसंगत प्रश्नों पर भी संघर्ष करते हुए जनसमुदाय को मूल संघर्ष से जोड़ देना है। वर्ग अस्मिता ही वह सार्विक अस्मिता है जो सभी अस्मिताओं को आच्छादित कर लेती है। पूँजीवाद अन्य सभी अस्मिताओं के सवाल को अपने ढंग से तन्तुबद्ध करके उनके संघर्षों को ‘सेफ्टी वॉल्व,’ धोखे की टट्टी और वर्ग ध्रुवीकरण कम करने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करता है। सर्वहारा का हरावल इनके वर्ग-अन्तर्य को समझकर इन्हें व्यापक क्रान्तिकारी संघर्ष का अधीनस्थ बनाता है, उसका संघटक अवयव बनाता है। आज नव-मार्क्सवादी चिन्तन की एक पूरी धारा है जो वर्ग विश्लेषण, वर्ग संघर्ष, पार्टी, राज्य और क्रान्ति के प्रश्नों पर मूल प्रस्थापनाओं से बचने या हटने के लिए उत्तर-आधुनिक विमर्श (जिनमें अस्मिता राजनीति भी एक है) की शब्दावली का इस्तेमाल कर रही है। इस धारा के सुभाष गाताडे ब्राण्ड विचारक दलितों के विभिन्न छोटे-छोटे संगठनों एवं आन्दोलनों में उनकी आत्म-अस्मिता का नया उभार देखकर खूब तालियाँ बजाते हैं, पर वे यह नहीं देखते कि ये तमाम संगठन कुछ ही दिनों में किस तरह संसदीय राजनीति के घृणित अवसरवादी खिलाड़ी बन जाते हैं। वे यह नहीं देखते कि इन अस्मिता उभारों की एक परिणति दलित जातियों-उपजातियों के आपसी टकरावों (जैसे आन्ध्र प्रदेश में माला-मादिगा संघर्ष) और पार्थक्य के रूप में सामने आ रही है। वे यह नहीं बताते कि दलित अस्मिता के इन उभारों से दलित मुक्ति और जाति उन्मूलन की कोई परियोजना कैसे विकसित होगी? दलित अस्मिता का अहसास पैदा करने और दलितों में सामाजिक उत्पीड़न के

विरुद्ध जागृति लाने के लिए वे अम्बेडकर के प्रति श्रद्धा-विह्वल रहा करते हैं और जाति प्रश्न की उपेक्षा तथा अम्बेडकर से दुराव के लिए कम्युनिस्टों की लानत-मलामत करने से उनका मन कभी नहीं भरता, लेकिन कहीं भी अम्बेडकर की राजनीतिक दृष्टि, राजनीतिक भूमिका, दलित मुक्ति की उनकी परियोजना, उनकी अर्थनीति और इतिहास-दृष्टि की विवेचना उन्होंने नहीं की है। वे यह भी नहीं बताते कि “सुअरों के दर्शन” मार्क्सवाद के बारे में, सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में, धर्म के बारे में और मार्क्सवाद के मुकाबले बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता के बारे में अम्बेडकर के विचार कितने तथ्यसंगत और तर्कसंगत थे। ऐसे लोगों की धारणा ही यह है कि दलितों को साथ लेने के लिए अम्बेडकर-स्तुति ज़रूरी है और राह चलते कम्युनिस्ट आन्दोलन की भर्त्सना तो जैसे उनके संस्कार बन चुके हैं। कोई उत्पीड़ित समुदाय उसके पुराने नायक की निर्मित प्रतिमा को ढोने से साथ नहीं आ जाता, उसे संघर्ष का एक ठोस कार्यक्रम, मुक्ति की एक स्पष्ट परियोजना देनी होती है। क्रान्ति की मनोगत शक्तियाँ अन्य विविध वस्तुगत-मनोगत कारणों से कमजोर हों तो इस काम में लम्बा समय लग सकता है, पर दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है। यह सोच सिर से ग़लत है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण जाति-प्रश्न की नासमझदारी या उपेक्षा रही है। कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मूल कारण विचारधारात्मक कमजोरी के चलते भारतीय समाज के मूलाधार और अधिरचना का गहन अध्ययन-विश्लेषण न कर पाना और भारतीय क्रान्ति का एक सांगोपांग कार्यक्रम – रणनीति और आम रणकौशल नहीं विकसित कर पाना रहा है। जाति प्रश्न का सही विश्लेषण करके ठोस कार्यभार न तय कर पाने की कमी इसी मूल कमी का एक अंग है या एक उत्पाद है।

भारत के जितने क्रान्तिकारी गुप हैं, उनमें से कई ने जाति प्रश्न की विगत दो दशकों के दौरान व्याख्या करने की कोशिश की है लेकिन वे प्रायः सतही, अधूरी या ग़लत हैं। कोई कहता है कि अतीत में उत्पादन-सम्बन्ध जाति-व्यवस्था पर आधारित थे (तो फिर जाति-व्यवस्था किस चीज़ पर आधारित थी?)। कोई कहता है कि जाति प्रथा पर श्रम विभाजन आधारित था (आधारित था या जाति श्रम विभाजन की ही एक रूढ़ व्यवस्था थी, और क्या केवल श्रम विभाजन था या जाति स्वामित्व के रूप और वितरण के तौर-तरीके भी तय करती थी?)। कोई कहता है कि जाति उत्पादन-सम्बन्धों से जुड़ी थी (सिर्फ़ जुड़ी थी या उसका हिस्सा थी और उसका प्रवर्ग क्या था – मूलाधार का, अधिरचना का, या वह दोनों में उपस्थित थी)। कुछ ऐसे भी हैं जो हर काल में जाति को अधिरचना ही मानते हैं जिसका मूलाधार सामन्ती उत्पादन-सम्बन्ध था (और है)। जाति प्रथा के उद्भव और विकास का इतिहास देते हुए भी कई (स्थापित मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा अमान्य) ग़लत प्रस्थापनाएँ दी गयी हैं, पर उन पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है। औपनिवेशिक काल में, सामन्तवाद की मौजूदगी के बावजूद, औद्योगिक पूँजी के प्रवेश ने जाति-व्यवस्था को बनाये भी रखा और उसकी जड़ों पर कुछ चोट भी की, जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्गों के वर्णक्रम का अतिच्छादन सीमित हद तक भंग हुआ और उत्तर-औपनिवेशिक काल में तो यह अतिच्छादन बहुत सिकुड़ गया। इस प्रक्रिया पर स्पष्टता का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुपों के लेखन में अभाव दिखता है।

मूलाधार और अधिरचना के स्तर पर सही ढंग से जाति प्रश्न को सूत्रबद्ध न कर पाने वाले कुछ मा-ले गुप इसे अर्द्ध-सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के आधार पर टिकी प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना

(सामाजिक संरचना) मानते हैं तो कुछ भूमि-सम्बन्धों के मूलाधार के ताने-बाने में भी उसकी मौजूदगी देखते हैं। समस्या यह है कि भू-लगान की प्रकृति, किसानों के मालिकाना मिल जाने के बाद बाज़ार के लिए उत्पादन करने की प्रमुख प्रवृत्ति, अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़े राष्ट्रीय बाज़ार की मौजूदगी, किसान आबादी के ध्रुवीकरण, विभेदीकरण और सर्वहाराकरण की प्रवृत्ति, कृषि में पूँजी की बढ़ती घुसपैठ, तथा औद्योगिक- वित्तीय पूँजी के विस्तार के सभी आँकड़ों की अनदेखी करते हुए भूमि- काश्तकारी व्यवस्था, महाजनी और सामन्ती अवशेषों की गणना करते हुए ऐसे सारे ग्रुप मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी पैमानों को ताक पर रखकर आज के भारत में चीनी नव-जनवादी क्रान्ति के मॉडल पर क्रान्ति करने की ज़िद पर बयालीस वर्षों से अड़े हुए हैं और 1963 की विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा विषयक दस्तावेज से पचास वर्षों बाद भी चिपके हुए हैं। भारतीय क्रान्ति का प्रोमेथियस अभी भी जड़सूत्रवाद (dogma) की जंजीरों से नव-जनवादी क्रान्ति की चट्टान से बँधा हुआ है। ऐसे ग्रुपों में से कुछ की मान्यता है कि दलित प्रश्न/जाति प्रश्न अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से भूमि प्रश्न है। यानी एक रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम इस प्रश्न को हल कर सकता है। अब समझने की ज़रूरत यह है कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल हो, तो भी (जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट किया है) भूमि विषयक आम नीति के तौर पर भूमिहीन ग्रामीण मजदूरों को निजी परिवार के स्तर पर ज़मीन बाँटकर उन्हें छोटे पैमाने का माल-उत्पादक बनाना कम्युनिस्टों का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता। जनवादी क्रान्ति का भूमि कार्यक्रम सर्वोपरि तौर पर किसानों को मालिकाने का हक् देता है, राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी भू-स्वामियों के संस्तर को समाप्त करता है, किसानों को सहकारी खेती और फिर सामूहिक खेती के लिए प्रेरित करता है, फालतू ज़मीनों और बड़ी जागीरों पर राजकीय फार्म (जो नज़ीर बनते हैं) बनाता है, सामन्ती भू-स्वामियों की छीनी गयी खुदकाश्त ज़मीनों पर भूमिहीन ग्रामीण मजदूरों के सामूहिक फार्म बनाता है (किन्हीं विशेष स्थितियों में अधिक पिछड़े देशों में यदि ज़मीन बाँटनी भी पड़ती है तो सहकारिता संगठित की जाती है) और खेती में श्रम-शक्ति की खरीद-फरोख्त को प्रतिबन्धित कर देता है। जो मँझोले मालिक निजी खेती तुरत छोड़ने को तैयार नहीं होते, वे भी मजदूर लगाकर काम नहीं करा सकते। भारत की स्थिति देखें। किसान मालिक बन चुके हैं और बड़े किसानों ने छोटे किसानों के बड़े हिस्से को सर्वहारा बना दिया है। सामन्ती लगान और लगानजीवी भू-स्वामी समाप्त हो चुके हैं। आज की व्यावहारिक स्थिति यह है कि किसी जादुई तरकीब से यदि सिर्फ गाँव के भूमिहीनों को सारी परती ज़मीन और सीलिंग सख्ती से लागू करके निकली ज़मीन बाँट भी दी जाये (जो सत्ता का कनिष्ठ साझीदार बुर्जुआ भू-स्वामी वर्ग कभी न होने देगा) तो भी प्रति भूमिहीन परिवार डेढ़ से दो बीघा ज़मीन आयेगी और जल्दी ही पूँजी का चुम्बक इसे खींचकर बड़े भू-स्वामियों के पास ला देगा। (यदि सारी ज़मीन सभी ग्रामीण परिवारों में बराबर-बराबर बाँट दी जाये तो प्रति परिवार 3.68 एकड़ ज़मीन आयेगी, पर यह हवाई किला बनेगा कैसे और यदि सर्वहारा सत्ता को ही करना हो तो वह ऐसा क्यों करेगी?) दूसरी बात, आज की खेती में क्षेत्रफल से अधिक उसमें लगी पूँजी का महत्व होता है। पूँजी के अभाव में छोटे मालिक किसान बनने के बाद भूमिहीनों की जीवन-स्थिति कारखाना मजदूरों से भी बदतर होगी। यह हम आज भी देख सकते हैं। इसलिए आज भी ग्रामीण मजदूरों को पट्टे पर ज़मीन बाँटने जैसी जो फौरी माँगें उठायी जाती हैं वे उतनी ही प्रतिक्रियावादी हैं जितनी मालिक किसानों की लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य से जुड़ी माँगें। जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में सोचने वाली कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी जमातें

जाति-व्यवस्था को एक ओर भूमि प्रश्न तो दूसरी ओर सामन्ती अधिरचना के रूप में देखती हैं। जाति-व्यवस्था के बदले हुए पूँजीवादी रूप को वे नहीं देख पातीं।

एक और बड़ी विचित्र धारा है जो पहले तो समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानती थी, पर अब पलट गयी है। उसका मानना है कि राजा-रजवाड़ों का बड़ा सामन्तवाद तो खत्म हो गया (उसके अवशेष रह गये हैं), पर गाँव-गाँव तक छोटा सामन्तवाद आज के भू-स्वामियों और जोतदारों के रूप में बरकरार है (यह धारा यह नहीं बताती कि इन भूस्वामियों-जोतदारों को सामन्ती कैसे माना जाये?) जाति की समस्या इसी छोटे सामन्तवाद से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ज़्यादा बड़ी जोतें 'ऊँची' जाति के भू-स्वामियों के पास हैं (यह ग़लत है, ज़्यादा बड़ी जोतें और पूँजी सघन खेती आज मध्य जातियों के बड़े किसानों के पास हैं)। छोटा सामन्तवाद, मन्दिरों-मस्जिदों-वक्फ़ों-गिरजाघरों-गुरुद्वारों की मौजूदगी, बड़े सामन्तवाद के अवशेष और जाति-समस्या – यह कुल मिलाकर सामन्तवाद को मौलिक अन्तरविरोध बनाते हैं। यानी राजनीतिक अर्थशास्त्र गया छुट्टी पर, सरल जोड़ से ही अन्तरविरोध तय हो गया। जाति समस्या के हल के लिए यह धारा नुस्खा सुझाती है कि समाजवादी राज्य समूची ज़मीन का राष्ट्रीकरण (इसके लिए तो सीधे गाँव की निम्न मध्य किसान आबादी भी साथ नहीं आयेगी) करके जाति-व्यवस्था के सबसे नीचे पड़े पायदान पर खड़े लोगों से बाँटते हुए ऊपर के ग़रीबों की तरफ़ जायेगा (सबको इकट्ठे बराबर-बराबर क्यों नहीं दे देगा?), फिर सहकारी खेती से कम्यून तक की यात्रा पूरी करते हुए जनवादी क्रान्ति पूरी करेगा (राज्य समाजवादी होगा, क्रान्ति जनवादी करेगा!), इसी प्रक्रिया में अधिरचना के धरातल पर भी लगातार संघर्ष होगा और जाति-समस्या का समूल उन्मूलन हो जायेगा। इतने सतही, गगनविहारी, प्रहसनात्मक मार्क्सवादी सपनों पर भला क्या टिप्पणी की जाये? लेकिन कोई आन्दोलन जब बिखरता है, तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण मौलिक स्थापनाओं को भी पढ़ने-सुनने के लिए तैयार रहना पड़ता है।

भारत को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में मानने वाला एक अन्य गुप पूँजीवादी विकास के साथ पुरानी जाति-व्यवस्था में पड़ी दरारों और जातियों में बढ़ते वर्ग-विभाजन की काफी हद तक सही चर्चा करते हुए आज भी जाति-व्यवस्था की प्रभावी मौजूदगी को रेखांकित करता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करता कि इस प्रभावी मौजूदगी के पीछे नवीकरण और पुनर्संसाधन की कोई गतिकी है या महज़ यह इसलिए है कि हमारे देश में पूँजीवाद का विकास मन्थर, विरूपित, गैर-क्रान्तिकारी मार्ग से हुआ है। यदि जाति-व्यवस्था एक बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा नहीं हुई है तो इस तर्क की निष्पत्ति यह होगी कि पूँजीवाद ही यदि बहुत दिनों तक बना रहा तो जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे तिरोहित हो जायेगी। दूसरे, यह गुप सटीक ढंग से मूलाधार और अधिरचना के भीतर जाति-व्यवस्था को अवस्थित नहीं करता। सच यह है कि पूँजी की एक स्वतन्त्र गति जाति-व्यवस्था को ढीला कर रही है, दूसरी ओर आर्थिक और अधिरचनात्मक दोनों ही स्तरों पर इसकी विरोधी गति उसे नवीकृत-परिष्कृत-अनुकूलित करके पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना में उसका तन्तुबद्धीकरण कर रही है। इस प्रश्न पर अपनी अवस्थिति हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। यह धारा अम्बेडकर, पेरियार, दलित उभार परिघटना, अम्बेडकर-मार्क्सवाद समन्वय की प्रवृत्ति और अस्मितावादी नव-मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए मोटे तौर पर सही अवस्थिति अपनाती है, लेकिन जाति-उन्मूलन का रास्ता सुझाते हुए यह जाति आधारित संगठन बनाने का विरोध करने, दलित पूँजीवादी पार्टियों के नेताओं का पर्दाफ़ाश करने, एन.जी.ओ. संचालित दलित अस्मिता की

राजनीति और नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोणों का पर्दाफाश करने पर सबसे अधिक बल देती है। सकारात्मक तौर पर बस यह समाजवाद के लिए संघर्ष के एक हिस्से के तौर पर जातिगत उत्पीड़न-अत्याचार का विरोध करने और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रचार हेतु विशेष किस्म के मंच के निर्माण (जातिगत आधार पर नहीं) को उचित मानती है तथा अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहित करने पर बल देती है। यानी मुख्य जोर यह हुआ कि यदि सही वर्गीय लामबन्दी होगी तो जाति की समस्या एक अहम बाधा नहीं रह जायेगी। यह संगठन इस प्रश्न पर मौन है कि समाजवादी क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया में प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के कुछ नारे क्या सीधे जाति को निशाना बनायेंगे? दलित मेहनतकशों को हम मौकापरस्त दलित नेतृत्व से अलग करने के लिए समाजवादी व्यवस्था में जाति के उन्मूलन के भौतिक आधार और सचेतन कार्रवाइयों के बारे में किस प्रकार बतायेंगे और फौरी तौर पर भी क्या कुछ ऐसी माँगें (जनवादी माँगों के दायरे में) बनती हैं जो दलितों की दुरवस्था को कम करने में सहायक हों तथा जो सभी जातियों के मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता को मजबूत बनायें?

बहुत सारे, बल्कि अधिकांश मा-ले संगठनों में इन दिनों मार्क्सवाद-अम्बेडकरवाद में समन्वय करने या कम या ज्यादा मात्रा में अम्बेडकर से कुछ ले लेने का आग्रह बहुत प्रबल दीखता है। यह बहुत पहले शरद पाटील की सत्यशोधक कम्युनिस्ट पार्टी ने फुले-पेरियार-अम्बेडकर-मार्क्स की विचारधारा को अपनाकर किया था। पहली बात तो यह कि इस पार्टी को विचारधारा का शायद अर्थ ही नहीं स्पष्ट था। स्वयं फुले-पेरियार-अम्बेडकर के दर्शनों में भिन्नता है और दार्शनिक अन्तर्वस्तु के तौर पर मार्क्सवाद से तो कोई कड़ी ही नहीं जुड़ती। केवल अम्बेडकर के ही सवाल को लें। उनके विश्व-दृष्टिकोण, इतिहास-दृष्टि, राजनीति, अर्थनीति, दलित मुक्ति के उपायों आदि की हम सविस्तर चर्चा कर चुके हैं। कोई भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुप यह स्पष्ट नहीं करता कि अम्बेडकर से क्या लेना है? एक बात यह साझा है कि प्रायः ये सभी गुप आरक्षण का समर्थन करते हैं, जो अम्बेडकर का योगदान था। पर वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि आज यह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवाद के प्रति विभ्रम पैदा करने का उपकरण बन गया है। दूसरे, कुछ गुप कहते हैं कि कम्युनिस्टों की धारा के साथ सामाजिक (जातिगत) मसलों पर आन्दोलन चलाने की अम्बेडकरवादी सोच को समाहित कर लेना चाहिए। पहली बात यह कि प्रश्न जाति का हो, जेण्डर का या पर्यावरण का, मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क इन सभी सामाजिक आन्दोलनों को वर्ग संघर्ष का अनिवार्य हिस्सा मानता है और इन्हें सतत चलाने पर बल देता है। भारतीय कम्युनिस्टों ने अतीत में इस पर सही या उचित बल नहीं दिया (ऐसा नहीं कि कुछ किया ही नहीं), यह एक अलग बात है। पर सैद्धान्तिक धरातल पर, इस मसले पर मार्क्सवाद की अपनी समझ काफ़ी समृद्ध है। दूसरी बात, अम्बेडकर ने सामाजिक आन्दोलन तो बहुत कम किये, दलितों को संगठित करके औपनिवेशिक सत्ता से मोल-तोल और सवैधानिक दायरे में रहते हुए कानूनी उपायों से सुधार की बात अधिक की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उद्योगीकरण पर बल दिया (वह तो पूँजीपति वर्ग कर ही रहा है) तथा धर्मान्तरण का मार्ग सुझाया (जो फ्लॉप सिद्ध हुआ)।

हाँ, ऐसे अधिकांश मा-ले गुप, गेल ओमवेत, आनन्द तेलतुम्बडे, सुभाष गाताडे आदि-आदि अम्बेडकर के इस मौलिक सैद्धान्तिक अवदान पर विस्फारित-नेत्र रह जाते हैं कि

जाति-व्यवस्था महज श्रम विभाजन नहीं बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है और यह चीज भारत की विशिष्टता है। नासमझी हमें सामान्य बातों को भी मौलिक मानकर चकित होने के लिए मजबूर करती है। श्रम विभाजन की तार्किक परिणति दुनिया में कहीं भी श्रमिकों के पदानुक्रमिक विभाजन के रूप में ही होती है। पहले सामान्य उदाहरण लें। मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले से, कुशल श्रमिक अकुशल श्रमिक से, स्थायी मजदूर अस्थायी मजदूर से, हल्के काम वाले भारी काम वाले से ऊपर होते हैं। इंग्लैण्ड में ब्रिटिश मजदूर आयरिश मजदूर से ऊपर होते थे। अमेरिका में श्वेत मजदूर अश्वेत मजदूरों, मुलैटो-चिकानो आदि मूल के मजदूरों और आप्रवासी मजदूरों से ऊपर होते हैं। पूँजीवादी समाज में यह होगा ही। भारत में श्रमिकों के विभाजन में केवल यह बात जुड़ जाती है कि 'अस्वच्छ' काम, भारी काम और कम तनख्वाह वाले 'नीचे' के काम ज़्यादातर दलित जातियों को करने होते हैं और कार्यस्थल पर भी उन्हें अमेरिका के किसी अश्वेत या मेक्सिकन मजदूर के मुकाबले सामाजिक पार्थक्य का सामना अधिक करना पड़ता है। अतः यह अम्बेडकर की कोई मौलिक खोज नहीं है, पूँजीवादी श्रम विभाजन की एक सामान्य विशिष्टता है।

श्रमिक मुक्ति दल की गेल ओमवेत के अपने कुछ मौलिक तर्क हैं। भारतीय कम्युनिस्टों को तो वे असुधारणीय यान्त्रिक भौतिकवादी मानती हैं। उनका कहना है कि वे जाति को "वर्ग" में अवशोषित मानते हैं और "शोषण" की शुद्ध आर्थिक व्याख्या करते हुए जाति के सन्दर्भ में इसे नहीं देखते। **मार्क्स** की पुस्तक **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रसिद्ध प्रस्तावना की नयी व्याख्या करते हुए वे कहती हैं कि सामाजिक उत्पादन के जिन सम्बन्धों में मनुष्य के बँधने की बात मार्क्स करते हैं, वे वर्गीय उत्पादन-सम्बन्धों के अतिरिक्त गैर-वर्गीय उत्पादन-सम्बन्ध भी होते हैं (यानी जाति उत्पादन-सम्बन्ध)। मार्क्स की यह बात भारत पर लागू नहीं होती है कि 'अब तक का सारा ज्ञात इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।'

इन सूत्रीकरणों में आद्यन्त अशुद्धियाँ हैं। पहली बात यह कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में श्रम-विभाजन जातिगत ही था, यँ कहेँ कि श्रम विभाजन ने ही जाति को जन्म दिया और जाति वर्ग के समकक्ष थी। औपनिवेशिक काल में यह स्थिति टूटी। पूँजीवादी विकास के दौर में और तेज़ी से टूटी। पूँजीवादी श्रम-विभाजन ने जो वर्गीय संरचना पैदा की, उसमें पुरानी जाति संरचना के प्रबल तत्त्व थे, पर दोनों अब समानार्थी नहीं रह गये थे। जाति वर्ग में अवशोषित नहीं हो गयी है, बल्कि वर्गों में जाति-विभाजन है और जातियों में वर्ग विभाजन है, लेकिन दलित जातियों की बहुसंख्या दोनों ही विभाजनों में सबसे निचले पायदान पर है। मजदूर के रूप में उनके बाजू में अन्य जातियों के लोग भी खड़े हैं, पर उनसे उनका पार्थक्य है और काम की दृष्टि से भी वे कठिन, 'नीचा' माने जाने वाला काम करते हैं। जहाँ तक शोषण का सवाल है, शोषण सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में अधिशेष निचोड़ने की कार्रवाई है, यह वर्गीय धरातल पर ही होती है। यहाँ कम और ज़्यादा शोषण की भी बात नहीं है। हो सकता है कि उन्नत मशीन पर ज़्यादा उत्पादन करने वाले मजदूर को ज़्यादा पगार मिलती हो, उससे अधिशेष भी अधिक निचोड़ा जाता हो। दूसरी ओर, भारी और 'अस्वच्छ' काम करने वाले की कुल उत्पादित मूल्य में औसत भागीदारी कम हो, यानी वह कम पैदा करता हो और कम पगार मिलने के बावजूद उससे कम अधिशेष निचोड़ा जाता हो। "शोषण" एक सुपरिभाषित आर्थिक प्रवर्ग है, इसका उत्पीड़न या दमन के किसी रूप के साथ घालमेल नहीं किया जाना चाहिए।

दलित मजदूर कारखाने में भी उत्पीड़ित होता है, पर शोषण उसका वर्ग के रूप में ही होता है।

श्रमिक मुक्ति दल का सूत्रीकरण है कि आज बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का एक पद-सोपानक्रम विकसित हुआ है जिसमें दलित और जनजातियाँ अकुशल, कठिन और 'अस्वच्छ' कामों में लगी हैं, मध्य जातियाँ 'ब्लू कॉलर' औद्योगिक नौकरियों और अलाभकारी कठिन कृषि कार्यों में लगी हैं और 'ऊँची' जातियों के लोग सफ़ेद कॉलर ऊँची नौकरियों और प्रबन्धकीय पेशों में लगे हैं। आरक्षण और पूँजीवादी विकास ने इस जातिगत श्रम विभाजन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला है। इस ढाँचे में अधिशेष नीचे से निचुड़ता हुआ ऊपर बुर्जुआ वर्ग तक जाता है। इस पूरी स्कीम में वस्तुगत स्थिति का सटीक परावर्तन नहीं है। 'अस्वच्छ' कामों को छोड़ दें तो अकुशल और कठिन काम करने वाले असंगठित मजदूरों की कुल आबादी में आज दलितों और जनजातियों से बहुत अधिक संख्या गैर-दलित जातियों और गैर-जनजाति आबादी की है। दूसरे, कृषि कार्य में लगी आबादी का विभेदीकरण किया ही नहीं गया है। मध्य जाति और सवर्ण कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों का हिस्सा बर्बर शोषक है, वह श्रम-शक्ति खरीदकर काम कराता है, उसका यदि कोई संकट है तो कृषि पूँजीवाद का संकट है। मध्य जातियों, कुछ सवर्ण जातियों और थोड़ी-सी दलित जातियों-जनजातियों के बीच से तबाही की ओर घिसटती छोटे-मँझोले किसानों की आबादी है। हाँ, ऊपर की नौकरियों में अभी भी सवर्णों की बहुतायत ज़्यादा है। जहाँ तक अधिशेष निचोड़े जाने का सवाल है, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, वह सामाजिक जीवन की कठिनाइयों से नहीं बल्कि क्षेत्र विशेष की उत्पादकता से तय होता है।

इस स्कीम के आधार पर पार्टी का जो कार्यक्रम है, वह नितान्त सामाजिक जनवादी कार्यक्रम है। उसमें क्रान्ति और समाजवाद के कार्यक्रम का तो नामोनिशान नहीं है। यह पार्टी बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का भौतिक आधार खत्म करने के लिए भू-स्वामित्व व उत्पादन के साधनों के पुनर्वितरण के भूमि कार्यक्रम में भूमिहीन मजदूरों को भूमि और पानी के पुनर्वितरण की बात जोड़ने तथा सहकारी समाजवादी खेती की दिशा में आगे बढ़ने की बात करती है। यह, विशेषकर निम्न जाति के मेहनतकशों को बीज, खेती के उपकरण आदि सस्ती दरों पर मुहैया कराने, दस्तकार जातियों की पारम्परिक दक्षता को उन्नत बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण देने की, उन्हें आधुनिक सहकारी कृषि-औद्योगिक क्षेत्र में विकसित होने के लिए ऋण और प्रोत्साहन पैकेज देने की और दलित जातियों-जनजातियों को 'ऑर्गेनिक' खेती की ट्रेनिंग देने की माँग करती है। इसके अतिरिक्त यह आरक्षण को जारी रखने और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहन देने की माँग रखती है। यह किसी भी संशोधनवादी पार्टी, "सामाजिक आन्दोलन," एन.जी.ओ. या बुर्जुआ पार्टी के मेनिफेस्टो का हिस्सा हो सकता है। गेल ओमवेत का सारा नया द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक, भारतीय परिस्थितियों वाला भौतिकवाद अमली कामों के स्तर तक पहुँचकर अपने घोर बुर्जुआ सुधारवादी रूप में गंगा हो जाता है।

मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय के एक और प्रमुख प्रस्तोता आनन्द तेलतुम्बडे एक ओर तो यह मानते हैं कि जाति उन्मूलन की अम्बेडकर की सारी परियोजनाएँ निष्फल सिद्ध हुई। फिर भी न जाने क्यों अम्बेडकर की पुस्तक जाति उन्मूलन को (जिसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं) भारत में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' जितना महत्वपूर्ण बताते हैं।*

तेलतुम्बड़े आरक्षण को एक भँवरजाल मानते हैं और लगातार घटती नौकरियों के इस दौर में उसे निरर्थकप्राय मानते हैं। अस्मिता-राजनीति के भी वे कटु आलोचक हैं। लेकिन मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में जाति को समझने के बजाय वे इस फ्रेमवर्क को ही जाति और वर्ग के सम्बन्धों को समझने की राह में बाधा समझते हैं और भारतीय क्रान्ति के लिए जाति को वर्ग संघर्ष से न जोड़ पाना भारतीय कम्युनिस्टों की अक्षम्य भूल मानते हैं। मूलाधार-अधिरचना के प्रश्न पर हम अपनी बात ऊपर कह चुके हैं। तेलतुम्बड़े से भी हमें जाति उन्मूलन की कोई दिशा नहीं मिलती, न ही यह पता चलता है कि जाति को वर्ग संघर्ष की रणनीति से जोड़ने के लिए अम्बेडकर से मार्क्सवाद को क्या अवदान हासिल होगा!

जो कथित दलित सिद्धान्तकार हैं, उनकी दलीलें तो इतनी लचर और बोदी हैं कि उन पर ज्यादा तर्क-वितर्क सम्भव ही नहीं। ले-देकर एक अस्मिता राजनीति वाले हैं जो जाति सहित तमाम अस्मिताओं के एन.जी.ओ.-पोषित खण्डित सामाजिक आन्दोलनों में और शोध संस्थानों में शोध करने में लगे रहते हैं और दलित अस्मिता के उभार पर जश्न मनाते रहते हैं। इस प्रजाति की थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनका वैचारिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद की विचार-सरणियों में ढूँढ़ा जा सकता है।

एक अन्य विचारक कांचा इल्लैया हैं जो बिना नीतियों के विश्लेषण में गये राष्ट्रवाद की तीन श्रेणियाँ गिनाते हैं – ब्राह्मणवादी कम्युनिस्ट राष्ट्रवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद (तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.पी. मुखर्जी आदि एकसाथ) और दलित बहुजन राष्ट्रवाद (फुले, पेरियार, अम्बेडकर आदि)। दलित बहुजन राष्ट्रवाद की इसी थीसिस का एक अमली रूप कांशीराम-मायावती की राजनीति थी। शूद्र जातियों की पार्टी (सपा) से गँठजोड़ थीसिस को और पुष्ट करता था। पर वह गठबन्धन टूटना ही था। फिर मायावती ने ब्राह्मणों को साथ लेने और सर्वजन की बात करनी शुरू कर दी। अब कांचा इल्लैया की थीसिस बदलकर यह हो गयी कि दलितों को सभी पार्टियों में अपनी पैठ बढ़ानी चाहिए ताकि सत्ता पर उनकी दावेदारी मजबूत हो।

एक अन्य सिद्धान्तकार चन्द्रभान प्रसाद हैं जो दलित पूँजीवाद को बढ़ावा देना दलित मुक्ति का रास्ता बताते हैं, उपनिवेशवाद को आज भी दलितों का मुक्तिदाता मानते हैं और अंग्रेजी देवी की मूर्ति लगवाते हैं। वे यह नहीं बताते कि जो चन्द दलित पूँजीपति पैदा होंगे, वे अपने कारखाने में दलित मजदूरों को निचोड़ेंगे या नहीं और क्या वे लूटे गये मुनाफ़े को दलितों में बाँटकर उनकी स्थिति ठीक कर देंगे? वे और कुछ अन्य दलित चिन्तक केनेडी के 'अफर्मेटिव ऐक्शन' जैसे कदम के द्वारा निजी प्रतिष्ठानों में दलितों को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव देते हैं। अक्वलन तो यह एक खयाली पुलाव है। दूसरे इन लोगों को पता नहीं कि लिंकन की दास-मुक्ति से लेकर और केनेडी के 'अफर्मेटिव ऐक्शन' तक की एक शताब्दी और अश्वेतों के तमाम रंगभेद विरोधी आन्दोलनों के बावजूद, एक अश्वेत राष्ट्रपति, सेनाध्यक्ष, विदेश मन्त्री और कई अश्वेत स्टार खिलाड़ी-कलाकार होने के बावजूद अमेरिकी लोकतन्त्र में आज भी बहुसंख्यक अश्वेत मजदूर सबसे कठिन व कम पगार वाले काम करते हैं, नारकीय घेट्टो में रहते हैं, आबादी के अनुपात में बेरोज़गारों में उनका प्रतिशत बहुत अधिक है, अमेरिकी जेलों में बन्द लोगों में 70 प्रतिशत अश्वेत और अन्य आप्रवासी हैं और रंगभेद की अनेक बारीक अभिव्यक्तियाँ अभी भी मौजूद हैं।

ज्यादातर अन्य दलित विचारक अम्बेडकर की अन्धभक्ति करते हैं और संसद और सुधार

के दायरे के बाहर किसी रैडिकल गतिविधि तक से परहेज करते हैं। दलित-मुक्ति और जाति उन्मूलन की उनके पास कोई परियोजना नहीं है। यदि आप उनसे तर्क और विज्ञान की बात करें और आप दलित नहीं हैं (भले ही आपने जाति त्याग दी हो) तो वे आपके ऊपर 'जाति शॉविनिस्ट' का ठप्पा लगा देंगे।

दरअसल, दलित बुद्धिजीवी समुदाय के ये मुखर लोग ज़्यादातर दलित बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुसंख्यक दलित आबादी की दशा या मुक्ति के किसी संघर्ष से इन्हें कुछ नहीं लेना-देना। ये उनसे बहुत दूर आ चुके हैं। इनके भीतर, अपनी सामाजिक स्थिति और जातिगत आधार के बूते बहुसंख्यक दलित आबादी का अगुआ बनने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी खुशहाल परिवेश में रहते हुए इन्हें सवर्ण सहकर्मियों से जो सूक्ष्म अपमान, उपेक्षा या पार्थक्य झेलना पड़ता है, उससे इनके अन्दर जो आवेश पैदा होता है, वही इनकी वक्तृता और इनके लेखन में अभिव्यक्त होता है। इनकी वास्तविक भूमिका आज पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब की बन चुकी है। **मार्क्स** का यह कथन इनके ऊपर काफी हद तक लागू होता है, "शासक वर्ग शासित वर्ग की अग्रतम मेधाओं को आत्मसात करने में जितना अधिक समर्थ होता है, उसका शासन भी उतना ही अधिक स्थिर और घातक होता है।" (पूँजी, खण्ड 3, पृष्ठ 601)

आज़ाद भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और जाति प्रश्न : एक सिंहावलोकन

तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन तक की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। बाद में भाकपा से एक और संशोधनवादी भाकपा 1964 में फूटकर अलग हुई। फिर इसी क़तार में 1980 के दशक में भाकपा (मा-ले) (लिबरेशन) भी जा शामिल हुई।

संसदीय राजनीति में होने और ट्रेड यूनियन राजनीति में हावी होने के चलते साठ वर्षों से देश की जनता के सामने कम्युनिस्ट के नाम पर इन्हीं पार्टियों का चेहरा और व्यवहार रहा है। इन पार्टियों के दस्तावेज़ों और मुखपत्रों में जाति प्रश्न पर चर्चाएँ होती रही हैं, पर व्यवहार में इन्होंने दलित-उत्पीड़न विरोधी कुछ घटनाओं पर कुछ बयानबाज़ी और कुछ रस्मी विरोध-प्रदर्शनों के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। जब कोई पार्टी संसदीय राजनीति और ट्रेड यूनियन की अर्थवादी कवायदों को ही अपना एकमात्र काम बना लेती है, तो वह जनता के बीच सामाजिक मसलों पर भी जुझारू तेवर के साथ प्रचार और आन्दोलन का साहस खो देती है। जाति प्रश्न को दृढ़ता के साथ उठाकर सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने या कम्युनिस्ट प्रचार तक चलाने में ये डरती हैं कि कहीं गैर-दलित जातियाँ नाराज़ न हों। खास तौर पर इन्हें मध्य जातियों के किसानों के नाराज़ होने का भय रहता है जिनकी माँगों को गाँवों में ये प्रमुखता से उठाते हैं। साथ ही (ज़्यादातर दलित) खेत मज़दूरों के तुष्टीकरण के लिए उनकी माँगों और जाति उत्पीड़न के मुद्दों को उठाने का जुबानी जमाखर्च भी जारी रहता है, हालाँकि इनके बीच इनका पुराना जनाधार खिसक चुका है और उस पर बसपा जैसी पार्टियाँ काबिज़ हो गयी हैं। शहरों में इनका मुख्य आधार व्हाइट कॉलर (बैंक-बीमा आदि) मज़दूर और संगठित ब्लू कॉलर मज़दूर हैं जिनकी आर्थिक माँगों को लेकर इनकी रस्मी कवायदें होती रही

हैं। ऐसे मजदूरों में दलित जाति के मजदूर कम हैं। अभी भी कुछ गरीब मेहनतकश शिकार्यतें होते हुए भी इनके साथ या तो कुछ आर्थिक राहत या सुरक्षा की आस में या फिर इसीलिए लगे रहते हैं क्योंकि पीढ़ियों से लाल झण्डा उनको अपना लगता रहा है। जाति के प्रश्न पर सबसे अधिक घृणा पैदा करने वाला तो इन पार्टियों के नेताओं-कार्यकर्ताओं का जीवन होता है। अधिकांशतः ये सभी (समाज से कट जाने का तर्क देकर) धार्मिक रस्मों-रिवाज के साथ सजातीय शादियाँ करते हैं, जीवन-मरण के धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, दबे-छिपे बिरादरीवाद भी करते हैं और चुनावी उम्मीदवार तय करते समय इलाकों के जातीय समीकरण का भी खयाल करते हैं। इनके नेता समाज के अभिजन संस्तरों में व्यवस्थित होते हैं और अपने बेटे-बेटियों को व्यवस्था में बेहतर से बेहतर ढंग से सेट करने के लिए तिकड़में भिड़ते हैं। 1950 तक पार्टी जीवन के जो उसूल और परम्पराएँ थीं, धीरे-धीरे वे सब मिट्टी में मिल चुकी हैं। ये संशोधनवादी इसी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति हैं। इनका जीवन इनकी राजनीति के ही अनुरूप है, पर आम लोगों के सामने कम्युनिस्ट के रूप में ज्यादातर इन्हीं लोगों का चेहरा होता है, इसीलिए, यह सही है कि दलित जातियों के बीच कम्युनिज्म की छवि गिरी है, इनके बीच मौजूद आधार छिन्न-भिन्न हुआ है और नये-नये दलित नेता-विचारकों के कम्युनिज्म-विरोधी प्रचारों को ग्रहण करने की अनुकूल ज़मीन तैयार हुई है।

1967 के नक्सलबाड़ी किसान उभार से जिस कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म हुआ, उसने नयी आशाओं का सूत्रपात किया। इस लहर का देश के हर हिस्से तक फैलाव हुआ। गाँव के गरीबों (जिनमें दलितों की बहुतायत थी) में इसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। उत्पीड़कों को सार्वजनिक दण्ड दिये गये। भू-स्वामियों की ज़मीनें छीनी गयीं। पर 1970 में भाकपा (मा-ले) बनने तक आन्दोलन पर “वामपन्थी” दुस्साहसवाद का भटकाव हावी हो चुका था। इसने गाँव के गरीबों के जनउभार जैसी स्थिति का गला घोट दिया। आन्दोलन बिखर गया और बिखरता ही चला गया। इसका मूल कारण विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुई भारतीय समाज की प्रकृति और क्रान्ति के कार्यक्रम (मंज़िल) की ग़लत समझदारी थी। नयी सच्चाइयों को देखने-समझने की बजाय उन्हें जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में अलग-अलग तरह से फिट करने की कोशिश की जाती रही और फूट और बिखराव की प्रकृति मुख्य बनी रही। लम्बे समय के गतिरोध ने विचारधारात्मक विचलनों को भी बढ़ावा दिया। अतिवामपन्थ के बरक्स दक्षिणपन्थ की रुझानें-प्रवृत्तियाँ भी पैदा हुईं। जिन कुछ संगठनों ने 1970 के ही समय से “वामपन्थी” दुस्साहसवाद का विरोध करके क्रान्तिकारी जनदिशा अपनायी थी, वे भी भारतीय समाज की प्रकृति और कार्यक्रम की ग़लत समझ के कारण ठहराव-बिखराव के शिकार हो गये। मा-ले शिविर की एक धारा ने भारतीय समाज के पूँजीवादी विकास और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की सही समझ विकसित करते हुए एक नयी राह खोली, पर यह धारा भी अपनी अधूरी समझ, निम्न पूँजीवादी भटकावों, और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों एवं कार्यप्रणाली के अभाव के चलते बिखराव का शिकार हुई, जिससे उबरकर आगे बढ़ने की जदोजहद अभी भी जारी है। आज भी कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप दक्षिणपन्थी रुझान के साथ जनदिशा लागू कर रहे हैं, एक सशक्त धारा “वामपन्थी” दुस्साहवाद की है और कुछ समाजवादी क्रान्ति की लाइन पर पार्टी बनाने और सामाजिक प्रयोगों को आगे बढ़ाने की चुनौती से जूझ रहे हैं।

इस कठिन और खराब स्थिति के बावजूद जब जाति प्रश्न के सन्दर्भ में कम्युनिस्ट

क्रान्तिकारी आन्दोलन के भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की बात आयेगी, तो इसके कुछ सकारात्मक पक्षों को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। आन्ध्र, बिहार, बंगाल, छत्तीसगढ़ और देश के कुछ अन्य राज्यों के कुछ हिस्सों में (पंजाब की चर्चा अलग से करेंगे) जनदिशा लागू करने वाले और “वामपन्थी” लाइन लागू करने वाले – दोनों ही प्रकार के संगठनों का ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य आधार भूमिहीन गरीबों में, और उनमें भी मुख्यतः दलितों में था। भू-स्वामियों की ज़मीनें कब्जा करके गरीबों में बाँटी गयीं, लाइन की दृष्टि से यह भले ही ग़लत हो लेकिन दलितों में एक नयी चेतना लाने में और अन्य गरीबों के साथ एकता बनाने में इसका एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। न केवल उत्पीड़क भू-स्वामियों को दण्डित किया गया, बल्कि उनकी गुण्डा-सेनाओं द्वारा संगठित बर्बर नरसंहारों का भी बदला लिया गया। “वामपन्थी” आतंकवाद की लाइन होने के बावजूद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एक धारा ने छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड, महाराष्ट्र और आन्ध्र के जंगली इलाकों और बंगाल के एक क्षेत्र में आदिवासी जनजातियों को पहली बार संगठित होकर प्रतिरोध करना सिखाया। इन सबका प्रभाव यह रहा कि आज इस आन्दोलन के तमाम ठहराव-बिखराव के बावजूद जहाँ भी आन्दोलन का प्रभाव था या अभी भी है, वहाँ दलितों की स्थिति देश के अन्य हिस्सों से भिन्न है। वहाँ दलितों पर सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामियों का आतंक और दबदबा बहुत कम रह गया है। दलित वहाँ ज़्यादा स्वाभिमान से सिर उठाकर चलते हैं। अपनी तमाम सैद्धान्तिक कमज़ोरियों के बावजूद कुल मिलाकर पूरे देश में दलितों के सामाजिक उत्पीड़न को कम करने में कम्युनिस्ट आन्दोलन की (इसमें संशोधनवादी पार्टियों को न गिनें) जो भूमिका रही है, वह किसी भी दलितवादी आन्दोलन या सुधार आन्दोलन की नहीं रही है। सारे कम्युनिस्टों को पानी पी-पीकर कोसने वाले अभिजात दलित बुद्धिजीवी तो उन दक्खिन टोलों (दलित बस्तियों) और शहर की मलिन बस्तियों से बहुत दूर हो चुके हैं, जहाँ बिखरी-टूटी हालत के बावजूद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनकर्ता, चाहे वे जितने भी हों, आज भी रहकर काम करते हैं। पंजाब की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्धों के जमाने में यहाँ के कम्युनिस्टों का जाट किसानों में मुख्य आधार था, मज़दूरों और गाँव के भूमिहीनों में कम था। भूमि सम्बन्ध बदले और जाट किसानों का बड़ा हिस्सा धनी और उच्च मध्य किसान हो गया। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह जनाधार विरासत में मिला था, कार्यकर्ता भी ज़्यादातर ऐसे ही घरों से आते थे। मज़दूरों और गाँव के भूमिहीनों में नया आधार सीमित पैमाने पर ही बना। दलित आबादी, ज़्यादातर, (पूर्णतः नहीं) इस धारा से दूर रही। अब जनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वालों के लिए ज़मीन ज़ब्ती और बँटवारा तो पंजाब में वैसे भी सम्भव नहीं था। जनाधार और कैडर-लीडर कम्पोज़िशन भी इसमें दिक्कत पैदा कर सकते थे। नतीजतन, शहरों-गाँवों की दलित मज़दूर आबादी और लाखों आप्रवासी मज़दूरों में नया जनाधार विकसित करने का साहस जुटाने की बजाय, यहाँ के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक बड़े हिस्से ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र को दरकिनार करके किसानों की लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य जैसी सर्वहारा विरोधी माँगों का परचम उठा लिया और सारतः लड़ाकू किसान संगठन बनकर रह गये। शहरों-गाँवों के मज़दूरों में उनका काम हमेशा सिकुड़ा रहा। नतीजतन, दलित आबादी, जो ज़्यादातर मज़दूर और निम्न मध्य वर्ग है, उनसे दूर ही रही। लेकिन पूरे भारत के सन्दर्भ में यदि बात करें तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य आधार गाँव के गरीब, और उनमें भी, दलित थे, दलित उत्पीड़न के सवाल पर उसने जुझारू लड़ाइयाँ लड़ीं, और जहाँ कहीं भी

आन्दोलन का प्रभाव था, वहाँ के दलितों की सामाजिक स्थिति कोई आज भी जाकर देख सकता है। यह बात महज़ हम कुर्सीतोड़ बुद्धिजीवियों की तोहमतों और बुर्जुआ दलितवादी राजनीति के रहनुमाओं के कम्युनिज़्म विरोधी कुत्सा प्रचार का जवाब देने के लिए कह रहे हैं।

समस्या इस धरातल पर रही ही नहीं है। मूल समस्या इस गुथी को सुलझाने की रही है कि मार्क्सवादी वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से जाति प्रश्न को कैसे समझें, वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संगठित करने के अतिरिक्त जाति प्रश्न पर सामाजिक आन्दोलन के रूप क्या बनते हैं, उन्हें क्रान्ति के कार्यक्रम में कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये, जाति प्रश्न पर आज हमारे प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के नारे क्या होंगे, जातिगत पार्थक्य को तोड़कर मेहनतकश एकता कैसे बनायी जाये, जनता को इस प्रश्न पर आज का कार्यभार कैसे बताया जाये, जाति उन्मूलन की हमारी परियोजना क्या है और दलित, जनजाति, गरीब मुस्लिम समुदायों (“कमीन” जातियाँ) को प्रोपेगैण्डा और शिक्षा और नज़ीर द्वारा कैसे कायल किया जाये कि समाजवाद इन-इन बदलावों द्वारा, एक प्रक्रिया से गुज़रकर जाति-व्यवस्था को समाज के ताने-बाने से रेशा-रेशा करके समाप्त कर देगा। इसलिए आज की फ़ौरी कार्रवाइयों का सिलसिला भी उसी लक्ष्य की दिशा में निर्देशित होना चाहिए।

इस सिलसिले में विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुप्तों की अवस्थितियों की सामान्य-संक्षिप्त समालोचना हम कर चुके हैं। इसलिए अब हम वहाँ आ पहुँचे हैं कि जाति-उन्मूलन की परियोजना और फ़ौरी कार्यभारों की अपनी समझ आपके सामने प्रस्तुत करें।

हम भारतीय समाज को मूलतः और मुख्यतः एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश मानते हैं। यह पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी-बीसवीं सदी के यूरोप और 1917 तक के रूस से भिन्न है। अतः इस कारण से, और आज के विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली में आये बदलावों के कारण से, तथा गत सर्वहारा क्रान्तियों के समाहार के आलोक में, इस उत्तर-औपनिवेशिक समाज की साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति, अक्टूबर क्रान्ति से स्वरूप एवं राह की दृष्टि से भिन्न होगी। साथ ही, समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया भी, विगत अनुभवों के समाहार के आधार पर, किंचित भिन्न होगी। इसीलिए हम इसे नयी समाजवादी क्रान्ति कहते हैं। यहाँ हम इस क्रान्ति के कार्यक्रम के केवल उन पक्षों की चर्चा करेंगे जो जाति-उन्मूलन के प्रश्न से जुड़े हुए हैं। सुविधा की दृष्टि से पहले हम यह चर्चा करेंगे कि समाजवाद किन रास्तों से जाति के समूल नाश की दिशा में आगे बढ़ेगा। इसके बाद इस सन्दर्भ में सर्वहारा वर्ग की पार्टी के फ़ौरी कार्यभारों की चर्चा करेंगे।

जाति उन्मूलन की समाजवादी परियोजना

सर्वहारा सत्ता सभी तरह के बुर्जुआ राजकीय फार्मों, पुरानी जागीरों की विशाल खेती की ज़मीनों, शहरों के उद्योगपतियों-व्यापारियों-नौकरशाहों की भू-सम्पत्तियों, बड़े फार्मरों के फार्मों और बागानों का (बिना मुआवज़ा दिये) राजकीयकरण कर देगी, राजकीय उद्योगों की तरह उनमें लोग काम करेंगे और प्रबन्धन का काम सभी काम करने वालों की चुनी हुई कमेटियाँ पार्टी के नेतृत्व में सँभालेंगी। गाँवों के कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों की भू-सम्पत्ति बिना मुआवज़ा ज़ब्त करके उन पर सामूहिक फार्म बनाये जायेंगे। राजकीय और सामूहिक फार्मों में सभी भूमिहीन काम करेंगे और बराबरी की हैसियत से सामूहिक प्रबन्धन के काम में हिस्सा लेंगे। जो छोटे मालिक किसान अपनी खेती सामूहिक फार्मों में शामिल करने को तैयार नहीं

होंगे, उन्हें सहकारीकरण के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया जायेगा। कहीं-कहीं जो सहकारी खेती के लिए भी तैयार नहीं होंगे वे अपनी निजी खेती के लिए श्रम-शक्ति नहीं खरीद सकेंगे। श्रम-शक्ति की खरीद-फरोख्त प्रतिबन्धित होगी। निजी खेती करने वालों को बीज, पानी, बिजली, खाद आदि के मामले में सामूहिक फार्मों को प्राप्त छूटें-सुविधाएँ हासिल नहीं होंगी। धीरे-धीरे आर्थिक सुरक्षा के प्रति आश्वस्त, राजकीय और सामूहिक फार्मों के कामगारों की खुशहाली और समाजवाद के प्रति बढ़ते भरोसे के चलते निजी और सहकारी खेती वाले भी सामूहिकीकरण के लिए प्रेरित होंगे। इस प्रक्रिया की अन्तिम मंजिल सारी खेती का राजकीयकरण होगा। इस तरह भूमि के निजी स्वामित्व और दलितों की सहस्राब्दियों की भूमिहीनता को समाप्त करके समाजवाद जाति-व्यवस्था के एक प्रमुख ग्रामीण अवलम्ब को नष्ट कर देगा।

बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करते ही सर्वहारा सत्ता सभी देशी-विदेशी छोटे-बड़े उद्योगों और बैंकों को ज़ब्त करके उनका राजकीयकरण कर देगी जिसका प्रबन्धन पार्टी के नेतृत्व में मजदूरों-तकनीशियनों की चुनी हुई कमेटियाँ सँभालेंगी। कारखानों में बहुविध प्रशिक्षण के सहारे लचीला और गतिमान श्रम-विभाजन होगा, जिसमें सभी के ज़िम्मे (तकनीकी विशेषज्ञता के कामों को छोड़कर) सभी काम आयेंगे और इस तरह “ऊँच-नीच” और “स्वच्छ-अस्वच्छ” कामों का भेद मिटता चला जायेगा। मशीनीकरण और ड्रेनेज-सीवरेज ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट्स की नियोजित राजकीय व्यवस्था भी “अस्वच्छ” कामों की श्रेणी का स्वरूप बदल डालेगी। फिर बढ़ती समाजवादी चेतना भी लोगों के भीतर से इस भेद के संस्कार को खत्म करेगी, जिससे लचीले श्रम-विभाजन में काम बाँटते हुए दबाव की आवश्यकता कम पड़ेगी। और यदि थोड़े-से लोगों पर दबाव भी डालना पड़े तो यह न्यायसंगत है।

शेयर बाज़ार तत्काल बन्द हो जायेंगे। व्यापार-क्षेत्र का राजकीयकरण होने से विनिमय पर जनता की सत्ता का नियन्त्रण कायम हो जायेगा। इससे जमाखोरी-मुनाफाखोरी-दलाली तो समाप्त होगी ही, खानदानी पेशों की रूढ़ व्यवस्था टूटने से जाति प्रथा पर प्रभाव पड़ेगा। निजी सूदखोरी प्रतिबन्धित और कठोर दण्डनीय होगी। किसी भी आपत्ति में ज़रूरतमन्द को राजकीय, सामूहिक उपक्रम की प्रबन्धन कमेटी से सहायता मिलेगी।

आर्थिक भेदभाव के साथ शिक्षा संस्थान जातिगत भेदभाव के भी अहम केन्द्र हैं। समाजवादी राज्य द्वारा तुरत किये जाने वाले कामों में से यह एक है कि सभी तरह के निजी शिक्षा संस्थानों का राजकीयकरण कर दिया जाता है, कोचिंग संस्थान प्रतिबन्धित हो जाते हैं और नीचे से ऊपर तक सभी नागरिकों को निःशुल्क और समान शिक्षा समाजवादी राज्य की सर्वोपरि ज़िम्मेदारियों में से एक होती है। वैज्ञानिक शिक्षा प्रणाली में अभिरुचि और नैसर्गिक योग्यता के हिसाब से छात्रों को विशिष्ट क्षेत्रों की शिक्षा में लगाया जाता है, उनमें कई योग्यताएँ पैदा की जाती हैं, लचीला श्रम-विभाजन आगे चलकर उन्हें पेशे बदलने और कई काम कर पाने की सहूलियत देता है, और क्रमशः समान होते वेतन, समान होते जीवन-स्तर और शारीरिक-मानसिक श्रम के बीच के घटते अन्तर के कारण, पेशे से सामाजिक हैसियत को जोड़ने के संस्कार समाप्त हो जाते हैं। समाजवादी शिक्षा श्रम की संस्कृति को सर्वोच्च स्थान देने के साथ ही सभी युवाओं के सांस्कृतिक स्तरोन्नयन पर अत्यधिक बल देती है। आर्थिक स्तर की मिटती असमानता के साथ जब शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में भी अन्तर मिट जायेगा तो जातिभेद की दीवार ढहने में और अधिक आसानी हो जायेगी।

फिर स्वास्थ्य का मामला आता है। समाजवाद में प्राइवेट प्रैक्टिस, निजी चिकित्सालय, निजी मेडिकल कॉलेज पूर्णतः प्रतिबन्धित होंगे। पूरी स्वास्थ्य सेवा राज्य के नियन्त्रण में होगी। समाजवाद साम्राज्यवादी पेटेण्ट कानूनों को नहीं मानता। सभी दवाओं का उत्पादन वह देश में करेगा। पूरी स्वास्थ्य सेवा सभी नागरिकों के लिए निःशुल्क होगी। इस क्षेत्र में सोवियत संघ, समाजवादी चीन और क्यूबा तक ने जितना शानदार काम किया था, उसे पढ़कर कोई समाजवादी स्वास्थ्य नीति के बारे में सहज जान सकता है। निःशुल्क मेडिकल शिक्षा और निःशुल्क समान स्वास्थ्य सेवा से भी दलित मेहनतकशों की सामाजिक स्थिति में फर्क आयेगा।

जातिभेद को दूर करने में समाजवादी आवास-नीति की अहम भूमिका होगी। समाजवादी राज्य आवास निर्माण का पूरा काम अपने हाथ में ले लेगा। बिल्डर-ठेकेदार सामान्य कामकाज नागरिक बन जायेंगे। सर्वहारा सत्ता का पहला काम होगा, सभी बेघरों को और झुग्गी-झोपड़ीवासियों के लिए सुविधाजनक आवास मुहैया कराना। यह काम पुराने महलों, कई घरों के मालिकों के अतिरिक्त मकान ज़ब्त करके, पाँच सितारा होटलों, बारातघरों जैसे इफ़रात विलासिता के अड्डों को आवासीय कॉम्प्लेक्स बनाकर, और बड़े-बड़े घरों में रहने वालों के घरों का एक हिस्सा लेकर पूरा किया जायेगा। इसके साथ ही आवासीय कालोनियों का निर्माण बड़े पैमाने पर किया जायेगा। शुरू में, यानी समाजवादी शिक्षा प्राप्त वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, विशेषज्ञों की एक पीढ़ी तैयार होने तक, समाजवादी उत्पादन तन्त्र के संचालन के लिए इन जमातों को वेतन ही नहीं, आवासों के मामले में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। बाद में इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रारम्भिक दौर बीतते ही समाजवादी राज्य सभी आवासों को राजकीय स्वामित्व में ला देता है और हर नागरिक को सुविधा-सम्पन्न आवास की गारण्टी देता है। आवासों को समान सुविधा-युक्त बनाने के लिए, पहले की बस्तियों को पुनर्नियोजित करने के लिए और नयी कालोनियाँ बसाने के लिए, श्रम-शक्ति लामबन्द करके, उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य लगातार करना होगा। बेतरतीब बसे गाँवों को हर बुनियादी सुविधा से युक्त आधुनिक कालोनियों में ढालकर बहुत सारी फ़ाज़िल ज़मीन अन्य कामों हेतु निकाल ली जायेगी। राजकीय स्वामित्व के समान सुविधा-युक्त आवासों के (एकल परिवार के आधार पर) आबंटन से दलितों (और अन्य मजदूरों के भी) पृथग्वासन की समस्या हल हो जायेगी, जो सामाजिक पार्थक्य का एक अहम कारण है।

खेती और उद्योग के राजकीयकरण, गाँवों और शहरों के समान सुविधा-युक्त आवासों (और संचार-परिवहन-मनोरंजन सुविधा) से कृषि और उद्योग तथा गाँव और शहर के बीच के अन्तर मिटने लगेंगे। इसी प्रक्रिया में मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तर भी कम होता जायेगा। ये तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ समाजवादी समाज में बुर्जुआ विशेषाधिकारों का भौतिक आधार होती हैं। इनके मिटते जाने के साथ बुर्जुआ विशेषाधिकार भी समाप्त होते जायेंगे और परिणामतः बुर्जुआ जाति-व्यवस्था भी मरणोन्मुख होती जायेगी।

बुर्जुआ समाज में धर्म भी अपना बुर्जुआकरण करके बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का एक खम्भा बना हुआ है। समाजवादी समाज में कम्युनिस्ट पार्टी तो लगातार धर्म-विरोधी तथा वैज्ञानिक तर्कणा का प्रचार करेगी लेकिन समाजवादी राज्य नागरिक अधिकार के तौर पर हर नागरिक की निजी आस्था और पूजा-पाठ, अरदास-नमाज़ आदि के अधिकार का सम्मान करेगा। हाँ, राजनीतिक-सामाजिक जीवन में धर्म का दख़ल पूर्ण वर्जित होगा। शिलान्यासों-उद्घाटनों में धार्मिक अनुष्ठान, स्कूलों में प्रार्थना, माइक लगाकर कीर्तन, बारात

और धार्मिक जुलूस निकालकर सार्वजनिक जीवन को बाधित करना, धार्मिक स्कूल, सार्वजनिक स्थल किराये पर लेकर समागम आदि करने में सामाजिक सम्पदा की फिज़ूलखर्ची – इन सब पर पूर्ण प्रतिबन्ध होगा। जो पुराने स्थापित धर्म-स्थल हैं, उन्हें लोगों की भावनाओं का खयाल रखते हुए बने रहने दिया जायेगा, लेकिन उनका नियन्त्रण ट्रस्टों और मठाधीशों से राज्य छीन लेगा, मठों-मन्दिरों-वक्फों-गुरुद्वारों- चर्चों आदि की सारी ज़मीनें और धन-सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी। (इस अकूत धन से, देशी-विदेशी कम्पनियों और बैंकों के अधिग्रहण से, धनी घरों से खोजकर ज़ब्त किये गये सोने और काले धन से समाजवादी आद्य-पूँजी संचय का एक हिस्सा एकत्र होगा।) धार्मिक संगठन बनाना या धर्म के आधार पर किसी प्रकार की सामाजिक-राजनीतिक गोलबन्दी करना दण्डनीय अपराध होगा। किसी को अपने घर में धार्मिक रीति-रिवाज़ से शादी करने का हक़ होगा, पर राज्य शादियों को पंजीकरण के बाद ही मान्यता देगा। स्त्रियों की स्वीकृति के बिना कोई शादी मान्य नहीं होगी। तलाक की क़ानूनी प्रक्रिया भी सहज होगी। दहेज एक कठोर दण्डनीय अपराध होगा। इस तरह सामाजिक जीवन में धर्म की दख़ल कम होने से जाति उन्मूलन की प्रक्रिया तेज़ हो जायेगी।

स्त्रियों की पराधीनता परिवार के बुर्जुआ ढाँचे और अन्तःजातीय विवाहों (Intracaste marriage) का आधार है। सार्विक समान निःशुल्क शिक्षा की अनिवार्यता और सबको रोज़गार की गारण्टी के अतिरिक्त गाँवों-शहरों में बड़े पैमाने पर पालनाघरों, किंडरगार्डनों और सामूहिक भोजनशालाओं आदि का निर्माण करके घरेलू कामों की घृणित दासता से स्त्रियों को मुक्त कर दिया जायेगा। फलतः सार्वजनिक जीवन में उनकी भागीदारी बढ़ेगी। पिता (और पति) पर उनकी निर्भरता समाप्त हो जायेगी और वे अपनी ज़िन्दगी के फ़ैसले बिना किसी दबाव के ले सकेंगी। इससे प्रेम विवाहों और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) का चलन प्रधान हो जायेगा और जाति की दीवारें भरभराकर गिरने लगेंगी।

समाजवादी राज्य सभी जाति पंचायतों, खाप पंचायतों, जाति सभाओं और जाति संगठनों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर देगा और ऐसा कोई भी प्रयास कठोर दण्डनीय अपराध होगा।

समाजवादी राज्य शिक्षा व्यवस्था के अतिरिक्त सभी सांस्कृतिक माध्यमों और मीडिया के ज़रिए समाजवादी मूल्यों के साथ काफ़ी जोर देकर जाति-व्यवस्था विरोधी सतत प्रचार करेगा ताकि नये समाज के नये नागरिकों के दिलों-दिमाग़ में इन घृणित संस्कारों के लिए कोई स्थान न हो।

इस तरह समाजवाद उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन-सम्बन्धों में भी लगातार बदलाव लाते हुए और उसके साथ-साथ, पूरा जोर देकर अधिरचना के क्षेत्र में भी सतत क्रान्ति चलाते हुए मूलाधार और अधिरचना से जाति-व्यवस्था का समूल नाश कर देगा। समाजवादी संक्रमण की कम्युनिज़्म तक की यात्रा तो काफ़ी लम्बी होगी, लेकिन जाति-व्यवस्था का उन्मूलन तो समाजवादी समाज में कुछ दशकों का ही काम होगा।

हमारे फ़ौरी कार्यभार

अब तक तो हमने यह चर्चा की कि समाजवाद के दौर में जाति-उन्मूलन कैसे होगा पर इसका मतलब यह नहीं कि पहले समाजवाद के लिए लड़ा जाये, फिर जाति-व्यवस्था का नाश तो हो ही जायेगा। यदि समाजवाद के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में ही जाति प्रश्न हमारे एजेण्डे पर

नहीं होगा और हमारे कुछ फ़ौरी कार्यभार नहीं होंगे तो क्रान्ति का नेतृत्वकारी वर्ग ही जातिगत भेदभाव और बुर्जुआ जातिवादी चुनावी और सुधारवादी प्रचारकों-नेताओं के प्रचार का शिकार बना रहेगा। दलित मेहनतकश की विराट क्रान्तिकारी शक्ति सोयी रहेगी और इस या उस जातिवादी नेता के पीछे भटकती रहेगी। यही स्थिति सर्वहारा के मित्र वर्गों की भी होगी। इसलिए जाति-व्यवस्था का अन्तिम तौर पर उन्मूलन भले ही समाजवाद के दौर में ही सम्भव हो, वर्ग संघर्ष की तैयारी और प्रगति के दौरान हमें इसका प्रभाव कम करने के लिए सचेतन प्रयास भी करने होंगे (फिर वर्ग संघर्ष के उभार का अपना वस्तुगत प्रभाव भी पड़ेगा और वर्गीय लामबन्दी जातिगत लामबन्दी को पीछे धकेलने का काम करेगी)।

सबसे पहला काम तो यही है कि जाति प्रश्न के समाजवाद द्वारा समाधान के बारे में, जाति-उन्मूलन के समाजवादी कार्यक्रम के बारे में तरह-तरह से निरन्तर, सघन और व्यापक प्रचार चलाया जाये। कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमजोरियों और संशोधनवादियों के कुकर्मों के चलते (और थोड़ी हम लोगों की अस्पष्टता के चलते) मेहनतकश जनता, विशेषकर दलित मेहनतकश ठीक से जानते ही नहीं कि कम्युनिस्ट जाति-उन्मूलन की राह क्या बताते हैं। इस काम के लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी को सैकड़ों, बल्कि हज़ारों प्रखर, प्रभावी कम्युनिस्ट प्रचारकों की ज़रूरत होगी, पर्चों-पुस्तिकाओं-सांस्कृतिक कार्यक्रमों, छोटी-छोटी शिक्षा मण्डलियों की ज़रूरत होगी। खैर, अभी तो सर्व-भारतीय पार्टी बनने की मंज़िल ही दूर लगती है। इसे सतत प्रयासों से निकट लाना होगा। लेकिन कम्युनिस्ट यदि एक गुप या संगठन के रूप में भी संगठित हैं तो उन्हें इस काम को अभी से यथाशक्ति हाथ में लेना होगा।

कुछ काम ऐसे हैं जो आज भी हाथ में लिये जा सकते हैं। कुछ माँगें ऐसी हैं जिन्हें प्रोपेगैण्डा, एजिटेशन और आन्दोलन के स्तर पर आज ही उठाया जा सकता है।

एक क्रान्तिकारी संगठन के प्रभाव वाली क्रान्तिकारी यूनियनों को, छात्रों और युवाओं के संगठनों को, स्त्री संगठनों को, ग्रामीण मेहनतकश संगठनों को व सभी जन-संगठनों को अपने कार्यक्रम में जाति प्रश्न को महज रस्मी तौर पर नहीं शामिल करना चाहिए, बल्कि इस प्रश्न पर लगातार प्रचार करना चाहिए, जाति-पाँति तोड़क भोज-भात आदि आयोजन करने चाहिए, मजदूर आन्दोलनों के माँगपत्रों में दलित मजदूरों की माँगों को प्रमुखता से स्थान देना चाहिए और दलित मजदूरों (जैसे सफ़ाईकर्मियों) के आन्दोलनों में बढ़-चढ़कर शिरकत करते हुए उनके पक्ष में अन्य मजदूरों को खड़ा करने की जी-तोड़ कोशिश करनी चाहिए। ग्रामीण मजदूरों को संगठित करते हुए उनके पारस्परिक जातिगत पार्थक्य को तोड़ने के लिए हर सम्भव कोशिश करनी चाहिए। सांस्कृतिक संगठनों को अपने प्रचार कार्य में जाति विरोध को अलग से विशेष महत्व देना चाहिए। जनवादी अधिकार आन्दोलन को जाँच टीम, हस्ताक्षर अभियान, विरोध-पत्र के रस्मी बौद्धिक दायरे से बाहर निकालकर व्यापक सामाजिक आधार पर संगठित करना होगा जो जाति उत्पीड़न की घटनाओं, खाप पंचायतों आदि के साथ क़ानूनी लड़ाई के साथ ही आन्दोलनात्मक हस्तक्षेप में भी सक्षम हों।

सार्विक, समान, निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार एक दूरगामी माँग है, पर इसी नारे को केन्द्र में रखकर सभी जातियों के छात्रों-युवाओं को एकसाथ संगठित करना होगा और दलित छात्रों-युवाओं को साथ लेने पर विशेष ज़ोर देना होगा। शिक्षा संस्थानों में जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाना होगा। छात्रों-युवाओं के बीच आरक्षण के प्रश्न पर नौकरियों के आँकड़ों और साठ वर्षों के परिणामों के तथ्यों सहित अपनी अवस्थिति स्पष्ट करके रखनी

होगी। उन्हें बताना होगा कि हम पहले से मिली इस जनवादी माँग को छीनने की माँग का समर्थन नहीं करते, हम इसे लागू करने में होने वाली धाँधली का भी विरोध करते हैं, पर आज यह माँग बुर्जुआ जनवाद के प्रति विभ्रम पैदा करती है, आज इसका व्यापक ग़रीब दलित आबादी के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है, उल्टे यह न केवल सभी आम लोगों को, बल्कि दलित जातियों को भी आपस में बाँटने-लड़ाने का काम भी कर रही है।

हमें बुर्जुआ दलित राजनीति की हर किस्म और बुर्जुआ दलित विचारकों के तर्कों का तर्कसम्मत, धैर्यपूर्ण उत्तर देते हुए निरन्तर प्रचार करना चाहिए।

हमें अख़बारों में जाति आधारित वैवाहिक विज्ञापनों के प्रकाशन पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए। अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) और प्रेम विवाहों को खुलकर समर्थन देना चाहिए, हर परिवार की आधी सम्पत्ति स्त्रियों के नाम होने की क़ानूनी माँग उठानी चाहिए।

हमें जाति संगठनों, जाति सभाओं, खाप व जाति पंचायतों पर क़ानूनी प्रबन्ध और उन पर सख़्खी से अमल के लिए आन्दोलन संगठित करना चाहिए।

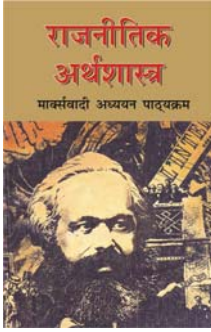
हमें सार्वजनिक धर्म समागमों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए, परम्परागत मेलों-त्यौहारों के लिए मठों-मन्दिरों पर विशेष टैक्स लगाने की माँग करनी चाहिए तथा सरकारी दफ़्तरों-स्कूलों-आयोजनों में धार्मिक कर्मकाण्डों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए।

हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो ग़लत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताक़त हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएँ करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएँ निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।

अन्त में, एक बात और बहुत महत्वपूर्ण है। बहुत सारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ऐसे हैं, जो समाज से कट जाने का तर्क देते हुए, अपने निजी-पारिवारिक जीवन में (शादी-ब्याह, जन्म-मरण, यज्ञोपवीत-उपनयन आदि-आदि) धार्मिक कर्मकाण्डों में शामिल होते हैं। ये कर्मकाण्ड जाति के दायरे में सिमटे होते हैं और भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न होते हैं। उपरोक्त तर्क के ही आधार पर बहुतेरे कम्युनिस्ट धार्मिक चिन्ह धारण करते हैं और पुराने धार्मिक नायकों की परम्परा से भी भाषणों में अपने को जोड़ते हैं। यह एक सामाजिक कायरता है और सिद्धान्तविहीन लोकरंजकता भी। उल्टे, इससे लोगों में कम्युनिस्टों के दुरंगे होने का प्रभाव जाता है। हम लोग अपने लम्बे अनुभव से बता सकते हैं कि धार्मिक कर्मकाण्डों से विनम्रतापूर्वक दूर रहने, बिना कर्मकाण्ड के शादी करने और मरने पर भी कर्मकाण्ड न करने की वसीयत छोड़ जाने के कम्युनिस्ट आचरण से समाज से कटाव नहीं होता, बल्कि कम्युनिस्टों की साख़ बढ़ती है। हम किसी पर अपनी विचारधारा नहीं थोपते, पर अपने ऊपर तो लागू कर ही सकते हैं। यह तो बुर्जुआ जनवाद भी कहता है और इस देश का संविधान भी। यह बात हम इसलिए कर रहे हैं कि धार्मिक आचरण का सवाल जाति के सवाल से जुड़ा हुआ है। यदि कम्युनिस्टों का आचरण निजी आचार-व्यवहार में भी अधार्मिक होगा तो दलितों को विश्वास होगा कि यह व्यक्ति वाकई दिल से जाति को नहीं मानता है।

जाति का प्रश्न सहस्राब्दियों पुराना प्रश्न है। इसे चुटकियों में हल करने का कोई रामबाण नुस्खा नहीं हो सकता। यह एक लम्बी, श्रमसाध्य प्रक्रिया की माँग करता है। यह सवाल पूँजीवाद के नाश के साथ जुड़ा हुआ है। आज के समय में जाति उन्मूलन की किसी परियोजना की दिशा में आगे कदम बढ़ाना एक साहसिक काम होगा। लेकिन हर कठिन काम साहसिकता की माँग तो करता ही है। आज जाति उन्मूलन स्वप्न जैसा लग सकता है, लेकिन उस स्वप्न का यदि वैज्ञानिक आधार हो तो उसे यथार्थ में बदला ही जा सकता है। ऐसा सपना तो हर सच्चे क्रान्तिकारी को देखना चाहिए।

राहुल फाउण्डेशन का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन



राजनीतिक अर्थशास्त्र, मार्क्सवादी अध्ययन पाठ्यक्रम को मूल रूप में ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से 1932-33 के दौरान पैम्फलेटों की शृंखला के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसका उद्देश्य पार्टी कार्यकर्ताओं और मजदूर अध्ययन-मण्डलों के लिए मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक सरल पाठ्यपुस्तक की बुनियादी ज़रूरत को पूरा करना था। इसकी गणना अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में राजनीतिक अर्थशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ पाठ्यपुस्तकों में की जाती रही है। ख्रिश्चोवी संशोधनवाद की लहर के हावी होने से पहले यह पुस्तक ब्रिटेन के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों की कम्युनिस्ट क़तारों के बीच काफी लोकप्रिय थी।

यह शानदार पाठ्यपुस्तक पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियादी कार्यप्रणाली का गहन-गम्भीर, और साथ ही व्यापक एवं सरल विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए पूँजीवादी शोषण के क्षुद्र रहस्य को उद्घाटित करती है, उसकी तार्किक समालोचना प्रस्तुत करती है और पूँजीवादी समाज की प्रकृति की तुलना तत्कालीन सोवियत संघ में लेनिन और स्टालिन के नेतृत्व में निर्माणाधीन समाजवाद से करती है।

यह पुस्तक जब लिखी गयी थी, तब समूची पूँजीवादी दुनिया 1930 के दशक की महामन्दी में धँसी हुई थी। आज की पूँजीवादी दुनिया विगत कई दशकों से कभी तेज़ तो कभी मन्द होती जिस दीर्घकालिक मन्दी से जूझती रही है और इसका असाध्य ढाँचागत संकट आज जिन रूपों में सामने आ रहा है, उनकी प्रक्रिया एवं प्रकृति 1930 के दशक की महामन्दी से भिन्न है। इसके बावजूद, इस पुस्तक में पूँजीवाद और इसके संकटों का जो सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह आज भी बहुत उपयोगी है। यह पूँजीवाद की गतिकी के नियमों और उसके बुनियादी अन्तरविरोधों का उत्कृष्ट सामान्य निरूपण, व्याख्या और समालोचना प्रस्तुत करती है।

पृष्ठ : 488, मूल्य : 250

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

भारत में पूँजीवादी कृषि का विकास और मौजूदा अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिकीकरण की भ्रान्ति के बौद्धिक मूल

● अभिनव सिन्हा

भूमिका

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास का प्रश्न लम्बे समय से मार्क्सवादी अकादमीशियनों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शिविर में एक विवादित विषय बना हुआ है। आज़ादी के छह दशकों बाद भी कई मार्क्सवादी अकादमीशियन (अमित भादुरी, टी. नागीरेड्डी, के. बालगोपाल, डी. वेंकटेश्वर राव, प्रधान एच. प्रसाद इत्यादि) और अधिकांश मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी पार्टियाँ/संगठन/गुप भारतीय सामाजिक संरचना को मुख्य रूप से एक अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना मानते हैं। उनके अनुसार जो कारण हमें भारतीय सामाजिक संरचना को अर्द्धसामन्ती मानने की ओर ले जाते हैं, उनमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता, काश्तकारी का प्रचलन, उत्पादक शक्तियों का पिछड़ापन, सूदखोर पूँजी की प्रधानता मुख्य हैं और यहाँ तक कि कुछ तो सामाजिक जीवन में धार्मिक और जातिगत चेतना की प्रधानता को भी अर्द्धसामन्ती थीसिस के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि, ऐसे विश्लेषण अक्सर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशेष श्रेणियों की शुद्धता की उपेक्षा करते हैं या उन्हें मनमाने तरीके से इस्तेमाल करते हैं। रूस में पूँजीवाद के विकास के अपने शानदार अध्ययन में लेनिन ने दिखाया है कि किस प्रकार उन्हीं आँकड़ों का प्रयोग रूस में कृषि में पूँजीवाद के विकास को सत्यापित करने के लिए किया जा सकता है जिनका

प्रयोग नरोदनिक यह साबित करने के लिए कर रहे थे कि रूसी कृषि में पूँजीवाद नहीं था, और यह भी कि रूसी गाँवों की किसानी अर्थव्यवस्था में काम करने वाले तथाकथित समानतामूलक नियमों व रूसी किसान आबादी के तथाकथित समरूप/अविभेदीकृत चरित्र के कारण रूस के विशिष्ट मामले में पूँजीवादी विकास की मंजिल को लाँघ सकना सम्भव है! लेनिन ने यह भी बताया कि कृषि में पूँजीवाद के विकास की जटिलताएँ कई प्रकार के विभ्रमों को जन्म दे सकती है। हमारी समझ में, भारत में अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरण मुख्य रूप से इन्हीं विभ्रमों का परिणाम है। यहाँ हम मार्क्सवादी सैद्धान्तिक ढाँचे के उन मूलभूत तत्वों की चर्चा करेंगे जिनसे यह तय किया जाता है कि कोई विशेष सामाजिक संरचना अर्द्धसामन्ती है या पूँजीवादी। उसके बाद हम ग्रामीण भारत में उत्पादन के सम्बन्धों और अधिशेष विनियोजन की पद्धतियों से जुड़े आर्थिक प्रमाणों पर एक संक्षिप्त विवरण देंगे, जिसमें आदिम पूँजी संचय और भूमि सुधार, एक घरेलू बाज़ार और खेतिहर उजरती मजदूरों के वर्ग का निर्माण, काश्तकारी का प्रश्न, सूदखोर पूँजी की भूमिका और ग्रामीण ऋण की संरचना, भूमि लगान का चरित्र, भूमि सम्पत्ति का उद्भव और चरित्र, दास/बंधुआ/अस्वतन्त्र श्रम का प्रश्न और बाज़ार/उपभोग के लिए उत्पादन का प्रश्न शामिल होंगे।

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क तथा मौजूदा अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरणों के नव-नरोदनिक-सिस्मोन्दीय स्रोत

आदिम संचय और इसके नतीजों का प्रश्न

पूँजी, खण्ड-3 में मार्क्स कृषि में पूँजीवादी विकास और पूँजीवादी भूमि लगान के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं। हमें वही से शुरू करना चाहिए और इसके बाद इस विषय पर कारुत्स्की और लेनिन के मतों पर आना चाहिए। मार्क्स तर्क करते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्ध और अधिशेष विनियोजन की पद्धतियाँ उत्पादन पद्धति को निर्धारित करती हैं। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का सार सामन्ती लगान में अभिव्यक्त होता है। सामन्ती लगान श्रम, वस्तु तथा मुद्रा तीनों रूपों में विद्यमान हो सकता है। मुद्रा लगान सामन्ती उत्पादन पद्धति के ढलान के दौर में अस्तित्व में आया क्योंकि मुद्रा परिचलन के एक विचारणीय स्तर तक विकसित होने और बाज़ार तन्त्र के साथ ही यह अस्तित्व में आ सकता था। मुद्रा लगान ने किसानों को काफी स्वायत्तता प्रदान की क्योंकि अब वे उत्पादन और बिक्री योग्य अधिशेष बढ़ाकर पूँजी संचय कर सकते थे। फिर भी, मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि किसी भी रूप में लगान (मुद्रा लगान भी) सामन्ती लगान ही रहता है जब तक कि **भूस्वामी-भूदास सम्बन्ध** विद्यमान रहते हैं; जबतक कृषि श्रम अमुक्त हो; *सामन्ती जमीन्दार* मुद्रा, वस्तु या श्रम के रूप में लगान वसूल करे; किसान उत्पादन-सम्बन्धित निर्णयों को लेने के लिए आज़ाद न हो; भूदास/काश्तकार/किसान उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हुए हों; सामन्ती जमीन्दार विधायिका, कार्यकारिणी और न्यायपालिका की शक्तियों के साथ वस्तुतः एक खण्डित राज्य की तरह कार्य करता हो; किसान का आर्थिकेतर उत्पीड़न मौजूद हो; और उत्पादन मुख्यतः किसान के परिवार के उपभोग के लिए किया जाता हो और अधिशेष को बदले में कुछ लिए बिना ही जमीन्दार के हवाले कर दिया जाता हो। मार्क्स आगे बताते हैं कि पूँजीवादी कृषि के विकास का मुख्य पैमाना **कृषि सर्वहारा का निर्माण** है। देहाती उजरती मजदूरों का यह वर्ग **आदिम-संचय** की

प्रक्रिया द्वारा निर्मित होता है, जो कि साथ ही साथ पूँजी के लिए घरेलू बाज़ार का भी निर्माण करता है। घरेलू बाज़ार का निर्माण इसीलिए होता है क्योंकि श्रम स्वयं एक माल बन जाता है, सामन्तवाद के अन्तर्गत किसानों के उपभोग के संसाधन अब विक्रय के लिए उपलब्ध होते हैं, उत्पादन के साधनों का उत्पादक से अलगाव हो चुका होता है और इसलिए उन्हें अब खरीदा और बेचा जाना होता है, और अब उत्पादन मुनाफ़े और बाज़ार के लिए किया जाता है। मार्क्स आदिम संचय की प्रक्रिया को विस्तार से समझाते हैं और यह दिखाते हैं कि किस प्रकार 13वीं और 16वीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड में माटायर्स (अर्द्धकिसान) और सामान्य माल उत्पादकों के मध्यवर्ती संस्तर से होकर सामन्ती ज़मीन्दार, भू-दास और सामन्ती काशतकार के वर्ग संकुल (class complex) से पूँजीवादी लगानजीवी जमीन्दार, पूँजीवादी किसान जमीन्दार, पूँजीवादी काशतकार किसान और खेतिहर उजरती मजदूरों के वर्ग संकुल में संक्रमण हुआ। हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण इस प्रक्रिया की बारीकियों में नहीं जा सकते और पाठक इसके एक विस्तृत और चित्रात्मक वर्णन के लिए पूँजी, खण्ड-3 देख सकते हैं।

पूँजीवादी भूमि लगान का प्रश्न तथा इस प्रश्न पर कि नव-उदारवादी व मौजूदा अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकारों में क्या साझा है?

इसके बाद, मार्क्स पूँजीवादी भूमि लगान के रूपों पर चर्चा की ओर बढ़ते हैं। मार्क्स भूमि लगान की एडम स्मिथ द्वारा दी गयी परिभाषा को स्वीकार करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि भूमि लगान की रिकार्डों की संकल्पना असल में अतिरिक्त-मुनाफ़ा है जो विभिन्न फार्मों में उत्पादन की अलग-अलग स्थितियों की मौजूदगी के कारण अस्तित्व में आता है और ठीक इसी वजह से “लगान” का यह रूप उद्योगों में भी हो सकता है। मार्क्स स्मिथ की संकल्पना को **निरपेक्ष भूमि लगान** कहते हैं और रिकार्डों की संकल्पना को **विभेदक भूमि लगान** कहते हैं। विभेदक भूमि लगान वास्तव में उन किसानों का अतिरिक्त मुनाफ़ा है जिनकी उत्पादन की लागत औसत लागत से कम और जिनकी मुनाफ़े की दर उस सेक्टर में प्रचलित औसत मुनाफ़े की दर से अधिक है। उद्योगों से अलग (जहाँ उत्पादन की औसत किस्म की परिस्थितियाँ मुनाफ़े की औसत दर को निर्धारित करती है), कृषि में निम्नतम कोटि की ज़मीन उत्पादन की औसत दर को निर्धारित करती है। अतः, इस निम्नतम कोटि की भूमि से बेहतर भूमि वाले सभी फार्मों पर अतिरिक्त मुनाफ़ा प्राप्त होगा क्योंकि सामान्य बाज़ार मूल्य निम्नतम कोटि की ज़मीन से तय होंगे। रिकार्डों यह तर्क पेश करते हैं कि लगान का एकमात्र रूप यह अतिरिक्त मुनाफ़ा ही है, जिसे वह लगान कहते हैं। अतः रिकार्डों के अनुसार, निम्नतम कोटि की ज़मीन से कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा/विभेदक लगान नहीं उत्पादित होगा और इसलिए यह ज़मीन कभी भी जुताई के अन्तर्गत नहीं आएगी क्योंकि कोई भी पूँजीवादी भूस्वामी मुफ्त में अपनी ज़मीन नहीं देगा। वह ऐसा केवल लगान के बदले में ही करेगा। स्मिथ, रिचर्ड जोन्स और बाद में मार्क्स यह प्रदर्शित करते हैं कि निम्नतम कोटि की ज़मीन भी खेती के काम लायी जाती है और वह लगान भी उत्पादित करती है। यह लगान वास्तव में **निरपेक्ष भूमि लगान** है और पूँजीवाद के तहत ज़मीन के निजी मालिकाने में विद्यमान एकाधिकार के कारण अस्तित्व में आता है। यह भूमि लगान तब भी मौजूद रहता है जब भूस्वामी द्वारा भूमि की गुणवत्ता में

सुधार के लिए कोई पूँजी निवेश नहीं किया जाता, जब कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा नहीं होता और जब कोई उत्पादन/खेती नहीं होता (और भूमि का उपयोग लकड़ी, टिम्बर, जल प्रपात आदि प्राकृतिक सम्पदाओं के दोहन के लिए किया जाता है)। मार्क्स यह प्रदर्शित करते हैं कि रिकार्डों इस संकल्पना को समझने में असफल रहते हैं क्योंकि वे **मूल्य और दाम के बीच के अन्तर और अतिरिक्त मूल्य और मुनाफ़े के बीच के अन्तर** को नहीं समझ पाते। उन्होंने सोचा कि अगर किसी माल के बाज़ार मूल्य में उसकी उत्पादन लागत से अधिक कुछ भी और शामिल है ख़िस्तर पूँजी+परिवर्तनशील पूँजी+औसत मुनाफ़ा (इक्वलाइज़्ड बेशी मूल्य), तो मूल्य का श्रम सिद्धान्त का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। लेकिन मार्क्स ने यह दिखलाया है कि रिकार्डों की यह भयाकुलता इस ग़लत आधार धारणा पर आधारित है कि - दाम मूल्य है! उन्होंने यह दिखलाया कि माल की बाज़ार कीमत उसकी उत्पादन कीमत से उस स्तर तक ज़रूर ऊपर उठनी चाहिए कि वह भूस्वामी को लगान (निरपेक्ष) उपलब्ध करा सके। अतः मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रकार्य बाज़ार तन्त्र की मध्यस्थता के ज़रिये क्रियान्वित होता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त ने काम करना बन्द कर दिया है। यह सिर्फ़ प्रदर्शित करता है कि अलग-अलग सेक्टरों में, मुनाफ़ा अधिक, कम या (दुर्लभ स्थितियों में) अतिरिक्त मूल्य के बराबर हो सकता है, लेकिन कुल मुनाफ़ा हमेशा कुल अतिरिक्त मूल्य के बराबर ही रहेगा। काऊत्स्की कृषि में पूँजीवाद के अपने शानदार अध्ययन में इसे स्पष्ट रूप से समझाते हैं। वह बताते हैं, “मालों का मूल्य केवल एक प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होता है, एक नियमबद्ध गति के रूप में जो विनिमय या बिक्री की प्रक्रिया को विनियमित करने की ओर उन्मुख हो। इस प्रक्रिया का उत्पाद वास्तविक विनिमय-अनुपात या बाज़ार में प्राप्त होने वाला दाम होता है। स्वाभाविक रूप से, कोई नियम और उसके परिणाम दो अलग-अलग चीज़ें हैं।” (‘द कैपिटलिस्ट कैरेक्टर ऑफ़ माडर्न एग्रीकल्चर’, द एग्रेरियन क्वेश्चन, काऊत्स्की, उत्सा पटनायक (संपादित) ‘द एग्रेरियन क्वेश्चन इन मार्क्स एण्ड हिस् सक्सेसर्स’, खण्ड-1, पेज 188, *अनुवाद हमारा*)। एक अन्य जगह, “परिणामतः, “उत्पादन की लागतों” द्वारा निर्धारित उत्पादन की कीमतें उत्पादों के मूल्यों से भिन्न हो जाती हैं है: हालाँकि यह केवल मूल्य के नियम का एक संशोधन है, उसका निष्प्रभावन नहीं। उत्पादन की कीमत के पीछे यह अपना विनियमनकारी प्रकार्य जारी रखता है और मालों की सम्पूर्णता व अधिशेष-मूल्य के कुल योग लिए यह अपनी सम्पूर्ण वैधता कायम रखता है, और इस प्रकार वह कीमतों और मुनाफ़े की दर के लिए आधार उपलब्ध कराता रहता है - जो इसकी अनुपस्थिति में हवा में तैरते रह जाएंगे।” (पेज 202-03, वही)। अतः यह स्पष्ट है कि निरपेक्ष लगान के कारण उत्पादन कीमतों में वृद्धि मूल्य के श्रम सिद्धान्त की सेहत और तन्दुरुस्ती को रत्ती भर हानि नहीं पहुँचाती है और रिकार्डों बिना किसी ठोस कारण के विचलित हो गए और निरपेक्ष लगान के अस्तित्व को ख़ारिज कर दिया। रिकार्डों का विभेदक लगान केवल उसी सूरत में अस्तित्वमान हो सकता है जब मालिक और उत्पादक दो अलग-अलग व्यक्ति हों क्योंकि केवल तभी निरपेक्ष लगान के साथ अतिरिक्त मुनाफ़ा भूस्वामी को हस्तान्तरित किया जाएगा। जैसा कि काऊत्स्की प्रदर्शित करते हैं, भूस्वामी को लगान हस्तान्तरित किए जाने के बाद निरपेक्ष और विभेदक लगान में भेद करना बेहद मुश्किल है। ‘रूस में पूँजीवादी विकास’ में लेनिन भी निरपेक्ष लगान और विभेदक लगान के सवाल को काफी महत्व देते हैं। वह पूँजीवादी लगान (निरपेक्ष और विभेदक लगान) और सामन्ती लगान

के बीच अन्तर को समझाते हैं। काऊत्स्की भी इस अन्तर को काफी स्पष्ट रूप से दिखाते हैं, “पूँजीवादी भूमि लगान को सामन्ती कुलीन-तन्त्र द्वारा किसानों पर लादे गए बोझों के साथ घालमेल नहीं करना चाहिए। शुरूआती दौर में, और कमोबेश पूरे मध्यकाल में, ये वे महत्वपूर्ण प्रकार्य थे जो मालिक को पूरे करने पड़ते थे—वे प्रकार्य जो कि बाद में राज्य द्वारा अपने हाथों में ले लिये गये और जिनके लिए किसानों को कर अदा करने होते थे। सामन्ती भूस्वामियों के वर्ग को न्याय व्यवस्था की निगरानी करनी होती थी, पुलिस उपलब्ध करानी होती थी और बाह्यजगत के समक्ष अपने मातहत जागीरदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करना पड़ता था, हथियारों की ताबेदारी के द्वारा उनकी रक्षा करनी पड़ती थी और उनकी ओर से सैनिक सेवा पूरी करनी पड़ती थी।

“इनमें से कोई भी चिन्ता या सरोकार पूँजीवादी समाज के भूस्वामी के लिए प्रासंगिक नहीं है। विभेदक लगान के रूप में, भूमि लगान प्रतिस्पर्धा का उत्पाद है; निरपेक्ष लगान के रूप में यह एकाधिकार का उत्पाद है। यह तथ्य कि ये लगान भूस्वामी को प्राप्त होते हैं, उसके किन्हीं सामाजिक प्रकार्यों के कारण नहीं बल्कि केवल और केवल भूमि और ज़मीन में निजी सम्पत्ति का परिणाम होते हैं।” (पेज 216, वही)

उत्सा पटनायक ने उचित ही इंगित किया है कि अर्द्धसामन्ती थीसिस के पुरोधाओं के ग़लत विचार इस कारण से हैं कि वे निरपेक्ष भूमि लगान की अवधारणा को नहीं समझते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि अपनी इस मिथ्याधारणा को वे नव-उदारवादी अर्थशास्त्रियों के साथ साझा करते हैं! नव-उदारवादी सैद्धान्तिकीकरणों में, काश्तकार किसान मुद्रा में उज़रत पाने वाले मज़दूर के समतुल्य समझा जाता है, बस इतने फर्क के साथ कि काश्तकार किसान की उज़रत मुद्रा में नहीं बल्कि वस्तु (जिंस) के रूप में होती है। वे इस तथ्य की पूरी तरह उपेक्षा कर देते हैं कि एक काश्तकार अपने उत्पादन के साधनों का मालिक होता है, वह पूँजी निवेश करता है, श्रम प्रक्रिया को नियंत्रित करता है और उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेता है। इसका कारण यह है कि नव-उदारवादी अर्थशास्त्री निरपेक्ष भूमि लगान से अपरिचित, बल्कि कहना चाहिए कि अनभिज्ञ होते हैं। पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी (capitalist rentier landlord-सी.आर.एल.एल.) को पूँजीवादी किसान को कह दिया जाता है; काश्तकार को मज़दूर (उज़रती मज़दूर) कह दिया जाता है; और लगान को मुनाफे के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता है; बटाईदार काश्तकार के हिस्से को मनमाने तरीके से उज़रत (चाहे नकद में या वस्तु के रूप में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता!) कह दिया जाता है; और यह सारा गडबड़झाला इसलिए होता है कि नव-उदारवादी अर्थशास्त्री केवल पूँजीवादी किसान भूस्वामी और उज़रती मज़दूर के सम्बन्धों को ही जानते हैं, वे केवल मुनाफे की अवधारणा को ही समझते हैं, लगान को नहीं। अब हम इसकी तुलना भारत में प्रचलित अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरणों की भ्रान्ति से कर सकते हैं।

अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार इस काश्तकार को एक ऐसा ‘लगभग मज़दूर’ कहते हैं जो दरिद्र है, कंगाल है, जिसका उत्पादन निर्णयों और श्रम प्रक्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं है; इसलिए वह “सामन्ती” ज़मींदारों और सूदखोरों के जुए तले दबा हुआ है और इसलिए “अस्वतन्त्र” है। जैसा कि हम देख सकते हैं, वे भी निरपेक्ष लगान की अवधारणा को नहीं समझते और पूँजीवादी काश्तकार को अस्वतन्त्र, ग़ैर-पूँजीवादी मज़दूर या लगभग मज़दूर, करीब-करीब एक भूदास/बँधुआ मज़दूर समझने की ग़लती करते हैं। वे पूँजीवाद के अन्तर्गत

कृषि उत्पादन में सूदखोर पूँजी की भूमिका को भी नहीं समझते हैं। इस पर हम बाद में आएँगे। उनके लिए यह काशतकार एक अस्वतन्त्र, कंगाल श्रमिक है, न कि एक पूँजीवादी काशतकार किसान जो कि उत्पादन के साधनों का स्वामी है। भूस्वामी केवल पूँजी लगाता है और साझेदार काशतकार केवल श्रम! यह कंगाल बटाईदार केवल वस्तु के रूप में मजदूरी प्राप्त करता है और ज़मींदार लगान (रिकार्डो वाला!)। लेकिन अगर हम नज़दीकी से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे ये सिद्धान्तकार “मजदूरी” कहते हैं वह असल में पूँजीवादी काशतकार किसान का मुनाफा है; जिसे वे “लगान” कहते हैं वह वास्तव में भूस्वामी द्वारा दी गयी पूँजी पर ब्याज के रूप में मिलने वाला मुनाफा है। उदाहरण के लिए, **अमित भादुरी** की भारतीय बटाईदार काशतकार (sharecropper) के विषय में अवधारणा यह है कि यह बटाईदार काशतकार वह है जिसके पास बहुत थोड़े उत्पादन के साधन हों या फिर बिल्कुल न हों, कोई बचत न हो, उत्तरजीविता के कोई साधन न हों, अतः वह ज़मींदार से “उपभोक्ता ऋण” लेता हो। लेकिन वास्तविकता में यह “उपभोक्ता कर्ज” और कुछ नहीं बल्कि पहले से दी गयी अग्रिम मजदूरी है जो उपज में से ब्याज सहित वसूल ली जाती है। प्रत्यक्षतः जिसे भादुरी “लगान” कहते हैं वह असल में पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा उजरती मजदूर को दी गयी अग्रिम पूँजी पर होने वाला मुनाफा है। जिसे भादुरी “काशतकार” कहते हैं वह असल में मजदूर है, जिसे वह “लगान” कहते हैं वह प्राप्त होने वाला मुनाफा है; जिसे वह “उपभोक्ता ऋण” कहते हैं वह असल में अग्रिम मजदूरी है जो बाद में उपज के हिस्से के रूप में मजदूरी (harvest share wage) में से ब्याज सहित समायोजित कर ली जाती है।

भारत की ठोस सच्चाई इस प्रकार है (जिसे हम बाद में तथ्यों द्वारा भी सत्यापित करेंगे): निरपेक्ष भूमि लगान पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा ले लिया जाता है, चाहे वह काशतकार को अग्रिम पूँजी को ऋण के रूप में देता हो या न देता हो। ज़मीन और उत्पादन में किए जाने वाले किसी भी पूँजी निवेश के बदले में वह जो ले सकता है वह और कुछ नहीं बल्कि पूँजीवादी काशतकार किसान को दिए गए अग्रिम कर्ज पर ब्याज है। काशतकार किसान उजरती मजदूर नहीं है। वह अधिशेष का उत्पादन अपने स्वयं के उत्पादन के साधनों, अपने परिवार व भाड़े के श्रम और पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा पट्टे पर दी गयी ज़मीन पर अपने खुद के निवेश द्वारा करता है और इस ज़मीन के बदले वह लगान अदा करता है जो कि अधिशेष का ही एक हिस्सा होता है जिसे वह उत्पादन लागत के ऊपर पैदा करता है जिसमें कि उसके जीवन-निर्वाह की लागत भी शामिल होती है।

अब, उत्पादन की परिस्थितियों के अनुसार पूँजीवादी कृषि पर पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी या पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी (Capitalist Farmer Landlord- सी.एफ.एल.एल.) का अधिक प्रभाव हो सकता है। जब तकनीकी विकास और भूमि में सुधार के द्वारा लगान इतना बढ़ जाए कि पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी के पास निवेश के लिए पर्याप्त पूँजी हो तो पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी खुद पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी में परिवर्तित हो सकता है। लेकिन, यह परिवर्तन किसी भी तरह से अनुत्क्रमणीय (irreversible) नहीं है और अनेक प्रकार के कारणों से पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी वापस अपने आप को पुनः पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी में बदल सकता है। उत्सा पटनायक ने इस रूपान्तरण की अस्थिरता को दर्शाया है। वह तर्क देती हैं कि हरित क्रान्ति के दौरान, लगान अवरोध (तमदज इंततपमत) का अतिक्रमण हो गया था और कई लगानजीवी भूस्वामी खेती की ओर मुड़ गए थे। आज

परिस्थिति भिन्न है। भूमण्डलीकरण के दौर में आज हम कृषि में एक पूँजीवादी संकट से गुजर रहे हैं (जिसे अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकार अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों के लिए एक साक्ष्य के रूप में लेते हैं, जबकि हकीकत में, जैसा कि मार्क्स, काऊत्स्की और लेनिन पहले ही दिखला चुके हैं, यह कृषि में पूँजीवादी विकास का प्रमाण होता है, पूँजीवादी संकट के सार्वभौमिक प्रक्रिया का कृषि क्षण होता है)। इस समय तो हम फिर से लगानजीविता की ओर वापसी और निवेश के अन्य क्षेत्रों जैसे रियल एस्टेट, सूदखोरी और सट्टेबाज़ वित्तीय पूँजी की ओर झुकाव के प्रत्यक्षदर्शी बन रहे हैं। इस दौर में काश्तकारी का प्रश्न महत्वपूर्ण बन जाता है, इसलिए अब हम काश्तकारी के सवाल पर आत हैं।

काश्तकारी का प्रश्न

सबसे पहले तो यह समझना ज़रूरी है कि कृषि अर्थव्यवस्था में काश्तकारी की प्रधानता का अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों से कुछ भी लेना-देना नहीं है, जैसा कि अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार दावा करते हैं। काऊत्स्की अपनी रचनाओं में 19वीं शताब्दी के अन्त के इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और उत्तरी अटलाण्टिक संघ के उदाहरणों से प्रचुर मात्रा में साक्ष्य देते हुए दर्शाते हैं कि पूँजीवादी कृषि के विकास के साथ काश्तकारी प्रथा अधिकाधिक प्रचलित होती जाती है। वह दर्शाते हैं कि पूँजीवादी कृषि में स्वत्वधारी खेत (स्वामी किसानों के खेत) और साथ ही साथ काश्तकार किसानों के भी खेत होते हैं। काश्तकार किसान पट्टे पर लिए गए खेत पर अपने परिवार और भाड़े के मज़दूरों के साथ अधिशेष का उत्पादन करते हैं। इस अधिशेष का एक हिस्सा भूस्वामी को लगान के रूप में, एक हिस्सा सूदखोर/ऋणदाता को ब्याज़ के रूप में जाता है और शेष वह अपने मुनाफे के रूप में रख लेता है; स्वत्वधारी किसान यदि कोई ऋण है, तो उस पर ब्याज़ के भुगतान के बाद अपना मुनाफा प्राप्त करता है और पूँजीवादी भूस्वामी अपना लगान प्राप्त करता है। हालाँकि काऊत्स्की इंगित करते हैं कि स्वत्वधारी किसान के स्वामित्व के अधिकार पूँजीवादी कृषि के विकास के साथ केवल एक औपचारिक न्यायिक-वैधिक तथ्य बनकर रह जाते हैं। स्वत्वधारी किसान को बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए अधिकाधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। वह इसे अपनी सम्पत्ति पर रेहन ऋण (mortgage loan) के रूप में प्राप्त करता है। इस ऋण के बदले में उसे रेहन ऋणदाता (mortgage creditor) को अपना भूमि लगान हस्तान्तरित करना पड़ता है और यह रेहन ऋणदाता एक राजकीय संस्था या फिर एक गैर-संस्थागत ऋणदाता जैसे सूदखोर हो सकता है। वास्तविकता में, यह उत्पादक का ज़मीन से अलगाव होना है। काऊत्स्की इसे इस प्रकार समझाते हैं, “भूस्वामी और उद्यमी के बीच विभाजन अब भी मौजूद होता है, यद्यपि विशेष न्यायिक-वैधिक रूपों के पीछे छिपे हुए रूप में। पट्टेदारी प्रथा के अन्तर्गत भूमि-स्वामी को प्राप्त होने वाला भूमि लगान रेहनदारी प्रथा के अन्तर्गत रेहन ऋणदाता के पास पहुँचता है। परिणामतः भूमि लगान के मालिक के रूप में, वह (रेहन ऋणदाता) परिणामतः ज़मीन का असली मालिक होता है। इसके उलट, ज़मीन का नाममात्र का मालिक पूँजीवादी उद्यमी है जो उद्यम पर मुनाफ़ा और भूमि लगान प्राप्त करता है और फिर रेहन ऋणदाता को रेहन ऋण पर ब्याज़ के रूप में भुगतान करता है...पट्टेदारी प्रथा और रेहनदारी प्रथा में अन्तर यह होता है कि रेहनदारी प्रथा में ज़मीन के वास्तविक मालिक को पूँजीपति कहा जाता है और वास्तविक पूँजीवादी उद्यमी को एक भूस्वामी। इसी भ्रम की

कृपा से हमारे फार्मर (यहाँ कोई भारत में अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों/नव-नरोदनिकों को पढ़ सकता है--लेखक), जो कि वास्तव में स्वयं पूँजीवादी कार्यकलापों को अंजाम देते हैं, "चलायमान पूँजी" अर्थात् रेहन ऋणदाता के द्वारा किये जाने वाले शोषण पर काफी गुस्से में आ जाते हैं, जो वास्तव में वहीं आर्थिक भूमिका निभाता है जो पट्टेदारी प्रथा के तहत भूस्वामी निभाता है।" (पेज 225, वही)। वह तर्क देते हैं कि इस प्रक्रिया से सम्पत्तिधारी सर्वहारा में नहीं, बल्कि एक काशतकार किसान में रूपान्तरित हो जाते हैं। काऊत्स्की आगे स्पष्ट करते हैं, "फिर भी, कृषि में प्रगति और समृद्धि अपने आपको अपरिहार्य रूप से रेहन ऋणग्रस्तता की बढ़ोत्तरी के रूप में अभिव्यक्त करती है, पहले तो इस वजह से कि ऐसी वृद्धि पूँजी की बढ़ती आवश्यकता को जन्म देती है और दूसरा इस वजह से कि कृषि ऋण का विस्तार भूमि-लगान को बढ़ने देता है।" (पृष्ठ 226, वही) ऐसा पूँजीवादी रूपान्तरण को अक्सर ग़लती से खेती की तबाही के रूप में देखा जाता है और कुछ लोगों को "किसानों को बचाओ" के आह्वान तक लेता जाता है। लेनिन इस भ्रम को साफ़-साफ़ खण्डित करते हैं और काऊत्स्की को उद्धृत करते हैं, "किसानों के संरक्षण (*der Bauernschutz*) का अर्थ व्यक्ति किसान (the person of peasant) का संरक्षण नहीं होता (अवश्य ही कोई भी इसका विरोध नहीं करेगा), बल्कि किसानों की सम्पत्ति का संरक्षण होता है। वैसे वास्तव में यह ठीक किसान की सम्पत्ति ही है जो उसके दरिद्रीकरण और उसके दुर्दशा का मुख्य कारण होती है। भाड़े के खेतियार मज़दूर अब अक्सर ही छोटे किसानों की तुलना में बेहतर स्थिति में होते हैं। किसानों की सुरक्षा गरीबी से सुरक्षा नहीं है बल्कि उन बेड़ियों की सुरक्षा है जो उसको गरीबी में जकड़े हुए हैं।" (लेनिन, रिव्यू ऑफ़ काऊत्स्कीज़ डी अग्रारफ़्रगे, पेज 226, वही)। और "इस प्रक्रिया को रोकने के प्रयास प्रतिक्रियावादी और नुकसानदेह होंगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वर्तमान समाज में इस प्रक्रिया के परिणाम कितने कष्टदायक होते हैं, इस प्रक्रिया को रोकने के परिणाम और भी बदतर होंगे और मेहनतकश आबादी को और भी दयनीय और निराशाजनक स्थिति में पहुँचा देंगे।" (पेज 267, वही)

माओ का अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सामाजिक संरचना का सिद्धान्त और वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों द्वारा इसका त्रासद विनियोजन

स्पष्टतः, पर्याप्त मात्रा में काशतकारी अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों की सूचक नहीं है। माओ ने साफ़-साफ़ परिभाषित किया है कि अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों से उनका क्या तात्पर्य है। माओ दलील देते हैं कि क्रान्ति-पूर्व चीन में अधिकांश भूमि ज़मींदारों, कुलीन वर्ग और सम्राट के मालिकाने में थी; किसानों को दासों के रूप में काम करने के लिए बाध्य किया जाता था; प्राकृतिक आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था के आधारों को नष्ट किया जा रहा था लेकिन सामन्ती ज़मींदारों द्वारा किसान आबादी का आर्थिकेतर शोषण जिस का तस बरकरार रखा गया था और यह दलाल पूँजीपति वर्ग और सूदखोर पूँजी से जुड़ गया था। (माओ, संकलित रचनाएं, खण्ड 2, 1976, पृष्ठ सं. 312-13) माओ के लिए अर्द्ध-सामन्तवाद एक पृथक उत्पादन पद्धति नहीं बल्कि साररूप में यह पूँजीवाद की ओर संक्रमणशील अवस्था या रूप में सामन्तवाद है, लेकिन एक ऐसा संक्रमण जो सामन्ती ज़मींदारों, दलाल बुर्जुआ और साम्राज्यवाद द्वारा अवरुद्ध

कर दिया गया था, और इसी कारण यह संक्रमण नव-जनवादी क्रान्ति के बिना पूरा नहीं हो सकता था। यहाँ वह चीज जो सबसे मूलभूत महत्व की है वह है लगान का सामन्ती चरित्र, अस्वतन्त्र दास श्रम, सामन्ती वर्ग की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों के रूप में विखण्डित राज्य की मौजूदगी, दलाल बुर्जुआ और साम्राज्यवाद का प्रभुत्व। स्पष्टतः अर्द्ध सामन्ती सम्बन्ध मार्क्सवादी सिद्धान्त और राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशेष श्रेणियाँ हैं और इन्हें भारतीय वास्तविकता पर आज के अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकारों की सनक व कल्पनाओं के अनुसार लादा नहीं जा सकता। क्या हम कह सकते हैं कि भारत में भूस्वामी-भूदास सम्बन्ध कृषि सम्बन्धों का प्रभावी रूप है? तथाकथित बंधुआ श्रम ग्रामीण श्रम शक्ति का एक प्रतिशत भी नहीं है। अन्यत्रवासी ज़मींदारी भाड़े के श्रम से स्वयं कृषि उत्पादन (self-cultivation) द्वारा, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, विस्थापित हो रही है। और अगर ऐसा विस्थापन न हो रहा होता तो भी इसे अनिवार्य रूप से सामन्तवाद के एक प्रमाण के रूप में नहीं लिया जा सकता।

सांख्यिकीय तथ्यों के आड़ने में वास्तविकता

काश्तकार खेती के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्रफल भारत में 1951-52 में 12 प्रतिशत से गिरकर 1991-92 में 8.28 प्रतिशत पर आ गया है। अपंजीकृत काश्तकारी भी अपनी ढलान पर है। बटाईदारी वाली खेती काश्तकारी का प्रमुख रूप है। उत्तर और पूर्वी भारत के 334 गाँवों के अपने नमूना सर्वेक्षण में बर्धन ने दिखाया है कि बटाईदार खेती अधिकांशतः 50:50 के आधार पर की जाती है (पी. बर्धन, 'टर्म्स एण्ड कण्डीशंस ऑफ शेरक्रॉपिंग कॉन्ट्रैक्ट्स', जर्नल ऑफ डेवेलपमेण्ट स्टडीज़, खण्ड-16, 1977)। यह एक बहुत बड़ी भ्रामक सोच है कि बटाईदार खेती वाली काश्तकारी अर्द्ध-सामन्तवाद का एक प्रमाण है। बटाईदारी खेती वाली काश्तकारी के अन्तर्गत भूस्वामी कृषि के सुधार में रुचि दिखाता है। अन्यत्रवासी भूस्वामी से भिन्न, नया भूस्वामी अक्सर कृषि में पूँजी का निवेश बीज, खाद, मशीन आदि के लिए करता है। वह केवल ज़मीन का मालिक ही नहीं होता बल्कि पूँजी उधार देने वाला भी होता है। **अशोक रूद्रा और पी. बर्धन** ने दर्शाया है कि तथाकथित अटैचमेण्ट/सेमीअटैचमेण्ट (खेतिहर मजदूर और भूस्वामी के बीच करारनामे की एक किस्म जिसके कई संस्करण पाये जाते हैं) श्रम की सुनिश्चित और समयबद्ध आपूर्ति के लिए भूस्वामी की चिन्ता को दिखाता है, न कि आर्थिकेतर उत्पीड़न को। (बर्धन, रूद्रा, 'लेबर एम्प्लॉयमेण्ट एण्ड वेजेस इन एग्रीकल्चर', इपीडब्ल्यू, नवम्बर 1980)। भूस्वामी की आय का अधिकांश हिस्सा सूदखोरी से नहीं बल्कि लगान और मुनाफे से आता है। 1952 में गैर-संस्थागत ऋण का हिस्सा 95 प्रतिशत था जो 1981-82 तक घट कर 60 प्रतिशत हो गया। यद्यपि, पिछले दो दशकों के दौरान यह बढ़ा है, लेकिन नए सूदखोर पेशेवर सूदखोर नहीं हैं, बल्कि पेशेवर निम्न-पूँजीपति वर्ग के अन्य सदस्य हैं जैसा कि **बसोले** और **बसु** ने अपने शानदार अध्ययन ('रीलेशन्स ऑफ प्रोडक्शन एण्ड मोड ऑफ सरप्लस एक्सट्रैक्शन इन इण्डिया', अमित बसोले एण्ड दीपांकर बसु, अर्थशास्त्र विभाग, मैसाच्युसेट्स यूनिवर्सिटी, एमहर्स्ट, एम.ए., यू.एस.ए.) में दर्शाया है। इसके अलावा, यह ऋण प्रणाली के निजीकरण और ऋण सेवाओं से राज्य के हाथ वापस लेने के कारण अधिक है। लेकिन, यह किसानों (काश्तकार और मालिक किसान दोनों) के सूदखोर पूँजी द्वारा सामन्ती प्रभुत्व के समान नहीं है। जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं, अगर अस्वतन्त्र/दास श्रम नहीं है तो ग्रामीण ऋणग्रस्तता अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों का

प्रमाण नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, यहाँ तक कि पूँजीवाद के अन्तर्गत भी श्रम पूरी तरह “स्वतन्त्र” नहीं होता है। जैसा कि **टॉम ब्रास** और **उत्सा पटनायक** ने तर्क पेश किया है कि सभी पूँजीवादी करारनामों अन्तर्निहित रूप से विभिन्न प्रकार की अस्वतन्त्रताएँ मौजूद रहती हैं। श्रम की स्वतंत्रता सामान्य नियम या प्रवृत्ति होते हैं। लेकिन जो कोई भी इसे शब्दशः लेता है वह एक भारी भ्रम का शिकार है। इसलिए ग्रामीण ऋणग्रस्तता और सूदखोर पूँजी कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण की को और अधिक सघन बना सकते हैं, बशर्ते कि पूँजीवादी विकास की अन्य पूर्वशर्तें पूरी होती हों (उदाहरण के लिए, श्रम शक्ति और जमीन का माल में तब्दील होना, पूँजीवादी भूमि लगान का अस्तित्व में आना, एकीकृत घरेलू बाजार का निर्माण, इत्यादि)। आइए इस विषय पर मार्क्स के विचार देखते हैं। मार्क्स कहते हैं कि सूदखोरी उत्पादन के कोने-कोने में व्याप्त होती है; यह पूँजी होती है क्योंकि यह अधिशेष श्रम को विनियोजित करती है, लेकिन उत्पादन पद्धति से बिना कोई सम्बन्ध रखे हुए ही; यह उसी उत्पादन-पद्धति को और अधिक निन्दनीय बनाकर मजबूत करती है, चाहे वह सामन्ती हो या पूँजीवादी। सूदखोर पूँजी मुद्रा पूँजी है जो उत्पादन प्रक्रिया के नियंत्रण/संगठन के द्वारा अधिशेष को विनियोजित नहीं करती है, बल्कि ब्याज के उपकरण के ज़रिए ऐसा करती है; यह उत्पादक का स्वामित्वहरण करती है लेकिन उन्हें एक बड़ी उत्पादक गतिविधि में संकेन्द्रित नहीं करती और उन्हें बिखरा हुआ व और भी अधिक दरिद्र, ऋणग्रस्त छोटे उत्पादक के रूप में छोड़ देती है। **लेकिन**, सूदखोरी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के तहत भी जारी रहती है और यहाँ तक कि पूँजीवादी विकास का एक उपकरण बन सकती हैं अगर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की अन्य शर्तें मौजूद हों। (**कार्ल मार्क्स**, पूँजी, खण्ड-3, मास्को, फॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, 1959, पेज 580-599)

बसु और **बसोले** ने यह भी दिखलाया है कि **समग्रता में काश्तकारी अपनी ढलान पर है**। वे इसके लिए पर्याप्त तथ्य देते हैं। पट्टे पर भूमि देने वाले परिवारों का हिस्सा 1971-72 में 25 प्रतिशत से गिरकर 2003 में 12 प्रतिशत हो गया; पट्टे पर दी गयी भूमि का क्षेत्रफल 1971-72 में 12 प्रतिशत से घटकर 2003 में 7 प्रतिशत हो गया; आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से पट्टे पर दी गयी जमीन का हिस्सा 1960-61 में 24 प्रतिशत से गिरकर 2002-03 में 10 प्रतिशत हो गया; सम्पूर्ण प्रयुक्त क्षेत्रफल में पट्टे पर चढ़ी भूमि का हिस्सा 10.7 प्रतिशत से घटकर 2002-03 में 6.5 प्रतिशत हो गया। **अतः अविवादित रूप से काश्तकारी खेतों से भाड़े को श्रम की सहायता से की जाने वाली स्व-उत्पादित कृषि की ओर परिवर्तन हुआ है**। अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार दावा कर सकते हैं कि छोटे उत्पादकों में काश्तकारी बढ़ी है। लेकिन ऐसा मामला भी नहीं है। सभी क्षेत्रफल प्रवर्गों में काश्तकार जोत का हिस्सा घटा है। वास्तव में बड़ी जोतों में काश्तकारी बढ़ी है, जो पूँजीवादी काश्तकारी के पूर्ण प्रभुत्व को दर्शाता है। 2003 में, काश्तकारी भूमियों का 70 प्रतिशत बड़ी जोतों (झ 2.5 एकड़) द्वारा संचालित किया जाता था, अर्थात् सभी संचालित जोतों के केवल 3 प्रतिशत द्वारा। **काश्तकारी की शर्तें साफ़-साफ़ दिखाती हैं कि पूँजीवादी सम्बन्ध निस्सन्देह रूप से प्रभावी बन चुके हैं**। तय लगान (मुद्रा रूप में और वस्तु रूप में) 2002-03 में कुल लगान का 51 प्रतिशत बनाता था, जो 1960-61 में 38 प्रतिशत था। फसल हिस्सेदारी (बटाईदारी) 2002-03 में 40 प्रतिशत थी जो 1960-61 में 40 प्रतिशत थी। पंजाब और हरियाणा, जो सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी कृषि वाले राज्य हैं, में अधिकतम काश्तकारी पायी गयी। **विपरीत काश्तकारी सभी**

राज्यों में अब पर्याप्त रूप से विचारणीय परिघटना बन चुकी है। बसु और बसोले ने यह भी दिखाया है कि गैर-संस्थागत ऋण की मात्रा में हालिया वृद्धि को मुख्यतः सर्वाधिक उन्नत पूँजीवादी कृषि वाले राज्यों से आया हुआ माना जा सकता है (पंजाब, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश)। ऐसा इसलिए क्योंकि गैर-संस्थागत ऋण में यह वृद्धि और कुछ नहीं बल्कि ऋण प्रणाली का पूँजीवादी निजीकरण और वित्तीयकरण है। फिर भी, अभी भी कृषि में सम्पूर्ण ऋण का आधा हिस्सा संस्थागत स्रोतों से आता है।

कृषि में बाजार का प्रवेश भी आँकड़ों के माध्यम से देखा जा सकता है। अधिकांश खाद्य फसलों में अधिशेष का 85 प्रतिशत से भी अधिक विपणित कर दिया जाता है। कुल कृषि उत्पादन में कृषकों के विभिन्न वर्गों के लिए विपणित अधिशेष इस प्रकार है: प्रभावी रूप से भूमिहीन के लिए 44 प्रतिशत; सीमान्त किसानों के लिए 54 प्रतिशत; छोटे किसानों के लिए 65 प्रतिशत; मध्यवर्ती किसानों के लिए 66 प्रतिशत; और बड़े किसानों के लिए 71 प्रतिशत। कृषि में सकल पूँजी निर्माण (छठवे ष्वपञ्स श्वतउंजपवद पद।हतपबनसजनतम) 1961 और 1999 के बीच 3 प्रतिशत की दर से बढ़ा है जो अपने आप में एक विचारणीय वृद्धि है।

किसानों के विभेदीकरण को समझने के लिए, जो कि लेनिन के अनुसार कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण पैमाना है, हमें **भूमिहीनता और भूमि मालिकाने की संरचना** से भी सम्बन्धित आँकड़ों को देखने की ज़रूरत है। कृषि श्रम का 62 प्रतिशत उन घरों से आता है जो 0.025 से लेकर 1 एकड़ जमीन तक के मालिक हैं। ये “प्रभावी रूप से भूमिहीन” हैं; ये परिवार अपनी आय का 60 प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा उजरत के रूप में पाते हैं, और उनके उत्पादन का 44 प्रतिशत विपणित होता है, जो कि भूमिहीन आबादी के इस वर्ग के लिए पर्याप्त रूप से बड़ा हिस्सा है। 2004-5 में 1 एकड़ से कम भूमि वाले परिवारों का हिस्सा 76.6 प्रतिशत था; 1-2 एकड़ जमीन वाले परिवारों का हिस्सा 12.2 प्रतिशत था; 2 एकड़ से अधिक जमीन वालों का हिस्सा 11.2 प्रतिशत था। प्रभावी भूमिहीनता 1960-61 में 44.2 प्रतिशत से बढ़कर 2002-3 में बढ़ कर 60.1 प्रतिशत हो गयी; गरीब ग्रामीण परिवारों का 60 प्रतिशत खेती के अंतर्गत जमीन के मात्र 6 प्रतिशत का स्वामित्व रखते हैं। प्रभावी रूप से भूमिहीन और सीमान्त किसानों का हिस्सा कुल ग्रामीण परिवारों के 1961 में 66 प्रतिशत से बढ़कर 2003 में 80 प्रतिशत हो गया; बहुत बड़े खेतों (झ10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 12 प्रतिशत से घटकर 2003 में 3.6 प्रतिशत हो गया; 2.5-10 एकड़ वाले किसान भूमि का हिस्सा 1961 में 23 प्रतिशत से घट कर 2003 में 17 प्रतिशत हो गया; छोटे किसान परिवारों (2.5 एकड़ से कम) के स्वामित्व की भूमि 1961 में 8 प्रतिशत से बढ़कर 2003 में 23 प्रतिशत हो गया; बड़े किसानों (झ10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 60 प्रतिशत से घटकर 2003 में 35 प्रतिशत हो गया और मध्यवर्ती किसानों (2.5-10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 33 प्रतिशत से बढ़ कर 2003 में 42 प्रतिशत हो गया।

निष्कर्ष

ये आँकड़े स्पष्ट रूप से किसानों के विभेदीकरण और खेतिहर उजरती मज़दूरों के एक विशाल वर्ग के निर्माण को दर्शाता है। हम बाजार के लिए उत्पादन, ऋण प्रणाली और जमीन के मालिकरण (बवउउवकपपिबंजपवद) के प्रभुत्व से जुड़े हुए आँकड़े भी पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। ये आँकड़े भारत में लागू भूमि-सुधारों की प्रकृति को भी दर्शाते हैं। हम निश्चित रूप

से भूमि-सुधार के प्रशियन पथ के साक्षी बने हैं, जिसमें भूमि काश्तकारों और भूमिहीन मजदूरों को पुनर्वितरित नहीं की गयी; पहले के सामन्ती जमींदारों को अपने आपको पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी या पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी में रूपान्तरित होने दिया गया। कृषि के बाजारीकरण, संस्थागत और गैर-संस्थागत पूँजीवादी ऋण प्रणाली के विकास, किसानों के विभेदीकरण, एक एकीकृत घरेलू बाजार के निर्माण, आदि से जुड़े हुए आँकड़ों को प्रचुर मात्रा में पेश किया जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य से जगह की कमी हमें इस लेख में ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती।

इससे पहले कि हम उपसंहार करें, एक और गौरतलब सवाल सामने रख दिया जाना चाहिए। हमारे विचार में, कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण की बात को निश्चित ही अनम्य और पुराने पड़ चुके अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क से कोई चुनौती नहीं दी जा सकती है, जैसा कि उपरोक्त तथ्यों से साफ-साफ दर्शाते हैं; लेकिन अर्द्ध-सामन्ती थीसिस की अरक्षणीयता और अन्तरविरोधों के कारण अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों का पूरा तर्क **बुर्जुआजी के चरित्र** पर आकर अटक जाता है। इस विषय के लिए अलग से विस्तृत लेख की ज़रूरत पड़ेगी, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है: **पिछले 6 दशकों के दौरान भारतीय बुर्जुआजी का व्यवहार किसी भी तरह से दलाल बुर्जुआजी का बर्ताव नहीं रहा है**; भारतीय राज्य एक विशेष प्रकार का उत्तर-औपनिवेशिक (देरिदियन अर्थों में नहीं) पूँजीवादी राज्य है जो एक ऐसी बुर्जुआजी द्वारा पहचाना जा सकता है जो कि न तो राष्ट्रीय है (क्योंकि इसका कोई भी हित भारतीय जनता के साथ साझा नहीं होता), न ही दलाल (क्योंकि, यह राजनीतिक रूप से आश्रित नहीं है और स्वेज़ नहर विवाद, सोवियत एशिया मैत्री संघ के मुद्दे से लेकर कोपेनहेगेन शिखर बैठक आदि तक के मामलों में इसने मेट्रोपोलिटन साम्राज्यवादी बुर्जुआजी के विरोध में जाकर अपने स्वतन्त्र राजनीतिक निर्णय लिए हैं), और न ही एक साम्राज्यवादी बुर्जुआजी (क्योंकि भारतीय बुर्जुआजी का पूँजी आयात अभी भी इसके पूँजी निर्यात से कहीं ज्यादा है जो कि निश्चित रूप से पिछले दो दशकों के दौरान लगातार वृद्धि करता रहा है) है। तो फिर भारतीय बुर्जुआजी का चरित्र क्या है? हमारे विचार भारतीय बुर्जुआजी साम्राज्यवादियों के **जूनियर पार्टनर** के रूप में पहचानी जा सकती है (किसी एक अकेले साम्राज्यवादी देश की नहीं, बल्कि पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था की); यह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र है लेकिन आर्थिक रूप से आश्रित; मेट्रोपोलिटन बुर्जुआजी द्वारा कभी-कभी इसकी बाँहें मरोड़ी जाती हैं (क्योंकि यह जूनियर पार्टनर है!) लेकिन यह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता कभी नहीं छोड़ता है और विभिन्न साम्राज्यवादी शिविरों के बीच मोलतोल के द्वारा अपने “राष्ट्रीय” वर्ग हितों में संतुलन और प्रति-संतुलन बनाते हुए एक ‘टाइट रोप वॉकिंग’ करता है। साम्राज्यवादी विश्व की एकध्रुवीयता केवल अस्थायी और भ्रामक परिघटना ही हो सकती है। जैसा कि लेनिन ने दर्शाया है एकाधिकार अपनी विरोधी गति यानी कि प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ चलता है और यह द्वंद्व अन्य कारकों के साथ मिलकर क्रान्तिकारी परिस्थिति का निर्माण करता है।

उपसंहार करते हुए हम इतना कहेंगे कि अगर भारतीय मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन को प्रगति करनी है तो उसे अर्द्धसामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरण की बेड़ियों को तोड़ना होगा। हमारे विचार में अधिकांश माले पार्टियों और बुद्धिजीवियों को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरणों की वर्तमान भारतीय परिस्थिति और साथ ही भारतीय इतिहास पर भी इसकी प्रयोज्यता पर दोबारा सोचने की ज़रूरत है। कार्यक्रम के सवाल को

विचारधारा के सवाल में नहीं बदल दिया जाना चाहिए, जैसा कि भारत में कठमुल्लावादी वाम ने किया है। अगर कोई पूँजीवादी विकास या समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की बात करता है तो उन्हें अक्सर त्रात्स्कीपंथी कह दिया जाता है क्योंकि यह लगभग एक आकाशवाणी या स्वयंसिद्ध तथ्य जैसा बन चुका है कि ऐसा कहना ही लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त को खारिज करने के समान है! यह एक विडम्बना की, बल्कि त्रासदी की, स्थिति है, जिससे जितनी जल्दी हो सके छुटकारा पा लिया जाना चाहिए।

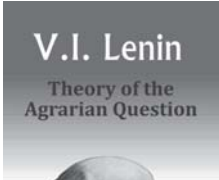
(प्रसिद्ध बांग्ला पत्रिका 'अनीक' के अंक अक्टूबर 2012 में प्रकाशित)

(इस लेख का अंग्रेज़ी संस्करण इस लिंक पर पढ़ा जा सकता है:

<http://redpolemique.wordpress.com/2012/11/11/development-of-capitalist-agriculture-in-india-and-the-intellectual-origins-of-the-fallacy-of-present-semi-feudal-thesis/>)

हिन्दी अनुवाद: प्रशान्त

An Important Book from Rahul Foundation



Theory of the Agrarian Question

This collection contains Lenin's principal writings on capitalism in agriculture. The contents include the complete texts of the following works: "The Agrarian Question and the 'Critics of Marx,'" "Capitalism in Agriculture," "Capitalism and Agriculture in the United States of America," "The Theoretical Principles of Nationalisation and Municipalisation." It also includes a number of articles on the subject.

Price: Rs. 160 , Pages: 344

ISBN 978-93-80303-62-8

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782

Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

फासीवाद की बुनियादी समझ नुक्तेवार कुछ बातें

● कात्यायनी

1. ' फासीवाद सड़ता हुआ पूँजीवाद है' (लेनिन)। यह एक परिघटना है जो साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीवाद के आम संकट के गहराने के साथ जन्मी थी। अब विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट और उससे निजात पाने के "नवउदारवादी" नुस्खों के दौर में फासीवादी राजनीति सभी पूँजीवादी देशों में विविध रूपों में सिर उठा रही है और विशेषकर भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद एक शक्तिशाली उभार के रूप में सामने आ रहा है।

2. पूँजी के इजारेदाराना रूप परजीवी पतनशीलता के तत्वों को जन्म देते हैं। इजारेदार पूँजी में उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित और मन्द करने की आम प्रवृत्ति होती है। इस सापेक्षिक ठहराव और क्षरण की प्रवृत्ति से समाज में जनवाद-विरोधी, वैज्ञानिक तर्कणा-विरोधी प्रतिगामी शक्तियों के फलने-फूलने की ज़मीन तैयार होती है। मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए पूँजीपति और उनकी राज्यसत्ता बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों का विनाश भी करती है, जो कि क्षयमान पूँजीवाद की एक अभिलाक्षणिकता है।

3. जब परजीवी-परभक्षी वित्तीय पूँजी का सर्वग्रासी वर्चस्व बड़े पैमाने पर अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए पूँजी-निवेश को बढ़ावा देता है, जब "रेण्टियर" और "रेण्टियर स्टेट" का विकास तेज़ हो जाता है, जब वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश के मुक़ाबले शेयर बाज़ार, मनोरंजन उद्योग, युद्ध उद्योग आदि में अनुत्पादक निवेश बहुत अधिक होने लगता है तो वित्तीय पूँजी का सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी रूप फासीवादी विचारों और राजनीति के रूप में

अधिरचना के क्षेत्र में ज़्यादा से ज़्यादा प्रभावी होता चला जाता है।

4. वित्तीय पूँजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी राजनीति – फासीवाद का व्यापारिक पूँजीपतियों, दलालों और ठेकेदारों की परजीवी जमातों में सबसे सुस्थिर सामाजिक आधार होता है। पिछड़े पूँजीवादी देशों में एक क्रमिक बदलाव की प्रक्रिया में सामंती भूस्वामी से पूँजीवादी भूस्वामी में रूपान्तरित वर्ग भी विचारों से घोर गैरजनवादी होता है और फासीवाद के सामाजिक आधार का काम करता है। पूँजीवादी क्रमिक विकास की प्रक्रिया में काश्तकारों के बीच से कुलकों (धनी मालिक किसानों) और खुशहाल मध्यवर्गीय मालिक किसानों का जो तबका पैदा होता है, पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के गहराने के फलस्वरूप उसकी किसान राजनीति का नरोदवादी यूटोपिया जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो वह धुरप्रतिक्रियावादी राजनीतिक अवस्थिति अपना लेता है और फासीवाद का नया सामाजिक आधार बन जाता है।

5. पूँजीवादी विकास ने विशेषाधिकार-प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग के रूप में परजीवी उच्च मध्य वर्ग की सामाजिक परत का जो विस्तार किया है, वह, विशेषकर पूँजीवादी संकट के दौर में फासीवाद के मज़बूत सामाजिक आधार का काम करने लगता है। सफ़ेद कालर वाले “कुलीन” मज़दूरों की पक्षत्यागी जमात का एक बड़ा हिस्सा भी फासीवाद को समर्थन देने लगता है।

3. निराश और अवसादग्रस्त, पीले-बीमार चेहरे वाले, बेरोज़गारी या अर्द्धबेरोज़गारी के शिकार निम्न-मध्यवर्गीय युवाओं की भारी आबादी अपनी समस्याओं की मूल जड़ को न समझ पाने के कारण और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव के कारण फासीवादी मिथ्या प्रचार और लोकलुभावन तथा उन्मादी नारों (निराश लोगों को उन्मादी बनाना आसान होता है) के प्रभाव में आसानी से आ जाती है और एक मिथ्याचेतना से ग्रस्त होकर फासीवादी प्रचार से प्रक्षेपित “काल्पनिक शत्रु” को ही अपनी सारी समस्याओं का कारण समझने लगती है। इसके चलते वह फासीवादियों की गुण्डा-वाहिनियों में जाकर शामिल हो जाती है।

7. पूँजीवादी संकट के दौर में, मज़दूरों की एक भारी आबादी उत्पादन की संगठित प्रक्रिया से ही पूर्णतः या अंशतः बाहर कर दी जाती है। इस आबादी का एक बड़ा हिस्सा विमानवीयकरण का शिकार हो जाता है, उसकी सर्वहारा चेतना विघटित हो जाती है और उसका लम्पटीकरण हो जाता है। ऐसी आबादी फासीवादी प्रचार के सहज प्रभाव में आ जाती है और फासीवादी गुण्डा वाहिनियों में बड़े पैमाने पर शामिल हो जाती है।

8. इस तरह, फासीवाद एक ऐसा चरम प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है, जिसमें कई प्रकार के बेमेल तत्व शामिल होते हैं। बुर्जुआ चुनावी राजनीति फासीवाद के लक्ष्यसिद्धि के लिए मात्र एक मोर्चा होता है। सामाजिक लामबन्दी के लिए फासीवादी नाना प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन बनाकर तृणमूल स्तर पर लगातार काम करते रहते हैं।

9. पिछड़े पूँजीवादी देशों में, जहाँ पूँजीवाद का विकास ‘पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति’ की प्रक्रिया से न होकर औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से हुआ है और उत्तर-औपनिवेशिक काल में मंथर क्रमिक विकास की राह से हुआ है, वहाँ की राजनीतिक अधिरचना में और सामाजिक ताने-बाने में जनवाद के तत्व नितान्त न्यून हैं, वैज्ञानिक तर्कणा का घोर अभाव है। ऐसे देशों में पूँजीवादी जीवन-पद्धति के साथ तमाम निरंकुश स्वेच्छाचारी मध्ययुगीन मूल्य-मान्यताएँ-संस्थाएँ बची हुई हैं। ऐसे देशों में नवउदारवाद के दौर का सापेक्षतः

तीव्र पूँजीवादी विकास स्वस्थ बुर्जुआ जनवादी मूल्यों के बजाय रुग्ण निरंकुशता और अलगाव के मूल्य लेकर ही आया है। इन देशों में पूँजीवादी संकट की गहनता से पैदा हुए फासीवादी आन्दोलन को अपना आधार मजबूत करने और तेज़ी से बढ़ाने में आज अधिक अनुकूल परिस्थिति मिल रही है।

10. पूँजीवादी संकट का क्रान्तिकारी समाधान मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवाद के लिए आगे बढ़ता संघर्ष प्रस्तुत करता है। यदि क्रान्तिकारी समाधान-प्रस्तुति का यह उपक्रम विफल हुआ, पराजित हुआ या बिखर गया और पूँजीवादी संकट जारी रहा तो उसका प्रतिक्रान्तिकारी समाधान लाज़िमी तौर पर फासीवाद के रूप में सामने आता है। यून कहें कि क्रान्ति न कर पाने का दण्ड मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनसमुदाय को फासीवाद के रूप में चुकाना पड़ता है। क्रान्तिकारी संकट के कठिन दौर में समाजवाद की सम्भावना यदि फलीभूत नहीं होती तो फासीवादी बर्बरता ही एकमात्र विकल्प बचती है।

11. फासीवाद के फलने-फूलने की ज़मीन तैयार करने में, वस्तुगत तौर पर, सामाजिक-जनवादी और संशोधनवादी पार्टियों की एक महत्वपूर्ण भूमिका बन जाती है। ये पार्टियाँ संगठित मजदूर वर्ग को लगातार आर्थिक संघर्षों और सौदेबाजियों में उलझाये रखती हैं, उसके बीच कोई राजनीतिक काम नहीं करती, राजनीतिक संघर्षों को ये संसदीय चौहद्दी और चन्द रस्मी धरना-प्रदर्शनों तक सीमित कर देती हैं। असंगठित मजदूर आबादी तक इनकी पहुँच न के बराबर होती है। इस तरह ये पार्टियाँ मजदूर वर्ग की राजनीतिक चेतना को कुन्द करने और उनकी जुझारू वर्ग-चेतना को विघटित करने का काम करती हैं। फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष को व्यापक सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष बनाने की जगह ये पार्टियाँ उसे सिर्फ़ चुनावी हार-जीत और गठबन्धन का खेल बना देती हैं। नतीज़तन, मजदूर वर्ग फासीवाद के विरुद्ध निष्क्रिय और निश्शस्त्र हो जाता है। ये पार्टियाँ बुर्जुआ संविधान और लोकतंत्र की हिफाज़त की दुहाई देते हुए फासीवाद के विरुद्ध कुछ रस्मी बौद्धिक-सांस्कृतिक कवायद करती रहती हैं। इनसे उम्मीद पालने वाला समाज का सेक्युलर, प्रगतिशील बौद्धिक तबका फासीवादी उभार के समय घबराहट और निराशा का शिकार हो जाता है और फासीवादी आतंक के समक्ष आतंकित होकर चुप्पी साध लेता है। जब फासीवाद सत्ता में आता है तो आम मेहनतकश आबादी, धार्मिक-नस्ली अल्पसंख्यकों, आप्रवासियों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के साथ ही संशोधनवादी कम्युनिस्टों और सामाजिक जनवादियों को भी अपना निशाना बनाता है। ऐसे में सामाजिक जनवादियों का एक ऐसा पतित हिस्सा भी होता है जो प्रत्यक्षतः-परोक्षतः फासीवाद का समर्थक बन जाता है या सीधे उसकी कतारों में जा खड़ा होता है।

(12) फासीवाद आन्दोलन एक 'कैडर-आधारित' आन्दोलन होता है और इसलिए इसका प्रचार-तंत्र अन्य बुर्जुआ जनवादी पार्टियों से अधिक प्रभावी होता है। इसका मुख्य विचारधारात्मक-राजनीतिक केन्द्र कई प्रकार के अनुषंगी संगठन बनाकर समाज के विभिन्न वर्गों-तबकों के बीच तृणमूल स्तर पर लगातार काम करता रहता है। वे धार्मिक, नस्ली, जातिगत आधारों पर मंच, मोर्चा, संगठन आदि बनाकर काम करने के साथ ही ग़रीब आबादी के बीच सुधार की तमाम कार्रवाइयाँ चलाते हुए अपनी विचारधारा का लगातार प्रचार करते रहते हैं। फासीवाद प्रायः संस्कृति का खोल पहनकर आता है। संस्कृति को वह हमेशा नस्ली और धार्मिक आधार पर परिभाषित करता है और "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के नारे देता हुआ धार्मिक

या नस्ली अल्पसंख्यकों को 'अन्य' के रूप में प्रस्तुत करता है, उन्हें "राष्ट्रीय पराभव" का मूल कारण बताता है और बहुसंख्यक धार्मिक आबादी के सामने उनकी 'शत्रु' की छवि प्रक्षेपित करता है। फासीवाद राष्ट्रवाद को एक बुर्जुआ परिघटना मानने के बजाय प्राचीन काल से ही अस्तित्व में मानता है। 'स्वदेशी' और 'राष्ट्रीय गौरव' के नाम पर पिछड़े, उत्तर-औपनिवेशिक समाजों का फासीवाद अतीत का मिथ्या आदर्शाकरण करता है (जैसे भारत के हिन्दुत्ववादी "स्वर्णिम हिन्दू भारत" का एक मिथ्या इतिहास रचते हैं, आर्यों के भारतीय मूल का दावा करते हैं और एक नस्ल न होते हुए भी सभी सवर्ण हिन्दुओं के आर्य नस्ल का होने का दावा करते हैं), इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करता है, धार्मिक मिथकों को इतिहास का तथ्य बताता है, मध्यकालीन आक्रमणों और फिर बसकर समाज में घुल-मिल जाने की परिघटना को उपनिवेशन और राष्ट्रीय गुलामी के रूप में प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर इन सभी उत्तर औपनिवेशिक समाजों के (जैसे कि भारत के) फासीवादियों ने अतीत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों में कभी हिस्सा नहीं लिया। वर्तमान में भी उनका 'स्वदेशी' का नारा केवल एक धोखा होता है, अपनी आर्थिक नीतियों में साम्राज्यवादी पूँजी के साथ सहकार और नवउदारवाद के दो सुसंगत और कट्टर पक्षधर होते हैं। उनका 'स्वदेशी' का प्रतिगामी यूटोपिया केवल पूँजीवादी उद्यमियों, मालिक किसानों और छोटे व्यापारियों को लुभाकर अपने साथ लेने के लिए होता है। संस्कृति और इतिहास की फासीवादी अवधारणा को जनमानस में पैठाने के लिए फासीवादी शक्तियाँ शिक्षा और संस्कृति के प्रतिष्ठान स्थापित करने पर विशेष बल देती हैं और विशेषकर प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक के शिक्षा संस्थानों का व्यापक नेटवर्क व्यापारियों और पूँजीपतियों के वित्तपोषण से ट्रस्ट आदि बनाकर चलाती हैं। इस तरह वे युवा मानस की निर्मिति को ही प्रभावित-अनुकूलित करने का योजनाबद्ध प्रयास करती हैं। अपना मीडिया-तंत्र संगठित करने के साथ ही फासीवादी मुख्य धारा की बुर्जुआ मीडिया और संस्कृति के शासकीय तंत्र में बड़ी कुशलता से अपने दृढ़ प्रतिबद्ध और दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों को पैठाने रहते हैं। ऐसा ही वे शिक्षा के तंत्र में, विशेषकर उसके नीतिनिर्माता संस्तरों पर भी करते हैं। अपनी यूनियनों, छात्र-युवा संगठनों, विभिन्न सांस्कृतिक-सामाजिक संगठनों के अतिरिक्त फासीवादी कई स्तरों पर, विकेंद्रित रूप में अपनी गुण्डावाहिनियाँ संगठित करते हैं, उन्हें सैन्य शिक्षा देते हैं और देश-विशेष की परिस्थिति इजाजत दे तो मिलिटरी स्कूल भी खोलते-चलाते हैं। सामान्य दिनों में आतंक पैदा करने, दंगों के समय खून-खराबा करने तथा हड़तालों और आन्दोलनों को कुचलने में इन गुण्डावाहिनियों की अहम भूमिका होती है। फासीवाद कई बेमेल राजनीतिक विचारों का घालमेल होता है, लेकिन उग्र अंधराष्ट्रवाद वह केन्द्रीय विचार है जो सभी को जोड़ने का काम करता है। भारतीय फासीवादियों का उग्र अंधराष्ट्रवाद विश्वविजय के सपने नहीं देख सकता, क्योंकि साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार भारतीय बुर्जुआ वर्ग विश्व बाज़ार पर युद्ध द्वारा कब्जा का ख़ाब नहीं देख सकता। यह ज़्यादा से ज़्यादा अपने कमज़ोर पड़ोसी देशों पर धौंसपट्टी जमा सकता है और 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के नाम पर देश के भीतर धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपने उन्माद का निशाना बना सकता है। देश-विशेष की मुख्य फासीवादी ताक़त अपने अनुषंगी संगठनों के अतिरिक्त अन्य धार्मिक कट्टरपंथी संगठनों, बिखरे हुए क्षेत्रीय धार्मिक कट्टरपंथी राजनीतिक दलों (जैसे भारत में शिवसेना, अकाली दल आदि), बिखरी हुई क्षेत्रीय गुण्डावाहिनियाँ (जैसे श्रीराम सेने आदि), धार्मिक आन्दोलनों, धार्मिक

आयोजनों, धर्माधिकारियों (संतों-महंतों), धर्म के साथ उग्र राष्ट्रवाद के नारे देने वाले आन्दोलनों या लोगों (जैसे आर्य समाज और बाबा रामदेव) तथा राष्ट्रवादी तेवरों के साथ लोकलुभावन उग्र सुधारवादी नारे देने वाले आन्दोलनों (जैसे अन्ना-केजरीवाल के आन्दोलन) का भी सफलतापूर्वक अपने पक्ष में इस्तेमाल करती है।

(13) चूँकि फासीवादी आन्दोलन जनता को उसकी पिछड़ी चेतना के आधार पर संगठित करता है, अतः इतिहास-बोध को कुण्ठित-विरूपित करने के लिए वह आधुनिकता के बुर्जुआ जनवादी ऐतिहासिक प्रोजेक्ट को ही रद्द करता है, वह वैज्ञानिक तर्कणा को सामाजिक जीवन पर लागू नहीं करता और क्रान्तियों को इतिहास-विकास की स्वाभाविक गति नहीं मानता। वित्तीय पूँजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक अभिव्यक्ति होने के नाते फासीवाद कम्युनिज़्म को अपना घोरतम शत्रु मानता है। 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' की पूरी विरासत और प्रबोधनकालीन आदर्शों को खारिज करते हुए वह न केवल वैज्ञानिक तर्कणा और जनवाद को खारिज करता है, बल्कि उस परम्परा के वारिस - वैज्ञानिक भौतिकवाद और सर्वहारा क्रान्ति की परियोजना को भी खारिज करता है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि नीत्शे हिटलर का एक वैचारिक प्रेरणा-स्रोत था। आज की नवफासीवादी धाराओं का दार्शनिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद और इसकी सहोदरा उत्तर-विचार सरणियों में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। असाध्य संकटग्रस्त वयोवृद्ध पूँजीवाद की जो ज़मीन तरह-तरह की सर्वसत्तावादी निरंकुश प्रवृत्तियों और फासीवाद को जन्म दे रही हैं, वही उत्तर आधुनिकतावाद जैसी नवनीत्शेवादी विचारधाराओं को भी जन्म दे रही हैं।

(14) किसी भी देश में धार्मिक अल्पसंख्यक आबादी केवल सच्चे वास्तविक सेक्युलरिज़्म (यानी धर्म का राजनीतिक-सामाजिक स्पेस में कोई दखल न हो ओर केवल निजी विश्वास के रूप में ही धर्म की आजादी हो) के रहते ही सुरक्षित जीवन बिता सकती है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों का युग बीतने के बाद, वास्तविक सेक्युलरिज़्म की लड़ाई समाजवाद के लिए लड़ाई का अंग बन चुकी है। प्रायः धार्मिक बहुसंख्यक आबादी के धर्म को राष्ट्रीय संस्कृति का अंग बताने वाली धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी धारा का विरोध जब धार्मिक अल्पसंख्यकों की धर्मध्वजा को उठाने वाली दूसरी धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी धारा करती है तो वह अपनी विरोधी धारा को ही मजबूत बनाने का काम करती है। भारत का उदाहरण लें। हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ का विरोध करने वाली इस्लामी जेहादी कट्टरपंथियों के विभिन्न नरम और उग्र संगठन हिन्दुत्ववादियों को यह अवसर देते हैं कि उनके बहाने वे पूरी मुस्लिम आबादी को निशाना बना सकें, उन्हें राष्ट्रद्रोही और आतंकवादी सिद्ध कर सकें और पिछड़ी चेतना की हिन्दू आबादी को साम्प्रदायिक उन्माद के प्रभाव में ले सकें। इसके भयावह दुष्परिणाम पूरी आम मुस्लिम आबादी को झेलने पड़ते हैं। पूरी मुस्लिम आबादी के स्वयंभू नेता बनते हुए मुस्लिम धार्मिक नेता शरिया और फतवे जारी करते हुए उसे मध्ययुगीन जड़ता-बर्बरता के अँधेरे में धकेल देना चाहते हैं। सलाफी और वहाबी विचारों के अनुयायी मुस्लिम कट्टरपंथी न केवल आम मुस्लिम आबादी को हिन्दुत्ववादियों का निशाना बनाने में मददगार बनते हैं, बल्कि उसे प्रगतिशील मूल्यों से हर क़ीमत पर दूर करके पूँजीवाद-विरोधी संघर्षों में शामिल होने से रोकते हैं।

(15) भारतीय संदर्भ में जातिगत ध्रुवीकरण की राजनीति ऊपरी तौरपर धार्मिक ध्रुवीकरण

की राजनीति से प्रतिस्पर्द्धा करती है, पर वास्तव में दोनों ही विभिन्न स्तरों पर एक-दूसरे को बल प्रदान करने का काम करती हैं।

(16) फासीवाद, अपने जन्मकाल से अब तक, सार्वजनिक रूप से चरम पुरुषवर्चस्वादी रहा है। उसके जनवाद-विरोधी विचार पुरुषस्वामित्ववाद की जड़ में होते हैं। यूँ तो पूँजीवाद स्त्रियों की श्रमशक्ति सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ने के लिए उसे पुरुषों के मुक़ाबले हमेशा दोगुना दरों की नागरिक बनाये रखना चाहता है। पर चरम संकटग्रस्त पूँजीवाद उन्हें और अधिक निकृष्ट उजरती गुलाम बनाये रखने के लिए उनकी घरेलू गुलामी की जंजीरों को भी और मज़बूत बना देना चाहता है। एक ओर वह पुरुष मजदूरों की मोलतोल की क्षमता घटाने के लिए स्त्रियों को उत्पादक कार्रवाइयों में लाना चाहता है, दूसरी ओर दोगुना दरों की नागरिक के रूप में उनकी श्रमशक्ति को सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ना चाहता है। पूँजीवाद का यही बुनियादी तर्क फासीवादियों की उग्र स्त्री-विरोधी धारणाओं-मान्यताओं का भौतिक आधार होता है।

(17) अब भारत में धार्मिक कट्टरपंथ, विशेष तौर पर हिन्दुत्ववादी फासीवाद के उभार के इतिहास और कार्यप्रणाली पर कुछ बातें। भारत में औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर जिस बुर्जुआ वर्ग, निम्न बुर्जुआ वर्ग और उनकी मरियल राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ, उसमें प्रारम्भ से ही जनवादी मूल्यों की कमी थी। अतीत के महिमामण्डन और पुरातनपंथी धार्मिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता बीसवीं सदी के प्रारम्भ के गरम दली कांग्रेसी नेताओं से लेकर गाँधी के दौर के अनुदारवादी कांग्रेसी नेताओं - मालवीय, पी.डी. टण्डन, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि तक की धारा में स्पष्ट दिखती है। कांग्रेस के जो सेक्युलर जनवादी नेता था, उनका सेक्युलरिज़्म भी पुसंत्वहीन था। स्वयं गाँधी 'सर्वधर्मसद्भाव' की सीमा से कहीं भी आगे नहीं जाते थे और स्वयं एक सनातनी हिन्दू के पारम्परिक मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट शब्दों में रखते रहते थे। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की विचारधारात्मक कमज़ोरी और राष्ट्रीय आन्दोलन में जुझारू भौतिकवादी तर्कणा और क्रान्तिकारी जनवादी मूल्यों के अभाव ने आगे चलकर धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी ताक़तों को फलने-फूलने की उर्वर ज़मीन मुहैया कराई। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दौरान "स्वर्णिम अतीत के गौरव की पुनर्स्थापना" की अतीतोन्मुखी-पुनरुत्थानवादी दृष्टि की भले ही सकारात्मक भूमिका रही हो, कालान्तर में यह अपने विपरीत में बदल गया और अपना "राष्ट्रीय इतिहास" गढ़ते हुए फासीवादी ताक़तों ने "प्राचीन आर्य गौरव", "रामराज्य", "गुप्त वंश के स्वर्ण युग", राणा प्रताप और शिवाजी की "राष्ट्रीय नायक" की छवि के मिथक गढ़ते हुए फासीवादी ताक़तों ने न केवल तिलक, दयानन्द, विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र आदि को अपनी परम्परा-सरणि में शामिल कर लिया, बल्कि आगे चलकर नेहरू के शुरुआती हवाई "फेबियन समाजवादी आदर्शों" और उनके पब्लिक सेक्टर के राजकीय इजारेदार पूँजीवाद के "समाजवादी" चेहरे को ध्वस्त करने के लिए गाँधी के धार्मिक प्रत्ययवाद, पारम्परिकता और अतीतोन्मुखता के साथ ही सरदार पटेल के दक्षिणपंथी अनुदारवादी राजनीतिक विचारों का भी इस्तेमाल किया। रियासतों के विलय और कश्मीर के विलय के सन्दर्भ में पटेल की भूमिका को विशेष उग्र राष्ट्रवादी रंग में चित्रित करके प्रस्तुत करने से हिन्दुत्ववादी फासीवादियों के उग्र राष्ट्रवाद, "हिन्दू राष्ट्रवाद" और "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के जुनूनी नारों को विशेष बल मिलता है।

यह इतिहास का स्थापित तथ्य है कि 1857 के महा जनविद्रोह के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने 'बाँटो और राज करो' की सुनियोजित नीति के तहत साम्प्रदायिकता की राजनीति की शुरुआत की थी। 1890 के दशक से हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव की स्थिति पैदा हुई जो बाद में दशकों में क्रमशः बढ़ती चली गयी। फिर भी असहयोग आन्दोलन के वापस लिये जाने तक हिन्दुओं-मुस्लिमों के बीच सामान्यतः सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर औपनिवेशिक सत्ता को ही देखते थे। गत शताब्दी के तीसरे दशक में साम्प्रदायिक पार्थक्य और साम्प्रदायिकता की राजनीति ने गति पकड़ी। चौथा दशक मुस्लिम लीग और कांग्रेस की राजनीति में बढ़ते टकराव का और असेम्बली में भागीदारी की राजनीति में बढ़ते टकराव का और असेम्बली में भागीदारी की राजनीति का दशक था। अंग्रेजी ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बुर्जुआ नेतृत्व की सत्ता-प्राप्ति के लिए उतावली का लाभ उठाने के साथ ही भारतीय समाज में मौजूद धार्मिक मूल्यों-पूर्वाग्रहों का भी भरपूर लाभ उठाया, जिसकी तार्किक परिणति सदी के सबसे बड़े साम्प्रदायिक खून खराबे, विभाजन, आधुनिक इतिहास के सबसे बड़े पैमाने विस्थापन के साथ ही भारत और पाकिस्तान की राजनीतिक स्वतंत्रता के रूप में सामने आयी। मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति के पीछे इस्लामी कट्टरपंथी फासीवादी संगठन यदि पूरी तरह से खड़े थे, तो कांग्रेस के भीतर का अनुदारवादी धड़ा भी आर.एस.एस. और हिन्दू महासभा के साथ सहयोग-समर्थन का रिश्ता रखता था। इन हालात में कम्युनिस्टों ने साम्प्रदायिकता की राजनीति और साम्प्रदायिक दंगों का डटकर मुकाबला किया। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जहाँ भी मेहनतकश आबादी उनके नेतृत्व में संगठित होकर लड़ रही थी, वहाँ दंगे होने तो दूर, साम्प्रदायिक तनाव भी नहीं पैदा हुआ। लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमजोरी के कारण कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम देने में विफल रही और भीषण रक्तपात के साथ विभाजन की त्रासदी को भी नहीं रोक सकी। अपनी इसी कमजोरी के कारण वह फासीवाद के विरुद्ध ज़मीनी संघर्ष की कोई सुसंगत रणनीति भी नहीं अपना सकी।

भारत में हिन्दुत्ववादी फासीवादियों के संगठित होने का इतिहास 1925 से शुरू होता है जब केशव बलिराम हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। उनके निकट सहयोगी मुंजे ने 1931 में इटली जाकर मुसोलिनी से मुलाकात की और उसीसमय से आर.एस.एस. ने फासीवादी सांगठनिक ढाँचे और तौर-तरीके को अपनाकर काम करना शुरू किया। चौथे दशक के अन्त तक इन भारतीय फासीवादियों ने बम्बई स्थित इतालवी कौन्सुलेट में मौजूद फासीवादियों से भी निकट सम्पर्क कायम कर लिया था। लगभग इसी समय हिन्दू महासभा से जुड़े एक अन्य धार्मिक कट्टरपंथी विनायक दामोदर सावरकर ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित कर लिया था। सावरकर के बड़े भाई आर.एस.एस. के संस्थापकों में से एक थे। 1939 में हेडगेवार ने गुरु गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से 1973 तक गोलवलकर आर.एस.एस. के सुप्रीमो रहे। सावरकर, मुंजे और हेडगेवार ने लगातार कई लेख लिखकर मुसोलिनी और हिटलर की अंधराष्ट्रवादी नीतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और नात्सियों द्वारा यहूदियों के सफ़ाये को सही ठहराते हुए भारत में भी मुसलमानों की "समस्या" के समाधान के लिए यही रास्ता सुझाया। बाद में गोलवलकर ने भी अपनी पुस्तकों 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफाइण्ड' और 'बंच ऑफ थॉट्स' में ऐसे ही विचार रखे। आर.एस.एस. ने

अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी संघर्ष में कभी भी हिस्सा नहीं लिया। उल्टे इसके नेताओं द्वारा मुखबिरी और माफ़ीनामों का लम्बा काला इतिहास रहा है। हमेशा इनके निशाने पर मुसलमान, ईसाई और कम्युनिस्ट ही रहे हैं। मजदूर आन्दोलन को विघटित करने के लिए आर.एस.एस. हमेशा सक्रिय रहता है। संघी ट्रेड यूनियन 'भारतीय मजदूर संघ' मुसोलिनी की ही भाँति औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए कारपोरेटवादी समाधान सुझाता है। संघ का एक अन्य अनुषंगी संगठन 'सेवा भारती' मजदूरों की वर्ग चेतना को कुन्द करने के लिए उनके बीच 'कमेटी' डालने जैसी गतिविधियों को बढ़ावा देता है, हिन्दू मजदूरों को अलग से संगठित करके उनमें साम्प्रदायिक ज़हर फैलाता है और उनके बीच सुधार की कार्रवाइयों के साथ धार्मिक आयोजनों को बढ़ावा देता है। हड़तालों को तोड़ने के लिए शिवसेना के अतिरिक्त विहिप और बजरंग दल जैसे संघ के अनुषंगी संगठनों के गुण्डों की गतिविधियाँ जगजाहिर रही हैं। प्रचार तंत्र के सुव्यवस्थित इस्तेमाल में भारतीय फासीवादी भी अपने जर्मन और इतालवी मार्गदर्शकों के तौर-तरीकों का ही इस्तेमाल करते हैं। शाखाओं-शिशुमन्दिरों और धार्मिक त्योहारों का इस्तेमाल करके ये मिथकों को समाज के 'कामन सेंस' के रूप में स्थापित कर देने की हर चन्द कोशिश करते हैं तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों, कम्युनिस्टों और नास्तिकों के विरुद्ध ज़हरीले पूर्वाग्रहों को स्थापित करने के लिए तरह-तरह के झूठ और अफवाहें लगातार फैलाते रहते हैं।

भारत में 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में हिन्दुत्ववादी फासीवाद के त्वरित व्यापक उभार और फैलाव को देश की पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक के असाध्य ढाँचागत संकट और नवउदारवादी अर्थनीति की शुरुआत से जोड़कर समझा जा सकता है। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ एक अधिक निरंकुश बुर्जुआ राज्य की माँग करती हैं। यही कारण है कि भारतीय राज्य का रहा-सहा बुर्जुआ जनवादी चरित्र भी विगत ढाई-दशकों में तेज़ी से क्षरित हुआ है। साथ ही, समाज में फासीवाद के सामाजिक आधार के विस्तार और फासीवादी तत्वों के पैदा होने की उर्वर ज़मीन तैयार हुई है। गाँवों में चरण सिंह की राजनीति की धारा के बिखरने के बाद धनी और खुशहाल मध्यम किसान प्रायः जातिगत आधार पर संगठित क्षेत्रीय पार्टियों के अतिरिक्त हिन्दुत्ववादी राजनीति के एक मजबूत सामाजिक अवलम्ब के रूप में तैयार हुए हैं। देश की अधिकांश क्षेत्रीय पार्टियाँ क्षेत्रीय पूँजीपतियों और कुलकों की पार्टियाँ हैं, जो अपनी प्रकृति से अति सीमित बुर्जुआ जनवादी और घोर अवसरवादी हैं। सत्ता में भागीदारी के लिए आज किसी संसदीय "सेक्युलर" फ्रण्ट में शामिल होने और कल भाजपा का दामन थाम्ह लेने में इन्हें ज़रा भी देर नहीं लगती। धुर प्रतिक्रियावादी दलित बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली और दलित आबादी में जातिगत वोट बैंक रखने वाली बसपा भी ऐसी ही पार्टी है। इन सभी क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियों का समूचा बुर्जुआ वर्ग संसदीय राजनीति के नापजोख के खेल में छोटे बटखरों की तरह इस्तेमाल करता है। इन पार्टियों का हिन्दुत्ववादी फासीवाद अपने खेल में बखूबी इस्तेमाल करता है।

कारपोरेट संस्कृति के मुरीद नवधनाढ्य खुशहाल मध्यवर्ग और व्यापारियों-छोटे पूँजीपतियों और दलालों-शेयर ब्रोकरों के परम्परागत आधार के साथ ही, नवउदारवादी नीतियों के परिणामस्वरूप उजड़े हुए, तबाह-बर्बाद और अनिश्चितता के शिकार मध्यवर्ग और मजदूर वर्ग के एक हिस्से का भी, हिन्दुत्ववादी फासीवाद ने अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट किया है, जिस प्रकार जर्मनी और इटली में हुआ था। एक संगठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की

अनुपस्थिति और संशोधनवादियों द्वारा मजदूरों को फासीवाद के विरुद्ध जुझारू ढंग से लामबंद करने के बजाय मात्र चुनावी संयुक्त मोर्चे बनाते रहने की सामाजिक-जनवादी नीति के कारण भी निराश-पस्त मजदूरों, निम्न मध्य वर्ग और अर्द्धसर्वहाराओं के बीच पैठ बनाने में फासिस्टों को मदद मिली है।

वर्तमान स्थिति में, नवउदारवाद की नीतियों को तेज़ गति से लागू करने और हर सम्भावित जन-प्रतिरोध को कुचल डालने के लिए भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग का बड़ा हिस्सा हिन्दुत्ववाद के एक मॉडर्न संस्करण के रूप में नरेन्द्र मोदी को भी विकल्प के रूप में आजमाने को तैयार है। उससे भी अधिक, साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी आज इसके लिए तैयार है। निश्चय ही ढाँचागत संकट के इस दौर में पूँजीपति वर्ग इस प्रश्न पर एकमत नहीं है और यह भी तय है कि कांग्रेस नीति या कांग्रेसी समर्थन वाला कोई गठबन्धन भी इन्हीं नीतियों को निर्द्वंद्व भाव से लागू करेगा, पर पूँजीपति वर्ग इस प्रश्न पर आज पूर्ण आश्वस्ति चाहता है। जाहिरा तौर पर, यदि नरेन्द्र मोदी सत्ता में आता है तो यहूदियों के सफ़ाये और 'गुजरात - 2002' जैसी कोई चीज़ पूरे देश के स्तर पर दुहराना सम्भव नहीं होगा। पर धार्मिक बहुसंख्यावाद की राजनीति, यहाँ-वहाँ दंगों और आतंक के माहौल में धार्मिक अल्पसंख्यक निश्चय ही दोगम दर्जे के नागरिक के रूप में जियेंगे। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी बदतर हो जायेगी। इससे आबादी के एक बड़े हिस्से की सस्ती से सस्ती श्रमशक्ति को निचोड़ना आसान हो जायेगा और "कल्याणकारी" कार्यों पर राज्य का खर्च भी घटाने में आसानी हो जायेगी। इससे भी अहम बात यह फासीवाद मजदूरों के प्रतिरोध, क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन और प्रगतिशील-जनवादी बौद्धिक स्वरो को बर्बर ढंग से कुचलेगा। पूँजीपतियों को प्राकृतिक सम्पदा की लूट और फैक्ट्रियाँ लगाने का अवसर देने के लिए हाउसिंग प्रोजेक्ट्स और इन्फ्रास्ट्रक्चर के लिए उजाड़े जा रहे करोड़ों लोगों के प्रतिरोध से निपटने के लिए 'पुलिस स्टेट' का रणकौशल अपनाया जायेगा। राष्ट्रीयताओं के जारी संघर्षों के क्षेत्रों में सैनिक शासन की स्थिति मुकम्मल बना दी जायेगी।

भाजपा गठबन्धन की सरकार 2014 में बने या न बने, हिन्दुत्ववादी फासीवाद की प्रबल उपस्थिति आने वाले दिनों में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक पटल पर बनी रहेगी। भारतीय पूँजीपति वर्ग जंजीर में बँधे शिकारी कुत्ते की तरह इसे बनाये रखेगा और इस सम्भावना को फिर भी पूरी तरह इंकार नहीं किया जा सकता कि बीच-बीच में स्वयं भी यह कुत्ता जंजीर छुड़ाकर उत्पात मचाता रहे। बुर्जुआ व्यवस्था और राजनीति की गति अपने अन्तरविरोधों के चलते कभी-कभी पूँजीपति वर्ग की इच्छा से स्वतंत्र भी हो जाती है।

(18) भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर लगातार ख़तरनाक सम्भावनाओं के साथ उपस्थित हिन्दुत्ववादी फासीवाद का सामना केवल संगठित मजदूर वर्ग ही कर सकता है। जब मजदूर वर्ग संगठित होगा, तभी वह अन्य मेहनतकश वर्गों और परेशानहाल मध्यवर्ग को साथ लेकर एक व्यापक, जुझारू संयुक्त मोर्चा बना सकता है। साम्राज्यवादी संकट की चर्चा के बिना फासीवाद की चर्चा नहीं की जा सकती - इस मार्क्सवादी प्रस्थापना को विस्तार देते हुए कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों तथा रैडिकल मध्यवर्ग की जुझारू लामबंदी को आगे बढ़ाये बिना फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी भी मंसूबों, नारों और खोखले प्रचार तक ही सिमट कर रह जायेगी।

आज यदि कोई एकीकृत क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी होती तो फासीवाद के विरुद्ध मजदूर

वर्ग और अन्य क्रान्तिपक्षीय वर्गों का मोर्चा बनाते हुए संसद के मंच का भी इस्तेमाल करती और संसदीय जड़वामन संशोधनवादियों और सामाजिक जनवादियों पर भी फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा में शामिल होने के लिए भारी जन-दबाव बना सकती थी। जब ऐसे तत्व दुलमुलपन दिखाते तो इनके कथित फासीवाद-विरोधी “सेक्युलर” चरित्र का पर्दाफाश होता और इनकी कतारें मोहभंग के कारण टूटकर अलग होने लगतीं। लेकिन फिलहाल ऐसी कोई स्थिति नहीं है। ऐसे में एकमात्र रास्ता यही बचता है कि जो भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप और संगठन हैं वे अपनी पहल पर व्यापक मेहनतकश जनता और मध्यवर्गीय बौद्धिक समुदाय के बीच फासीवाद-विरोधी जुझारू संघर्ष की लम्बी तैयारी के लिए तृणमूल स्तर पर सत्-सघन राजनीतिक काम करें।

जिस स्तर पर भी सम्भव हो, प्रगतिशील, सेक्युलर आम मध्यवर्गीय युवाओं और मजदूरों को (इनमें स्त्री समुदाय भी शामिल है) ऐसे दस्तों में संगठित करने की राह निकालनी होगी, जो तृणमूल स्तर पर लम्पट-असामाजिक-आपराधिक तत्वों और फासीवादी गुण्डों से निपटने को तैयार हों।

बस्तियों-मुहल्लों में पुस्तकालय, क्रान्तिकारी उत्सव आदि विविध सांस्कृतिक उपक्रमों के जरिए राहुल, भगतसिंह आदि की क्रान्तिकारी विरासत के प्रति जागरूकता पैदा करते हुए सेक्युलरिज़्म की जुझारू क्रान्तिकारी विचारधारा का सामाजिक आधार व्यापक बनाना होगा।

कथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के बड़े हिस्से ने धार्मिक कट्टरपंथ-विरोध को ज्ञापनों-प्रतिवेदनों और सभाकक्षों में सीमित वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप में शर्मनाक, ‘पैस्सिव’, कुलीन कर्मकाण्ड बना दिया है। किताबों पर प्रतिबंध, आयोजनों में तोड़-फोड़ हंगामे जैसी फासीवादी गुण्डा हरकतों का वामपंथी बुद्धिजीवियों को जुझारू प्रतिवाद करना होगा और सड़कों पर उतरना होगा। इतिहास और संस्कृति-विषयक फासीवादी विकृतिकरण और दुष्प्रचार का प्रतिवाद केवल गम्भीर शोधपत्रों, संगोष्ठियों से ही नहीं किया जा सकता और कायर-कुलीन “प्रगतिशील” इसे कर भी नहीं सकते। हमें व्यापक जन प्रचार के तरीके अपनाने होंगे, वैकल्पिक जन-मीडिया संगठित करना होगा और हर मोर्चे पर उन अतार्किक, अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक विचारों के खिलाफ प्रचार चलाना होगा, जिनका इस्तेमाल करके फासीवादी ताकते निराश और पिछड़ी चेतना वाले मध्य वर्ग और मजदूरों के बीच अपना सामाजिक आधार बनाने का काम करती हैं।

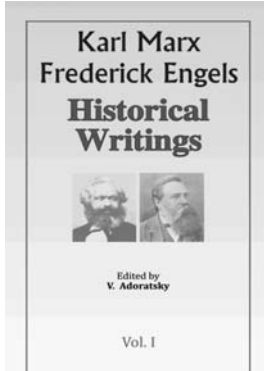
जो संशोधनवादी पार्टियाँ फासीवाद-विरोध को मात्र चुनावी गँठजोड़ों तक सीमित कर देती हैं और सिर्फ संसद में गते की तलवारें भाँजती हैं, इनके असली चरित्र को मेहनतकश जनता के सामने लाना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यभार है। यही वे पार्टियाँ हैं जिन्होंने अर्थवाद, सुधारवाद और ट्रेड यूनियनवाद की राजनीति का मजदूर आन्दोलन पर वर्चस्व स्थापित करके फासीवादी बर्बरता की चुनौती के सामने मजदूर वर्ग को वैचारिक-राजनीतिक रूप से निश्शस्त्र और अरक्षित बना दिया है। मजदूर वर्ग की राजनीतिक तैयारी के बिना फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष महज एक खोखला नारा बना रहेगा।

मौजूदा फासीवादी उभार कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए एक चेतावनी है कि हमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की तैयारी के लिए मजदूर वर्ग की राजनीतिक तैयारी के काम को तेज़, बहुत तेज़ करना होगा। हमें मजदूर वर्ग की एक एकीकृत पार्टी के पुनर्निर्माण के

काम को पूरी ताक़त लगाकर आगे बढ़ाना होगा। इस प्रक्रिया के दौरान, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से सोचना होगा कि विचारधारा और लाइन के प्रश्नों पर बहस जारी रखते हुए, कम से कम फासीवादी हमलों के कारगर प्रतिरोध के लिए वे किस प्रकार एक साथ खड़े हों।

क्रान्ति की मनोगत शक्तियों के बिखराव और मज़दूर वर्ग में उनके आधार के कमज़ोर होने के कारण हालात कठिन और चुनौतीपूर्ण ज़रूर हैं। साम्राज्यवाद के असाध्य ढाँचागत संकट के इस दौर में पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष की तैयारी के साथ फासीवाद के कारगर प्रतिरोध का सवाल और अधिक गहराई के साथ जुड़ गया है। यह एक लम्बी लड़ाई है, जिसमें एक दिन के लिए भी ढीला नहीं पड़ा जा सकता।

An Important Book from Rahul Foundation



Price: Rs. 700 (Set)
Pages: 1248
ISBN 978-93-80303-58-1
978-93-80303-59-8

Historical Writings

Karl Marx & Frederick Engels, 2 Volumes

These historical writings by Karl Marx and Frederick Engels were written immediately after the events of which they treat. On the basis of concrete material, Marx and Engels give striking examples of the materialist explanation of history. But the theoretical analysis of the events does not by any means exhaust the significance of these historical works. Marx's work as historical investigator is intimately bound up with the practical struggle of the proletariat. The writings and documents collected in this edition also give the reader sufficient material for studying the foundations of the theory and policy of scientific communism as created and developed by Marx and Engels.

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782

Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

नेपाली क्रान्ति: गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में

● आलोक रंजन

नेपाल में संविधान सभा के चुनावों में नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की भारी पराजय से अनुभववादी आशावादी भावुक क्रान्तिवादियों को काफी सदमा लगा है। लेकिन जो हुआ है, वह एनेकपा (माओवादी) की राजनीति का ही तार्किक परिणाम है।

बुर्जुआ संसदीय जनवाद के खेल के प्रति एनेकपा (माओवादी) का बहुत भरोसा था, तो अब उसके नतीजों को भी स्वीकार करने/भुगतने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए था। अब पार्टी का कहना है कि मतपेटियों को गणना के पहले रात भर सेना के बैरक में रखना रहस्यपूर्ण था और इस चुनाव में भारी घपला हुआ। लेकिन प्रचण्ड और भट्टराई यदि समझते थे कि ऐसे घपले बुर्जुआ संसदीय चुनावों में नहीं होंगे, पिछले चुनावों से सबक लेकर शासक वर्ग और सेना इस बार उनकी पार्टी को हाशिए पर धकेले देने का इंतजाम नहीं करेंगी, तो यह उनका मुगालता था। बुर्जुआ राज्यसत्ता के बारे में यदि वे सामाजिक जनवादी विभ्रमों में डूब गये थे, तो उन्हें इसकी कीमत तो चुकानी ही थी।

सच तो यह है कि संविधान सभा के पहले चुनाव के समय भारी जनसमर्थन का दबाव नेकपा (माओवादी) के पक्ष में था और जनमुक्ति सेना भी तब वजूद में थी, इसलिए चाहकर भी शासक वर्ग तब अपनी मनचाही नहीं कर सकता था। 2013 में परिस्थिति एकदम भिन्न थी। पार्टी अपने पुराने इलाकाई आधारों से उखड़

चुकी थी। यहाँ तक कि लोकयुद्ध के दौरान जो ज़मीनें भूस्वामियों से छीनकर किसानों में बाँटी गयी थी, वे सरकार में रहते हुए, शासक वर्ग के दबाव में, वापस फिर भूस्वामियों को दे दी गयी थी, इस आश्वासन के साथ कि नया संविधान बनने के बाद रैडिकल भूमि सुधार लागू करके फिर से ज़मीनों का पुनर्वितरण किया जायेगा। पूर्ववर्ती मुक्तक्षेत्रों में लोकसत्ता के जो रूप पैदा हुए थे, वे सभी छिन्न-भिन्न हो चुके थे। जनमुक्ति सेना शासक वर्ग की अन्य पार्टियों के लम्बे दबाव की नीति के आगे झुकते हुए, विलय के पुराने खाँके को छोड़कर, विलय के नाम पर विसर्जित की जा चुकी थी। संसद में बैठने और सरकार चलाने के दौरान काठमाण्डू में बैठे पार्टी नेतृत्व का बुर्जुआ जीवन और भ्रष्टाचार के उदाहरण कतारों और जनता में भारी पस्ती और गुस्से का सबब बन रहे थे। प्रचण्ड-भट्टराई धड़ों को संशोधनवादी बताते हुए किरण वैद्य-गजुरेल-बादल धड़े के अलग होकर नेकपा (माओवादी) के पुर्नगठन और इस नयी पार्टी द्वारा 33 अन्य दलों के साथ मिलकर चुनाव बहिष्कार करने का भी परिणाम एनेकपा (माओवादी) को भुगतना ही था। मधेसी पार्टियों की अनुपस्थिति और बिखराव का फ़ायदा उठाने के लिए एनेकपा (मा.) ने पर्वतीय अंचलों के पुराने प्रभाव क्षेत्रों को छोड़कर तराई क्षेत्र में अपनी ज़्यादा ताक़त झोंकी थी, क्योंकि उन्हें भय था कि पूर्ववर्ती प्रभावक्षेत्रों की आक्रोशित जनता शायद इस बार उनका साथ उस हद तक न दे। नतीजा, दोनों ही जगहों पर उन्हें कुछ खास हासिल नहीं हुआ। यह आकलन नेपाल की ठोस परिस्थितियों को देखकर सही नहीं लगता कि एनेकपा (मा.) की हार सिर्फ़ चुनावी घपले का नतीजा है। घपले की एक हद तक की भूमिका हो सकती है, लेकिन यदि घपला नहीं भी होता तो इस बार पार्टी का बहुमत ला पाना मुश्किल था, असम्भवप्राय था। नेपाल की ज़मीनी हकीकत जानने वालों को यह चुनाव के पहले ही आभास होने लगा था।

संसदीय जनवाद के प्रति प्रचण्ड-भट्टराई-नारायण काजी श्रेष्ठ जो भ्रम, बल्कि यूँ कहें कि निष्ठा पाल बैठे थे, उसका एक परिणाम तो उनके सामने है। पर बात केवल इतनी ही नहीं है। यदि संविधान सभा में वे बहुमत में आ भी जाते तो संविधान सभा की संरचना और कार्यप्रणाली को देखते हुए, एक बुर्जुआ संविधान ही बना सकते थे, फ़र्क सिर्फ़ यह होता कि उसमें जनवाद का पक्ष कुछ ज़्यादा होता। बुर्जुआ जनवाद का आंशिक रैडिकल अतिक्रमण भी सेना और अन्य बुर्जुआ पार्टियों को (यूँ कहें कि नेपाली बुर्जुआ वर्ग, भूस्वामी वर्ग, भारतीय बुर्जुआ वर्ग और अन्य साम्राज्यवादी ताकतों को) कत्तई स्वीकार्य नहीं होता। शासक वर्ग पर दबाव बनाने के लिए बाहर मौजूदा वर्ग-संघर्ष का जो इस्तेमाल किया जा सकता था, उसे पार्टी पहले ही एक तरह से तिलांजलि दे चुकी थी। देहाती इलाकों में आधार और छापामार इलाके थे नहीं, लोक सत्ता के विकासमान स्थानीय रूप टूट चुके थे, जन मुक्ति सेना विसर्जित हो चुकी थी। इसलिए, हमारा यह स्पष्ट मानना है कि एनेकपा (मा.) के बहुमत पाने की स्थिति में भी नेपाल की जनवादी क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के द्वार खुल जाते, यह मानना भी एक मुग़ालता ही होगा।

वास्तव में नेपाल क्रान्ति की अग्रगति तो उस समय ही रुक गयी थी और उसका वह भविष्य तय हो चुका था (जो आज का वर्तमान है) जब नेपाल की और आज की दुनिया की “ठोस परिस्थितियों” के नाम पर प्रचण्ड ने और उनसे भी आगे बढ़कर भट्टराई ने सर्वहारा अधिनायकत्व के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों को “संशोधित” करते हुए सोवियत सत्ता

जैसी किसी प्रणाली के बरक्स बहुदलीय जनतंत्र के मॉडल को प्रस्तुत करना शुरू किया था। फिर उन्होंने जनता के जनवादी गणराज्य के पहले संघात्मक जनवादी गणराज्य जैसी एक और संक्रमणकालिक अवस्था का सिद्धान्त देना शुरू कर दिया ताकि संविधान सभा में अपने समझौतों, जोड़ों-तोड़ों और हर हाल में बने रहने का औचित्य-प्रतिपादन किया जा सके। पार्टी पहली संविधान सभा के मंच का रणकौशल (टेक्टिक्स) के रूप में इस्तेमाल करने की बात करती थी, लेकिन कालांतर में, किसी भी सूरत में संविधान-निर्माण और नये संविधान के तहत चुनाव लड़कर सत्तासीन होना ही उसका मुख्य उद्देश्य हो गया। जनमुक्ति सेना और आधार क्षेत्रों का विघटन-विसर्जन इसका स्पष्ट संकेत था। यानी चुनाव और संसद का इस्तेमाल पार्टी के लिए रणकौशल के बजाय रणनीति (स्ट्रैटेजी) का सवाल बन गया। जंगलों-पहाड़ों से चलकर “प्रचण्ड पथ” संसद के गलियारों में खो गया। हर संशोधनवादी पार्टी की तरह नेपाली पार्टी के नेता अलग-अलग बयानों में परस्पर-विरोधी बातें कहते रहे, अन्तरविरोधी बातें कहते रहते और बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्नों पर या तो ‘नरो वा कुंजरो’ की भाषा में बात करते रहे, या फिर उनसे कन्नी काटते रहे। भट्टराई को कभी तो यह लगता था कि क्रान्ति के लिए फिलहाल नेपाल में उत्पादक शक्तियों का विकास (यानी पूँजीवादी विकास) बहुत जरूरी है (देड सियाओ पिङ की भाषा) और कभी अपनी अवस्थिति को सही ठहराने के लिए एक पिछड़े देश में समाजवाद तो दूर लोक जनवादी क्रान्ति की भी असम्भवता सिद्ध करने के लिए उन्हें त्राँत्स्की तक की अवस्थिति सही लगने लगती थी। यह अनायास नहीं था कि इस पूरी अवधि के दौरान पार्टी चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जैसे प्रश्नों पर चुप्पी साधे रहती थी और उसके मुखपत्रों में भी इन विषयों पर या वर्तमान चीन के “बाजार समाजवाद” नामधारी मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले पूँजीवाद पर कभी कोई लेख नहीं आया। निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि वर्ग संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत सतत् क्रान्ति की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की बुनियादी शिक्षा को तत्कालीन नेकपा (माओवादी)—आज की एनेकपा (माओवादी), छोड़ चुकी थी। वह चुनाव और संविधान-निर्माण के मार्ग, बहुदलीय संसदीय प्रणाली के सिद्धान्त और उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त को अपना चुकी थी। विचारधारात्मक भटकाव बरसों पहले ही विचारधारात्मक प्रस्थान बन चुका था। लेकिन मिथ्या आशा के स्रोतों की तलाश करते बहुतेरे भावुक क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी इस प्रस्थान को महज छोटी-मोटी रणनीतिक या रणकौशलात्मक चूक मानते हुए और गड़बड़ियों की जड़ नेतृत्व के इस या उस व्यक्तित्व में तलाशते हुए यह भ्रम पालने के हठ पर अड़े रहे कि सगरमाथा पर एक दिन लाल झण्डा फहराकर रहेगा। अभी भी एनेकपा (मा.) की भारी चुनावी हार से क्षुब्ध ऐसे बुद्धिजीवी पूरी पार्टी के विचारधारात्मक पतन और रणनीतिक समझौतों पर सोचने के बजाय सारी गड़बड़ियों की जड़ सिर्फ यह मानते हैं कि सेना की मदद से बड़े पैमाने पर चुनावी धाँधली हुई। ऐसी बातों का मार्क्सवादी-वैज्ञानिक विश्लेषण से कुछ भी लेना-देना नहीं है। एनेकपा (मा.) के सामने फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद कायम होने के बाद आरजी सरकार के और उसके घटक दलों के व्यवहार का इतिहास था, संविधान सभा और सोवियत को लेकर बोलशेविक पार्टी के व्यवहार का इतिहास था, जर्मनी क्रान्ति को कुचल दिये जाने का इतिहास था, 1920के दशक में कुओमिन्ताङ के साथ चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संयुक्त मोर्चा बनने और

टूटने का इतिहास था। उसके सामने इण्डोनेशिया की पार्टी द्वारा बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार होने की ऐतिहासिक भूल और उसकी कीमत चुकाने का इतिहास था, चीले में अलेन्दे की सत्ता के सैनिक तख़्तापलट का इतिहास था, लेकिन चुनाव और बुर्जुआ जनवाद के बारे में लेनिनवादी निष्पत्तियों का बार-बार सत्यापन करने वाली घटनाओं से उन्होंने कुछ भी नहीं सीखा। यह आत्मधर्माभिमान, अतिशय आत्मविश्वास और विचारधारात्मक कमज़ोरी से पैदा हुआ बुर्जुआ विभ्रम था या संसदीय जनवाद के खेल में लम्बे समय तक उलझे रहने से पार्टी के चरित्र में आया स्वलन और साहस का अभाव (पराजय-बोध) था, यह निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है। हो सकता है कि ये सभी उपादान नेतृत्व के विभिन्न लोगों के बीच अलग-अलग रूपों और परिमाण में मौजूद हों। उल्लेखनीय है कि 2006 से 2013 के बीच पार्टी के लेनिनवादी ढाँचे और कार्यप्रणाली भी क्रमशः विघटित होती चली गयी थी। जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर सुगठन की जगह पार्टी का ढाँचा संचात्मक और ढीला-ढाला हो गया था। सदस्यता के मानक ढीले हो गये थे। पूरी पार्टी ऊपर से नीचे तक एक खुली जन-पार्टी जैसी ही हो गयी थी। विभिन्न संशोधनवादी पार्टियों से छिटके धड़ों को मिलाकर ताकत बढ़ा लेने की हड़बड़ी में पार्टी की राजनीतिक संस्कृति में तेजी से पतन आया था। शीर्ष नेतृत्व के कई लोग भी अपनी जीवन-शैली और भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद के आरोपों के चलते विवादास्पद बन चुके थे। राजनीतिक मतभेदों को हल करने के लिए बहस और पारदर्शी सांगठनिक तौर-तरीकों की जगह जोड़तोड़, गुटबाजी और सांगठनिक छल-नियोजन (मैनिपुलेशन) का चलन आम हो चला था।

आमतौर पर इतिहास में पहले भी यह देखा गया है कि कोई पार्टी यदि अपने “वामपंथी” भटकाव को साहसपूर्ण आत्मालोचना और दोष-निवारण द्वारा दूर नहीं करती है, तो पेण्डुलम फिर दूसरे छोर तक, यानी दक्षिणपंथी भटकाव तक जाता ही है। एनेकपा (माओवादी) के साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रचण्ड की लाइन में लोकयुद्ध के पूरे दौर में “वामपंथी” भटकाव एक सैन्यवादी लाइन के रूप में मौजूद था, राजनीति के ऊपर बन्दूक की प्रधानता थी, जुझारू कार्यकर्ताओं की राजनीतिक शिक्षा पर और उन्हें बोल्शेविक संस्कृति में ढालने पर जोर बहुत कम था। ऐसी पार्टी जब बुर्जुआ जनवाद के दौंवपेंच में उतरी तो फिर पूरी पार्टी उसी भँवर में उलझकर रह गयी।

दिलचस्प बात यह है कि नेकपा (मा.) में विलय के पूर्व प्रकाश उर्फ नारायण काजी श्रेष्ठ के नेतृत्व वाली नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) प्रचण्ड की लाइन के “वामपंथी” भटकाव की तथा ‘प्रचण्ड पथ’ के सूत्रीकरण की काफ़ी हद तक सही आलोचना रख रही थी और इस भटकाव के दूसरे छोर तक जाने की अन्तर्निहित संभावनाओं की भी शिनाख़्त कर रही थी। लेकिन विलय के बाद उस धड़े की मुख्य भूमिका प्रचण्ड और भट्टराई गुट के बीच सन्तुलन स्थापित करने की रह गयी और फिर प्रचण्ड और भट्टराई के साथ उतने ही जोर-शोर के साथ नारायण काजी श्रेष्ठ भी संसदीय मार्ग के अनुगामी बने। पश्चदृष्टि से देखकर कहा जा सकता है कि प्रचण्ड की लाइन की मूलतः सही आलोचना रखते हुए भी नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) में सही क्रान्तिकारी जनदिशा का विकल्प खड़ा कर पाने की क्षमता नहीं थी। इसके भीतर निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद (पैस्सिव रैडीकलिज़्म) की विच्युति निर्मल लामा के दौर की ही विरासत थी, जनान्दोलनों के साथ लम्बे दौर की संसदीय भागीदारी ने इस विच्युति को

गम्भीर विचलन बनाने में गंभीर भूमिका निभायी, पार्टी में कतिपय बुद्धिजीवियों ने नेतृत्व तक को प्रभावित करना शुरू कर दिया। नेकपा (मा.) के साथ एकता केन्द्र की एकता एक अवसरवादी एकता थी, जो बुनियादी उसूली मसलों को दरकिनार करके हुई थी। यह एकता-केन्द्र का आत्मसमर्पण अधिक था, हालाँकि लोकयुद्ध को 'रणनीतिक आक्रमण' की मंजिल तक पहुँच जाने की अतिउत्साही घोषणा के बाद उस समय तक प्रचण्ड को भी लगने लगा था कि काठमाण्डू तक पहुँचना इतना आसान नहीं है, संघर्ष में गतिरोध आने लगा था और शासक वर्ग की पार्टियों के साथ समझौता और संविधान सभा के चुनाव में उतरना नेकपा (मा.) को भी एकमात्र विकल्प दीखने लगा था। पहली संविधान सभा के चुनाव के बाद, नेकपा (मा.) की लोकप्रियता की लहर के प्रमाण मिल चुके थे। एकता केन्द्र ने इन्हीं स्थितियों में एकता का मार्ग चुना। इस अवसरवाद के पीछे नारायण काजी श्रेष्ठ की और उनके संगठन की जो कमजोरियाँ थी, वे सबसे अधिक नग्न रूप में तब सामने आयीं जब प्रचण्ड और भट्टराई के साथ वे संसदीय मार्ग के तीसरे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में सामने आये।

निश्चय ही आज, किरण वैद्य, गजुरेल, बादल आदि के धड़े ने एनेकपा (मा.) के संशोधनवाद का विरोध करते हुए पुराने जुझारू संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं के एक अच्छे खासे हिस्से को नेकपा (माओवादी) का पुनर्गठन करके गोलबंद कर लिया है। आज यह संगठन एनेकपा (माओवादी) को नेकपा (ए.मा.ले.) जैसी ही संशोधनवादी मानता है, लेकिन अभी यह उम्मीद बाँधने का कोई आधार नहीं दीखता कि यह पार्टी विपर्यय और बिखराव की शिकार नेपाली क्रान्ति की धारा को निकट भविष्य में जल्दी आगे की ओर गति दे पायेगी। इस संशय के पीछे वस्तुगत से अधिक मनोगत उपादानों की भूमिका है। स्मरणीय है कि 'प्रचण्ड पथ' के एक उत्साही पैरोकार किरण वैद्य लम्बे समय तक रहे। पार्टी जब एक ओर धड़ेबंदी का शिकार थी और दूसरी ओर संसदीय भटकाव की ओर तेजी से फिसल रही थी, उस समय बुनियादी विचारधारात्मक सवालों को उठाने के बजाय किरण वैद्य भी सांगठनिक जोड़तोड़ में ही व्यस्त थे। प्रचण्ड जिस समय बहुदलीय संसदीय प्रणाली की बात को आगे बढ़ाते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणा को "संशोधित" कर रहे थे, उस समय भी किरण वैद्य का विरोध मुखर नहीं था। विरोध सर्वाधिक मुखर होकर 'जनता का जनवाद' बनाम 'संघीय जनवाद' की बहस के दौरान सामने आया और उसे भी किरण वैद्य ने समझौता फार्मूले से हल करने की कोशिश की। इस धड़े का अप्रोच बुनियादी विचारधारात्मक मसलों को भी मुख्यतः 'आर्गनाइजेशन इन कमाण्ड' की दृष्टि से हल करने का रहा। अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि इस पुनर्गठित पार्टी की रणनीति और कार्ययोजना क्या है?

आज की विश्व परिस्थितियों और नेपाल की ठोस परिस्थितियों में, नेपाल की लोक जनवादी क्रान्ति का रास्ता पहले भी लम्बा और कठिन था। शुरुआती चक्र की सफलताओं से पैदा हुई अतिआशावादी जल्दबाजी में विचारधारात्मक रूप से कमजोर पार्टी ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के लम्बे रास्ते को छोटा करने की ग़लती की और इस ग़लती के अहसास के बाद, समझौते और चुनाव के चक्र में उतरकर संसदीय विभ्रमों का शिकार हो गयी। कहा जा सकता है कि साम्राज्यवादी ताकतों, भारतीय प्रभुत्ववादियों और नेपाली शासक वर्ग ने अपना खेल अधिक कुशलता और धीरज के साथ खेला और दमन के बजाय सर्वहारा क्रान्ति की हरावल शक्ति की कमजोरियों का लाभ उठाकर उसे विघटित करके अपने मक़सद में कामयाबी

हासिल की।

नेपाली जनता और कम्युनिस्ट कतारों में आज पस्ती और निराश व्याप्त है। लेकिन मुक्ति की आकांक्षाएँ अभी मरी नहीं हैं। मर भी नहीं सकती।

अभी भी विभिन्न संगठनों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कार्यकर्ता मौजूद हैं। ज़रूरत है एक ऐसे नेतृत्व की, जिसमें गुजरे समय के इतिहास का साहसपूर्वक सार-संकलन करने और कतारों के सामने रखने का साहस हो, जो नेपाली क्रान्ति को पुनःसंगठित करने की एक स्पष्ट कार्ययोजना प्रस्तुत कर सके, जो नये सिरे से बोल्शेविक साँचे-खाँचे में ढली, विचारधारात्मक पक्ष पर सर्वोपरि जोर देने वाली पार्टी के पुनर्निर्माण के भगीरथ-प्रयास में जुट जाने का साहस रखता हो।

एक नयी शुरुआत काफी पीछे लौटकर करती होगी।

इसके लिए धारा के विरुद्ध तैरने का साहस रखने वाले एक वास्तविक माओवादी नेतृत्व की ज़रूरत होगी।

राहुल फाउण्डेशन का प्रकाशन



नेपाली क्रान्ति :

इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार

आलोक रंजन

भारत और नेपाल में जारी वर्ग संघर्ष एक दूसरे को गहराई से प्रभावित करते हैं, इसलिए नेपाली क्रान्ति के सफ़रनामे से गहराई से परिचित होना भारत के जागरूक मुक्तिकामी जनों के लिए बेहद ज़रूरी है। साथ ही, नेपाल में क्रान्ति के रास्ते के प्रश्न पर संसदीय मार्ग बनाम क्रान्तिकारी मार्ग की जो बहस नये सिरे से उठ खड़ी हुई है, उसका सार्व- भौमिक विचारधारात्मक महत्त्व है। नेपाल के हालिया घटनाक्रम से इस पुस्तिका की विषयवस्तु और भी प्रासंगिक हो गयी है।

मूल्य : 55 रुपये

अंग्रेज़ी संस्करण भी उपलब्ध (मूल्य : 75 रुपये)

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

‘कम्युनिज़्म’ का विचार या उग्रपरिवर्तनवाद के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी

एलेन बेज्यू की पुस्तक ‘द कम्युनिस्ट
हाइपोथीसिस’ पर

● शिवानी

विचार

जब सिर्फ विचार होते हैं
अस्पष्ट होते हैं
प्रशंसनीय होते हैं।
विचार जब
व्यापकता पाते हैं
योजनाओं में ढलते हैं,
योजनाएँ जब
गतिशील होती हैं
आपत्तियाँ सिर उठाती हैं।

- ब्रेष्ट

“मार्क्सवाद, मज़दूर आन्दोलन, सामूहिक जनवाद, लेनिनवाद, सर्वहारा वर्ग की पार्टी, समाजवादी राज्य - ये सभी जो बीसवीं शताब्दी के आविष्कार हैं - अब हमारे लिए अपनी उपयोगिता खो चुके हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर ये ज़रूर अध्ययन और समीक्षा की माँग करते हैं - लेकिन व्यावहारिक राजनीति में अब ये किसी काम के नहीं रह गये हैं।”

-एलेन बेज्यू, 2008

एलेन बेज्यू की 2010 में प्रकाशित पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' पिछले कुछ समय से आम बौद्धिक-अकादमिक हलकों में ही नहीं बल्कि वामपंथी दायरों में भी चर्चा का विषय बनी हुई है। कुछ इसे 'कम्युनिज़्म की वापसी' की उद्घोषणा करने वाली पथ-अन्वेषक रचना कह रहे हैं, तो कुछ बेज्यू को इस दौर का सबसे बड़ा 'कम्युनिस्ट' दार्शनिक बता रहे हैं।

वैसे 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' अलग से लिखी गई कोई किताब नहीं है, बल्कि बेज्यू द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे गए लेखों या दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। इस किताब का मुख्य स्रोत 2008 में बेज्यू द्वारा 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' के लिए इसी नाम से लिखा गया वह निबन्ध है जिसमें बेज्यू 2007 के राष्ट्रपति चुनावों में निकोलस सारकोज़ी की जीत के ऐतिहासिक महत्व की पड़ताल करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सारकोज़ी की जीत से सम्पूर्ण फ्रांसिसी राजनीतिक जीवन की संरचना को धक्का पहुँचा है और उसकी दशा-दिशा गड़बड़ा गयी है। इसी निबन्ध में वह 'कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (परिकल्पना)' की अपनी अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। इसके अलावा, मार्च 2009 में लंदन में 'कम्युनिज़्म का विचार' ('दि आइडिया ऑफ कम्युनिज़्म') नाम से आयोजित एक कांफ्रेंस में बेज्यू द्वारा प्रस्तुत किया गया वक्तव्य भी इस पुस्तक का एक स्रोत है। यहाँ बताते चलें कि इस सम्मेलन में बेज्यू के अलावा स्लावोय जिज़ेक, जुडित बालसो, बूनो बोस्तील्स, टेरी ईगलटन, पीटर हॉलवर्ड, माइकल हार्ट, एण्टोनियो नेग्री, जाक रैन्शिये, एलेक्सांद्रो रूसो, एल्बर्टो टस्कानो, जियानी वातिमो जैसे तमाम किस्म के मार्क्सवादियों, नव-मार्क्सवादियों और उत्तर-मार्क्सवादियों ने शिरकत की थी।

●
 दार्शनिकों ने
 दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
 पर सवाल उसको बदलने का है।
 लेकिन हम खुद सोचेंगे
 सभी सवालों पर फिर से,
 नये ढंग से।
 हर पुरानी चीज़ पर
 सवाल उठाना है हमें
 जैसे कि इस कथन पर भी
 कि दार्शनिकों ने... ...

-कात्यायनी ('दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनताओं के विविध विचार-6)

'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' की विस्तृत समीक्षा में जाने से पहले यहाँ कुछेक बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पहली बात यह कि बेज्यू का कम्युनिज़्म का विचार या सिद्धान्त एक गैर-मार्क्सवादी कम्युनिज़्म की बात करता है और मार्क्सवादी विचारधारा को भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics) के लिए अपर्याप्त, अप्रासंगिक और गैर-ज़रूरी मानता है। दूसरी बात यह कि बेज्यू का कम्युनिज़्म का विचार

अनैतिहासिक है। बेज्यू के अनुसार कम्युनिज़्म का यह विचार अनादि-अनन्त है। यह मानवता के उद्भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक*, रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, फ्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के साथ शुरू होता है और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ खत्म होता है) कम्युनिज़्म के दिव्य विचार (eternal ide) की यात्रा के अलग-अलग क्षण, पड़ाव या मील के पत्थर हैं। **तीसरी बात** यह कि बेज्यू के अनुसार बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए। उनका मानना है कि सोवियत संघ और चीन में क्रान्तियों की मुक्तिकामी सम्भावना-सम्पन्नता को पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क, हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व और समाजवादी राज्यसत्ता ने पहले बाधित किया और फिर पूरी तरह नष्ट कर दिया। और **चौथी बात** यह कि इस सारे “विश्लेषण” से बेज्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम्युनिज़्म के विचार और मुक्ति की राजनीति को क्रान्ति के ‘पैराडाइम’ में अवस्थित नहीं किया जा सकता है और न ही पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क का ‘बन्दी’ बनाया जा सकता है। और यह भी कि “क्रान्तियों का युग” बीत चुका है। अपनी पुस्तक ‘दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस’ में बेज्यू इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस पुस्तक की अपनी समीक्षा में हम बेज्यू के राजनीतिक दर्शन से जुड़े सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। उनकी दार्शनिक समालोचना इस समीक्षा की विषय-वस्तु नहीं है और राजनीतिक-विचारधारात्मक मुद्दों पर बेज्यू की आलोचना के लिए जहाँ हमें उनके दार्शनिक मूलों पर जाना पड़ा, केवल वहीं हम उनके दर्शन का जिक्र करेंगे। वैसे राजनीतिक-विचारधारात्मक समालोचना अपने आप में बेज्यू के दर्शन के बारे में भी काफी कुछ बताती है।

‘दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस’ चार अध्यायों में विभाजित पुस्तक है, लेकिन इन चारों अध्यायों में किसी किस्म की निरन्तरता या प्रवाहमयता मौजूद नहीं है। इतना जरूर है कि इन चारों ही अध्यायों में बेज्यू अलग-अलग तरीके से ‘कम्युनिज़्म’ के विचार पर “विचार” करते हुए, बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की ‘विफलता’ का ठीकरा पार्टी-राज्य के पूरे फ्रेमवर्क पर फोड़ते नज़र आते हैं। पहले तीन अध्यायों में बेज्यू क्रमशः मई 1968 में फ्रांस के छात्र और मजदूर आन्दोलनों, चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और पेरिस कम्यून की चर्चा करते हैं। चौथा अध्याय 2009 लंदन सम्मेलन में उनके द्वारा दिये गये “कम्युनिज़्म का विचार” नामक वक्तव्य का पाठ है। इन चारों अध्यायों के अतिरिक्त इस पुस्तक में एक प्रस्तावना और परिशिष्ट के रूप में बेज्यू द्वारा स्लावोय जिज़ेक के नाम लिखा गया एक पत्र भी है। अपनी समीक्षा की शुरुआत हम इस पुस्तक की प्रस्तावना से ही करेंगे। प्रस्तावना का नाम है - “**विफलता किसे कहते हैं?**”

बेज्यू अपनी प्रस्तावना की शुरुआत में कहते हैं कि 1970 की ‘लाल दशाब्दी’ के अन्त के साथ पश्चिमी पूँजीवादी देशों का कम्युनिज़्म-विरोध एक बार फिर ज़ोर-शोर के साथ सामने आया। ‘नये दर्शन’ के हिमायतियों ने समाजवादी राज्यों की ‘निरंकुशता और सर्वसत्तावाद’ पर ख़ूब शोर मचाया और बुर्जुआ संसदवाद और प्रातिनिधिक जनवाद की अच्छाइयों को गिनाना शुरू कर दिया। इस उन्मादी हर्षोल्लास के पीछे जो तर्क काम कर रहा था वह यह था कि समाजवाद, जो कि कम्युनिस्ट विचार का एकमात्र मूर्त रूप था, बीसवीं सदी में पूरी तरह विफल हो गया। इसके बाद बेज्यू कहते हैं कि इसलिए विफलता के विचार पर आज “विचार” करने की आवश्यकता है। बेज्यू पूछते हैं कि जब हम कहते हैं कि

कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (प्राक्कल्पना) के अमलीकरण के तौर पर जो समाजवादी प्रयोग हुए, उनका अन्त 'विफलता' में हुआ, तो हमारा मतलब क्या होता है? क्या वे पूरी तरह से असफल हुए? क्या इसका मतलब है कि हम इस प्राक्कल्पना को ही त्याग दें या मुक्ति की पूरी समस्या को ही तिलांजलि दे दें? बेज्यू को यहाँ तक पढ़ने पर पाठक के मन में उम्मीदें जगने लगती हैं, लेकिन ये उम्मीदें ज़्यादा देर तक नहीं ठहरतीं। क्योंकि इसके बाद बेज्यू जो स्वर अपनाते हैं, वह वही पुराना राग है - **चूँकि बीसवीं सदी की क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क में कैद थीं, इसलिए वे असफल होने के लिए अभिशप्त थीं।** यह प्रश्न बेज्यू यहाँ इस प्रकार उठाते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों ने जो रूप अपनाया और जो रास्ता अख़्तियार किया, क्या उसी में तो इस 'विफलता' के कारण अन्तर्निहित नहीं हैं और इसलिए 'विफलता' उनकी नियति थी? यहाँ यह बात जोड़नी ज़रूरी है कि **इस पूरी पुस्तक में, या फिर बेज्यू की अन्य सभी कृतियों में भी, बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण को इस्तेमाल किये ही एक 'त्रासदी' या 'आपदा' मान लिया गया है।** ज़िज़ेक के लेखन की तरह यहाँ भी यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है।

दूसरी बात यह कि रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों का पतन या विफलता किस दौर में शुरू होती है, इसकी भी कोई समझदारी बेज्यू के लेखन में आपको नहीं मिलेगी। पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा मशीनरी की तरह यहाँ पर भी 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक समाजवाद का दौर कायम माना जाता है! 1956 के बाद सोवियत संघ की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक साम्राज्यवादी भूमिका और देश के अन्दर जनता के खिलाफ एक सामाजिक फासीवादी भूमिका को ही समाजवाद के रूप में चित्रित किया जाता है। हालाँकि बेज्यू के लिए कम्युनिज़्म की अपनी परिकल्पना के लिए इस 'विफलता' की कालिकता या स्थानिकता (temporality and spatiality) को स्पष्ट करना ज़रूरी नहीं है क्योंकि इस परिकल्पना के अनुसार तो 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के साथ ही समाजवाद की 'विफलता' का दौर शुरू हो गया था; आख़िर इस क्रान्ति ने ही तो कम्बख़्त पार्टी-राज्य के 'पैराडाइम' को संस्थाबद्ध और सुव्यवस्थित किया था! **इसलिए बेज्यू इस पुस्तक में और अन्यत्र भी, 1917 से 1953 तक के दौर की कभी चर्चा नहीं करते।** इस पूरे दौर का समाहार वह यह कह कर देते हैं कि पार्टी-राज्य ने एक नयी किस्म की "निरंकुशता" को जन्म दिया जिसकी मुख्य आभिलाक्षणिकताएँ थीं- 'पुलिस द्वारा दमन' और 'आन्तरिक नौकरशाहाना जड़ता'। **क्या यह ठीक वही आलोचना नहीं है जो लियोन त्रात्स्की, रॉय मेदवेदेव, इसाक डॉइशर, मार्क फेरो जैसे लोग करते हैं? हालाँकि इन सबमें काफ़ी मतान्तर और विविधता है लेकिन रूसी क्रान्ति और समाजवादी मज़दूर सत्ता को और विशेष तौर पर स्तालिन के नेतृत्व में समाजवाद के निर्माण को कोसने में गहरी एकता है?**

वापस पुस्तक की प्रस्तावना पर लौटते हैं। बेज्यू आगे कहते हैं कि "क्रान्ति", "सर्वहारा", "समाजवाद" जैसी जातिवाचक संज्ञाएँ (common nouns) मुक्ति की राजनीति के लिए अपना महत्व खो चुकी हैं। इसके बाद बेज्यू अपने उपन्यास 'दि रेड स्कार्फ' और नाटक 'दि इन्सिडेण्ट इन एण्टियाँक' के कुछ हिस्से उद्धृत करते हैं। इन उद्धरणों के जरिये वह दो बातें रेखांकित करना चाहते हैं। **पहली बात** यह कि कम्युनिज़्म एक निरपेक्ष सत्य है जिसकी निरपेक्ष यात्रा शताब्दी दर शताब्दी, प्राचीन काल से ही चली आ रही है। और **दूसरी बात** यह कि जो

क्रान्तियाँ विजयी भी हुईं उन्होंने सत्ता और दमन के नए रूपों को ही जन्म दिया क्योंकि ये क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क में बँध कर रह गयीं। इसके बाद बेज्यू **तीन प्रकार की विफलताओं** की बात करते हैं। पहली प्रकार की 'विफलता' वह है जिसमें क्रान्तिकारी कुछ समय के लिए किसी देश या किसी विशिष्ट इलाके में सत्ता पर काबिज होते हैं लेकिन हथियारबन्द प्रतिक्रान्तिकारी ताकतों के द्वारा कुचल दिये जाते हैं। इस 'विफलता' के तौर पर वह **पेरिस कम्यून** और रोज़ा लकज़मबर्ग और कार्ल लीबनेख्त के नेतृत्व में प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद की **स्पार्टकिस्ट बगावत** का उदाहरण देते हैं। दूसरे प्रकार की 'विफलता' के उपशीर्षक के तहत वे उन व्यापक जनान्दोलनों को गिनाते हैं जिनका मकसद सत्ता हथियाना होता ही नहीं है, हालाँकि ये आन्दोलन कुछ समय के लिए राज्य की प्रतिक्रियावादी ताकतों को रक्षात्मक मुद्रा में आने के लिए बाध्य करते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर वह **मई 1968 का आन्दोलन** गिनाते हैं। फिर बेज्यू तीसरे प्रकार की 'विफलता' का चर्चा करते हैं जिसके तहत वे बिना कोई फर्क किये बीसवीं सदी के सभी समाजवादी प्रयोगों को गिनाते हैं जिनमें कम्युनिस्ट परिकल्पना के अमलीकरण के नाम पर "पार्टी-राज्य का आतंक राज्य कायम हुआ" और कम्युनिज़्म के विचार को ही त्याग दिया गया! अपनी प्रस्तावना का अन्त बेज्यू **"प्लाइण्ट" (बिन्दु या क्षण)** की अपनी अवधारणा से करते हैं। आम तौर पर भी इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ बेज्यू उत्तर मार्क्सवादियों की पसंदीदा हेगेलीय दर्शन और लकानीय मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल करते नज़र आते हैं, उदाहरण के लिए बेज्यू की "टूथ-प्रोसीजर", "इवेण्ट", "सब्जेक्ट" इत्यादि की अवधारणा आदि मगर फिलहाल हम पहले "प्लाइण्ट" की बेज्यू की अवधारणा पर विचार करते हैं। "पवाइण्ट" की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए बेज्यू कहते हैं कि किसी भी मुक्तिकामी राजनीति के क्रम या शृंखला में (यानी कि किसी भी क्रान्ति के दौरान) यह वह क्षण होता है जिसमें विकल्प की 'बाइनरी' पर (यानी कि इस प्रश्न पर कि विकल्प 'क' अपनाया जाय या विकल्प 'ख') उस पूरी प्रक्रिया का भविष्य निर्भर करता है। वे आगे कहते हैं कि हमें यह समझना होगा कि सभी "विफलताओं" का कारण इसी क्षण पर लिये गये फैसलों में अन्तर्निहित है। सीधे-साफ शब्दों में कहें तो **बेज्यू के कहने का अभिप्राय यह है कि पेरिस कम्यून के अनुभवों के बाद, पहले मार्क्स और फिर लेनिन द्वारा, हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य-सत्ता (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) की प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन ही इस क्षण पर लिये गये ग़लत फैसले थे। यह 'मूल पाप' था; नाजुक मौके पर ग़लत फैसला! और यहीं से सारी ग़लती और विफलता की शुरुआत होती है!** बेज्यू अपनी इसी थीसिस को इस पुस्तक के बाकी हिस्सों में स्पष्ट करते चलते हैं और हर स्पष्ट अवधारणा को इस प्रक्रिया में अस्पष्ट करते जाते हैं।

इस पुस्तक के पहले अध्याय का नाम है - **"हम अभी भी मई 1968 की समकालीनता में हैं।"** इस अध्याय के तीन भाग हैं। पहला भाग मई 2008 में 1968 के चालीस वर्ष पूरे होने पर आयोजित एक कार्यक्रम में बेज्यू द्वारा दिया गया व्याख्यान है। बेज्यू कहते हैं कि मई 1968 की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इसके बाद बेज्यू मई 1968 की विजातीयता और बहुलता की बात करते हुए कहते हैं कि मई 1968 कोई एकाशमी परिघटना नहीं थी बल्कि चार अलग-अलग परिघटनाओं की जटिलता लिये हुए थी (बेज्यू स्वयं भी इस आन्दोलन का हिस्सा थे)। **पहला** मई 1968 वह था जिसमें विश्वविद्यालय और स्कूलों के छात्र-छात्राएँ हिस्सा ले रहे थे, यानी कि जिसका मुख्य तत्व **छात्र-आन्दोलन** था। **दूसरा** मई 1968 **मज़दूर आन्दोलन**

के इर्द-गिर्द केन्द्रित था, जिसमें सी.जी.टी. (जनरल कन्फेडरेशन ऑफ लेबर - एक संशोधनवादी ट्रेड यूनियन संघ) और अन्य यूनियनों द्वारा आयोजित हड़तालों के साथ ही परम्परागत यूनियन के सांगठनिक ढाँचे के बाहर भी मजदूरों द्वारा आयोजित हड़तालें थीं, जिन्हें “वाइल्डकैट स्ट्राइक्स” की संज्ञा दी जाती थी। इस दौरान फैक्ट्रियों पर कब्जा आम बात थी। तीसरे मई 1968 को स्वच्छन्तावादी (लिबर्टेरियन) मई कहा जा सकता है जिसमें पेटी बुर्जुआ वर्ग की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मुद्दा अहम था। इसकी अभिव्यक्ति उस दौर के कला साहित्य, सिनेमा में भी नज़र आती है। इसके बाद बेज्यू चौथे मई 1968 की चर्चा पर आते हैं, जो उनके अनुसार उपरोक्त सभी से कहीं ज़्यादा ज़रूरी था। बेज्यू के अनुसार यह इसलिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि यह राजनीति की पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर - जैसे पार्टी, यूनियन आदि पर - सवाल उठा रहा था। इस कथन में आंशिक सच्चाई है। 1960 के दशक से ही फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ.) संशोधनवाद का रास्ता पकड़ चुकी थी। फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी 1953 में सोवियत संघ में खुश्चेवी संशोधनवाद आने के बाद भी उसका समर्थन कर रही थी और हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया जैसे पूर्वी यूरोप के तमाम देशों में सोवियत साम्राज्यवाद के कुकृत्यों को लेकर चुप थी और समझौतापरस्त अवस्थिति अपना रही थी। जहाँ तक सी.जी.टी. जैसी संशोधनवादी, अराजकतादी-संघातिपत्यवादी यूनियनों का सवाल था, तो उनकी स्थिति और अवस्थिति बहुत कुछ वर्तमान भारत में सीटू, एटक जैसी यूनियनों के जैसी ही थी। ऐसे में, पार्टी और यूनियनों का जो मॉडल मौजूद था, उससे मोहभंग होना लाज़िमी था और चूँकि उस समय कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था जो इन स्वतःस्फूर्त जनउभार की कारवाइयों को संगठित कर सकता इसलिए मई 1968 बस मई 1968 बनकर ही रह गया। केवल विद्रोह की सफलता और असफलता की बात की जाय तो इसका अन्त उसी हताशा में हुआ, जिस हताशा में ‘ऑक्युपाई’ आन्दोलन और अरब बसन्त का हुआ है, हालाँकि मई 1968 का महत्व इस रूप में भी था कि इसके बाद तमाम ऐसी विचार-सरणियाँ पैदा हुईं जिनका अन्त ‘उत्तर’-वादी विचार-सरणियों में हो गया; मई 1968 ने जो विचारधारात्मक विभ्रम पैदा किया वह उसे आज के असफल आन्दोलनों या विद्रोहों से अलग करता है। मई 1968 में यूरोपीय वाम और यूरोपीय रैडिकल बुद्धिजीवी वर्ग ने सोवियत संशोधनवाद और उसके कुकर्मों और यूरोपीय सामाजिक-जनवादी पार्टियों के सुधारवाद और बुर्जुआ सत्ता से प्रणय पर जो प्रतिक्रिया दी, वह एक पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया थी, क्योंकि उसमें कोई आलोचनात्मक विवेक नहीं था। सोवियत संशोधनवादी पार्टी और सामाजिक साम्राज्यवादी व सामाजिक फासीवादी राज्य के अपराधों को पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की अवधारणा पर ही आरोपित कर दिया गया। बेज्यू भी इसी पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का अंग थे। शायद बेज्यू बिल्कुल इन्हीं कारणों से मई 1968 को लेकर इतना नॉस्टैल्जिक हैं, क्योंकि मई 1968 ने पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणाओं पर प्रश्न उठाना शुरू किया। इस दौर में पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर खड़े हो रहे सवालों के तर्क को बेज्यू बढ़ाते हुए मार्क्सवाद और क्रान्ति के विज्ञान को खारिज करने तक ले जाते हैं। बेज्यू कहते हैं कि “धीरे-धीरे यह सत्य उजागर होने लगा था कि जो सामान्य भाषा, जिसका द्योतक लाल झण्डा था, हम सब बोल रहे थे, वह दरअसल मृत्यु को प्राप्त हो रही थी।” मई 1968 की असली अहमियत बेज्यू के लिए यहाँ छिपी है।

अब तक कि अपनी समीक्षा में हम देख चुके हैं कि बेज्यू जैसे तमाम

उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर है। इस विषय में बेज्यू की स्पष्टवादिता की दाद देनी पड़ेगी कि वह सीधे-सीधे यह कह भी देते हैं कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुकी है। चीन में 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का भी बेज्यू एक गैर-पार्टीवादी विनियोजन करते हैं। बेज्यू के अनुसार महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी-राज्य का फ्रेमवर्क (यानी हिरावल पार्टी और सर्वहारा तानाशाही की मार्क्सवादी अवधारणाएँ) अब बेकार हो चुका है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर बेज्यू के विचारों की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के बरक्स बेज्यू के “कम्युनिज़्म” के काण्टीय, हेगेलीय, लकानीय विचार के बावजूद और शायद इसी वजह से भी उनका निशाना एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं; मिसाल के तौर पर, **वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा आदि।** साथ ही बेज्यू का यह भी मानना है कि क्रान्तियों का युग अब बीत चुका है।

जैसा कि हमने पहले कहा, दूसरी अहम बात जो हमें समझनी होगी वह यह है कि **बेज्यू जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों की वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति यूरोपीय वामपंथी बुद्धिजीवी वर्ग का संशोधनवाद और सामाजिक फासीवाद के कुकृत्यों से पैदा हुए राजनीतिक ट्रॉमा की ही अभिव्यक्ति है।** यह इस वर्ग की एक किस्म की पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया है। यूरोप में और विशेषकर फ्रांस में तमाम ऐसे राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तक थे, जिनकी विचारधारात्मक शुरुआत एक मार्क्सवादी के रूप में हुई थी। (बेज्यू की इसी पुस्तक में मई 1968 पर लिखे गए एक अन्य लेख, जो उसी दौर में लिखा गया था, से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उस समय बेज्यू खुद को एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही कहते थे और अभी मार्क्सवाद पर वह वे सब “सवाल नहीं उठा रहे थे जो आज उठा रहे हैं और न ही सर्वहारा, क्रान्तियों को “आपदा” करार दे रहे थे। हालाँकि उस लेख को अपनी इस पुस्तक में शामिल करने के कारण बेज्यू को लेख से पहले एक लम्बी-चौड़ी टिप्पणी भी जोड़नी पड़ी और मानना पड़ा कि उस लेख में पुराने पड़ चुके मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान का जिक्र बार-बार आता है; कि उस वक्त मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों पर गठित पार्टी को ही सभी समस्याओं की कुंजी मान लेने की भूल की गयी है; कि अब यह स्पष्ट हो चुका है कि पार्टी के सांगठनिक स्वरूप को ही त्यागना होगा, इत्यादि। इस टिप्पणी को पढ़ने के बाद लगता है कि बेज्यू उस समय की अपनी राजनीतिक अवस्थिति को लेकर आज तक शर्मिन्दा हैं!) लेकिन सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये हस्तक्षेप और पूर्वी यूरोप के छद्म समाजवादी देशों में जनता का अनुभव 1960 के दशक में सोवियत समाजवाद के पूरे दौर के प्रति पूर्वाग्रहों का कारण बना जिसके चलते ऐसे तमाम चिन्तकों और बुद्धिजीवियों का मोहभंग स्वयं मार्क्सवाद से ही हो गया क्योंकि वे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच फर्क नहीं कर पाये। साथ ही उसी समय चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी जारी थी, जिसे यूरोप में बहुतों ने ‘पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति’ समझा (स्वयं बेज्यू भी इसी समझदारी से ग्रस्त हैं।) कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि सारी बुराई की जड़ पार्टी और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को ही समझा जाने लगा। यही कारण है कि बेज्यू बीसवीं

सदी के समाजवादी प्रयोगों की 'विफलताओं' को पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क के मत्थे मढ़ते नज़र आते हैं। उनकी वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के ईंधन का स्रोत दार्शनिक भ्रम-विभ्रम की यही भट्टी है।

मई 1968 पर केन्द्रित अपने अध्याय के तीसरे खण्ड में बेज्यू वर्तमान पूँजीवादी संकट पर अपने विचार रखते हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी के चलते वह संकट के विषय में कुछ सामान्य-सी बातें करते हैं जो कि कई त्रुटियों और विकृतियों से भरी हैं। **मसलन, बेज्यू एक जगह कहते हैं कि वित्तीय पूँजीवाद पिछले 500 सालों से पूँजीवाद का एक केन्द्रीय संघटक अवयव रहा है!** काश कि बेज्यू ने लेनिन की "साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की चरम अवस्था" एक बार ठीक से पढ़ी होती तो इस तरह के मज़ाकिया सिद्धान्त प्रतिपादनों से वह बच सकते थे! लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान को तो उन्होंने पहले ही इतिहास की कचरा-पेटी के हवाले कर दिया है। हालाँकि कोई गैर-मार्क्सवादी भी उपनिवेशवाद के प्राक्-वित्तीय दौर और वित्तीय दौर में फ़र्क करेगा, लेकिन बेज्यू ऐसा नहीं कर पाते। क्योंकि, लकाँ और हेगेल के पोथों के बीच ही वे दब-से गये हैं! वैसे, सभी उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के बारे में एक बात दावे से कही जा सकती है-इन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी नहीं आता है। इस कमी को इतिहास की सुसंगत जानकारी और एक सन्तुलित ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। और कमी को ये बेज्यू पूरा कैसे करते हैं? फ्रांसीसी फ़ैशनेबल उत्तर-वाम की लच्छेदार शब्दावली में ऐतिहासिक तथ्यों के विकृतीकरण के अद्वितीय हुनर के ज़रिये! आमतौर पर बेज्यू इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ही अपनाते हैं। लेकिन अपने राजनीतिक-दार्शनिक हित-साधन के लिए वह आत्मगत चयन करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों का ब्यौरा देने से बाज़ नहीं आते हैं। वह इन तथ्यों को इस तरह तोड़-मरोड़ कर और मनमाने ढंग से पेश करते हैं कि उनकी अन्तर्वस्तु ही बदल जाती है। मसलन, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर अपने विचार रखते हुए वे जमकर तथ्यों का ब्यौरा देते हैं, लेकिन यह आत्मगत पूर्वाग्रहों के साथ किया गया इतिहास का एक पाठ है, जिसमें नतीजे पहले ही तय कर लिये गये हैं और उनके आधार पर तथ्यों का चयन बाद में किया गया है।

बहरहाल, अभी हम पूँजीवादी आर्थिक संकट पर बेज्यू के विचारों पर वापस आते हैं। बेज्यू अपने चिर-परिचित लकानीय अन्दाज में बताते हैं कि मौजूदा आर्थिक संकट तो महज 'स्पेक्टेकल' (तमाशा या कौतुक-स्वाँग) है जो पूँजीवाद के यथार्थ (Real) पर पर्दा डालने का काम कर रहा है। इसके बाद बेज्यू एक टुटपूँजिया स्वच्छन्दतावादी की तरह (जो कि वह हैं!) रूमानीपन का प्रदर्शन करते हैं और छद्म आशावाद से ग्रस्त हो कर कहते हैं कि आज सबसे अहम है विचारों और एक सामान्य परिकल्पना के प्रति अपने जुनून को एक बार फिर तलाशना (!), इस विश्वास के साथ की एक दूसरी दुनिया संभव है! "हमें पूँजीवाद के घृणित तमाशे के बरक्स लोगों का, लोगों के जीवन का और विचारों के आन्दोलन का यथार्थ खड़ा करना होगा।" यह कैसे खड़ा होगा यह बताना बेज्यू ज़रूरी नहीं समझते लेकिन अपनी पुरानी थीम पर वह ज़रूर एक बार फिर लौटते हैं (ऐसा करना वह कभी नहीं भूलते!)। वे कहते हैं कि हालाँकि 'कम्युनिज़्म' शब्द को "सस्ता और वेश्या बना दिया गया है" लेकिन हम इसे लुप्त नहीं होने देंगे। क्योंकि बेज्यू "कम्युनिज़्म" के इस विचार के तारणहार हैं, इसलिए वह "कम्युनिज़्म" को बचायेंगे! एलेन बेज्यू उसे अतीत के सारे अनुभवों से, क्रान्ति

के सिद्धान्त से, समाजवादी राज्य से और हिरावल पार्टी के भारी-भरकम बोझ से इस “दिव्य” विचार को भारमुक्त करेंगे और “मुक्ति की नयी राजनीति” गढ़ेंगे! जो क्या होगी यह बेज्यू नहीं बताएँगे क्योंकि वह खुद भी इससे अपरिचित हैं!

इस पुस्तक का अगला अध्याय **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** पर केन्द्रित है। इसका नाम है- ‘सांस्कृतिक क्रान्ति : अन्तिम क्रान्ति?’। इस अध्याय की शुरुआत में बेज्यू बताते हैं कि 1967 से 1976 तक सांस्कृतिक क्रान्ति पूरी दुनिया में और विशेषकर फ्रांस में जुझारू क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए एक सन्दर्भ-बिन्दु बनी। इसके बाद बेज्यू माओ का, माओवाद का और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का निकृष्ट किस्म का हस्तगतीकरण (appropriation) और विकृतिकरण (distortion) करते हैं। वह कहते हैं कि सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पार्टी-राज्य के स्वरूप के संतृप्तिकरण (saturation) का प्रारूपिक उदाहरण है। इसके बाद वे जोड़ते हैं कि हालाँकि यह स्वयं (सांस्कृतिक क्रान्ति) पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के भीतर ही काम कर रही थी और इसीलिए “विफल” हुई, लेकिन इसने आने वाले दिनों के लिए कुछ ज़रूरी सबक दिये। बेज्यू के अनुसार यह ज़रूरी सबक थे – सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धान्त को तिलांजलि देने का वांछितता। अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बेज्यू सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर की कई घटनाओं का ब्यौरा टुकड़ों-टुकड़ों में देते हैं, मनमाने ढंग से उन घटनाक्रमों की व्याख्या करते हैं और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का विकृतिकरण करते हैं। बेज्यू द्वारा माओ और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के विनियोजन की पड़ताल से पहले यह जानना यहाँ प्रासंगिक होगा कि माओ का महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का युगान्तकरकारी सिद्धान्त था क्या? यह जानना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि हाल तक बेज्यू खुद को माओवादी कहते रहे हैं। साथ ही, इस चर्चा के बाद हमें बेज्यू के एक-एक तर्क और विकृतिकरण को अलग से खारिज करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

माओ का महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का युगान्तरकारी सिद्धान्त समाजवादी संक्रमण के दौरान पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने और कम्युनिज़्म की दिशा में अग्रसर होने का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त है। माओ ने बताया कि समाजवादी संक्रमण एक सुदीर्घ ऐतिहासिक अवधि है जिसके दौरान वर्ग संघर्ष ही सर्वहारा क्रान्तिकारियों के लिए कुंजीभूत कड़ी है। लेनिन ने ही बताया था कि समाजवादी समाज में सर्वहारा वर्ग सत्ता में आ चुकी होती है, लेकिन बुर्जुआ वर्ग समाज में मौजूद रहेगा और अपने खोए हुए स्वर्ग को प्राप्त करने की कोशिश जारी रखता है और वर्ग संघर्ष नये रूपों में और भी सघन रूप में जारी रहता है। माओ ने बताया कि उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काम निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे के साथ शुरू होता है, ख़त्म नहीं, क्योंकि निजी सम्पत्ति का कानूनी खात्मा महज़ मालिकाने के सवाल को हल करता है। यह न तो वितरण के सवाल को पूरी तरह से हल करता है और न ही उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया में मौजूद तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को, यानी कि, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तरविरोध; शहर और गाँव के बीच का अन्तरविरोध; और, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध। जब तक ये असमानताएँ मौजूद रहती हैं तब तक पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; वस्तुओं का विनिमय मौजूद रहता है और इस प्रकार वस्तुओं का अस्तित्व महज़ उपयोग मूल्य के रूप में (यानी कि केवल उपयोग हेतु) नहीं बल्कि माल के रूप में होता है; और बुर्जुआ

अधिकारों की मौजूदगी में वितरण के सम्बन्धों में असमानता बनी रहती है; पूँजीवादी विशेषाधिकार से सम्पन्न पार्टी कमिसारों और संगठनकर्ताओं का वर्ग पार्टी के भीतर एक नये किस्म के पूँजीपति वर्ग का सृजन करता है और पार्टी के भीतर बुर्जुआ हेडक्वार्टर स्थापित करता है; विशेषज्ञों, प्रबन्धकों, पर्यवेक्षकों का वर्ग समाज के भीतर एक विशेषाधिकार-सम्पन्न तबका बनता है और पार्टी के भीतर मौजूद बुर्जुआ वर्ग के साथ साँठ-गाँठ कर एक ऐसी शक्ति का सृजन करता है जिसका समाजवाद और सर्वहारा वर्ग से अन्तरविरोध होता है। ये तत्व अपनी वर्ग प्रकृति और स्वभाव से हर समाजवादी प्रयोग के रास्ते में बाधा पैदा करते हैं, षड्यन्त्र करते हैं और सर्वहारा सत्ता का तख्ता-पलट करने की फिराक में रहते हैं। यदि इन वर्गों के खिलाफ सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व को नहीं लागू किया गया तो ये वर्ग अन्ततोगत्वा सर्वहारा सत्ता को पलटकर एक पूँजीवादी सत्ता में तब्दील कर देंगे। माओ ने बताया कि पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के लिए क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। समाज में मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच, शहर और गाँव के बीच और उद्योग और कृषि के बीच के विभेद समाजवादी समाज में मौजूद रहते हैं; पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; इन सबके खिलाफ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई महज पूँजीवाद के खिलाफ लड़ाई नहीं है। इनके खिलाफ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई वर्ग समाज के चार हजार वर्षों के पूरे इतिहास के खिलाफ एक महान युगान्तरकारी संघर्ष है। इसके लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत है। अधिरचना के क्षेत्र में, यानी कि संस्कृति, शिक्षा, कला, मनोविज्ञान, राजनीति, आदतों, मूल्यों, मान्यताओं आदि सभी क्षेत्रों में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की ज़रूरत है; यानी कि इन सभी क्षेत्रों में उपरोक्त तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के विरुद्ध सतत् प्रचार, संघर्ष और प्रचार के जरिये क्रमिक खात्मा और साथ ही उत्पादक शक्तियों का भी साथ में विकास करते जाना; बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वहारा वर्ग का सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना; पार्टी के भीतर आलोचना-आत्मालोचना, शुद्धीकरण आदि के अभियानों के जरिये बुर्जुआ कचरे की समय-समय पर सफाई करना; मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को जनता के बीच लगातार प्राधिकार बनाना; टुटपूँजिया उत्पादन पद्धतियों का क्रमिक खात्मा करना; उत्पादन को बढ़ाने पर जोर देना, लेकिन इस तरह से नहीं कि मानसिक और शारीरिक श्रम, शहर और गाँव, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध और अधिक बढ़े। इसीलिए माओ ने नारा दिया था, **‘क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ाओ।’** उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच की द्वन्द्वत्मकता को सही ढंग से समझे बिना समाजवादी निर्माण और संक्रमण की एक सुसंगत समझदारी नहीं हासिल की जा सकती। माओ ने चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के बाद ही कहा था कि इसके बाद भी इस बात का फैसला होने में अभी लम्बा समय लगेगा कि चीन में पहले चक्र में पूँजीवाद जीतेगा या समाजवाद। समाजवाद की अन्तिम विजय को सुनिश्चित करने के लिए कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की आवश्यकता पड़ेगी। यहाँ यह भी रेखांकित करने की ज़रूरत है कि अपनी अपूर्णताओं और असफलताओं के बावजूद महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला प्रयोग समाजवाद की समस्याओं और उनके समाधान के बारे में सर्वहारा वर्ग की समझदारी में युगान्तरकारी छलाँग लगा गया।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद इतना तो स्पष्ट है कि न तो यह ‘पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति’ थी और न ही पार्टी-राज्य पैराडाइम का

सन्तृप्तिकरण, जिस रूप में बेज्यू इसे चित्रित करने पर तुले हैं। बेज्यू माओ की जनदिशा को सिर के बल खड़ा करने की पुरज़ोर कोशिश करते नज़र आते हैं। उस दौर के तमाम तथ्यों और उदाहरणों (जैसे शंघाई कम्यून, वूहान की घटना आदि) का प्रयोग वह यह सिद्ध करने में करते हैं कि माओ स्वतःस्फूर्ततावाद के पूजक थे और पार्टी एवं सर्वहारा राज्य के प्राधिकार के विरुद्ध खड़े थे। बेज्यू माओ का पेटी बुर्जुआ लोकरंजकतावादी विनियोजन करके उन्हें हिरावल पार्टी की अवधारणा के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयास करते हैं। हालाँकि यह दीगर बात है कि इस उपक्रम में वह कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर पाते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को समझने की उम्मीद हम बेज्यू जैसे उत्तर-मार्क्सवादी और उत्तर-माओवादी (क्योंकि बकौल बेज्यू पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क की क़ैद से कम्युनिज़्म के विचार को मुक्त कराने में वे माओ से भी आगे निकल गये हैं।) से कर भी नहीं सकते हैं। इस अध्याय के अन्त में वे कहते हैं, “आज हम जानते हैं कि हर किस्म की मुक्तिकामी राजनीति को पार्टी के मॉडल के आगे सोचना होगा और पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के अध्याय को अन्तिम और निर्णायक तौर पर बन्द कर देना होगा। भविष्य की राजनीति पार्टी के बिना होगी...” लेकिन, भविष्य की यह राजनीति क्या होगी, बेज्यू एक बार फिर इस प्रश्न पर चुप्पी साधे हुए हैं।

अगले अध्याय में बेज्यू पेरिस कम्यून की चर्चा पर आते हैं। यहाँ पर एक बार फिर बेज्यू ऐतिहासिक विवरणों और तथ्यों का खूब प्रयोग करते हैं। पेरिस कम्यून से जुड़े तमाम तथ्यों को बेज्यू दर्शन और मनोविश्लेषण की श्रेणियों के ज़रिये पेश करते हैं। “सिंग्युलैरिटी”, “साइट”, “ऑण्टोलॉजी”, “लॉजिंग” जैसी श्रेणियों का इस अध्याय में खूब इस्तेमाल किया गया है। इन ऐतिहासिक तथ्यों के ब्यौरे में हम नहीं जाएँगे। हमारा मकसद यहाँ इस बात की पड़ताल करना है कि आखिर क्यों बेज्यू पेरिस कम्यून के मॉडल का इतना समर्थन करते हैं? कारण स्पष्ट है- क्योंकि पेरिस कम्यून के वक्त हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य की अवधारणा उतनी सुस्पष्ट नहीं थी जितना कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सत्ता पर क़ाबिज होने के इस पहले प्रयोग के समाहार के बाद वह हुई। बेज्यू के शब्दों में कहें तो कम्यून पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क का बन्दी नहीं था। मार्क्स ने कम्यून की परिस्थितियों, कारणों और अनुभवों का निचोड़ निकालते हुए जो निष्कर्ष निकाला, उसे भी याद करना यहाँ ज़रूरी है। मार्क्स ने कहा था, “मज़दूर वर्ग बनी-बनायी राज्य मशीनरी को ज्यों का त्यों हाथ में नहीं ले सकता और उसे अपना मकसद पूरा करने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।” उन्होंने बताया कि सर्वहारा वर्ग को पुरानी राज्य मशीनरी को “तोड़ने” और “चकनाचूर करने के लिए” क्रान्तिकारी हिंसा का इस्तेमाल करना चाहिए तथा “सर्वहारा अधिनायकत्व” को लागू करना चाहिए। बेज्यू का कहना कि मार्क्स कम्यून के अपने आकलन में सुस्पष्ट नहीं थे, कोरी लफ्फ़ाजी है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सर्वहारा राज्यसत्ता के विषय में मार्क्स के विचार वास्तव में क्या थे। यह बेज्यू का स्वतःस्फूर्ततावाद और पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क से उनकी ‘एलर्जी’ है जो उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है। बेज्यू के अनुसार एक दूसरी दुनिया का भ्रूण कम्यून के मॉडल में ही आकार ले रहा है क्योंकि यह मॉडल पार्टी-राज्य के स्वरूप से मुक्त है। यह इतिहास के चक्के को पीछे धकेलना नहीं तो और क्या है? पेरिस कम्यून का प्रयोग ठीक यही दिखलाता था कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी संगठन की आवश्यकता है और उनके ज़रिये ही वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस कर सर्वहारा वर्ग के

अधिनायकत्व को कायम कर सकता है। मज़दूर वर्ग व अन्य मेहनतकश वर्गों के विरुद्ध हिंसा के संगठित उपकरण का ध्वंस संगठित क्रान्तिकारी हिंसा के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन बेज्यू के लिए पेरिस कम्यून का मॉडल राज्य, पार्टी आदि की अशुद्धताओं से मुक्त था! यह तथ्यतः भी ग़लत है। दस सप्ताह से कुछ ज़्यादा समय तक पेरिस में मज़दूरों की सत्ता ने जो कुछ किया वह क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही था! बल्कि, मार्क्स के शब्दों को उधार लेते हुए कहा जा सकता है कि भ्रूण रूप में सर्वहारा सत्ता और शासन का एक नमूना पेश करने के बावजूद, पेरिस कम्यून की सबसे बड़ी ग़लती यही रही कि उसने क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पर्याप्त हद तक लागू नहीं किया। लेकिन बेज्यू हर ऐतिहासिक घटना की तरह पेरिस कम्यून का ज़िक्र करते हुए भी मनमाने ढंग से तथ्यों का चयन और व्याख्या करते हैं ताकि अपने पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया को और राजनीतिक सदमे को अभिव्यक्ति दे सकें। बेज्यू का काम आसान है: नतीजे पहले से तय हैं, बस तथ्यों को उसमें फिट करना है।



दार्शनिकों ने

दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है

पर सवाल उसको बदलने का है,

मानता हूँ।

लेकिन फ़िलहाल मैं असन्तुष्ट हूँ

दुनिया की व्याख्याओं से

और मानता हूँ कि

नये बदलावों की हो रही व्याख्याएँ

या तो नाकाफ़ी या फिर ग़लत हैं

और यह कि

रुका हुआ है आज

दुनिया को बदलने का काम भी।

इसलिए अभी तो मैं

दुनिया की एक और व्याख्या कर रहा हूँ।

-कात्यायनी ('दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-1)

अन्तिम अध्याय में आखिरकार बेज्यू “कम्युनिज़्म” के अपने विचार पर आते हैं। बेज्यू के “कम्युनिज़्म” का विचार क्या है, इसकी चर्चा हम पहले कर आए हैं। अपने “कम्युनिज़्म” के विचार को परिभाषित करने के लिए बेज्यू यथार्थ (the Real), काल्पनिक (the Imaginary) और प्रतीकात्मक (the Symbolic) की लकानियन त्रयी को लागू करते हैं। उनके अनुसार इतिहास ‘प्रतीक’ का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) ‘काल्पनिक’ का क्षेत्र है और राजनीति ‘यथार्थ’ का क्षेत्र है! आप इस बँटवारे के पीछे बेज्यू की पूरी हेगेलीय-लकानीय समझदारी को देख सकते हैं। यदि कम्युनिज़्म की परियोजना ‘काल्पनिक’ का क्षेत्र है तो कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन

जाती है। इसके अलावा बेज्यू का कम्युनिज़्म एक काण्टीय नियामक विचार (Regulative Idea) है जिसके लिए यथार्थ के अनुरूप होना या उसका प्रतिनिधित्व करना अनिवार्य नहीं है। यह एक लोकोत्तर विचार (transcendental Idea) है। इसलिए बेज्यू के कम्युनिज़्म का विचार महज़ एक विचार है, यह किसी किस्म के अमलीकरण या मूर्तीकरण का मोहताज नहीं है! ऐसा क्यों है इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

बेज्यू के दो अन्य सैद्धान्तिकरणों पर भी यहाँ चर्चा करना आवश्यक है। ठीक उसी प्रकार इतिहास को 'प्रतीकात्मक' के रूप में और राजनीतिक को 'यथार्थ' के रूप में चित्रित करने के पीछे भी जो सोच काम कर रही है, वह वही हेगेलीय-लकानियन समझदारी है। इसके अनुसार, इतिहास प्रतीकात्मक का प्रतिनिधित्व करता है। लकानीय त्रयी में अगर हम यथार्थ, प्रतीकात्मक और काल्पनिक के सम्बन्ध को समझ लें तो बेज्यू का हेगेलीय भाववाद खुलकर सामने आ जाता है। लकाँ के मुताबिक 'यथार्थ' (the Real) 'वास्तविकता' (the reality) से अलग वस्तु है। यथार्थ वह स्थिति है जिससे हम उस क्षण हमेशा के लिए काट दिये जाते हैं, जिस दिन हम भाषा के जगत में प्रवेश करते हैं। यानी कि अपनी छवि के प्रति सचेत होने के पहले (लकाँ का 'मिरर स्टेज' का सिद्धान्त जिसमें कि एक बच्चा पहली बार अपनी एक छवि को देखता है, जो कि वास्तव में बच्चे की असल छवि नहीं होती है, बल्कि एक काल्पनिक छवि होती है, और यह बच्चे की इस फन्तासीनुमा छवि को भरने का कार्य कोई ऐसी छवि करती है, जो बच्चा अपने लिए गढ़ता है, जिसका आधार कोई ऐसा व्यक्ति होता है जो कि वह बच्चा बन जाना चाहता है) एक नवजात शिशु 'यथार्थ' के जगत में होता है। इस मंज़िल में बच्चा सिर्फ़ आवश्यकता और उसकी पूर्ति को पहचानता है। वह अभी अपने, अपनी माँ या बाह्य जगत में अन्तर नहीं जानता है। लकाँ के लिए यह मंज़िल पूर्णता (completeness या fullness) की मंज़िल है। यह बोध भाषा में बच्चे के प्रवेश के साथ खो जाता है। भाषा के जगत में प्रवेश करते ही आवश्यकता माँग बन जाती है। यथार्थ से यह अलगाव स्थायी होता है और इसीलिए लकाँ का कहना था कि मनुष्यों के लिए यथार्थ असम्भव है, क्योंकि इसे भाषा में अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। लेकिन लकाँ के मुताबिक यथार्थ हमेशा एक भूमिका अदा करता रहता है और 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' 'यथार्थ' के पत्थर से बार-बार टकराते हैं और असफल होते रहते हैं। 'काल्पनिक' की अवस्था 'मिरर स्टेज' की अवस्था है जिसमें सब्जेक्ट आदिम आवश्यकता से "माँग" की मंज़िल में प्रवेश करता है। आवश्यकता पूरी हो सकती है, लेकिन "माँग" कभी पूरी नहीं हो सकती है। इसकी वजह से एक 'अभाव/कमी' का बोध जन्म लेता है। जैसे ही किसी को अपने अस्तित्व के दुनिया से अलग होने का पता चलता है वैसे ही एक अकुलाहट की भावना जन्म लेती है, जिसके पीछे कुछ 'खो' जाने का बोध काम करता है। बच्चा जैसे ही इस मंज़िल में पहुँचता है, उसकी "माँग" होती है इस अन्यता के घेरे में आ चुकी दुनिया को अपना अंग बनाना, जैसा कि बच्चे के नवजात अवस्था में हुआ करता था, जब बच्चा भाषा में प्रवेश के साथ अपने आपको दुनिया से अलग नहीं देखता था। यह "माँग" अपूरणीय होती है, क्योंकि यह उस छवि (image) पर आधारित है जो बच्चे ने अपने मन में बनायी है, यह छवि सुसंगत है, पूर्ण है, और स्थिरतापूर्ण है, लेकिन यह छवि उस वास्तविक बच्चे जैसी नहीं है। यह छवि एक कल्पना है जो बच्चे ने अपनी माँग के आधार पर बनायी है और इस रूप में अपूरणीय है। यह छवि किसी भी ऐसे व्यक्ति की हो सकती है जो कि बच्चा बनना चाहता

हो; और इस रूप में अपनी 'काल्पनिक' छवि से उसका सम्बन्ध नारसिसिस्टिक है। अब आते हैं लकाँ के 'प्रतीकात्मक' के सिद्धान्त पर। प्रतीकात्मक का सिद्धान्त वास्तव में 'यथार्थ' की 'काल्पनिक' के सहायता से भाषा के माध्यम के जरिये की गयी एक श्रेणीबद्ध प्रस्तुति है। मिसाल के तौर पर, 'काल्पनिक' के विश्व में हम अच्छे-बुरे, दुख-आनन्द, आदि के बारे में आदर्शीकृत धारणाएँ रखते हैं और अच्छा बुरे का, दुख आनन्द का बहिष्कार करता है; उनमें से एक ही स्वीकार्य होता है; यह वह धरातल होता है जहाँ हम चयन करते हैं। लेकिन 'प्रतीकात्मक' के जगत में इन दोनों का अस्तित्व सम्भव होता है; हालाँकि उनके बीच हम भेद करते हैं, मगर हम उन दोनों के अस्तित्वों को स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' में ऐसी श्रेणियाँ होती ही नहीं हैं; चूँकि 'यथार्थ' उस दौर का प्रतिनिधित्व करता है जब/जहाँ भाषा नहीं थी और इसलिए विचारधारा भी नहीं थी। बाद में, भाषा के प्रवेश के साथ और अपनी 'कल्पनाओं' की श्रेणियों की सहायता से हम 'यथार्थ' का 'वास्तविकता' के रूप में पुनरुत्पादन करते हैं। यह सारा झमेला दरअसल यह कह रहा है कि 'काल्पनिक' मानसिक निर्मिति है, जो कि भाषा के जगत में प्रवेश के समय 'स्व' और 'अन्य' में भेद के साथ पैदा होती है; इस दौर के पहले 'स्व' और 'अन्य' एक व पूर्ण होते हैं और यह 'यथार्थ' की मंजिल होती है; इसके बाद, भाषा (विचारधारा) के माध्यम से हम 'यथार्थ' को समझने के प्रयास में उसे श्रेणीबद्ध करते हैं, उसे समझने के लिए विभेदीकृत करते हैं (जो कि 'यथार्थ' दरअसल होता ही नहीं है!) और इस प्रक्रिया में अपने लिए एक 'वास्तविकता' का निर्माण करते हैं जो कि एक निर्मिति ही होती है और यह 'प्रतीकात्मक' का आधार है! यथार्थ अज्ञेय है! और इसीलिए जैसे ही हमारा 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' इस 'यथार्थ' से टकराते हैं, वैसे ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और इसके साथ ही नये 'काल्पनिक' और नये 'प्रतीकात्मक' की रचना होती है, जो एक नयी 'वास्तविकता' के रूप में एक नयी निर्मिति का निर्माण करते हैं, जो कि और कुछ नहीं बल्कि 'यथार्थ' की एक छद्म प्रस्तुति ही होती है।

अब जरा याद करें कि बेज्यू ने इस लकानियन त्रयी में किसे क्या कहा है—इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है; कम्युनिज़्म का विचार 'काल्पनिक' का प्रतिनिधित्व करता है; और राजनीति 'यथार्थ' का प्रतिनिधित्व करती है! यानी कि इतिहास भाषा और पाठ का क्षेत्र है, वास्तव में इतिहास ('ऐसा हुआ था') का कोई अस्तित्व नहीं है, यह आपकी कल्पनाओं की मदद से इतिहास की भाषाई निर्मिति है! कम्युनिज़्म का विचार कल्पनाओं का क्षेत्र है जिसमें मानवता अपनी वह "माँग" रखती है, जो कि एक आदर्श मनोगत छवि और यथार्थ के टकराव या विरोध से पैदा हुई है, और जो ठीक इसीलिए पूर्ण नहीं हो सकती; नतीजतन, इस "माँग" को अनन्त रूप से (eternally) यथार्थ से टकराते रहना है, भंग होते रहना है और पुनर्निमित्त होते रहना है! कम्युनिज़्म के विचार की यह अनन्त यात्रा है, जिसमें अब पुरानी "माँग" (पार्टी, राज्य, वर्ग आदि) यथार्थ से टकरा कर भंग हो चुकी हैं और अब नयी "माँगें" यथार्थ के साथ नये द्वन्द्व में निर्मित हो रही हैं और "इच्छाओं" के रूप में अपने आपको भाषा/विचारधारा में अभिव्यक्त कर रही हैं। और यथार्थ क्या है? वह समकालीन राजनीति है जिसकी संरचना को भाषा या विचारधारा में नहीं बाँधा जा सकता है; यह 'यथार्थ' भाषा-पूर्व युग की वस्तु है और भाषा में कल्पना के सहारे इसकी निर्मिति उसकी छद्म प्रस्तुति ही होगी, एक 'वास्तविकता' का निर्माण होगा! तो फिर आप राजनीति सचेतन तौर पर और योजनाबद्ध रूप में करें क्या? बेज्यू का जवाब सीधा है—कुछ नहीं! यह यथार्थ स्वायत्त रूप से

विकसित होना है और इसमें जो बदलाव होंगे उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, और यहीं से हम बेज्यू के कुछ अन्य निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी प्रतिपादनों पर आ सकते हैं, जिसमें सबसे अहम है “इवेण्ट” की अवधारणा। बेज्यू के “इवेण्ट”(घटना/संयोग) की अवधारणा के अनुसार समाज में होनेवाले सभी बदलाव **आकस्मिक** होते हैं और उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता। अब आप इस बात को बेज्यू की ‘यथार्थ’ की अवधारणा से जोड़ सकते हैं। चूँकि यथार्थ सैद्धान्तिकीकरण से परे है (क्योंकि सैद्धान्तिकीकरण का माध्यम भाषा और पाठ है) इसलिए यथार्थ में होने वाले परिवर्तनों के बारे में भी कुछ पहले से नहीं कहा जा सकता, उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता और इन्हीं परिवर्तनों को व्याख्यायित करने के लिए “इवेण्ट” की अवधारणा बेज्यू द्वारा रची गयी है। यह “इवेण्ट” ही नयी सम्भावनाओं को जन्म देता है, लेकिन “इवेण्ट” का होना संयोग या इत्तेफ़ाक की बात है, इसलिए आमूलगामी सामाजिक परिवर्तन की पूरी परियोजना ही बेज्यू द्वारा संयोग के क्षेत्र में धकेल दी गयी है। इसमें सचेतन योजना और राजनीति का स्थान नहीं है या अगर है तो वह एक निष्प्रभावी स्वतःस्फूर्ततावादी उपस्थिति है। और इस तरह से क्रान्ति या कहें कि परिवर्तन से हर प्रकार का अभिकरण छीन लिया गया है। क्योंकि किसी सचेतन अभिकर्ता की आवश्यकता ही नहीं है! इसी निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद की मदद के लिए एक अन्य सैद्धान्तिकीकरण जो बेज्यू यहाँ प्रस्तुत करते हैं वह है उनका “सबट्रैक्शन” (व्यवकलन) का सिद्धान्त। इसके अनुसार आज कम्युनिज़्म का लक्ष्य राज्य का विलोपीकरण नहीं है (क्योंकि यह एक असीमित, अपरिमित प्रक्रिया है!), बल्कि “राज्य से दूरी बनाये रखने की राजनीति” है—जो किसी भी राज्य में किसी भी रूप में सम्मिलित होने को नकारती है। “सबट्रैक्शन” के अपने सैद्धान्तिकीकरण के ज़रिये एक बार फिर बेज्यू सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा पर हमला करते हैं और दरअसल क्रान्ति करने के सिद्धान्त पर ही हमला बोलते हैं। बेज्यू का असली मकसद है अति-आमूलगामी शब्दावली में आमूलगामिता की हर सम्भावना या समझदारी पर चोट की जाय और इसीलिए उनके हर सिद्धान्त का असल निशान मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कोर अन्तर्वस्तु यानी कि वर्ग, राज्य, और पार्टी का सिद्धान्त है।

अन्त में हम सारांश के रूप में इतना ही कहना चाहेंगे कि “कम्युनिज़्म” की अपनी प्राक्कलपना और विचार के नाम पर बेज्यू मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं और क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को खारिज करने का काम करते हैं। वह अतीत के सभी समाजवादी प्रयोगों पर “विफलता”, “त्रासदी” और “आपदा” का लेबल तो चस्पाँ कर देते हैं, जो कि बेज्यू के लिए आकाशवाणी-समान सत्य है, लेकिन न तो उन प्रयोगों का कोई आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करते हैं और न ही सामाजिक परिवर्तन का अपना कोई सकारात्मक मॉडल पेश करते हैं। वह एक ऐसे कम्युनिज़्म की बात करते हैं जो मार्क्सवादी नहीं होगा। लेकिन, अकेले बेज्यू इस अनैतिहासिक, गैर-द्वन्द्वात्मक, प्रत्ययवादी सैद्धान्तिकीकरण का शिकार नहीं हैं, बल्कि उत्तर-मार्क्सवादी “रैडिकल” दार्शनिकों की पूरी धारा है जो मार्क्सवाद पर हमला बोल रही है। **अकर्मण्यता और निष्क्रियता के इन सिद्धान्तकारों को हम दुनिया की “नयी व्याख्या” करनेवाले उनके “विचारों” के बीच ही छोड़ देते हैं, क्योंकि दुनिया को बदलने का काम अभी भी बाकी है।**

नमो फासीवाद

नवउदारवादी पूँजीवाद की राजनीति और असाध्य संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज में उभरा धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन

● कविता कृष्णपल्लवी

2014 के लोकसभा चुनावों की सरगर्मियाँ तेज़ होने के साथ ही पैतरापलट और ध्रुवीकरणों का घृणित नाटकीय खेल तेज़ हो चुका है। संसदीय दलितवादी राजनीति के पुराने घाघ खिलाड़ी रामविलास पासवान अचानक “सेक्युलजिज़्म” का कुर्ता उतारकर फिर एन.डी.ए. में शामिल हो गये। रामदास अठावले पहले ही अपने “अम्बेडकरवाद” को हिन्दुत्ववादी फासीवाद के दरबार में पहुँचा चुके हैं। उदित राज ने तो पार्टी का भाजपा में विलय ही करा दिया। अन्ना द्रमुक जब चुनावी “सेक्युलर” नौटंकी पार्टी में गयीं, तो करुणानिधि ने भाजपा-गठबन्धन से निकटता बढ़ा ली। आगे भाजपा या कांग्रेस किसी से भी मोलतोल की जा सके, इसके लिए मायावती ने हमेशा की तरह इस बार भी अपने विकल्प खुले रखे हैं। शिवसेना, अकाली दल पूर्ववत् भाजपा के साथ हैं और अब चौटाला और कुलदीप विश्‍नोई की पार्टियाँ भी साथ आ गयी हैं। भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन के पुराने पुरोधे अन्ना हज़ारे ममता बनर्जी का प्रचार कर रहे हैं। उनके कई पूर्व सहयोगी भाजपा में जा चुके हैं और चुनाव पश्चात के समीकरणों में ममता बनर्जी के भी भाजपा-गठबन्धन के साथ ही खड़ा होने की सम्भावना अधिक है। भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन की उपज ‘आप’ पार्टी खुशहाल मध्यवर्ग के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ यूटोपिया और निम्न मध्य वर्ग की बुर्जुआ सुधारवादी यूटोपिया को व्यक्त कर रही थी, इसने अब अपने

नवउदारवादी आर्थिक एजेण्डे को एकदम खुला कर दिया है। बुर्जुआ वर्ग और उसके पक्ष में खड़े वर्गों के सामने “कठोर नवउदारवाद” के साथ “साफ-सुथरे नवउदारवाद” का एक विकल्प है जो समय आने पर तीसरे मोर्चे के साथ खड़ा होकर उनको आश्वस्त कर सकता है या संसद में एक ‘प्रेसर ब्लॉक की भूमिका निभा सकता है। लेकिन इस पूरी चुनावी नौटंकी के बीच सर्वप्रमुख बात यह है कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फासीवाद का एक नया आक्रामक उभार सामने आया है। 1992 और गुजरात 2002 के बाद अब एक नया दौर शुरू हो रहा है भाजपा यदि इस बार केन्द्र में सत्तासीन नहीं भी हो पाये तो राजनीतिक परिदृश्य पर मजबूती से बनी रहेगी और इससे भी अहम बात यह है कि एक फासीवादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में इसकी बर्बरताएँ जारी रहेंगी।

हालात इस सच्चाई को दिन के उजाले की तरह साफ कर चुके हैं कि लड़ाई आज महज साम्प्रदायिक राजनीति के खिलाफ नहीं है, बल्कि हिन्दुत्ववादी फासीवाद के खिलाफ है, जिसके साथ निगमवाद पूरी ताकत के साथ खड़ा है। राष्ट्रपारीय निगमों और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय महाप्रभुओं की भारी जमात आज नरेन्द्र मोदी के पक्ष में दीख रही है। देशी औद्योगिक घरानों का बड़ा हिस्सा तो पहले ही उसके पक्ष में मुखर हो चुका है। स्पष्ट है कि हिन्दुत्ववादी फासीवाद के विरुद्ध तभी कारगर ढंग से लड़ी जा सकती है जब वह नवउदारवाद के विरुद्ध भी हो। तभी व्यापक मेहनतकश आबादी को साथ लेकर यह लड़ाई लड़ी जा सकती है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह लड़ाई देशी-विदेशी पूँजी की निरंकुश होती जा रही उस सत्ता के विरुद्ध है जो ज़्यादा से ज़्यादा अधिशेष निचोड़ने की गरज से जनता पर फासीवादी भेड़िये को छोड़ देने के लिए उसकी जंजीर ढीली छोड़ देने के लिए तैयार खड़ा है।

इतालवी कम्युनिस्ट नेता तोग्लियाती जब संशोधनवादी नहीं बना था तब उसने फासीवाद का अच्छा विश्लेषण रखा था। उसने कहा था कि साम्राज्यवाद और उसके संकट को समझे बिना फासीवाद को नहीं समझा जा सकता। चरम संकट की स्थिति में बुर्जुआ जनवाद को पूँजीपति वर्ग तिलांजलि दे देता है और फासीवाद के रूप में उसका प्रतिक्रियावाद नग्न निरंकुश होकर सामने आता है। तोग्लियाती के अनुसार, ‘किसी भी समय में मौजूद वर्ग-सम्बन्धों और अपने मुनाफे की रक्षा के लिए पूँजीपतियों को मजदूरों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव डालने के तरीके खोज निकालने पड़ते हैं। इसके अलावा, पूँजीपतियों के आगे बढ़े हुए तबके अर्थात् इजारेदार इतने उच्च संकेन्द्रण तक पहुँच जाते हैं कि शासन के पुराने रूप उनके प्रसार में बाधा बनने लगते हैं। इसीलिए पूँजीपति वर्ग अपने ही बनाये ढाँचे का विरोध करने लगता है।’

मन्दी और मुनाफे की गिरती दर का पुराना पूँजीवादी रोग आज विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट के दौर में अभूतपूर्व रूप से गम्भीर हो चुका है यह अनायास नहीं है कि विकसित पश्चिम में भी आज नवफासीवादी दल और आन्दोलन सिर उठा रहे हैं और तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों में तरह-तरह की धार्मिक कट्टरपंथी, नस्लवादी, कबीलावादी और उग्र जातिवादी ताकतें अपनी उग्र उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। भारतीय पूँजीपति वर्ग के सामने पूँजीवादी विकास के मौजूदा मॉडल से पीछे हटने का विकल्प ही नहीं है। नवउदारवादी नीतियों को कुछ “मानवीय चेहरे” के साथ प्रस्तुत करने का स्कोप भी काफी संकुचित हो चुका है। व्यापक जनअसंतोष के विस्फोट का खतरा और चुनावी राजनीति के लोकरंजक आग्रह उसे कुछ कथित “कल्याणकारी” कदम उठाने की ओर ले जाते हैं, दूसरी

ओर पूँजीवादी संकट का वस्तुगत दबाव उसे विवश करता है कि वह बाज़ार की शक्तियों को निर्बंध कर दे और मजदूरों की श्रमशक्ति की लूट के लिए श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला बनादे। पूँजीपति वर्ग की यह दुविधा सबसे पुरानी और विश्वस्त बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस की नीतियों में दीखती है, हालाँकि उसका झुकाव भी क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश सर्वसत्तावादी होने की दिशा में ही है।

भाजपा की दृष्टि एकदम साफ है। वह नवउदारवाद की नीतियों की उस समय से पैरोकारी करती रही है, जब इन नीतियों की विश्वव्यापी लहर आयी भी नहीं थी। इसीलिए, मोदी का 'गुजरात मॉडल' देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लुभा रहा है। नरेन्द्र मोदी डीरेग्यूलेशन, टैक्स ब्रेक और पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप की खुली और पुरजोर वक़ालत करता है। वह श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर कारख़ाना मालिकों को लूटमार की खुली छूट देता है। जहाँ तक इन नीतियों से उपजे जनअसंतोष के विस्फोट से निपटने का सवाल है, भाजपा मजदूरों के आन्दोलनों के दमन के लिए एक 'पुलिस स्टेट' तक क़ायम कर देने के लिए तैयार पार्टी है। बस एक बार सत्ता में आने की बात है। जहाँ तक चुनाव जीतने की बात है, हमें भूलना नहीं चाहिए कि हिटलर भी लोकरंजक नारों और नस्ली उन्माद के सहारे चुनाव जीतकर प्रबल बहुमत से सत्ता में आया था। जर्मन इजारेदार पूँजीपतियों की थैली की ताक़त उसके साथ थी ही।

अब भारत के परिदृश्य को देखिये। मजदूर आन्दोलन असंगठित और टूटी-फूटी अवस्था में है। संशोधनवादी पार्टियों ने केवल 'चुनाव-चुनाव' का खेल खेलकर तथा अर्थवादी रस्मी आन्दोलन और दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाजी करके मजदूर वर्ग की संगठित वर्ग-चेतना को विसर्जित कर दिया है और उसकी राजनीतिक चेतना को कुन्द कर दिया है। 95 प्रतिशत मजदूर आबादी असंगठित है। जो संगठित "कुलीन" मजदूर हैं, उनकी चेतना पतित होकर ग़ैर जनवादी निम्न पूँजीवादी चेतना बन चुकी है। क्रान्तिकारी वाम शक्तियाँ कमज़ोर और बिखरी हुई हैं। वे मजदूर आन्दोलन को प्रभावित कर पाने में फिलहाल अक्षम हैं और मजदूरों को संगठित करने के मामले में उनमें से अधिकांश की दिशा ही स्पष्ट नहीं है। वे या तो मार्शलिक किसानों की लड़ाइयाँ लड़ने में उलझी हैं या ज़मीनों के पुनर्वितरण का सवाल उठा रही हैं या फिर "वाम" दुस्साहसवादी कार्रवाइयों में मुब्तिला हैं। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने मजदूरों की जिस भारी आबादी को उत्पादन-प्रक्रिया से बाहर धकेलकर बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार बना दिया है, उसके एक हिस्से का विमानवीकरण हो रहा है और उन्मादी फ़ासिस्ट नारों से उसके प्रभावित होने की ज़मीन तैयार है। किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में बेरोज़गारी और परेशानी झेल रही निम्नमध्यवर्गीय आबादी भी फ़ासीवादी उन्माद और लोकरंजक नारों से प्रभावित हो रही है। कारपोरेट कल्चर में रचे-पगे खाते-पीते मध्यवर्गीय युवाओं के लिए मोदी एक ऐसा नायक है, जो देश को चीन जैसी "प्रगति" की रफ़्तार देने में सक्षम है। व्यापारियों और रूढ़िवादी सवर्णों (भूस्वामी एवं मध्यवर्गीय आबादी) के बीच भाजपा का पुराना सामाजिक आधार अभी भी क़ायम है। अब कुलक भी उसके पक्ष में आ रहे हैं और इसके लिए भाजपा शातिराने ढंग से पिछड़ी जाति का कार्ड खेल रही है।

जनता की वर्गीय एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने के लिए भारत में कट्टर हिन्दुत्ववाद की राजनीति सबसे प्रभावी है, इसके लिए मन्दिर कार्ड खेला जा रहा है, तालिबानी आतंकवाद

का हौवा खड़ा करके पूरी मुस्लिम आबादी को अलगाव में डालने की साजिशों की जा रही हैं, दंगे भड़काये जा रहे हैं और साम्प्रदायिक तनाव का देशव्यापी माहौल पैदा किया जा रहा है। इसके साथ ही, चीन और पाकिस्तान के साथ सीमा-विवाद और कश्मीर के प्रश्न को ज़्यादा से ज़्यादा तूल देते हुए, उग्र अन्धराष्ट्रवाद को भी ख़ूब हवा दिया जा रहा है और इसमें मीडिया भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में फासीवाद का चरित्र-चित्रण करते हुए तोग्लियाती ने बताया था कि “फासीवाद विभिन्न रुझानों का मिश्रण है और सभी जगह फासीवादी-आन्दोलनों में एक सामान्य तत्व है उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा।” उसके अनुसार, “फासीवादी विचारधारा में कई प्रकार के बेमेल तत्व शामिल हैं। यह विचारधारा मेहनतकशों पर अपनी तानाशाही कायम करने के लिए विभिन्न गुटों को साथ लेकर चलती है। इस काम के लिए यह एक व्यापक आन्दोलन निर्मित करती है... विचारधारा का राष्ट्रवादी हिस्सा सीधे पूँजीपति वर्ग की सेवा करता है और अन्य तत्व आपस में जोड़ने का काम करते हैं। इसके बावजूद फासीवादी विचारधारा को एक समान, ठोस और सम्पूर्ण नहीं मानना चाहिए। यह गिरगिट के समान रंग बदलती है। यह विशेष परिस्थितियों में विशेष उद्देश्य तक पहुँचने का साधन है।”

भाजपा को लेकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों की चिन्ता और दुविधा सिर्फ यह है कि साम्प्रदायिक दंगों का विस्फोट यदि पूरे देश में अशान्ति का माहौल पैदा कर देगा तो पूँजी निवेश के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं रह जायेंगी। मोदी इस मामले में उन्हें अपने ‘गुजरात मॉडल’ से आश्वस्त कर रहा है। उसका तर्क यह है कि दंगों और राज्य-प्रायोजित नरसंहारों से अल्पसंख्यकों को आतंकित करके दोगम दर्जे के नागरिकों जैसी स्थिति में धकेलने के बाद लगातार सामाजिक अशान्ति की स्थिति नहीं बनी रहेगी। वे अपनी सस्ती से सस्ती श्रमशक्ति बेचने को मजबूर होंगे और साथ ही धार्मिक अलगाव पैदा करके ग़रीबों की वर्गीय एकजुटता भी बनने से रोकी जा सकेगी। उसकी बात पूँजीपतियों के लिए ‘कनविंसिंग’ है। 2002 के बाद गुजरात में दंगे नहीं हुए, पर आम मुस्लिम-हिन्दू आबादी के बीच अलगाव की मजबूत दीवारें हैं, मुस्लिम आबादी वहाँ दोगम दर्जे की नागरिक है (आँकड़े बताते हैं) और शहरों में मुस्लिम आबादी का ‘घेट्टोकरण’ हो रहा है, असुरक्षा-बोध के चलते मुस्लिम आबादी एक साथ रहने के लिए घनी और सुविधाहीन बस्तियों में संकेन्द्रित होती जा रही है।

पिछले दिनों ‘नीलसन-इकोनॉमिक टाइम्स सर्वेक्षण’ के दौरान भारत के सौ कारपोरेट लीडरों से जब बात की गयी तो उनमें से 74 ने मोदी को प्रधानमंत्री के रूप में देखना पसन्द किया। ‘सी.एल.एस.ए.’ और ‘गोल्डमैन सॉक्स’ के बाद अब जापानी ब्रोकरेज कम्पनी ‘नोमुरा’ को भी भारत में ‘मोदी लहर’ चलती दिख रही है यानी ज़्यादातर विदेशी कारपोरेट महाप्रभु भी फिलवक्त मोदी पर ही दाँव खेलने के पक्ष में हैं। पूँजीपति तो सभी बुर्जुआ दलों को उनकी औकात के हिसाब से पैसे देते हैं, पर इस बार उन्होंने भाजपा के लिए अपनी थैलियों का मुँह कुछ ज़्यादा ही खोल दिया है। यह तथ्य सार्वजनिक न हो जाये, इसके लिए इण्डिया इंक. नये कम्पनी क़ानून के सेक्शन 182 (3) में बदलाव चाहता है और यह माँग कर रहा है कि यह बतलाने के लिए बाध्य न किया जाये कि किस पार्टी को किस घराने ने कितना चन्दा दिया।

ज़ाहिर है कि मोदी का फासीवाद हूबहू हिटलर-मुसोलिनी का फासीवाद नहीं हो सकता। भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश का आज का फासीवाद बीसवीं शताब्दी के जर्मनी और इटली

का फासीवाद नहीं हो सकता। भारतीय पूँजीवाद, जो साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार है, यह युद्ध द्वारा विश्व बाज़ार पर कब्जे के मंसूबे नहीं पाल सकता, ज़्यादा से ज़्यादा अपने कमज़ोर पड़ोसियों को दबाने-डराने का काम कर सकता है। इसका मुख्य निशाना देश की आम मेहनतक़श आबादी होगी और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय होंगे। धार्मिक अल्पसंख्यकों को ये दायम दर्जे का नागरिक बना देगा। मज़दूरों और आम मेहनतक़श आबादी को यह लोहे के हाथों से कुचलने का काम करेगा। जम्मू कश्मीर और उत्तर-पूर्व में तथा छत्तीसगढ़ जैसे इलाकों में सेना और पुलिस का और भी दमनकारी शासन चलेगा। रही-सही ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर भी अंकुश लग जायेगा। संसदीय जनवाद और अधिक रस्मी हो जायेगा और जनता के रहे-सहे जनवादी अधिकार भी छीन लिये जायेंगे। यदि मोदी की अगुवाई में संघी फासीवादी दिल्ली की गद्दी तक पहुँचने में कामयाब नहीं भी हुए, तो भी एक धुर प्रतिक्रियावादी, मुस्लिम-विरोधी, कम्युनिस्ट-विरोधी सामाजिक आन्दोलन के रूप में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर का वजूद बना रहेगा। पूँजीवाद जंजीर से बँधे कुत्ते की तरह इसे बनाये रखेगा, ताकि आगे कभी भी इसका इस्तेमाल किया जा सके।

इस नवफासीवादी लहर का मुक्नाबला न तो कुछ पैस्सिव विन्सम की बौद्धिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से किया जा सकता है, न ही 'सर्वधर्मसमभाव' की अपीलों से। यह केवल संसदीय चुनाव के दायरे में जीत-हार का सवाल भी नहीं है। सत्ता में न रहते हुए भी ये फासीवादी जनता को बाँटने की साज़िशें और दंगे भड़काने का खूनी खेल जारी रखेंगे। जो जेनुइन सेक्युलर बुद्धिजीवी हैं, उन्हें अपने आरामगाहों ओर अध्ययन कक्षों से बाहर आकर, प्रतिदिन, लगातार, पूरे समाज में और मेहनतक़श तबकों में जाना होगा, तरह-तरह से उपक्रमों से धार्मिक कट्टरपंथ के विरुद्ध प्रचार करना होगा, साथ ही जनता को उसके जनवादी माँगों पर लड़ना सिखाना होगा, मज़दूरों को नये सिरे से जुझारू संगठनों में संगठित होने की शिक्षा देनी होगी, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के ऐतिहासिक मिशन से उन्हें परिचित कराना होगा, उन्हें भगतसिंह, राहुल और मज़दूर संघर्षों की गौरवशाली विरासत से परिचित कराना होगा। मज़दूर वर्ग के अग्रिम तत्वों और क्रान्तिकारी वाम की कतारों को तृणमूल स्तर पर जनता के बीच ये कार्रवाईयाँ चलाते हुए संघ परिवार के ज़मीनी तैयारी के कामों का प्रतिकार करना होगा। यह लड़ाई सिर्फ 2014 के चुनावों तक की ही नहीं है। यह एक लम्बी लड़ाई है।

आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार के निहितार्थ

● शिशिर

अरविन्द केजरीवाल आजकल लोकसभा चुनावों में देश के दौरे पर हैं। केजरीवाल अपनी चुनावी सभाओं में दावा कर रहे हैं कि आम आदमी पार्टी को आने वाले लोकसभा चुनावों में 100 से 200 सीटें तक मिलने वाली हैं। केजरीवाल का निशाना अब कांग्रेस से ज़्यादा भाजपा और विशेषकर नरेन्द्र मोदी हो गये हैं। बात तो यहाँ तक की जा रही है कि आने वाले चुनावों में अरविन्द केजरीवाल नरेन्द्र मोदी के खिलाफ़ चुनाव लड़ने वाले हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आम आदमी पार्टी के आने से बुर्जुआ चुनावी राजनीति के समीकरणों में थोड़ा परिवर्तन आया है। आम आदमी पार्टी के उभार के कारणों की सही मार्क्सवादी समझदारी न होने के कारण कई मार्क्सवादी और यहाँ तक मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों के क्रान्तिकारियों में दो दिलचस्प किस्म की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिल रही हैं। संशोधनवादी पार्टियों, जैसे कि भाकपा व भाकपा, के नेता कई मंचों पर चिन्तित दिखे कि आम आदमी पार्टी ने तो उनके राजनीतिक आधार और एजेण्डे में सेंध लगा दी; एक मंच से तो प्रकाश करात ने आम आदमी पार्टी से सीखने की सलाह तक दे दी! ज़ाहिर है, एक गैर-वामपंथी और दक्षिणपंथ की सशक्त छाप रखने वाले लोकरंजक सुधारवाद के उदय ने संसदीय वामपंथियों और सुधारवादियों के दिल में कम-से-कम कुछ समय के लिए बेरोज़गार होने का भय पैदा कर दिया है! जहाँ तक भाकपा (माले) जैसी धुर अवसरवादी संशोधनवादी पार्टी का प्रश्न है, तो वह अपने अवसरवाद की कीमत खुद चुका रही है; कई भाकपा (माले) के नेता, कार्यकर्ता और इनके छात्र विंग के नेता आम आदमी पार्टी में शामिल होने की होड़ में लग गये हैं! कह सकते हैं कि भाकपा (माले) के घर में थोड़ी भगदड़ मच गयी है। लेकिन इसके लिए थोड़ा ज़्यादा गर्म संशोधनवाद परोसने वाले ये “वामपंथी” विदूषक किसी और को दोष कैसे दे सकते हैं? क्या स्वयं भाकपा (माले) के केन्द्रीय कमेटी सदस्य अण्णा हज़ारे

के अनशन के दौरान उनके मंच पर जगह पाने के लिए भागे-भागे नहीं गये थे? लेकिन एक सतत् दक्षिणपंथी पुनरुत्थानवादी (अण्णा हजारे एण्ड कम्पनी) ने असतत् “वामपंथी” अवसरवादी को भगा दिया! जब अण्णा हजारे के भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन में भाकपा (माले) को दरबान की भूमिका भी नहीं मिली, तो इन्होंने अपना भ्रष्टाचार-विरोधी मंच बनाया-‘स्टूडेण्ट्स-यूथ अगेस्ट करप्शन’! भाकपा (माले) अपने राजनीतिक अवसरवाद के कारण यह सब कवायद कर रही थी। मामला यह था कि उस समय मीडिया समर्थित भ्रष्टाचार-विरोधी “धर्मयुद्ध” ने पूरी व्यवस्था के विरुद्ध जनता के अवचेतन असन्तोष को भ्रष्टाचार-विरोध की पश्चामी बुर्जुआ राजनीति के वर्चस्व तहत ला दिया था, बल्कि कह सकते हैं कि विनियोजित कर लिया था। ऐसे में, आम तौर पर जो भ्रष्टाचार-विरोधी माहौल बना था, भाकपा (माले) उसका लाभ उठाने के लिए मचल गयी थी! वैसे भाकपा (माले) के “वामपंथी” अवसरवादी विदूषक किसी भी किस्म की लहर उठने पर उसकी सवारी करने के लिए हमेशा ही मचल जाते हैं! लेकिन हम भाकपा (माले) की ही बात क्यों करें, कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट समूहों में भी ‘आप’ के उभार को लेकर हताशा का माहौल व्याप्त था और साथ ही उनमें से भी कई लोगों ने आम आदमी पार्टी में शामिल होने का फैसला किया। यह आन्दोलन में मौजूद ठहराव और उसके कारण बढ़ती निराशा को भी दिखला रहा था। कई कट्टरपंथी होजापंथी लोग तक आम आदमी पार्टी में शामिल हो गये, बल्कि उसके नेतृत्व में पहुँच गये! यह जो सारा तमाशा चला इससे आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार की पूरी परिघटना के बारे में काफ़ी-कुछ ज़ाहिर होता है।

दिल्ली के चुनावों के बाद, काफ़ी ड्रामे के बाद अन्ततः आम आदमी पार्टी ने दिल्ली में सरकार बनायी। दिल्ली विधानसभा में किसी को भी स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण करीब 16 दिनों तक अनिश्चितता की स्थिति बनी रही। अन्ततः आम आदमी पार्टी ने कांग्रेस का समर्थन स्वीकार किया और सरकार बनाने का फैसला किया। ‘आप’ सरकार बनाने को लेकर ऊहापोह में थी। इसका कारण यह था कि सभी की तरह स्वयं ‘आप’ ने भी ऐसे चुनावी नतीजों की उम्मीद नहीं की थी। एक नयी पार्टी के तौर पर ‘आप’ का प्रदर्शन चौंकाने वाला था। चुनाव लड़ने से पहले भी स्वयं ‘आप’ के ज़्यादातर ‘थिंकटैंक’ यही मानकर चल रहे थे कि एक लम्बे दौर में ‘आप’ भारतीय चुनावी राजनीति में अपनी जगह बनायेगी। लेकिन पुरानी मुख्य धारा की चुनावी पार्टियों से जनता का मोहभंग इतना ज़बर्दस्त था कि पहले ही प्रयास में ‘आप’ को 70 में से 28 सीटें हासिल हो गयीं! कांग्रेस ने अपने अनुभव का इस्तेमाल किया और बिना शर्त ‘आप’ को समर्थन दे दिया। अब ‘आप’ के लिए एक ‘धर्मसंकट’ की स्थिति पैदा हो गयी। ‘आप’ के श्रीमान सुथरे अरविन्द केजरीवाल शुरू से यह दावा करते रहे हैं कि उनकी पार्टी ‘मुद्दा-आधारित’ राजनीति करती है और विचारधाराओं और ‘लेफ्ट-राइट-सेण्टर’ से परे है! चूँकि कांग्रेस ने ‘आप’ को अपने चुनावी वायदे पूरे करने के लिए बिना शर्त समर्थन दिया इसलिए अब भागने का कोई रास्ता नहीं बचा था। एक प्रयास 18-सूत्रीय पत्र के रूप में ‘आप’ ने किया, जो कि उन्होंने भाजपा और कांग्रेस को भेजा। भाजपा ने तो जवाब देने से ही इंकार कर दिया, लेकिन कांग्रेस ने स्पष्ट जवाब दिया और कहा कि 18 माँगों में से 16 माँगें ऐसी हैं, जो कि प्रशासनिक मुद्दे हैं, और सरकार बनने के बाद ‘आप’ को उन विशिष्ट मुद्दों पर कांग्रेस के समर्थन की आवश्यकता नहीं है, और दो मुद्दे ऐसे हैं जो कि कांग्रेस के चुनावी घोषणापत्र में भी थे और कांग्रेस उन पर ‘आप’ को बिना शर्त समर्थन देगी। इसके बाद ‘आप’

ने कहा कि वह जनता के बीच जनमत सर्वेक्षण करेगी ताकि यह पता लगा सके कि जनता उनके द्वारा सरकार बनाये जाने के पक्ष में है या नहीं! सभी जनसभाओं में और मीडिया पोल में 'जनता' की राय यह सामने आयी कि केजरीवाल को सरकार बनानी चाहिए। कारण यह था कि जनता केजरीवाल द्वारा किये गये वायदों को पूरा करने का इन्तज़ार कर रही थी; मसलन, बिजली का बिल 50 फीसदी कम करना और 700 लीटर प्रतिदिन मुफ्त पानी हर घर में पहुँचाना, 500 नये स्कूल खोलना और सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता को निजी स्कूलों से बेहतर बनाना, सभी साढ़े तीन लाख सरकारी और 50 लाख से ज़्यादा गैर-सरकारी ठेका कर्मचारियों को स्थायी करना, आदि। इनमें से पहले दो वायदे ऐसे हैं जिनका पूरा होने का दिल्ली की आम जनता बेसब्री से इन्तज़ार कर रही थी और केजरीवाल ने अपने बच्चों की कसम खाकर कहा था कि अगर उनकी सरकार बनती है तो वे अपने चुनावी वायदों में आधे एक माह में पूरे कर देंगे और बाकी छह महीनों में। अब 'आप' के लोग कांग्रेस को कुछ नहीं कह सकते थे (मसलन, कि कांग्रेस की तो आदत ही सरकार गिराने की है, वगैरह) क्योंकि एक या दो महीने में तो कांग्रेस सरकार गिराने नहीं जा रही थी और केजरीवाल ने अपने आधे वायदे पूरे करने के लिए इतना ही वक़्त माँगा था! लुब्बोलुआब यह कि सरकार बनाने के अलावा केजरीवाल के पास और कोई रास्ता नहीं बचा था और अब समस्या यह थी कि केजरीवाल और उनके सारे "समाजवादी" सलाहकार भी जानते थे कि केजरीवाल सरकार ये वायदे पूरे कर ही नहीं सकती। केजरीवाल अब इस उम्मीद में थे कि अगर वे वायदों के 10 प्रतिशत को आधा पूरा कर दें और बाकी 90 प्रतिशत जमकर गर्मागर्म नौटंकी और लोकरंजकतावादी जुमलों की राजनीति करके एक-डेढ़ महीने काट दें तो जनता के बीच में कुछ वाहवाही हो जायेगी और आने वाले लोकसभा चुनावों में आम आदमी पार्टी अपनी बढ़ी हुई लोकप्रियता के साथ जा पायेगी। लेकिन दिक्कत यह है कि केजरीवाल जिस आदर्शवादी, श्रीमान सुथरा की छवि बनाकर और कांग्रेस और भाजपा को जिस भाषा में कोसते हुए सत्ता में पहुँचे थे वह सबकुछ बड़े बारीक सन्तुलन पर खड़ा था, और एक हल्के धक्के से आप की 'छवियों' के कौतुक-स्वाँग की राजनीति का सन्तुलन गड़बड़ा सकता है। यही कारण था कि सरकार बनाने के फैसले की घोषणा करने के लिए 'आप' ने जो प्रेस कान्फ्रेंस की उसमें केजरीवाल समेत सारे 'आम आदमियों' के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं! केजरीवाल ने अपनी 49 दिनों की सरकार में जो धोखा और नौटंकी की वह अब धीरे-धीरे लोगों के सामने आ रही है। सबसे बड़ा धोखा केजरीवाल ने दिल्ली के ठेका मज़दूरों और कर्मचारियों के साथ किया; 6 फरवरी को हज़ारों ठेका मज़दूरों के विशाल प्रदर्शन के समक्ष केजरीवाल सरकार के श्रम मन्त्री गिरीश सोनी (जो कि खुद एक चमड़े के कारखाने का मालिक है!) के मुँह से निकल गया कि केजरीवाल सरकार दिल्ली राज्य ठेका उन्मूलन कानून नहीं पेश करेगी। और जब मज़दूरों का प्रतिनिधि-मण्डल अलग से श्रम मन्त्री से मिला तो उसने साफ़ बोल दिया कि ठेका प्रथा उन्मूलन विधेयक इसलिए नहीं पेश किया जा सकता क्योंकि इससे नियोक्ताओं और ठेकेदारों का नुकसान होगा! जाहिर-सी बात है कि एक कारखाना-मालिक श्रम मन्त्री यही बोलेगा! बहरहाल, ठेका मज़दूरों से किये गये धोखे के कारण केजरीवाल की काफ़ी फजीहत हुई। डीटीसी कर्मचारियों के प्रदर्शन में मज़दूरों ने केजरीवाल को दौड़ा लिया और उसे वहाँ से भागना पड़ा; ठेका शिक्षकों को केजरीवाल ने ज़बरन दिल्ली सचिवालय से हटवा दिया; ठेके पर काम करने वाले होमगार्डों ने केजरीवाल के निवास के बाहर प्रदर्शन किया।

दूसरा धोखा केजरीवाल ने पानी और बिजली के मसले पर किया। बाद में पता चला कि बिजली और पानी की सब्सिडियाँ केवल 31 मार्च तक के लिए दी गयी थीं और उसके बाद उस पर सरकार को पुनर्विचार करना था! यानी कि 31 मार्च तक के लिए सब्सिडी देने के कदम को मीडिया में चमकाओ, यह मत बताओ की यह स्थायी तौर पर दी गयी सब्सिडी नहीं है और उसके बाद 31 मार्च से पहले ही भाग जाओ! बिजली पर दी गयी 50 प्रतिशत सब्सिडी का एक हिस्सा ही केजरीवाल सरकार ने दिया, क्योंकि लगभग आधी सब्सिडी शीला दीक्षित सरकार के समय से ही दी जा रही थी; और केजरीवाल सरकार ने जो 372 करोड़ रुपये की सब्सिडी दी है अगर कोई सरकार 31 मार्च के बाद उसे जारी रखती है, तो इससे फायदा अम्बानी और टाटा को ही होगा! क्योंकि टाटा और अम्बानी बिजली के वितरण के लिए उसी दर से रकम सरकार से वसूलेंगे; सरकार जो सब्सिडी देगी वह उसे जनता की जेब से ही करों को बढ़ाकर वसूलेंगी! इसके अलावा कोई रास्ता ही नहीं है! केजरीवाल के तमाम झूठ भी पकड़ में आये जिसमें टाटा की डिस्कॉम कम्पनी एनडीपीएल की ओर से 29 जनवरी को बिजली के दर बढ़ाने के लिए केजरीवाल को लिखा गया पत्र, जिसके बारे में केजरीवाल ने टाटा के खिलाफ कुछ नहीं बोला और केवल अम्बानी के खिलाफ बोलता रहा। क्योंकि केजरीवाल के लिए टाटा साफ-सुथरे पूँजीवाद और अम्बानी साँट-गाँठ करने वाले पूँजीवाद की निशानी है! और केजरीवाल को साफ वाला पूँजीवाद मँगता है! केजरीवाल उस समय टाटा-राडिया टेप भूल गये; इस पर केजरीवाल ने कोई मुकदमा नहीं किया; जबकि अम्बानी और वीरप्पा मोईली पर किया! केजरीवाल ने जनलोकपाल विधेयक से पहले जो भी निर्णय पेश किये उन पर रज़ामन्दी प्राप्त करने के लिए उन्हें दिल्ली के उपराज्यपाल के पास भेजा, जैसे कि पानी और बिजली पर लिये गये निर्णय। लेकिन जनलोकपाल के विधेयक पर पूर्वसहमति न लेने पर केजरीवाल अड़ गया क्योंकि उस समय उसे भागना था! योगेन्द्र यादव जैसे चिकने-चुपड़े “समाजवादी” और आनन्द कुमार जैसे मरे-गिरे “समाजवादी” केजरीवाल के कन्धे पर बैठकर लगातार उसे बता रहे थे कि कब किसे ‘टीप’ मार कर भागो! उन्होंने केजरीवाल को फरवरी माह के मध्य में समझा दिया कि अब ‘जनता’ को ही टीप मारकर भाग लो, नहीं तो कुछ दिन सिर पर दिल्ली के मुख्यमन्त्री के काँटों का ताज रहा तो इज़्ज़त ढाँपने के लिए एक रुमाल भी नहीं मिलेगा!

लेकिन इस सारी छीछालेदर के बावजूद किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय पूँजीवादी राजनीति में आम आदमी पार्टी की भूमिका खत्म हो गयी है। बुर्जुआ राजनीति के हर नये चुनावी खिलाड़ी का रंगरोगन कुछ दिनों में थोड़ा तो उतरता ही है! और दूसरी बात यह कि अभी भारतीय पूँजीवादी राजनीति को आम आदमी पार्टी की टुटपुँजिया, अवसरवादी, दक्षिणपंथी लोकरंजकतावादी और सुधारवादी राजनीति की ज़रूरत है। जनअसन्तोष आने वाले समय में और भी बढ़ने वाला है; बुर्जुआ राजनीति पहले ही इस कदर अपनी विश्वस्नीयता खो चुकी है कि अब पूँजीवादी राजनीति में एक नये टुटपुँजिया, सदाचारी, आत्मिक उभार की ज़रूरत है, जो कि भ्रष्टाचार-विरोध की यथास्थितिवादी राजनीति के रूप में आम आदमी पार्टी मुहैया करा रही है। यहाँ हम इस तर्क के विस्तार में नहीं जायेंगे कि भ्रष्टाचार पूँजीवाद का विचलन नहीं बल्कि नियम है; जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का बुनियादी प्रेरक तत्व और तर्क ही निजी मुनाफ़ा, निजी सम्पत्ति और निजी पूँजी संचय है वहाँ यह मुनाफ़ा बुर्जुआ संविधान और संहिताओं के नियमों-कानूनों के दायरे में ही सीमित नहीं रहेगा; वह निश्चित तौर

पर उसका बार-बार अतिक्रमण करेगा; कोई सख्त से सख्त कानून भी इस भ्रष्टाचार पर कुछ समय के लिए कुछ परिमाणात्मक रोक लगा सकता है; लेकिन ऐसी कोई भ्रष्टाचार-विरोधी कानून, संस्था, प्राधिकार या अधिकारी अन्त में पूँजी की शक्ति के आगे नतमस्तक होगा ही! ऐसे में, समूची पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध किये बिना यदि कोई सिर्फ़ भ्रष्टाचारी, 'साँठ-गाँठ करने वाले' पूँजीवाद का विरोध कर रहा है और एक सदाचारी सन्त पूँजीवाद का भ्रम फैला रहा है, तो या तो वह खुद मूर्ख है या जनता को मूर्ख बना रहा है। निश्चित तौर पर अरविन्द केजरीवाल और योगेन्द्र यादव जैसे उसके चिकने-चुपड़े-चाशानी में डूबे "समाजवादी" सलाहकार मूर्ख नहीं हैं! आम आदमी पार्टी की पूरी राजनीति के चरित्र को मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को गहरायी से समझना चाहिए। यह आन्दोलन के समक्ष एक दोहरी सम्भावना पैदा कर रही है—एक सम्भावना इनके लोकरंजकतावादी दक्षिणपंथी अवसरवाद और सुधारवाद को बेनकाब करने की चुनौती के रूप में है, तो दूसरी सम्भावना इस अवसर के रूप में है कि इनके कहीं भी सत्ता में आने पर पूरी बुर्जुआ व्यवस्था की सीमाओं को जनता के सामने उजागर करने का एक मौका क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को मिलता है। लेकिन इस दोहरी सम्भावना को समझने की बजाय कई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी समूहों में आम आदमी पार्टी के उभार को लेकर एक राजनीतिक भयाक्रान्तता या फिर निराशा, पराजयबोध और "बेरोज़गार हो जाने के खतरे" का बोध पैदा हो गया है! इसका कारण यही है कि 'आप' के उभार की परिघटना का कोई ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण इनके पास मौजूद नहीं है।

एक बात तय है कि भारतीय पूँजीवादी चुनावी राजनीति में 'आप' का उभार एक परिघटना है। 'आप' के उभार के क्या मायने हैं? 'आप' का राजनीतिक चरित्र क्या है? 'आप' की पूँजीवादी राजनीति में क्या प्रासंगिकता है? 'आप' क्या कोई लघुजीवी परिघटना है या फिर यह भारतीय राजनीति में एक दीर्घकालिक परिघटना के रूप में आयी है? इस टिप्पणी में हम इन्हीं केन्द्रीय मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

आम आदमी पार्टी के उभार का कालभ्रमित प्राक्-इतिहास

कई राजनीतिक विश्लेषक यह दावा कर रहे हैं कि 'आप' का उभार भारतीय राजनीति में एक नयी परिघटना है। उनका मानना है कि इससे भारत में पूँजीवादी चुनावी राजनीति ज़्यादा साफ़-सुथरी बनेगी, ज़्यादा भागीदारीपूर्ण बनेगी, अन्य चुनावी पार्टियों को भी 'साफ़' राजनीति करने पर मजबूर होना पड़ेगा, वगैरह। लेकिन हमें इस पूरे विश्लेषण पर गहरा सन्देह है क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य इस विश्लेषण को ग़लत ठहराते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने संकट के दौरों में हमेशा ही निम्न मध्यमवर्गीय आदर्शवाद और उच्च मध्यमवर्गीय प्रतिक्रियावाद का इस्तेमाल करती है। 'आप' के मौजूदा उभार के सन्दर्भ में हम पाठकों को सत्तर के दशक के जेपी आन्दोलन और 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जुमले और उसके बाद जनसंघ के उभार और जनता पार्टी और उसके बाद भाजपा के उदय की याद दिलाना चाहते हैं। सत्तर का दशक वह समय था जब नक्सलबाड़ी आन्दोलन को कुचलने की प्रक्रिया जारी थी, रेलवे की प्रसिद्ध हड़ताल हुई थी, इन्दिरा गाँधी की सरकार ने आपातकाल लागू किया था और पूरे के पूरे पूँजीवादी शासन के प्रति एक गहरा अविश्वास, मोहभंग और नापसन्दगी का माहौल था। यह पूँजीवादी शासन के प्रति यह मोहभंग जल्द ही पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति मोहभंग में तब्दील हो सकता था। पाठकों को शायद यह भी याद हो कि भारतीय अर्थव्यवस्था भी उस समय संकट का शिकार थी और बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार चरम पर था। पूँजीवाद को उस समय एक

ऐसे सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन की ज़रूरत थी, जो कि आम मेहनतकश और निम्न मध्यमवर्गीय जनता के असन्तोष को सुरक्षित चैनलों में अपचयित कर सके। जेपी आन्दोलन ने इसी काम को अंजाम दिया। जेपी आन्दोलन ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को फिर से मुख्यधारा में लाया और उसके परिणामस्वरूप जनसंघ और फिर जनता पार्टी के उभार के बारे में सभी जानते हैं। इस उभार के पीछे एक ओर धुर दक्षिणपंथी ताकतें खड़ी थीं, तो दूसरी ओर विभिन्न प्रकार के समाजवादी भी खड़े थे। यहाँ पर सामाजिक-जनवाद और फासीवाद के बीच के जैविक सम्बन्ध शायद इतिहास में सबसे खुले तौर पर उजागर हुए थे।

आज भी 'आप' के उभार के पीछे जो दिमाग़ काम कर रहे हैं उनमें से अधिकांश जेपी-ब्राण्ड समाजवादी हैं, या फिर लोहियावादी समाजवादी। मिसाल के तौर पर, योगेन्द्र यादव और प्रोफेसर आनन्द कुमार। वहीं दूसरी ओर इस उभार के पीछे तमाम भूतपूर्व मार्क्सवादी, खास तौर पर कथित पूर्व नक्सलवादी, और पूर्व एमएल के लोग, जो अब बेशर्म किस्म के दलाल बन चुके हैं, भी इस उभार के पीछे हैं। मिसाल के तौर पर, अभय कुमार दुबे और सीएसडीएस (सेण्टर फॉर स्टडी ऑफ़ डेवेलपिंग सोसायटीज़) में बैठे अन्य घाघ राजनीतिक चिन्तक-विश्लेषक। यह भी कोई इत्तेफ़ाक नहीं है कि सीएसडीएस के संस्थापक रजनी कोठारी थे, जो कि साम्राज्यवाद के एजेण्ट के रूप में भारत के वामपंथ में घुसाये गये व्यक्ति थे। यह भी अपवाद नहीं है कि सीएसडीएस द्वारा चलायी जाने वाली मीडिया पहल 'सराय' की फण्डिंग साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, विशेष तौर पर, डच फण्डिंग एजेंसी डीवाग से आती है। और अन्त में, यह भी अपवाद नहीं है कि विश्व बैंक ने भारत में शुरू हुए भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन 'इण्डिया अगेस्ट करप्शन' को समर्थन दिया था, जिससे कि अरविन्द केजरीवाल और उनकी 'आप' का जन्म हुआ। इस समय पूँजीवादी संकट को विद्रोहों और क्रान्तियों की ओर जाने से रोकने के लिए 'आप' जैसी पार्टियों की ज़रूरत पूँजीवादी शासक वर्ग को है, और यही बात जेपी आन्दोलन और उसके नतीजे के तौर पर पैदा हुए राजनीतिक दलों पर भी लागू होती है। जेपी आन्दोलन की ही तरह आम आदमी पार्टी की राजनीति भी गर्म जुमलों की राजनीति करती है; अगर जेपी आन्दोलन 'सम्पूर्ण क्रान्ति' (क्या कोई क्रान्ति असम्पूर्ण भी होती है!?) तो आम आदमी पार्टी 'नयी आज़ादी' और 'पूर्ण स्वराज' का नारा उछालती है! लेकिन यह 'नयी आज़ादी' और 'पूर्ण स्वराज' क्या है? यह है एक जनलोकपाल कानून + तथाकथित 'तृणमूल' जनवाद (मोहल्ला सभा आदि) + व्यवसाय जगत पर से हर प्रकार के राजकीय विनियमन का खात्मा + और श्रम और पूँजी के बीच एक कल्पित राक्षस (भ्रष्टाचार) के विरुद्ध गठजोड़ की राजनीति की आड़ में पूँजीपतियों की सेवा + औद्योगिक-वित्तीय पूँजी और नौकरशाह पूँजीपति वर्ग के बीच अधिशेष के बँटवारे की लड़ाई में औद्योगिक-वित्तीय पूँजी का हिस्सा बढ़ाने की राजनीति। हाल ही में, लोकसभा चुनावों के लिए चन्दे की भीख माँगने के लिए अरविन्द केजरीवाल सीआईआई के मंच पर पहुँचा। यहाँ पर केजरीवाल की हालत उस बिल्ली जैसी दिख रही थी, जिस पर मछली वाले पानी की बाल्टी उड़ेल दी हो! हर वाक्य के शुरू और अन्त में 'सर जी', 'जी-जी' लगाकर केजरीवाल पूँजीपतियों से आम आदमी पार्टी के लिए सहयोग की माँग कर रहा था। और बदले में क्या देने का वायदा कर रहा था? केजरीवाल ने पूँजीपतियों से वायदा किया कि अगर वह 'आप' की सरकार बनती है तो वह उद्योग-व्यवसाय पर से हर प्रकार का विनियमन समाप्त करेगा (दूसरे शब्दों में वही बात जो राजीव गाँधी और उसके बाद तमाम पार्टियों ने कही थी, यानी इंसपेक्टर राज खत्म करना!) और 'देश में धंदा लगाने

और चलाने की रास्ते की सभी बाधाओं को समाप्त कर देगा; केजरीवाल ने कहा कि पूँजीपति देश की सम्पदा पैदा करते हैं (तो मजदूर क्या करते हैं!?) और उनकी “मेहनत” की फसल भ्रष्टाचारी नेता और नौकरशाह लेते जाते हैं! केजरीवाल ने पूँजीपतियों के “दुख-तकलीफ़” पर काफ़ी आँसू बहाये और इस बार आँसू घड़ियाली नहीं लग रहे थे! ऐसा लग रहा था मानो एकदम दिल से बात निकल रही है! केजरीवाल ने यह भी कहा कि अम्बानी से उनकी कोई दुश्मनी नहीं है! आगे उसने कई साक्षात्कारों ने बोला कि तेल निकालने पर प्रति इकाई एक डॉलर का खर्च आता है और उसके लिए रिलायंस अभी 4 डॉलर ले रही है और इसे आगे 8 डॉलर करने के लिए कह रही है; इस पर केजरीवाल की आपत्ति यह नहीं थी कि देश के तेल को किसी पूँजीपति को निकालने के लिए दें ही क्यों जब देश की सरकार यह कार्य देश के करोड़ों बेरोज़गार नौजवानों में से तमाम को नौकरी देकर कर सकती है? क्या यह ठेका उचित है? केजरीवाल के मुताबिक उचित है क्योंकि ‘सरकार का काम धंधा करना नहीं होना चाहिए!’ (‘दि गवर्नमेण्ट शुड हैव नो बिज़नेस इन बिज़नेस’) केजरीवाल का रिलायंस से यह कहना है कि 1 डॉलर की जगह 2 डॉलर ले लो, 2.50 डॉलर ले लो, 3 डॉलर ले लो! क्या 4 डॉलर या 8 डॉलर लेकर लूटोगे? लेकिन किस तर्क से 2 या 3 डॉलर लूट नहीं है और 4 डॉलर लूट है? यह तो लूट की मात्रा को कम करने की माँग है, लूट को खत्म करने की नहीं! केजरीवाल की आर्थिक नीति कांग्रेस द्वारा 1991 में पेश की गयी आर्थिक नीति का ही एक शुद्धतावादी संस्करण है, यानी कि निजीकरण-उदारीकरण, बिना भ्रष्टाचार के! और केजरीवाल जब भ्रष्टाचार की भी बात उठाते हैं तो पूँजीपतियों के तलवे चाटते हुए सारी ज़िम्मेदारी सरकार और नौकरशाही पर डालकर पूँजीपति वर्ग को पापमुक्त करते हैं! यानी अगर कोई कम्पनी घूस देकर सरकार से कम दाम पर स्पेक्ट्रम खरीदती है और फिर उसे कई गुना दाम पर बेचती है, तो यह केवल सरकारी भ्रष्टाचार है; इस मामले में बेचारा पूँजीपति तो भ्रष्टाचार करने को सरकार व नौकरशाही द्वारा ‘मजबूर’ किया गया है। केजरीवाल एण्ड कम्पनी एक ‘फ्री एण्ड फेयर’ प्रतियोगिता वाले मुक्त व्यापार पूँजीवाद की हिमायत करते हैं। यह पूँजीवाद के उत्तर-क्लासिकीय युग में क्लासिकीय पूँजीवाद के किताबी सपने की बात करना है (क्योंकि पूँजीवाद अपने किसी भी युग में पूर्ण रूप से ‘फ्री एण्ड फेयर’ प्रतियोगिता की स्थितियाँ नहीं मुहैया कराता था और इस प्रकार के ‘न्यायपूर्ण प्रतियोगितावादी’ पूँजीवाद का उदाहरण केवल क्लासिकीय बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की किताबों में मिलती है, पूँजीवाद के असल इतिहास में कभी नहीं।) इसलिए केजरीवाल की नौटंकी पार्टी का काम केवल भ्रष्ट और साँठ-गाँठ करने वाले पूँजीवाद की बात करके, पूँजीवाद को दोषमुक्त करना है। ठीक वही काम जो कि जेपी आन्दोलन ने किया था।

ज़ाहिर है, इतिहास कभी अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है। लिहाज़ा, ‘आप’ का जेपी आन्दोलन, जनसंघ और जनता पार्टी के साथ कोई सादृश्य निरूपण नहीं किया जा सकता है। न ही आज के पूँजीवादी संकट का सादृश्य निरूपण सत्तर के दशक के पूँजीवादी संकट के साथ किया जा सकता है। यहाँ तथ्यों, घटनाओं और दलों में समानता देखने की बजाय, पूँजीवाद की कार्यप्रणाली पर निगाह डालने की आवश्यकता है। इस रूप में ‘आप’ का उभार मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की एक ज़रूरत के रूप में समझा जा सकता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था के विभ्रमों को तोड़ने का नहीं, बल्कि उन्हें बनाये रखने और दीर्घजीवी बनाने का काम करता है। आगे ‘आप’ की पूरी राजनीति को अनावृत्त करते हुए हम इस बात को पुष्ट करेंगे।

‘आप’ की राजनीति का चरित्र और उसका सामाजिक आधार

अगर हम ‘आप’ के सामाजिक आधार और उसके घोषणपत्र पर निगाह डालें तो हमें उसकी प्रकृति और चरित्र को समझने में सहायता मिलेगी। जैसा कि हम बता चुके हैं, ‘आप’ की जड़ अण्णा हजारे द्वारा शुरू किये गये भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन में थी। यह आन्दोलन 26/11 के आतंकवादी हमले के बाद शुरू हुआ था। देश में उस समय भी शासक वर्ग के नग्न भ्रष्टाचार के विरुद्ध गहरा रोष था; आम मेहनतकश जनता महँगाई और बेरोज़गारी के बोझ तले कराह रही थी; देश के निर्धनतम लोग भुखमरी और कुपोषण से मर रहे थे। ऐसे समय में, जब देश के पूँजीवादी राजनीतिक वर्गों के साथ मोहभंग अपने चरम पर था, अण्णा हजारे अवतरित होते हैं! अण्णा हजारे का पूरा आन्दोलन एक गैर-जनवादी आन्दोलन था; यह बुर्जुआ जनवाद की विफलता को हर प्रकार के जनवाद के नकार और एक तानाशाही जैसी व्यवस्था के समर्थन तक ले जाता था। पाठकों को याद होगा कि अण्णा हजारे का जनलोकपाल का प्रस्ताव चुनाव के सिद्धान्त को खारिज करता था; विद्वत लोगों की परिषद् को जनलोकपाल चुनने की ज़िम्मेदारी देता था; उसे सभी चुने गये प्रतिनिधि (चाहे यह प्रतिनिधित्व कितना भी सीमित हो!) निकायों के ऊपर वरीयता और प्राधिकार देता था। अण्णा हजारे खुद कहते थे कि इस जनता के ऊपर कुछ भी कैसे छोड़ा जा सकता है जो टीवी और साड़ी के बदले अपना वोट दे आती है! रालेगण सिद्धि में अण्णा हजारे का प्रयोग भी दिखलाता था कि जनवाद के सिद्धान्त में अण्णा हजारे का कोई भरोसा नहीं है। उनके लिए परिवर्तन, विकास और सुधार का कार्य जनता नहीं कर सकती जो कि मूढ़ और अज्ञानी है; यह काम समाज के लिए कुछ विद्वतजन करते हैं और उनकी परिषद् को ही यह उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है, जो दण्ड और अनुशासन के ज़रिये जनता को रास्ते पर रखे! इसी आन्दोलन में अरविन्द केजरीवाल और उसकी वानर सेना भी शामिल थी। अण्णा हजारे तो महज़ एक ‘लांच पैड’ थे! इसी आन्दोलन से निकलकर अरविन्द केजरीवाल ने चुनावी दल बनाने का फैसला किया क्योंकि अण्णा हजारे का आन्दोलन अपने सन्तुष्टि बिन्दु पर पहुँच रहा था। अब जनता का भी एक हिस्सा समझ रहा था कि केवल धरना-अनशन कर कुछ हासिल नहीं होगा। ठीक इसी समय पर अरविन्द केजरीवाल ने अपना ‘मास्टर स्ट्रोक’ खेला। हालाँकि, इसके पीछे दिमाग़ योगेन्द्र यादव, आनन्द कुमार, अभय कुमार दुबे, प्रशान्त भूषण आदि जैसे सुधारवादियों, समाजवादियों का था। यहीं से अण्णा हजारे और केजरीवाल के रास्ते अलग हो गये। वास्तव में, यह पूँजीवादी शासक वर्ग के लिए अच्छा ही था क्योंकि उसे इन दोनों ही मदारियों की ज़रूरत है!

अण्णा हजारे के समर्थन में तमाम टुटपुँजिया वर्ग इकट्ठा हुए थे, जिनकी पहचान राजनीतिक चेतना के त्रासद अभाव से की जा सकती है। एक तरफ़ उच्च मध्यवर्ग की प्रतिक्रिया अण्णा हजारे के आन्दोलन के साथ खड़ी थी, जिसे कि अण्णा हजारे का जनवाद-नकार बहुत रास आ रहा था; वहीं, निम्न मध्यमवर्गीय आबादी भी महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार आदि से तंग होकर इस आन्दोलन के पक्ष में खड़ी थी, क्योंकि अपनी चेतना की कमी के कारण वह इन समस्याओं के मूल कारण को नहीं देख पा रही थी और उसे लग रहा था कि अण्णा हजारे जैसा कोई ‘विजिलाण्टे’, रखवाला, रक्षक, महात्मा इन समस्याओं का जादू की छड़ी से समाधान कर देगा। हर समस्या को भ्रष्टाचार और हर निम्न मध्यवर्गीय असन्तोष को ‘भारत माता की जय’ और ‘वन्दे मातरम’ जैसे जुमलों में अपचयित कर दिया गया।

केजरीवाल का सामाजिक आधार भी इसी प्रकार है, हालाँकि अनुपात बदल गये हैं। केजरीवाल और उसकी 'आप' शुरुआत में शहरी उच्च और मध्य मध्यमवर्गीय आबादी में आधार बनाते हुए सामने आये। आई.आई.टी., मेडिकल, मैनेजमेण्ट के छात्र, सिविल सेवा के आकांक्षी युवा, विश्वविद्यालय आदि में पढ़ने वाले उच्च मध्यवर्गीय नौजवान केजरीवाल की 'आप' के शुरुआती सामाजिक आधार का निर्माण करते थे। इन वर्गों के भीतर जो प्रतिक्रियावाद मौजूद था वह केजरीवाल की सबसे अधिक सहायता कर रहा था। लेकिन योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादियों ने इस उच्च मध्यवर्गीय परिघटना को निम्न मध्यम वर्गों और एक हद तक गरीब मजदूर आबादी के एक हिस्से पर अपना वर्चस्व कायम करने के योग्य बनाया। यही वे लोग थे जो इस बात का समझ रहे थे कि पढ़े-लिखे शहरी मध्यवर्ग के 'विकास', 'टेक्नोक्रेटिक एफिशियेंसी', सामाजिक डार्विनवाद, 'मुक्त' प्रतियोगिता आदि के प्रति प्रतिक्रियावादी आग्रह के बूते पर ही 'आप' का चुनावी प्रयोग सफल नहीं हो सकता है। इन्होंने 'आप' के एजेण्डे में गरीब आबादी की माँगों को समेकित करने का काम किया। मिसाल के तौर पर, बिजली और पानी के सवाल के अलावा, अनधिकृत कालोनियों को नियमित करना, सभी झुग्गी निवासियों को पक्के मकान देना, सभी ठेका कर्मचारियों को नियमित करना, 500 नये सरकारी स्कूल बनवाना आदि जैसी माँगों को अलग-अलग समय पर 'आप' अपने माँगपत्रक में शामिल करती गयी। जिन समस्याओं का जिक्र 'आप' ने अपने घोषणापत्रों और पर्चों आदि में किया उनमें से एक के लिए भी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था, उसमें निहित असमानता, संसाधनों के असमान वितरण, सम्पत्ति सम्बन्धों को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया गया। इन सबके लिए केवल कांग्रेस, भाजपा जैसी पार्टियाँ और उनका भ्रष्टाचार ज़िम्मेदार था! हर समस्या का एक ही कारण-भ्रष्टाचार! यहाँ तक कि गरीबी के लिए भी काले धन को ज़िम्मेदार ठहराया गया जो कि विदेश चला जाता है! इस बात पर कोई सवाल नहीं उठाया गया कि जो अकूत सम्पदा देश के बाहर नहीं जाती उसका असमान वितरण क्यों होता है, और यह कि अगर विदेशों में जमा काला धन वापिस आ गया तो क्या वही भी उसी अनुपात में विभाजित नहीं होगा, जिस अनुपात में देश में ही रहने वाली सम्पदा होती है? लेकिन अमीरी-गरीबी, असमानता के बुनियादी सामाजिक-आर्थिक मुद्दे और इस सवाल को कि इसके लिए ज़िम्मेदार वास्तव में कौन है, केजरीवाल कभी उठाते ही नहीं और अगर कभी इस पर दो शब्द बोलते भी हैं तो इसे भी भ्रष्टाचार का परिणाम बता देते हैं! क्यों? इसे समझना ज़रूरी है।

चुप-चुप बैठे हो ज़रूर कोई बात है!

केजरीवाल दावा करते हैं कि 'आप' न तो वामपंथी है, न दक्षिणपंथी और न ही मध्यमार्गी! वह विचारधारा प्रेरित राजनीति नहीं करती है। उसकी राजनीति एक उत्तर-विचारधारा और उत्तर-राजनीति के दौर की राजनीति है! इतिहास गवाह है कि अन्ततः ऐसी सभी तथाकथित उत्तर-विचारधारा राजनीतियाँ दक्षिणपंथी राजनीति के किसी नये संस्करण की शुरुआत के पीछे काम करने वाले बहाने होते हैं। हम 'आप' के प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी चरित्र को दिखलाने के लिए 'आप' की कुछ चुप्पियों की ओर आपका ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे।

'आप' का खुद का सर्वेक्षण बताता है कि दिल्ली में उसके अधिकांश समर्थकों का कहना है कि वे दिल्ली में केजरीवाल को मुख्यमन्त्री पद पर देखना चाहते हैं, जबकि केन्द्र में वे मोदी को वोट करने वाले हैं। यह अनायास नहीं है। इसके पीछे गहरे कारण हैं।

‘आप’ जिन मुद्दों पर चुप है या कोई अवस्थिति नहीं अपनाती है, या फिर जिन मुद्दों को बस वह भ्रष्टाचार का नतीजा बताकर कन्धे उचका देती है, वे अहम मुद्दे हैं। मिसाल के तौर पर, जब ‘आप’ का चुनाव प्रचार जारी था उसी समय मुज़फ्फरनगर में दंगे हुए। अब इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि ये दंगे सोचे-समझे तौर पर संघी गिरोह ने करवाये थे। लेकिन अरविन्द केजरीवाल और ‘आप’ इस पर एक अहम बयान भी जारी नहीं करते! क्या यह चुप्पी चौंकाने वाली नहीं है? केजरीवाल उस सबसे बड़े खतरे पर चुप हैं जो आज भारत के सामने खड़ा है—मोदी के नेतृत्व में नया साम्प्रदायिक फासीवादी उभार! इस पर केजरीवाल एक शब्द तक नहीं बोलते। वह कांग्रेस की जो आलोचना करते हैं, वही आलोचना वह भाजपा की भी करते हैं जो भ्रष्टाचार के मुद्दे से कहीं आगे नहीं जाती है।

केजरीवाल ‘यूथ फॉर इक्वालिटी’ जैसे समूहों की राजनीति पर भी चुप हैं जो कि सवर्णवादी अवस्थिति से आरक्षण का विरोध करते हैं। यह भी बताया जाता है कि केजरीवाल खुद ‘यूथ फॉर इक्वालिटी’ के सदस्य थे! यह कोई चौंकाने वाली बात नहीं है क्योंकि केजरीवाल जिस उच्च मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावादी राजनीति की नुमाइन्दगी करते हैं, उसकी नैसर्गिक एकता इसी प्रकार की राजनीति से बनती है। स्त्रियों और पुरुषों के बीच की असमानता पर भी केजरीवाल का कोई स्टैण्ड नहीं है। वह महिलाओं की सुरक्षा के लिए कमाण्डो दस्ते बनाने की बात करते हैं। लेकिन यह पुरुषों द्वारा महिलाओं को दी जाने वाली सुरक्षा ही होगी। यह अपने आपमें पूरी की पूरी पितृसत्तात्मक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर प्रश्न नहीं है।

केजरीवाल की ‘आप’ कश्मीर और उत्तर-पूर्व में दमित राष्ट्रीयताओं के उत्पीड़न पर, आपस्पा, डिस्टर्ब्ड एरियाज़ एक्ट, पोटा, टाडा, यूएपीए, मकोका, आदि जैसे कानूनों पर बिल्कुल शान्त है! छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, उड़ीसा और झारखण्ड में आदिवासियों के कत्लेआम पर ‘आप’ चुप है! और इससे भी खतरनाक बात यह है कि इन सारे मुद्दों को केजरीवाल हमेशा भ्रष्टाचार पर अपचयित करने, इसके लिए भ्रष्ट कांग्रेस और भाजपा को जिम्मेदार ठहराने के लिए तत्पर रहता है। इस प्रकार भ्रष्टाचार का पूरा मुद्दा एक ऐसा उपकरण बन जाता है जो कि समस्याओं के असली कारण और हल तक पहुँचने की बजाय, उन मूल समस्याओं को ढँकने और छिपाने का उपकरण बन जाता है।

जिन मुद्दों पर ‘आप’ चुप है, वे सभी वे मुद्दे हैं जिन पर बोलना मोदी की फासीवादी राजनीति को ‘अनसेटल’ कर सकता है। मोदी इन मुद्दों पर सीधे एक प्रतिक्रियावादी अवस्थिति को बोलता है; ‘आप’ इन पर सीधे नहीं बोलती (इसके लिए भी सम्भवतः योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादी दलों को धन्यवाद देना चाहिए!)। लेकिन इन पर एक साजिशाना चुप्पी कायम रखती है। या फिर इन मुद्दों को भी भ्रष्टाचार की पैदावार बता देती है। तो सारा मसला अन्त में एक जनलोकपाल बनाने और भ्रष्टाचार का सफ़ाया करने पर आकर केन्द्रित हो जाता है! यह पूरी राजनीति सचेतन तौर पर न भी सही, तो वस्तुगत तौर पर अन्त में फासीवादी राजनीति की मदद करती है, क्योंकि ‘आप’ जिस प्रकार के राजनीतिक दल के तौर पर उभरी है, उसी रूप में उसका भारतीय पूँजीवादी राजनीति में बने रह पाना सम्भव नहीं है; या तो यह पार्टी ही बिखर जायेगी और इसके अधिकांश तत्व दक्षिणपंथी उभार के पक्ष में जाकर खड़े हो जायेंगे, या फिर इस पार्टी का स्वरूप काफ़ी हद तक कांग्रेस, भाजपा जैसा ही हो जायेगा। इन दो

सम्भावनाओं के अलावा हमें और कोई सम्भावना नज़र नहीं आती।

‘आप’ पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को कभी कठघरे में खड़ा नहीं करती। केजरीवाल ने एक कारपोरेट घराने के ‘काम करने के तरीकों’ पर सवाल उठाना शुरू किया था, लेकिन इस मुद्दे पर जल्द ही वह चुप्पी साध गये। बाद में जब उसी कारपोरेट घराने के ‘क्रोनी कैपिटलिज़्म’ के बारे में फिर से बोलते हैं, तो उसी समय 372 करोड़ रुपये बिजली सब्सिडी के नाम पर उस कम्पनी की जेब में डाल देते हैं और साथ ही उनकी पार्टी बोलती है कि इस कारपोरेट घराने से चुनावी चन्दा लेने में आम आदमी पार्टी को कोई एतराज नहीं है। बाकी कारपोरेट घरानों पर केजरीवाल ने कभी मुँह तक नहीं खोला। उल्टे पूँजीपति वर्ग को भी वह ‘विक्रिम’ और पीड़ित के रूप में दिखलाते हैं! अपने घोषणापत्र में केजरीवाल लिखते हैं कि कांग्रेस और भाजपा जैसी भ्रष्ट पार्टियों के कारण मजबूर होकर पूँजीपतियों को भ्रष्टाचार करना पड़ता है! यह दोगलेपन की इन्तहाँ नहीं तो क्या है? आप देख सकते हैं कि भ्रष्टाचार के मुद्दे को किस प्रकार नंगी और बर्बर पूँजीवादी लूट को छिपाने के लिए इस्तेमाल किया गया है। पूँजीपति जो श्रम कानूनों का उल्लंघन करते हैं क्या वह मजबूरी के कारण करते हैं? ठेकाकरण क्या वह भ्रष्टाचार से मजबूर होकर करते हैं? यह तो पूरी तस्वीर को ही सिर के बल खड़ा करना है। वास्तव में, सरकार (चाहे किसी की भी हो!) और पूँजीपति वर्ग मिलकर मजदूरों के विरुद्ध लूट और हिंसा को अंजाम देते हैं! केजरीवाल की इस महानौटंकी के पहले अध्याय के लिखे जाते समय ही दिल्ली के पड़ोस में मारुति सुजुकी के मजदूरों का संघर्ष चल रहा था लेकिन केजरीवाल ने इस पर एक शब्द नहीं कहा; दिल्ली में ही मेट्रो के रेल मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी और ठेका प्रथा खत्म करने के लिए संघर्ष चल रहा था, इस पर भी केजरीवाल ने एक बयान तक नहीं दिया! केजरीवाल की सरकार के सामने दिल्ली के हजारों ठेका मजदूरों ने 6 फरवरी को प्रदर्शन किया। केजरीवाल का श्रम मन्त्री मजदूरों से किये गये सारे वायदों से मुकर गया! क्या केजरीवाल को यह सारी चीज़ें पता नहीं हैं? ऐसा नहीं है! यह एक सोची-समझी चुप्पी है! मजदूरों के लिए कुछ कल्याणकारी कदमों जैसे कि पक्के मकान देना आदि की बात करना एक बात है, और मजदूरों के सभी श्रम अधिकारों के संघर्षों को समर्थन देना एक दूसरी बात। केजरीवाल कहीं भी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग पर हमला नहीं करते। उनके लिए पूँजीपति वर्ग शासक वर्ग नहीं है; मेहनतकश जनता तो ख़ैर शासक वर्ग है ही नहीं! तो फिर शासक वर्ग है कौन? यह एक भ्रष्ट राजनीतिक व नौकरशाह वर्ग है जो किसी वर्ग की नुमाइन्दगी नहीं करता, बल्कि अपनी ही सेवा में संलग्न है! और पूँजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग एक दूसरे के दुश्मन नहीं है, बल्कि वे दोनों ही पीड़ित वर्ग है; भ्रष्टाचारियों से पीड़ित! यहाँ भी आप देख सकते हैं कि असली सवाल को ढाँपने के लिए भ्रष्टाचार के जुमले का कैसे इस्तेमाल किया गया है। केजरीवाल के लिए इस पूरी व्यवस्था में कोई दिक्कत नहीं है! बस इसमें से भ्रष्टाचार के सफ़ाये की ज़रूरत है! अगर ग़रीबों को रोटी और रोज़गार नहीं मिलता तो यह पूँजीवादी व्यवस्था की समस्या नहीं है; पूँजीवादी व्यवस्था तो उन्हें रोटी और रोज़गार देती है, लेकिन वह भ्रष्टाचारियों के कारण उन तक पहुँच नहीं पाता! इसलिए समस्या आपूर्ति की है! केजरीवाल इस समस्या को कैसे दूर करेंगे? एक साक्षात्कार में वह कहते हैं कि पटेल जैसी राजनीति करके; शास्त्री जैसी राजनीति करके! नेहरू का नाम सोचे-समझे तौर पर इस सूची

से गायब है। समझने वाले समझ सकते हैं कि क्यों! निश्चित तौर पर, नेहरू भी भारतीय प्रतिक्रियावादी पूँजीपति वर्ग के ही नुमाइन्दे हैं, लेकिन उनमें प्रबोधन, सेक्युलरिज़्म और प्रगतिशीलता के कुछ वास्तविक और कुछ प्रतीतिगत तत्व हैं, जो कि 'आप' की टुटपूँजिया आत्मिक उभार और आदर्शवादी पुनरुत्थानवाद की प्रतिक्रियावादी राजनीति से मेल नहीं खाते। यही कारण है कि आम आदमी पार्टी अन्य चुनावी पार्टियों की तरह खापों का समर्थन करती है! केजरीवाल बोलता है कि खाप तो एनजीओ के समान है! पुराने एनजीओपंथी केजरीवाल की इस बात पर हम इस पर एक तयौरी उठाकर 'बिल्कुल!' की बोल सकते हैं!

इस समूचे आदर्शवादी भ्रष्टाचार-विरोध का मिश्रण किया जाता है अन्धराष्ट्रवादी जुमलों के साथ। 'आप' का एक चुनाव उम्मीदवार एक सैनिक था, जो कि सीमा पर झड़प में विकलांग हो गया था। उससे केजरीवाल ने कहा कि आप अब तक देश के बाहर के आतंकवादियों से लड़ रहे थे, अब आप 'आप' की ओर से चुनाव लड़कर देश के भीतर के आतंकवादियों के विरुद्ध लड़िये। यह पूरी जुमलेबाजी और भाषा एक दक्षिणपंथी अन्धराष्ट्रवाद की है। इसमें वास्तविक मुद्दों और सच्चाइयों को आदर्शवादी, अन्धराष्ट्रवादी और प्रतिक्रियावादी जुमलों के तहत छिपा दिया गया है।

'आप' तृणमूल और भागीदारीपूर्ण जनवाद की बात करती है। 'आप' का कहना है कि वह सत्ता में आयेगी तो स्थानीय विकास कार्यों आदि को लेकर मोहल्ला सभाओं को सारे अधिकार दे देगी। यह एक राजनीतिक जनवाद की बात है। लेकिन अगर मौजूद सम्पत्ति सम्बन्धों, असमानतापूर्ण सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों को और उत्पादन के साधन पर मालिकाने और नियन्त्रण तक पहुँच के सम्बन्धों को छोड़े बगैर मोहल्लों में सभाएँ बनाकर उन्हें नियन्त्रण सौंप भी दिया जाये, तो अन्ततः उसमें किन लोगों की चलेगी? ज़ाहिर सी बात है, मोहल्लों में रहने वाले ठेकेदारों, दल्लों, छुटभैया मालिकों, पैसेवालों, और अमीरों की ही चलेगी! आम गरीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी उनके पीछे-पीछे चलेगी। ऐसे में, यह राजनीतिक जनवाद का अधिकार भी अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता जब तक कि आर्थिक सम्बन्धों को भी आमूल-चूल रूप में न बदला जाये! लेकिन 'आप' तो इन सम्बन्धों को किसी भी तरह से बहस और चर्चा से दूर रखना चाहती है!

'आप' की पूरी राजनीति वास्तव में देश की आम मेहनतकश आबादी की जिन्दगी की समस्याओं के मूल कारणों को छिपाने और ढँकने का काम ज़्यादा करती है। इसके लिए जिस उपकरण का इस्तेमाल किया जाता है वह है भ्रष्टाचार-विरोध, देश-सेवा आदि के नाम पर की जाने वाली प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी राजनीति। 'आप' एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था की हिमायत करती है जिसमें कोई भ्रष्टाचार न हो, सभी नागरिक सम्भावित उद्यमी हों, मुक्त व्यापार और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा हो, उपयुक्ततम की उत्तरजीविता हो, और यह सारा क्रिया-व्यापार अपनी सैद्धान्तिक शुद्धता में चले! यह एजेण्डा आज के दौर में एक तकनोशाहाना कुशलता वाले उद्यमी पूँजीवाद का सपना दिखाता है जो कि उद्यमी बनने की आकांक्षा रखने वाले टुटपूँजिया वर्गों को आकृष्ट करता है। ज़ाहिर है, यह एक शेखचिल्लीवादी सपना है जो कभी पूरा नहीं हो सकता। लेकिन इसी रूप में इस राजनीति का चल पाना बहुत मुश्किल है। इसके कारणों की चर्चा हम 'आप' के घोषणापत्र के मुद्दों के चरित्र और उसके सामाजिक आधार के चरित्र के द्वारा कर सकते हैं।

आम आदमी पार्टी के राजनीतिक भविष्य पर कुछ ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक सिम्युलेशन

‘आप’ आज भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत है। लेकिन ‘आप’ का पूरा राजनीतिक घोषणापत्र, माँगपत्रक और यहाँ तक कि उसका सामाजिक आधार मूलतः योगात्मक (एग्रीगेटिव) है; यानी कि उनमें कोई जैविक एकता नहीं है। ‘आप’ ने उच्च मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावाद के वर्चस्व को निम्न मध्यवर्गीय आदर्शवाद पर स्थापित किया और एक ऐसा माँगपत्रक तैयार किया है जो कि प्रकृति से ही एक योगात्मक समुच्चय है और उसके पीछे कोई एक सुसंगत विचारधारात्मक दृष्टि नहीं है। अगर ‘आप’ पार्टी इनमें से कुछ मुद्दों और वायदों पर ही अमल शुरू करती तो एक ओर ‘आप’ पार्टी के भीतर ही टूट-फूट और बिखराव की प्रक्रिया शुरू हो जाती, वहीं उसके सामाजिक आधार में भी बिखराव शुरू हो जाता। ‘आप’ सरकार ने सिर्फ दिखावे के लिए जितना किया, उतने में ही उसका अपना संघटन और आधार तमाम किस्म की दरारों का शिकार हो गया। अगर वह वाकई कुछ करती तब तो उसका अस्तित्व कुछ महीनों की चीज़ बन जाता। मिसाल के तौर पर, ‘आप’ ने छोटे मालिकों और व्यापारियों को ‘सरकार द्वारा वसूली’ (यानी कर और विनियमन) और भ्रष्टाचार से छूट दिलाने का वायदा किया है; यही कारण है कि छोटे मालिकों और व्यापारियों के वोट बड़े पैमाने पर ‘आप’ को मिले। लेकिन साथ ही, ‘आप’ ने ठेका प्रथा समाप्त करने और दिल्ली के साढ़े तीन लाख ठेका कर्मचारियों को स्थायी करने का वायदा भी किया है। लेकिन इन 50-60 लाख ठेका कर्मचारियों की मेहनत को ही लूटने का काम तो ये छोटे मालिक और ठेकेदार सबसे ज़्यादा करते हैं। ठेका प्रथा का अगर कोई सबसे बड़ा लाभप्राप्तकर्ता है, तो वह छोटा मालिक और ठेकेदार वर्ग है। स्पष्ट है कि ये दोनों वायदे अन्तरविरोधी हैं और इन पर अमल के साथ ही छोटा मालिक वर्ग ‘आप’ का साथ छोड़कर निरंकुश तरीके से भूमण्डलीकरण, निजीकरण, ठेकाकरण की नीतियों को लागू करने वाली फासीवादी ताकतों के पक्ष में जा खड़ा होगा।

उसी प्रकार ‘आप’ का यह वायदा कि वह बिजली के बिल आधे कर देगी एक ही सूत्र में सम्भव हो सकता था। और वह है विद्युत वितरण का निजीकरण समाप्त किया जाना और उसके बाद भी सरकारी खज़ाने से पर्याप्त सब्सिडी दी जाय। उसी प्रकार हर दिन हर नागरिक को 700 लीटर मुफ्त पानी भी वास्तव में (केजरीवाल की धोखाधड़ी की तरह नहीं!) तभी दिया जा सकता था, जब सब्सिडी दी जाय। ऐसी सब्सिडी देने के लिए राजस्व सिर्फ भ्रष्टाचार खत्म करने से आ ही नहीं सकता है। यह केवल कर का बोझ दिल्ली के अमीरज़ादों पर डालकर ही सम्भव है, क्योंकि मेहनतकश आबादी पर प्रत्यक्ष करों का बोझ डाला ही नहीं जा सकता है और अप्रत्यक्ष कर पहले से ही काफ़ी ज़्यादा हैं। ऊपर से, ‘आप’ वैंट को भी खत्म करने की बात कर रही है। अगर कराधान का बोझ दिल्ली के उच्च मध्यवर्ग पर बढ़ता है, तो वह भी जल्द ही ‘आप’ से छिटक जायेगा।

स्पष्ट है, अगर ‘आप’ अपने वायदों के 20 प्रतिशत पर भी अमल करती तो उसके संगठन और सामाजिक आधार का बिखराव शुरू हो जाता। ऐसे में, या तो ‘आप’ खुलकर पूँजीवादी व्यवस्था और खुली उदारवादी नीतियों के समर्थन में खड़ी होगी, जिस सूत्र में वह अप्रासंगिक हो जायेगी क्योंकि यह काम करने वाली मुख्य धारा की पूँजीवादी पार्टियाँ पहले से

मौजूद हैं; या फिर, उसका हथ्र वही होगा जो जनता पार्टी का हुआ था: वह खण्ड-खण्ड हो जायेगी और उसके ज़्यादातर धड़े अन्ततः मोदी के फासीवादी उभार के साथ जा खड़े होंगे। 'आप' का भविष्य फिलहाल इसी रूप में दिख रहा है, बशर्ते कि वह अपने मुख्य राजनीतिक मुद्दे भ्रष्टाचार को छोड़कर कांग्रेस, भाजपा जैसी ही एक चुनावी पार्टी न बन जाये। मौजूदा राजनीतिक माँगपत्रक और घोषणापत्र के साथ इसी रूप में यह पार्टी बनी नहीं रह सकती है क्योंकि उसका योगात्मक चरित्र इस बात ही इजाज़त ही नहीं देता है।

लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि आज भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए 'आप' की प्रासंगिकता नहीं है। वास्तव में, पूँजीवादी राजनीति और अर्थव्यवस्था जिस संकट से गुज़र रही है और विश्वस्नीयता का संकट जिस हद तक जा चुका है, उसमें 'आप' की सख्त ज़रूरत है। यह पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा किये बग़ैर जनता के गुस्से को निकलने का एक सुरक्षित 'आउटलेट' देती है। इस रूप में 'आप' आज एक नये अर्थ और रूप में वही भूमिका निभा रही है जो एक दौर में जेपी आन्दोलन और फिर जनता पार्टी ने निभायी थी। जैसा कि हम पहले इंगित कर आये हैं, 'आप' के उभार में योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादी मदारी जो भूमिका निभा रहे हैं, वह वास्तव में वही भूमिका है, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को संकट के दौर में बचाने के लिए सभी समाजवादी (हर ब्राण्ड के!), सुधारवादी और संशोधनवादी निभाते हैं। लेकिन यह भी सच है कि 'आप' जैसी किसी भी परिघटना की प्रासंगिकता उसी रूप में दीर्घकालिक नहीं हो सकती है। या तो वह अपना रूप बदलकर पारम्परिक चुनावी पूँजीवादी पार्टी बनकर किसी हद तक कायम रख सकती है, या फिर उसकी नियति में बिखराव होता है। ऐसे बिखराव के बाद कुल मिलाकर फायदा फासीवादी राजनीति को ही पहुँचता है। जैसा कि जनता पार्टी के बिखराव के बाद हुआ था। भारत में चुनावी राजनीति के दायरे में सही मायने में दक्षिणपंथी उभार के लिए तो जयप्रकाश नारायण और उसके लग्गू-भग्गुओं को ही दोषी ठहराया जाना चाहिए, जिसने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का भ्रामक नारा देकर जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा को सुरक्षित चैनलों में दिशा-निर्देशित कर दिया और अन्ततः यह सबकुछ दक्षिणपंथी फासीवादी राजनीति के पक्ष में जा खड़ा हुआ।

इसलिए 'आप' की पूरी परिघटना में गुणात्मक रूप से कुछ भी अनोखा और नया नहीं है। चर राशियाँ तो हमेशा ही बदल जाया करती हैं और इसीलिए कोई भी घटना इतिहास में दुहरायी नहीं जाती है। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, "हर अहम घटना या व्यक्तित्व, इतिहास में दो बार घटित होते हैं, पहले त्रासदी के रूप में तो दूसरी बार प्रहसन के रूप में।" आज आम आदमी पार्टी की राजनीति पुरानी जेपी-ब्राण्ड राजनीति का एक प्रहसनात्मक संस्करण ही तो है। केजरीवाल के किसी भी एक साक्षात्कार या भाषण को सुन लें तो प्रहसन शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है!

आज के पूँजीवादी संकट के दौर में आदर्शवादी, प्रतिक्रियावादी मध्यवर्गीय राजनीति का पूँजीपति वर्ग द्वारा इस्तेमाल किया जाना लाज़िमी है। पूँजीवादी संकट विद्रोह की तरफ़ न जा सके, इसके लिए पूँजीपति वर्ग हमेशा ही टुटपूँजिया वर्ग के आत्मिक व रूमानी उभारों का इस्तेमाल करता रहा है। कभी यह खुले फासीवादी उभार के रूप में होता है, तो कभी 'आप' जैसे प्रच्छन्न, लोकरंजकतावादी प्रतिक्रियावाद के रूप में। और अन्त में उसकी नियति भी वही होती है जिसकी हमने चर्चा की है। देखना यह है कि यह सारी प्रक्रिया अब किसी रूप में घटित होती है।

गहराता वैश्विक पूँजीवादी संकट और जुझारू मजदूर संघर्षों का तेज होता सिलसिला

● सत्यम

वर्ष 2006 से जिस विश्वव्यापी मन्दी ने पूँजीवादी व्यवस्था को अपनी जकड़ में ले रखा है उससे उबरने के अभी कोई आसार नजर नहीं आ रहे हैं। संकट को टालने के लिए पूँजीवाद के नीम-हकीमों और वैद्यों ने जितने नुस्खे सुझाये हैं उनके कारण संकट की नये रूपों में फिर वापसी ही होती रही है। इन सभी उपायों की एक आम विशेषता यह रही है कि पूँजीपतियों और उच्च वर्गों को राहत देने के लिए संकट का ज़्यादा से ज़्यादा बोझ मेहनतकशों और आम लोगों पर डाल दिया जाये। इसके कारण लगभग सभी देशों में सामाजिक सुरक्षा के व्यय में भारी कटौती, वास्तविक मजदूरी में गिरावट, व्यापक पैमाने पर छूटनी, तालाबन्दी आदि का कहर मेहनतकश आबादी पर टूटा है। पिछले दो-ढाई दशकों के दौरान पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों के चलते भारी मजदूर आबादी जिस तरह असंगठित और खण्ड-खण्ड में बिखेर दी गयी है उस कारण पूँजी के इन हमलों के आगे वह लाचार और बेबस-सी दिखती रही है। लेकिन पिछले दो-तीन वर्षों में तस्वीर बदलती दिखायी दे रही है।

दुनिया भर में मजदूर इस बर्बर लूट का जमकर प्रतिरोध कर रहे हैं और अपने अधिकारों के लिए सड़कों पर उतर रहे हैं। वैसे तो संकट की शुरुआत के साथ सरकारी खर्च घटाने के विभिन्न कदमों के विरोध में अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों

में व्यापक प्रदर्शनों और हड़तालों का सिलसिला शुरू हो गया था जो अब भी जारी है। लेकिन पिछले 2-3 वर्षों के दौरान तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देशों में उभर रहे मजदूर संघर्षों की प्रकृति इनसे काफी अलग है। उन्नत पूँजीवादी देशों के मजदूर, जो ज़्यादातर यूनियनों में संगठित हैं, मुख्यतया अपनी सुविधाओं में कटौती और रोज़गार के घटते अवसरों के विरुद्ध सड़कों पर उतर रहे हैं। इनका बड़ा हिस्सा उस अभिजन मजदूर वर्ग का है जिसे तीसरी दुनिया की जनता की बर्बर लूट से कुछ टुकड़े मिलते रहे थे और इसका जीवन काफी हद तक सुखी और सुरक्षित था। ग्रीस जैसे देशों की स्थिति अलग है जो पहले भी दूसरी दुनिया के देशों की निचली कतार में थे और वित्तीय संकट की मार से लगभग तीसरी दुनिया की हालत में पहुँच गये हैं। मगर भारत, बंगलादेश, पाकिस्तान से लेकर मलेशिया, इण्डोनेशिया, कोरिया, दक्षिण अफ्रीका, ब्राज़ील, मेक्सिको, चीन आदि देशों में एक के बाद उठ रहे जुझारू आन्दोलन इन देशों के उस मजदूर वर्ग की बढ़ती बेचैनी और राजनीतिक चेतना का संकेत दे रहे हैं जो हर तरह के अधिकारों से वंचित और सबसे बर्बर शोषण का शिकार है। बेहद कम मजदूरी पर और बहुत ख़राब व ख़तरनाक स्थितियों में 12-14 घण्टे रोज़, अक्सर बिना साप्ताहिक अवकाश के काम करने वाली यह विशाल मजदूर आबादी तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में मजदूरों के 90 प्रतिशत से अधिक है। इनका भारी हिस्सा असंगठित है और ठेका, दिहाड़ी, कैजुअल या पीसरेट पर काम करने वाले मजदूरों का है। इन देशों में हो रहा पूँजीवादी विकास इसी विराट मजदूर आबादी की अस्थि-मज्जा को निचोड़कर हो रहा है। विकसित पूँजीवादी देशों की कम्पनियों के मुनाफ़े का स्रोत भी इन्हीं रसातलवासी मजदूरों से चूसा गया खून है। बिखराव, संगठनविहीनता और पिछड़ी चेतना का शिकार यह मजदूर वर्ग अब तक प्रायः कुछ रक्षात्मक संघर्षों या बीच-बीच में फूट पड़ने वाली उग्र झड़पों के विस्फोट तक सीमित रहा था। लेकिन दुनिया भर में जगह-जगह हो रहे आन्दोलन बताते हैं कि इसमें तेज़ी से अपने अधिकारों और एकजुटता की चेतना का संचार हो रहा है और यह पूँजी की ताकतों से लोहा लेने के लिए तैयार हो रहा है। यह अलग बात है कि संघर्ष की दिशा, दूरगामी रणनीति और तैयारी के अभाव में ये आन्दोलन अभी ज़्यादा दूर नहीं जा पा रहे।

दुनिया का शायद सबसे विशाल सर्वहारा वर्ग, चीन के मजदूर कम्युनिस्ट नामधारी पूँजीवादी शासकों की लुटेरी नीतियों के खिलाफ़ लगातार लड़ रहे हैं। नयी “महाशक्ति” के रूप में उभरते चीन के विकास की कहानी दुनियाभर की बड़ी-बड़ी कम्पनियों के लिए सस्ता और भरपूर उपलब्ध श्रम मुहैया कराने की चीनी शासकों की कुशलता पर टिकी है। बीजिंग, शंघाई, ग्वांगझाउ, चेंगदू, शेनझेन जैसे दर्जनों औद्योगिक इलाकों में करोड़ों-करोड़ मजदूर भारत के मजदूरों जैसे हालात में काम कर रहे हैं। बेहद कम मजदूरी और भयंकर दमघोटू माहौल में 12-14 घण्टे काम, किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा नहीं, दड़बे जैसे कमरों में नर्क जैसी जिन्दगी। अन्धाधुन्ध मुनाफ़े की हवस में सारे सुरक्षा उपाय ताक पर धरकर कराये जाने वाले उत्पादन के चलते औद्योगिक दुर्घटनाओं में चीन पूरी दुनिया में सबसे आगे है। सरकारी ट्रेड यूनियन मजदूरों को कठोर नियन्त्रण में रखने के औज़ार भर हैं। वैसे भारी असंगठित मजदूर आबादी इनसे बाहर है और उसे यूनियन बनाने का अधिकार ही नहीं है। विशाल और बेहद संगठित सरकारी दमनतन्त्र के साथ ही उद्योगपतियों की निजी सुरक्षा सेनाएँ मजदूरों को आतंकित और नियन्त्रित करने के लिए तैनात रहती हैं। कठोर सरकारी नियन्त्रण में चलने वाले मीडिया में उनकी आवाज़ नहीं के बराबर आती है। लेकिन तमाम बन्दिशों के बावजूद चीन

मजदूर लड़ाई के रास्ते पर हैं। चाइना लेबर बुलेटिन की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2011 के मध्य से 2013 के अन्त तक चीन में मजदूरों की 1170 हड़तालें और अन्य सामूहिक कार्रवाइयाँ हुईं। इनमें से 40 प्रतिशत से अधिक हड़तालें मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में हुईं। सीएलबी के अनुसार वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा है। निर्माण क्षेत्र के मजदूरों ने पिछले कुछ महीनों में ही सैकड़ों हड़तालें और विरोध प्रदर्शन किये हैं। एप्पल कम्पनी के लिए आईपैड और आईफोन बनाने वाली कुख्यात चीनी कम्पनी फॉक्सकॉन की कई फैक्टरियों में पिछले वर्ष मजदूरों ने एक साथ की गयी हड़तालों की बदौलत कई माँगों पर कम्पनी को झुकने के लिए मजबूर कर दिया था। होण्डा की चीन स्थित कई इकाइयों के मजदूरों ने भी एक साथ की गयी कार्रवाइयों से अपनी ताकत दिखायी थी। इन दोनों ही मामलों में चीनी मजदूरों ने मोबाइल और इण्टरनेट के जरिये एक-दूसरे से सम्पर्क और तालमेल करने का रास्ता निकाला था। इस रास्ते का इस्तेमाल अब चीनी मजदूर बड़े पैमाने पर करने लगे हैं। मजदूरों की कार्रवाइयों की सिर्फ संख्या और जुझारूपन ही नहीं बढ़ रहे हैं बल्कि सीएलबी के अनुसार उनमें राजनीतिक चेतना भी तेजी से बढ़ रही है। सरकारी नियन्त्रण से छन-छनाकर आने वाली कुछ छोटी-छोटी ख़बरों से पता चलता है कि पार्टी और राज्य पर कब्ज़ा जमाये संशोधनवादियों के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी माओवादी ग्रुप भी मजदूरों के बीच सक्रिय हैं। मजदूरों के बढ़ते जुझारूपन का ही नतीजा है कि चीनी सरकार को एक के बाद एक कई सेक्टरों में मजदूरी में बढ़ोत्तरी और सेवादशाओं में सुधार की घोषणाएँ करनी पड़ी हैं।

यूरोप में वित्तीय संकट की सबसे बुरी मार झेल रहे ग्रीस में मजदूरों ने पिछले तीन वर्षों के दौरान लगभग दो दर्जन देशव्यापी आम हड़तालें करके सरकार को मजदूरी और सामाजिक सुरक्षा में प्रस्तावित कटौतियाँ लागू करने से कई बार रोकने में सफलता हासिल की है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोपीय यूनियन और यूरोपीय केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर छँटनी और वेतन-भत्तों में कटौती के लिए ग्रीस की सत्ता पर लगातार दबाव डाल रहे हैं। सत्ता के दलाल यूनियन नेताओं की टालमटोल और कई बार हड़ताल से सीधे इन्कार के बावजूद मजदूरों के भारी दबाव में उन्हें आम हड़तालों के आह्वान का समर्थन करने पर मजबूर होना पड़ा है। मजदूरों ने स्थानीय स्तर पर स्वतन्त्र हड़ताल समितियाँ गठित करके हड़तालों को अनुष्ठानिक बना देने की नेताओं की कोशिशों को भी नाकाम कर दिया है। ग्रीस में नवनाज़ीवाद के उभार के विरुद्ध जुझारू लड़ाई में भी मजदूर बढ़चढ़कर आगे रहे हैं। भूतपूर्व समाजवादी देशों में खुले पूँजीवाद के आने के बाद से अमीर-ग़रीब के बीच ध्रुवीकरण तेज़ी से बढ़ा है और महँगाई तथा बेरोज़गारी ने मजदूरों की ज़िन्दगी बेहाल कर दी है। इनमें से कई देशों में भी पिछले दिनों जुझारू मजदूर आन्दोलन हुए हैं। 44 प्रतिशत बेरोज़गारी झेल रहे बोस्निया में पिछले दिनों कई शहरों में हुए मजदूरों के उग्र प्रदर्शनों में हजारों मजदूरों ने पुलिस से मोर्चा लिया जिसमें करीब डेढ़ सौ पुलिसवाले ज़ख्मी हो गये।

बंगलादेश में पिछले वर्ष राना प्लाज़ा की इमारत गिरने से 1100 से अधिक मजदूरों की मौत के बाद से गारमेण्ट मजदूरों के आन्दोलनों का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा है। बंगलादेश में करीब 40 लाख मजदूर बेहद ख़राब हालात में गारमेण्ट उद्योग में काम करते हैं। इस घटना से कुछ ही महीने पहले ढाका की एक गारमेण्ट फैक्ट्री में आग से 150 मजदूर मारे गये थे। बंगलादेश में इस घटना से पहले पिछले 3 वर्ष में आग लगने या इमारत गिरने से 1800 से ज्यादा गारमेण्ट मजदूरों की मौत हो चुकी थी। राना प्लाज़ा की घटना के बाद सरकार

और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ओर से कुछ दिखावटी घोषणाओं के अलावा कोई ठोस कार्रवाई न होने से क्रुद्ध मजदूरों ने मई दिवस के दिन देश के कई शहरों में जुझारू विशाल प्रदर्शन किये। उसके बाद सितम्बर और नवम्बर में भी गारमेण्ट मजदूरों ने व्यापक विरोध प्रदर्शन आयोजित किये जिसके दबाव में सरकार को उनकी न्यूनतम मजदूरी में 77 प्रतिशत बढ़ोत्तरी करनी पड़ी (हालाँकि अब भी यह बेहद कम है)। अभी हाल में आयी एक स्वतन्त्र रिपोर्ट के अनुसार बंगलादेश के कारखानों में मजदूरों के साथ जोर-जबर्दस्ती पहले की ही तरह जारी है। मन्दी के दौर में बढ़ती प्रतिस्पर्धा के चलते ज़्यादातर कम्पनियाँ बढ़ी हुई मजदूरी देने को तैयार नहीं हैं और काम के ख़तरनाक हालात अब भी बने हुए हैं। पाकिस्तान में भी गारमेण्ट मजदूरों, रेलवे मजदूरों और बन्दरगाह मजदूरों के जुझारू आन्दोलन पिछले दिनों हुए हैं।

इण्डोनेशिया, पापुआ-न्यू गिनी, फिलिपीन्स, मलेशिया आदि में पिछले दो वर्षों के दौरान अनेक जुझारू और लम्बे चलने वाले मजदूर आन्दोलन हुए हैं। कम्पूचिया में जनवरी 2014 में हुए मजदूरों के प्रदर्शनों के हिंसक दमन, जिसमें कम से कम पाँच मजदूर पुलिस की गोली से मारे गये, के बावजूद मजदूर संघर्षों का सिलसिला तेज़ हो रहा है। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में 200 कारखानों के एक लाख से अधिक मजदूरों ने ओवरटाइम करने से इन्कार कर दिया जो 12 मार्च को होने वाली आम हड़ताल तक जारी रहेगा। कोरिया में मजदूरों के जुझारू प्रदर्शनों का सिलसिला पिछले 2-3 साल से लगातार जारी है।

दक्षिण अफ्रीका में सबसे बड़ी यूनियन, सत्तारूढ़ अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस से जुड़ी कोसाटू का चरित्र पार्टी के सत्ता में आने और पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाने के साथ ही बदल चुका था। इसके कई नेता तो खुद कम्पनियों के मोटे शेरधारक बन चुके हैं। मगर वहाँ मजदूरों की भारी आबादी सत्ताधर्मी यूनियनों से अलग हटकर अपनी बेहद बुरी स्थितियों के विरुद्ध संघर्ष कर रही है। पिछले वर्ष मरिकाणा प्लेटिनम खदान में मजदूरों के बर्बर हत्याकाण्ड के बाद से इसमें और तेज़ी आयी है और कोसाटू का चरित्र और नंगा हुआ है। पिछले दिनों मेटलवर्कर्स की सबसे बड़ी यूनियन भी उससे अलग हो गयी है और खदान मजदूरों की यूनियनों तथा अन्य वाम झुकाव वाले संगठनों से साथ आने का उसने आह्वान किया है।

मिस्र में जनवरी 2011 के प्रदर्शनों में भी मजदूरों ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था, हालाँकि हुस्नी मुबारक को अपदस्थ करने वाले आन्दोलन में उन्हें उचित श्रेय नहीं दिया गया। उसके बाद भी मिस्र के मजदूर लगातार अपनी आर्थिक और राजनीतिक माँगों को लेकर संघर्षरत हैं।

भारत में भी मजदूरों की जुझारू लड़ाइयाँ देश के अलग-अलग कोनों में फूट पड़ रही हैं। इनमें भी असंगठित मजदूरों या बड़ी यूनियनों से स्वतन्त्र छोटी-छोटी यूनियनों के नेतृत्व में लड़ रहे मजदूरों की संख्या अधिक है। पिछले वर्ष केन्द्रीय यूनियनों द्वारा आयोजित अनुष्ठानिक हड़ताल में भी नेताओं की उम्मीद से आगे जाकर असंगठित मजदूरों ने कई जगह उग्र और जुझारू कार्रवाइयाँ कीं। अकेले ऑटोमोबाइल सेक्टर में पिछले दो-तीन साल में देशभर में 100 से अधिक हड़तालें और उग्र सामूहिक कार्रवाइयाँ दर्ज हुई हैं। तय ही है कि आने वाले समय में ऐसे संघर्षों का सिलसिला और तेज़ होगा। अपने असहनीय हालात के खिलाफ आज जगह-जगह मजदूरों के स्वतःस्फूर्त संघर्ष उठ रहे हैं। लेकिन इन संघर्षों में हस्तक्षेप करके उन्हें एक क्रान्तिकारी दिशा देने की कोशिश करने के बजाय अनेक क्रान्तिकारी संगठनों में इस स्वतःस्फूर्तता का जश्न मनाने की प्रवृत्ति दिखायी दे रही है। इसके विरुद्ध संघर्ष करना आज बेहद ज़रूरी है।

आज पूँजीवाद के बढ़ते संकट के दौर में अपना मुनाफ़ा बनाये रखने के लिए पूँजीपति मजदूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ डाल रहे हैं। लेकिन मजदूर भी अब चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर रहे। पूरी दुनिया में सन्नाटा टूट रहा है। मजदूर वर्ग नये सिरे से जाग रहा है। ऐसे में मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी हरावलों के सामने मजदूर आन्दोलन के क्रान्तिकारी पुनर्जागरण में जी-जान से जुट जाने की चुनौती है। अनौपचारिक क्षेत्र के जो मजदूर और औपचारिक क्षेत्र के जो अनौपचारिक मजदूर अदृश्य 'ग्लोबल असेम्बली लाइन' पर उजरती गुलामों की भाँति खट रहे हैं, वे सोचते हैं कि वे बहुत कम हैं, बिखरे हुए हैं, इसलिए मजबूर और कमजोर हैं। लेकिन यह उनकी मिथ्याभासी चेतना है। इस मिथ्याभासी चेतना को यदि तोड़ दिया जाये तो उन्हें इस सच्चाई का अहसास कराया जा सकता है कि एक अदृश्य भूमण्डलीय श्रृंखला के ज़रिए हजारों मील दूर, यहाँ तक कि अलग-अलग देशों में काम करने वाले समान नियति वाले उजरती गुलाम आज एक दूसरे से जुड़ गये हैं। जापान या कोरिया की किसी एक कार निर्माता कम्पनी के भारत में चार या पाँच जगहों पर स्थित संयन्त्रों और पूरी दुनिया में स्थित दर्ज़नों संयन्त्रों में खटने वाले मजदूर एक दूसरे को न जानते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिखराव की मिथ्याभासी चेतना को भेदकर जुड़ाव की वास्तविक चेतना तक पहुँचने के लिए, उसे मुखर बनाने के लिए मजदूर वर्ग के हरावल दस्तों को उनके बीच, बीसवीं शताब्दी के मजदूर आन्दोलनों की अपेक्षा ज़्यादा सघन, ज़्यादा विविधतापूर्ण, ज़्यादा रचनात्मक, ज़्यादा सूक्ष्म, ज़्यादा व्यापक और ज़्यादा दीर्घकालिक राजनीतिक प्रचार, शिक्षा एवं उद्वेलन की कार्रवाई चलानी होगी। यह सबसे बड़ी चुनौती है। इसे वही अंजाम दे सकते हैं जो नयी परिस्थितियों का पूर्वाग्रहमुक्त, साहसी वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं, जो अनुभववादी कूपमण्डूकता और अतीत के अनुभवों को हूबहू दुहराने की कठमुल्लावादी जिद से अपने को मुक्त कर सकते हैं।

यह समझने की ज़रूरत है कि पिछले बीस वर्षों के दौरान उत्पादन के ढाँचों में बदलाव करके पूँजीपति वर्ग मजदूर वर्ग की संगठित शक्ति को बिखराने में काफ़ी हद तक कामयाब हुआ है। कारखानों में अधिकांश काम अब ठेका, दिहाड़ी या कैजुअल मजदूरों से कराना आम चलन बन चुका है। मजदूर वर्ग के इस भौतिक बिखराव ने उसकी चेतना पर भी काफ़ी नकारात्मक असर डाला है। वह अपनी ताकत को बँटा हुआ और पूँजीपति वर्ग की संगठित शक्ति के सामने खुद को कमजोर, असहाय और निरुपाय महसूस कर रहा है। आज मजदूर आबादी को संगठित करने की व्यावहारिक चुनौतियाँ बढ़ गयी हैं और संगठन के पुराने प्रचलित तरीकों और रूपों से काम नहीं चलने वाला है। लेकिन कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं हो सकती कि बुर्जुआ वर्ग द्वारा उपस्थित की गयी चुनौती के सामने सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि हाथ खड़े कर दें। मजदूर वर्ग को संगठित करने के नये रूपों और तरीकों को ईजाद करने की ज़रूरत है। दरअसल कारखाना-केन्द्रित ट्रेड यूनियनवाद से पीछा छुड़ाये बिना आज मजदूर आन्दोलन को नये सिरे से संगठित ही नहीं किया जा सकता। मजदूरों को संगठित करने की तात्कालिक व्यावहारिक चुनौतियों से निपटना मजदूरों के क्रान्तिकारी हरावलों का काम है। ज़मीनी संगठनकर्ताओं को पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होकर सर्जनात्मक तरीके से संगठन के नये-नये रूप और तरीके खोज निकालने होंगे।

अगर आज की परिस्थिति पर थोड़ा गहराई से विचार किया जाये तो हमें वे छुपी हुई क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ नज़र आयेंगी जो आँखों से ओझल होने पर सामने मौजूद फ़ौरी चुनौतियाँ ज़्यादा कठिन लगने लगती हैं। आज के दौर में औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूर वर्ग के

काम के जो हालात हैं और पूँजीपतियों का समूचा गिरोह, उनकी सरकारें और पुलिस-क़ानून-अदालतें जिस तरह उसके ऊपर एकजुट होकर हमले कर रही हैं उससे मज़दूर वर्ग स्वयं यह सीखता जा रहा है कि उसकी लड़ाई अलग-अलग पूँजीपतियों से नहीं बल्कि समूची व्यवस्था से है। यह ज़मीनी सच्चाई अर्थवाद के आधार को अपनेआप ही कमज़ोर बना रही है और मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना के उन्नत होने के लिए अनुकूल ज़मीन मुहैया करा रही है। इसकी सही पहचान करना और इस आधार पर मज़दूर आबादी के बीच घनीभूत एवं व्यापक राजनीतिक प्रचार की कार्रवाइयाँ संचालित करना ज़रूरी है। मज़दूरों की व्यापक आबादी को यह भी बताया जाना चाहिए कि असेम्बली लाइन का बिखराव आज भले ही मज़दूरों को संगठित करने में बाधक है लेकिन दूरगामी तौर पर यह फ़ायदेमन्द है। यह मज़दूर वर्ग की ज़्यादा व्यापक एकता का आधार तैयार कर रहा है और कारख़ाना-केन्द्रित और पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को दूर करने में भी मददगार साबित होगा। इसने मज़दूर वर्ग की विश्वव्यापी एकजुटता का आधार भी मज़बूत किया है। अब 'दुनिया के मज़दूरों, एक हो!' का विश्व ऐतिहासिक नारा एक व्यावहारिक नारे की ओर बढ़ता जा रहा है।

अरविन्द स्मृति न्यास के तीन महत्वपूर्ण प्रकाशन

अरविन्द स्मृति संगोष्ठियों में प्रस्तुत आलेखों के संकलन
(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन : निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges

मूल्य: 40 रुपये

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन: दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges

मूल्य: रु. 80

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद
Caste Question and Marxism

मूल्य: रु. 150

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

नेल्सन मण्डेला

● आनन्द सिंह

गुजरे 5 दिसम्बर को नेल्सन मण्डेला की मृत्यु के बाद पूँजीवादी और साम्राज्यवादी मीडिया में उनके जीवन और योगदान का एकतरफ़ा ब्योरा देकर गौरवगान तो हो ही रहा था, लेकिन इसके साथ ही साथ विभिन्न किस्म के वामपंथी भी मुख्यधारा के मीडिया से लेकर सोशल मीडिया तक उनका अनालोचनात्मक महिमामण्डन करने में लगे हुए थे। निश्चित रूप से नेल्सन मण्डेला का जीवन (विशेष रूप से जेल से रिहाई से पहले तक) रंगभेद के खिलाफ़ अश्वेतों के संघर्ष का प्रतीक बन गया था। परन्तु यदि उनके जीवन के दूसरे पहलू यानी जेल से बाहर निकलने के बाद अश्वेतों की मुक्ति के स्वप्न के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात को नहीं उजागर किया जाता है, तो यह इतिहास के साथ अन्याय होगा। 27 वर्षों तक रंगभेदी हुकूमत की कैद में रहने के बाद एक समझौते के तहत रिहा होने के बाद नेल्सन मण्डेला ने जिस क़दर साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेके उससे वह तीसरी दुनिया के देशों के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के नायकों के खण्डित गौरव की त्रासदी का भी प्रतीक बन गये। मण्डेला ने अश्वेतों की मुक्ति के जिस स्वप्न के लिए संघर्ष किया, वक्त आने पर उसी से उन्होंने आश्चर्यजनक तरीके से मुँह मोड़ लिया। यदि मण्डेला अपनी ज़िन्दगी के एक दौर में अफ़्रीका ही नहीं बल्कि एशिया और लातिन अमेरिका के तमाम देशों की उत्पीड़ित जनता के लिए उम्मीद की किरण बनकर उभरे तो अपनी ज़िन्दगी के आखिरी दो दशकों में जनता की निराशा और हताशा का कारण भी बने। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि नेल्सन मण्डेला के समूचे राजनीतिक जीवन को एकतरफ़ा नज़रिये से देखने की बजाय उसका सांगोपांग विश्लेषण किया जाये।

नेल्सन मण्डेला का जन्म 18 जुलाई 1918 को एक कबीलाई शासक परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत 1940 के दशक में मध्यवर्गीय अश्वेतों के चन्द अधिकारों

की माँग उठाने वाली सुधारवादी राजनीति से की। परन्तु इन सुधारवादी माँगों के प्रति रंगभेदी सरकार के ठण्डे रवैये के चलते मण्डेला रैडिकल राजनीति की ओर आकर्षित होते चले गये। गौरतलब है कि यह वही दौर था जब चीनी क्रान्ति के बाद एशिया अफ्रीका और लातिन अमेरिका तीसरी दुनिया के तमाम देशों में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी थी। कोरिया, वियतनाम, अल्जीरिया सहित तमाम देशों में साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष अपने उफान पर था। हालाँकि मण्डेला इस दौर में 'रैडिकलाइज़' तो हुए परन्तु सैद्धान्तिक समझ और सशस्त्र संघर्ष के प्रति प्रतिबद्धता के मामले में वे क्वामे एन्क्रूमा, पैट्रिस लुमुम्बा, अमिल्लकर कबराल, जूलियस न्येरेरे, लियोपोल्ड सेंघोर, ऑगस्तिनो नेतो, बेन बेला, हबीब बुर्गीबा जैसे तीसरी दुनिया के नेताओं जितने रैडिकल नहीं थे। 1960 के कुख्यात शार्पविले नरसंहार के बाद मण्डेला ने दक्षिण अफ्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी (एसएसीपी) के सहयोग से 1961 में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस (एएनसी) की सशस्त्र विंग 'उमखोंतो वी सिज़वे' ('राष्ट्र का भाला') भी बनायी। यहाँ तक कि उन्होंने मोरक्को और इथियोपिया में सैन्य परीक्षण भी प्राप्त किया। परन्तु सैन्य परीक्षण के बाद दक्षिण अफ्रीका लौटते ही 5 अगस्त 1962 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। तब से लेकर फ़रवरी 1990 तक वे रंगभेदी हुकूमत की कैद में ही रहे। इस प्रकार मण्डेला एक छोटे अंतराल के दौरान ही सशस्त्र संघर्ष की राह पर चल पाये।

फ़रवरी 1990 में जब मण्डेला कैद से रिहा हुए तब तक समूचा दिक्काल परिपेक्ष्य ही बदल चुका था और एक बिल्कुल नयी दुनिया सामने थी। तीसरी दुनिया के रैडिकल बुर्जुआ वर्ग की ऊर्जस्विता और आवेग का क्षरण और विघटन हो चुका था और वह पतित होकर विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अपने आपको व्यवस्थित कर रहा था। चीन में पूँजीवाद की पुर्नस्थापना हुए एक दशक से भी ज़्यादा समय बीत चुका था, सोवियत संघ में नकली समाजवाद भी ढहने की कगार पर था। इस प्रकार अमेरिका के एकछत्र साम्राज्यवादी वर्चस्व वाली एक नयी दुनिया का पदार्पण हो रहा था। यह भूमण्डलीकरण का नवउदारवादी युग था। हालाँकि रिहा होने के तुरन्त बाद मण्डेला ने एएनसी के 1955 के प्रसिद्ध फ्रीडम चार्टर को लागू करने की बात कही थी जिसमें खदानों और उद्योग-धन्धों के आंशिक राष्ट्रीकरण की बात कही गयी थी। परन्तु जल्द ही मण्डेला अपने ही वायदे से मुकर गये और नवउदारीकरण को गले लगा लिया। प्रसिद्ध पत्रकार जॉन पिल्लजर द्वारा इस बाबत सवाल पूछे जाने पर मण्डेला का जवाब था, "हमारे इस देश में निजीकरण एक बुनियादी नीति है"। इस जवाब से मण्डेला की पूँजी के प्रति पक्षधरता साफ़ उजागर होती है और इसलिए यह कतई आश्चर्य की बात नहीं कि उनकी मृत्यु के बाद दुनिया भर के पूँजीवादी हुक्मरान उनकी शान में कसीदे गढ़ रहे हैं।

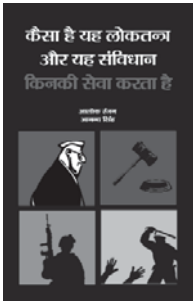
मण्डेला की रिहाई के कई साल पहले से ही दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी हुक्मरान समझौता वार्ता कर रहे थे। 1970 के दशक में दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों का विद्रोह उग्र रूप धारण करने लगा था। छात्र, युवा, मजदूर, किसान, खनिक सभी बर्बर पुलिसिया दमन के बावजूद राजनीतिक हड़तालों में शामिल हो रहे थे। राष्ट्रपति बोथा ने स्थिति को काबू में लाने के लिए बर्बर दमन के साथ ही साथ कुछ सामाजिक कल्याण की नीतियाँ भी लागू करने की कोशिश की। इसके अलावा उसने रंगभेद विरोधी गुटों में फूट डालने की तमाम साजिशें भी रचीं, परन्तु उसकी रणनीति कारगर होती नहीं दिखायी दे रही थी। स्थिति इतनी ख़राब हो चुकी थी कि रंगभेदी सरकार ने 1986 में आपातकाल की घोषणा कर विद्रोह के केन्द्रों में कर्फ्यू लगाने का आदेश दे दिया। सुरक्षा बलों ने हज़ारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया।

1988 में 31 अश्वेत राजनीतिक संगठनों पर पाबन्दी लगा दी गयी। परन्तु इसके बावजूद अश्वेतों का संघर्ष रुकने की बजाय बढ़ता ही गया। यह वह परिदृश्य था जिसमें दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी शासकों ने पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों की सलाह पर नेल्सन मण्डेला से समझौते की रणनीति अपनायी पड़ी। 1982 में ही मण्डेला को रॉबेन टापू के जेल से हटाकर पोल्समूर जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया जहाँ पर वह अतिथियों से मिल सकते थे। जहाँ एक ओर रंगभेदी शासन के उच्च अधिकारी मण्डेला से समझौता वार्ताएँ कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका के अरबपति उद्योगपति और खान मालिक यूरोपीय देशों में निर्वासन पर रह रहे एनसी के अन्य नेताओं जैसे थाबो एम्बेकी (जो मण्डेला के बाद दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति भी बने) से पश्चिम की शह पर वार्ताएँ कर रहे थे और उन्हें भाँति-भाँति के प्रलोभन दे रहे थे।

समझौता वार्ताओं के परिणामस्वरूप फरवरी 1990 में नेल्सन मण्डेला जेल से रिहा हुए। इस प्रकार आधिकारिक तौर पर रंगभेदी शासन के युग की समाप्ति हुई और एक बुर्जुआ जनवादी गणतांत्रिक ढाँचे का निर्माण हुआ। पहली बार अश्वेतों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। 1994 में सम्पन्न हुए चुनावों के बाद नेल्सन मण्डेला दक्षिण अफ्रीका के पहले अश्वेत राष्ट्रपति बने। इस समझौते के तहत मण्डेला ने शुरुआत में श्वेतों की पार्टी नेशनल पार्टी के साथ संयुक्त सरकार भी बनायी। 1993 में उन्हें नेशनल पार्टी के नेता और रंगभेदी शासन के अन्तिम राष्ट्रपति एफ डी क्लर्क के साथ संयुक्त रूप से नोबल शान्ति पुरस्कार से भी नवाजा गया। इस समझौते का दूसरा पहलू यह था सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई बदलाव नहीं किये गये। श्वेतों की सम्पत्ति को छेड़ा नहीं गया। श्वेत बुर्जुआ वर्ग ने समझौते से पहले ही योजनाबद्ध तरीके से अश्वेतों में एक छोटा से तबका पूँजीपति वर्ग और निम्न पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित किया जिनके हित श्वेतों के हित से मेल खाते थे। राष्ट्रपति बनने के तुरन्त बाद मानो मण्डेला ने श्वेत और अश्वेत बुर्जुआ वर्ग के हितों के मद्देनजर अश्वेतों की मुक्ति के स्वप्न का परित्याग कर दिया और नवउदारवादी पूँजीवाद को सरेआम गले लगा लिया। भूमि सुधार न के बराबर हुआ। 1994 के बाद से अब तक सिर्फ 3 फीसदी जमीन का हस्तान्तरण अश्वेतों को किया गया। कृषि योग्य भूमि का लगभग पूरे हिस्से का स्वामित्व 60,000 श्वेतों के पास है।

मण्डेला के इस ऐतिहासिक विश्वासघात का नतीजा यह हुआ कि औपचारिक रूप से रंगभेद की समाप्ति के दो दशकों के बाद भी दक्षिण अफ्रीका में वर्गभेद पहले से कहीं ज्यादा बढ़ा है। बस अन्तर यह आया है कि धनिक शासक वर्ग में श्वेतों के अतिरिक्त अश्वेतों की एक बारीक परत भी जुड़ गयी है। आज दक्षिण अफ्रीका दुनिया के सबसे असमान देशों में से एक है (लेसोथो के बाद दूसरे स्थान पर)। सरकारी आँकड़ों के अनुसार वहाँ की लगभग आधी आबादी गरीबी रेखा से नीचे रहती है। अश्वेतों की आबादी कुल आबादी का 80 फीसदी होने के बावजूद दक्षिण अफ्रीका की कुल सम्पदा के मात्र 5 फीसदी पर उनका नियंत्रण है। जहाँ श्वेत यूरोपीय नगरों जैसे आलीशान वातावरण में रहते हैं वहीं अधिकांश अश्वेत झुग्गियों की नारकीय परिस्थिति में गुजर-बसर करने को मजबूर हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार दक्षिण अफ्रीका में लगभग 25 फीसदी लोग बेरोज़गार हैं। अश्वेतों में यह आँकड़ा 50 फीसदी है। नवउदारवादी नीतियों की वजह से श्रम का अनौपचारिकीकरण भी बड़े पैमाने पर हुआ है। खनिक और श्रमिक अमानवीय परिस्थितियों में खटने को मजबूर हैं और आवाज़

उठाने पर उनका बर्बर तरीके से दमन किया जाता है। इसकी एक मिसाल अगस्त 2012 में मरिक्काना की प्लैटिनम खदान में देखने को मिली जब संघर्षरत खनिकों पर राज्य की पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की जिसमें 34 खनिक मौत के घाट उतार दिये गये। गौरतलब है कि जो ब्रिटिश कम्पनी इस खदान की मालिक है उसके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में पूर्व यूनियन नेता और एएनसी का उपाध्यक्ष सिरिल रामफोसा भी है जो अरबपति है। रामफोसा जैसे तमाम अरबपति भ्रष्ट नेता नेल्सन मण्डेला के क़रीबी समझे जाते थे। मौजूदा परिस्थिति यह है कि एएनसी (अफ़्रीकी नेशनल कांग्रेस), एसएसीपी (दक्षिण अफ़्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी) और कोसाटू (ट्रेड यूनियन फेडरेशन) का गन्दा त्रिगुटा मिलकर जनता को लूट-खसोट रहा है। एक ओर इनके नेता भ्रष्टाचार, विलासिता और व्यभिचार के सारे कीर्तिमान धवस्त कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर आम जनता के जीवन के हालात बद से बदतर होती जा रही है। यही वे हालात हैं जिनके बीच नेल्सन मण्डेला का देहावसान हुआ। हालात को इस मुक़ाम तक पहुँचाने में नेल्सन मण्डेला की भूमिका की अनदेखी करना इतिहास के साथ नाइसाफ़ी होगी।



कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

प्रकाशक : राहुल फाउण्डेशन

मूल्य : 100 रुपये

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, टेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन : 0522-2786782

अन्य केन्द्र

- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 0551-2241922
- दिल्ली : 9971158783
- लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या हमारी वेबसाइट देखें।

ईमेल : info@janchetnabooks.org

वेबसाइट : <http://ekèk.janchetnabooks.org>

ग्रंथशिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी है

इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र

स्वामी सहजानन्द

मेरा जीवन संघर्ष 550.00/200.00

किसान कैसे लड़ते हैं? 225.00/95.00

क्रांति और संयुक्त मोर्चा 350.00/125.00

खेत मजदूर और झारखंड के किसान 225.00

किसान क्या करें? 650.00/350.00

किसान आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि 1225.00/550.00

अंतोनिया ग्राशी

सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार 1250.00/595.00

एंथनी ब्रेवर

साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत 725.00/350.00

कृष्णमोहन श्रीमाली

धर्म, समाज और संस्कृति 525.00

समीर अमीन

भूमंडलीय के युग में पूंजीवाद 250.00

माइकेले सिवट्जेल

आर्यों के भारतीय मूल की कल्पना 325.00

वी.आई.लेनिन

क्या करें? 425.00/760.00

जेल्डा के. कोट्स

एंगेल्स : जीवन और कार्य 50.00

फ्रेडरिक एंगेल्स

परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति 375.00/160.00

मोहम्मद हबीब

दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक सिद्धांत 650.00/325.00

भारतीय इतिहास का आरंभिक मध्यकाल 450.00

भारत के आरंभिक मध्यकाल में राजनीति 750.00

जीवनचरित, भारत के बाहर इस्लामी संस्कृति व ऐतिहासिक पद्धति 725.00

सुकुमल सेन

भारत का मजदूर वर्ग 1475.00/525.00

प्रभात कुमार शुक्ल (सं.)

इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियां 1250.00/575.00

अरविंद सिन्हा

संक्रांतिकालीन यूरोप (सामंतवादसे औद्योगिक क्रांति तक) 1050.00/575.00

रजनी पामदत्त

आज का भारत (अनु. रामविलास शर्मा) 850.00/350.00

फासीवाद और सामाजिक क्रांति 450.00

विश्व का राजनीतिक परिदृश्य 375.00

इम्तियाज अहमद

भारत के मुसलमानों में जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण 425.00

आधुनिक समाज में वर्ग 200.00

इरविंग एम. जेटलिन

विचारधारा और समाजशास्त्रीय सिद्धांत का विकास 925.00/425.00

एंथनी गिडेन्स

पूंजीवाद और आधुनिक सामाजिक सिद्धांत 500.00/175.00

समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय 275.00

समाजशास्त्रीय पद्धतियों के नये नियम 350.00

मार्क ब्लाख

सामंती समाज (दो भागों का सेट) 950.00

इतिहासकार का शिल्प 450.00/225.00

ए.आई. चिचेरोव

मुगलकालीन भारत की आर्थिक संरचना 575.00/275.00

दामोदर धर्मानंद कोसंबी

मिथक और यथार्थ 450.00

सुचेता महाजन

स्वाधीनता और विभाजन 750.00/375.00

आनंद तेलतुमडे

साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन 425.00

सत्ता समाज और दलित 425.00/195.00

रमानाथ मिश्र

भारतीय मूर्तिकला का इतिहास 600.00

आनन्दस्वरूप वर्मा (सं.)

एवरैस्ट पर लाल झंडा 725.00/350.00

आर्नल्ड हाउजर

कला का इतिहासदर्शन 625.00

नीहार रंजन राय

भारतीय कला विवेचन की प्रस्तावना 475.00

रोजा लग्जमबर्ग

सुधार अथवा क्रांति 225.00

जॉर्ज लुकाच

इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास 725.00

मिशेल बो

पूंजीवाद का इतिहास (1500-2000) 975.00/575.00

कृष्णाकान्त मिश्र

समाजवादी चिंतन का इतिहास (तीन भागों का सेट) 3000/1200

राजनीतिक सिद्धांत और शासन 850.00/250.00

भारतीय शासन और राजनीति 750.00/195.00

बीसवीं सदी का चीन : राष्ट्रवाद और साम्यवाद 550.00

एम.एन.राय

संक्रांति के दौर का भारत 350.00

एंथनी ब्रेवर

साम्राज्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्याएं 725.00/350.00

ताराचंद

भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव 450.00

केन सारो विवा

तानाशाह की कैंद में (प्रकाश्य)

पूरनचंद्र जोशी

भारत में भूमि सुधार अध्ययनों का सर्वेक्षण 275.00/125.00

भारत में सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास

(समाजशास्त्रीय दृष्टि) 275.00/125.00 (प्रकाश्य)

इलेन मिक्सिन्स बुड

पूंजीवाद का उद्भव 175.00

इलेन मिक्सिन्स बुड, जॉन बेलेमी फास्टर

इतिहास के पक्ष में 375.00

विश्वंभर शरण पाठक

भारत के प्राचीन इतिहासकार 350.00

ज्यॉर्ज लेफेब्रे

फ्रांसीसी क्रांति 750.00/225.00

जॉन रॉबिन्सन

स्वाधीनता और आवश्यकता 225.00

वृंदा करात

भारतीय नारी : संघर्ष और मुक्ति 395.00/175.00

सुधा सिंह

ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ 650.00

उमा चक्रवर्ती

जाति समाज में पितृसत्ता 325.00/795.00

रणधीर सिंह

मार्क्सवाद, समाजवाद और भारतीय राजनीति 925.00/450.00

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7, सरस्वती काम्प्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली - 110092

फोन : 22025140, 65179059, (टै) 64688542, 22731014

E&mail : granthshilpi.delhi@gmail.com, Website: www.granthshilpi.com

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, खासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफैक्चर करने और विचार-निर्मित के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।...

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के दूसरे अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- समकालीन पूँजीवादी समाज और अपराध – कात्यायनी
- पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी – अभिनव सिन्हा
- संस्कृति, मीडिया और विचारधारात्मक प्रभाव – स्टुअर्ट हाल
- राज्य के साथ कला का संघर्ष : लेखक और उत्तर-औपनिवेशिक समाज के संरक्षक – नूगी वा थ्योंगो
- चिनुआ अचेबे, पीट सीगर और अमीरी बराका पर लेख

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम**

मूल्य: 40 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक

सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658/8853093555

वेबसाइट: <http://naandipath.in> फेसबुक: www.facebook.com/naandipath



जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें खून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के खिलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपनेआप में बर्बरता के खिलाफ़ हैं। वे बर्बरता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं, और वे उन देशों में ऐसा करते हैं जहाँ ठीक ऐसे ही सम्पत्ति सम्बन्ध हावी हैं, लेकिन जहाँ कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेते हैं।

— बेटोल्ड ब्रेष्ट

(‘सच लिखने के बारे में पाँच कठिनाइयाँ’)